ॐ
रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला
द्वितीयवर्ष]
[अंक ११.
स्याद्वादमञ्जरी
(प्रथमखण्ड)
प्रकाशक–मुम्बापुरीस्थश्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल

स्मारकलेखके लिये योजना।

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलके प्रबन्धकर्त्ताओंने प्रत्येक शास्त्रके साथ स्मारकलेख लगानेकी भी योजना की है इस लिये जो महाशय अपने अथवा किसी सज्जनके स्मरणार्थ कोईसे भी शास्त्रके साथ स्मारकलेख लगाना चाहेंगे तो लगादिया जावैगा परंतु इसके बदलेमें उनको परमश्रुतप्रभावकमण्डलमें उचित द्रव्यसे सहायता देनी पड़ैगी। आशा है कि भव्यजीव इस योजनामें द्रव्य प्रदानकर स्वार्थ और परमार्थरूप दोनों फलोंके भागी होंगे।

उक्त योजनानुसार निम्नलिखित महाशयोंने निम्नलिखित शास्त्रोंमें स्मरणलेख लगाकर उदारता और गुणग्राहिताका परिचय दिया है।

श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवन जी, श्रीअमृतचन्द्रसूरी विरचित	पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें	२००)
श्रीयुत माणकचंदजी हीराचंदजी जौंहरी जे पी, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचित ...	पञ्चास्तिकायसमयसारमें	३५०)
श्रीयुत स्वर्गवासी जेठाभाई हामजी, श्रीभोजसागरविरचित	द्रव्यानुयोगतर्कणामें	३५०)
श्रीयुत नरशीभाई तेजसी, श्रीउमास्वातिविरचित	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें	२५०)
श्रीयुत रायचन्द्रजी रतनशी, श्रीनेमिचन्द्रविरचित	बृहद्द्रव्यसंग्रहमें	२००)

निम्नलिखित महाशयोंने निम्नलिखित ग्रन्थोंमें स्मरणलेख देना स्वीकार किया है

श्रीयुत रतनजी वीरजी, श्रीमल्लिषेणसूरिविरचित	स्याद्वादमञ्जरीमें	पिताके स्मरणार्थ	८००)
श्रीयुत " " श्रीहरिभद्रसूरिविरचित	योगदृष्टिसमुच्चयमें	माताके स्मरणार्थ	२००)
श्रीयुत त्रिभुवनदास भाणजी, श्रीरत्नशेखरसूरिविरचित	गुणस्थानक्रमारोहणमें	"	३००)

सूचना—हमारे यहांसे जो यह रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला निकलती है, वह किसीके स्वार्थसे नहीं निकलती है; किन्तु श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलने इसको परमार्थबुद्धिसे प्रकट की है। जो द्रव्य आता है वह परमश्रुत (ज्ञान) खातेमें जमा किया जाता है। वर्तमानमें इस खातेमें शास्त्रोद्धारार्थ लगभग १२०००) के जमा हैं।

आवश्यक सूचना.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके अंकोंको देखकर बहुतसे मुनिमहाराजों, विद्वानों और ग्रेजूएटोंने समय समयपर प्रशंसापत्र भेजे हैं। और सज्जनोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणायें की हैं। जिनको हम यहां स्थानाभावसे प्रकट नहीं करते हैं।

मुनिमहाराजों और सज्जन विद्वज्जनोंसे प्रार्थना है कि जिन ग्रंथोंका भाषानुवाद कराके छपानेसे जैनसमाजको विशेषलाभ होनेकी संभावना हो; उन ग्रन्थोंके नाम और पतेसे हमको सूचित करें तथा आजतक इस शास्त्रमालाद्वारा जो ग्रन्थ प्रकट हुए हैं उनमें जो त्रुटियें हों उनसे भी सूचित करें जिससे कि उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये आगामी कालमें यथाशक्य प्रयत्न किया जावे। और अग्रिम वर्षमें जिन २ शास्त्रोंका प्रकट करना अत्यावश्यक है उनके विषयमें भी विचारपूर्वक संमति प्रदान करें।

श्रीयुत शेठ रतनजी वीरजी भावनगरवालोंकी ऐसी सूचना आई कि, यदि स्याद्वादमञ्जरी शास्त्राकार खुले पत्रोंमें छपाई जावेगी तो मुनिमहाराजोंको विशेष अनुकूल पड़ेगी। तदनुसार ही हमने अबकी बार इसको शास्त्राकार खुले पत्रोंमें पुष्ट व सचिक्कण कागजोंमें छपाकर पुट्ठे तथा स्वदेशीवस्त्रके वेष्टन (बेठण) सहित ग्राहकोंकी सेवामें भेजी है। और यह स्याद्वादमंजरी न्यायविषयका अत्युत्तम तथा कठिन ग्रंथ है; अतः इसको विचारपूर्वक धीरे २ छपाने आदि कितन ही विशेष कारणोंसे इस ११ वें अंकके भेजनेमें अत्यंत विलम्ब होगया है; सो ग्राहकमहाशय ग्रंथकी उत्तमतापर ध्यान देकर विलम्बजनित अपराधको क्षमाकरें और आगामी १२ वे अंकमें स्याद्वादमंजरीके शेषभागको (जो कि प्रायः इस अंकसे दूना बड़ा होगा) एक ही वारमें भेजकर रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके द्वितीयवर्षको पूर्ण करनेका विचार है; इसकारण ग्राहकगण आगामी कालमें जो विलम्ब हो; उसको भी निष्प्रयोजन न समझकर धैर्यको धारण करें; यह प्रार्थना है।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बन्धी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पत्ता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जौंहरी.

आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल. जौंहरी बाजार—बम्बई.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

अंक ११—१२ में (संपूर्ण)

स्याद्वादमञ्जरी

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४३६] भाषाटीका [ईसवी सन १९१०

ग्रन्थ प्रकाशक–मुम्बापुरीस्थश्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलस्वत्वाधिकारिभि

मुम्बय्यां निर्णयसागराख्यमुद्रणालये रा. रा. राणेकरद्वारा मुद्रापयित्वा प्रकाशं नीता ।

विज्ञापन ।

विदित हो कि सर्गवासी तत्त्वज्ञाता शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने तत्त्वज्ञानपरिपूर्ण अतिशय उपयोगी और अलभ्य ऐसे श्रीउमास्वाति, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीहरिभद्रसूरी आदि आचार्योंके रचे हुए महान् शास्त्रोंका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल**की स्थापना की थी. जिसके द्वारा आज पर्यंत **रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** नामक छूटक अंक ओर पुस्तक प्रकट होकर तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहा है ।

इस शास्त्रमाला द्वारा मूल और हिन्दी भाषानुवाद सहित २१०० पृष्ठ ग्राहकोंके पास भेजे गये है । जिनमें अनुमान १०५० पृष्ठ श्वेताम्बर संप्रदायके और १०५० पृष्ठ ही दिगम्बर संप्रदायके शास्त्ररत्नोंके हैं । यह योजना विज्ञ पाठकोंको दोनों संप्रदायोंके अभिप्राय विदित होनेके लिये ही की गई है । इस लिये आत्मकल्याणके इच्छक भव्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके पुस्तकका ग्राहक बनकर अपनी चल लक्ष्मीको अचल करैं और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठनपाठनद्वारा प्रचारकर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सफल करैं । प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालामें इसका संग्रह अवश्यमेव करना चाहिये ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित पुस्तकें.

१ **सप्तभंगितरंगिणी भा. टी.** यह न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । इसमे ग्रन्थकर्त्ता श्रीविमलदासजीने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि भंगोका वर्णन वहुत ही अच्छा किया है । निछरावल रु० १)

२ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भा. टी.** यह श्रीअमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है । इसमें आचार संवन्धी वडे २ गूढ रहस्य हैं । निछरावल रु० १।) (हाल खलास है)

३ **पञ्चास्तिकाय भा. टी.** यह श्रीकुंदकुंदस्वामी कृत मूल और श्रीअमृतचन्द्रसूरी कृत टीकासहित प्रसिद्ध शास्त्ररत्न है । इसमे जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, और आकाश इन पांच द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है । निछरावल रु० १।।)

४ ज्ञानार्णव भा० टी० इसमें श्रीशुभचन्द्र स्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है। इसका प्रत्येक श्लोक हितोपदर्शी है। निछरावल रु० ४)

५ वृहद्द्रव्यसंग्रह भा० टी० श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजी कृत संस्कृतटीका पर अच्छी बनाई हुई वचनिका सहित है। इसकी वचनिका अब तक नहीं बनी थी अतः अपूर्व है। निछरावल रु० २)

६ स्याद्वादमंजरी भा० टी० इसमें छहों मतोंका खंडन करके [illegible] विद्वद्वर श्रीमल्लिषेणसूरीजीने स्याद्वादको पूर्ण रूपसे सिद्ध किया गया है। अच्छी बनाई हुई भाषाटीका सहित है। ५०० ग्राहक पहिले ही हो चुके हैं। ग्राहकोंमें पत्रद्वारा शीघ्रही नाम लिखा लीजिये। निछरावल रु० ४)

७ द्रव्यानुयोगतर्कणा-यह ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमद् भोजसागरजीने सुगमतासे मन्दबुद्धि जीवोंको द्रव्यज्ञान होनेके "अथ गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य, गुण और पर्यायोंका ही विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति,' स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगोंका और दिगंबराचार्यवर्य श्रीदेवसेनस्वामी विरचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय, तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है निछरावल रु० २)

८ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्-जिसका अपर नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है जैनियोंका यह परम मान्य और मुख्य ग्रन्थ है इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्वातिजीने बड़े लाघवसे संग्रह किया है। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें संगठित न हो। सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वरूपी घटमें भर देना यह कार्य इसके क्षमताशाली रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगांभीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है, और उसके रचयिताकी सहस्रमुखसे प्रशंसा करनी पड़ती है। निछरावल रु० २)

९ छूटक अंकों श्रीज्ञानार्णव और श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणाका पृथक् अंकोंभी रक्खे हैं जिस महाशयकी पास अपूर्ण ग्रंथ हावे वे मंगालेवे हरेक छूटक अंकका निछरावल रु० ॥)

श्रीमद्राजचंद्रजीके लिखे हुये (गुजराती भाषा हिन्दीअक्षर) ग्रन्थ और वे महोदयका विचारोंका संग्रह इत्यादि

श्रीमद् राजचंद्र (छपता है)	५-०-०	भावनाबोध	०-८-०
मोक्षमाला	०-१२-०	काव्यमाला (छपता है)	०-३-०

प्रत्येक ग्रन्थ व्ही० पी० मारफतमे भेजा जाता है इसलिये अपना पता, गाम, जीला ठीक २ लीखनाजी

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बंधी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पत्ता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जौंहरी.

आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल जौंहरी बाजार—बम्बई न० २.

आवश्यक सूचना.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके अंकोंको देखकर बहुतसे मुनिमहाराजों, विद्वानों और ग्रेजूएटोंने समय समयपर प्रशंसापत्र भेजे हैं। और सज्जनोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणायें की है। जिनको हम यहां स्थानाभावसे मात्र एक प्रगट करते है.

पोरबंदरसे मुनिश्री**चारित्र विजयजी** गुजराती भाषामें लिखते हैं, जिसका सारांश यह है कि:—**"रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला"** के परम पूज्य ग्रन्थ हमकों मिले पढनेसे परम प्रसन्नता हुई। यथार्थमें ऐसे ही ग्रन्थोंका भाषान्तर (भाषा टीका) होना चाहिये। जैनतत्त्वज्ञान सम्बधी ऐसे ग्रन्थोंके सिवाय हालमें जो अन्यान्य ग्रन्थ छपते हैं, उनसे कुछ लाभ नही होगा, परन्तु आपका प्रयास अवश्यही अभिनन्दनीय है। जैनसमूहमें ऐसे २ अपूर्व ग्रन्थोंका जब ज्ञान होगा, तब ही हमलोग जैनी कहलाने के योग्य होंगे, और श्रद्धा निर्मल होगी, अतः यह प्रयत्न निरन्तर जारी रखनेके लिये हम प्रेरणा करते हैं और प्रत्येक जैनीको भी स्नेहपूर्वक सूचना देते है कि, ऐसे ग्रन्थोंके ग्राहक होके अपनी लक्ष्मी सफल करो, और प्रत्येक भंडारोंमें ऐसे २ ग्रन्थोंका संग्रह करो.

मुनिमहाराजों और सज्जन विद्वज्जनोंसे प्रार्थना है कि जिन ग्रंथोंका भाषानुवाद कराके छपानेसे जैनसमाजको विशेषलाभ होनेकी संभावना हो; उन ग्रन्थोंके नाम और पतेसे हमको सूचित करैं तथा आजतक इस शास्त्रमालाद्वारा जो ग्रन्थ प्रगट हुए है उनमें जो त्रुटियें हों उनसें भी सूचित करैं जिससे कि उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये आगामी कालमें यथाशक्य प्रयत्न किया जावे। और अग्रिम वर्षमें जिन २ शास्त्रोंका प्रगट करना अत्यावश्यक है उनके विषयमें भी विचारपूर्वक संमति प्रदान करें।

स्याद्वादमञ्जरी न्यायविषयका अत्युत्तम तथा कठिन ग्रंथ है; अतः इसको विचारपूर्वक छपाने आदि कितने ही विशेष कारणोंसे अत्यंत विलम्ब होगया है; सो ग्राहकमहाशय ग्रंथकी उत्तमतापर ध्यान देकर विलम्बजनित अपराधको क्षमा करैं १२ वा अंक स्याद्वादमञ्जरीका शेषभाग (जो कि प्रायः प्रथम अंकसे दूना बड़ा हो गया है) एक ही वारमें भेजकर रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका द्वितीयवर्षको पूर्ण किया है इसकारण ग्राहकगणमें जो विलम्ब हो गया है उसको भी निष्प्रयोजन न समझकर क्षमाप्रदान करें; यह प्रार्थना है।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बन्धी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पत्ता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जोंहरी.

आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल. जोंहरी बाजार—बम्बई नं० २.

श्रीः

सूचना

श्रीहेमचंद्र सूरि इस कलिकालमें बड़े ही प्रभावशाली विद्वान् हुए यह बात प्राय सर्वसाधारण है । इस समय भी उनकी कीर्ति सारे भूमंडलपर फैली हुई है । उनका समय ईसी सन् १२०० के लगभगका निर्णीत हुआ है । उनके भक्तोंमेंसे कुमारपाल राजा एक प्रधान भक्त था । प्राय उसीके रक्षित भूमण्डलको वे सदा शोभित करते रहे ।

श्रीहेमचन्द्र सूरिने कई लक्ष श्लोकप्रमाण ग्रन्थोंकी रचना की । उनमेंसे कुछ उपलब्ध प्रधान ग्रन्थोंके नाम निम्नलिखित हैं ।—योगार्णव, कर्मग्रन्थ प्राकृत, अनेकार्थकोश, अनेकार्थशेष, अभिधानचिन्तामणि, अलङ्कारचूडामणि, उणादिसूत्रवृत्ति, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, छन्दोनुशासनवृत्ति, देशीनाममाला सवृत्ति, धातुपाठ सवृत्ति, धातुपारायण सवृत्ति, धातुमाला, नाममाला, नाममालाशेष, निघण्टुशेष, बलाबलसूत्रबृहद्वृत्ति, बालभाषाव्याकरणसूत्रवृत्ति, विभ्रमसूत्र, शब्दानुशासन सवृत्ति, शेषसंग्रह, शेषसंग्रहसारोद्धार इत्यादि मुख्य ग्रन्थ हैं ।

जिसपर यह स्याद्वादमञ्जरीनामक वृत्ति बनाई गई है वह यह अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक बत्तीस श्लोकोंकी मूलस्तुति भी इन्ही श्रीहेमचंद्रकी बनाई हुई है । इसमें अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीकी स्तुतिके बहानेसे अन्य दर्शनोंका युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है । इस स्तुतिका प्रमाण बत्तीस श्लोकमात्र होनेपर भी यह अत्यंत मनोज्ञ तथा रोचक है ।

इसकी टीकाका नाम स्याद्वादमञ्जरी है और इस टीकाके कर्ता श्रीमल्लिषेण सूरि हैं । श्रीमल्लिषेण सूरिने अपने समयका निर्णय ग्रन्थके अंतमें स्वयं ही लिखा है । उनका यथासंभव परिचयभी उसी अंतकी प्रशस्तिसे हो सकता है । स्याद्वादमञ्जरीमें अन्य दर्शनोंकर माने हुए एकान्तरूप विषयोंका उपपादनपूर्वक निराकरण तथा जैनमतके विषयोंका मंडन किया गया है । यह ग्रन्थ न्यायकी शैलीसे परिपूर्ण है । जैसा कुछ अनुमानादि प्रमाणोंद्वारा न्याय शैलीमें मंडन खंडन होता है उसीप्रकार इसमें भी युक्तियोंका विशेष आदर किया गया है । स्थान स्थानपर सांख्य आदि अन्य दर्शनोंका खंडन भी यथाशास्त्र खूब ही किया है

तथा पीछेसे निराकरण भी बहुत ही उत्तम रीतिसे किया है। इसमें किन किन विषयोंका प्ररूपण है यह बात आगे लिखी हुई विषयसूचीसे मालुम पड़ सकती है।

इस ग्रन्थका हिन्दीभाषामें अनुवाद तथा संशोधन प्रारंभसे पृष्ठ १०८ तक तो जयपुरनिवासी पं० जवाहिरलालजी साहित्यशास्त्रीके द्वारा हुआ परंतु कई कारणवश जब पण्डितजी साहब यहां नहीं रह सके तब बाकीका अनुवाद तथा संशोधन मैंने किया। यह अनुवाद जो मैंने किया है सो मेरा पहिला ही कार्य है तथा हिन्दी भाषा मेरी मातृभाषा होनेपर भी साहित्य विषयमें जितना परिचय चाहिये उतना मुझे परिचय नहीं है इसलिये भूल होना बहुधा संभव है परंतु अधूरे कार्यको पूर्ण कर देना कर्तव्य समझकर मैं इसमें प्रवृत्त हुआ इसलिये विद्वान् मनुष्य मेरी त्रुटियोंको अविवक्षित नयोंके समान उदासीनतासे देखते हुए इस ग्रन्थका लाभ उठानेमें मुख्यतासे ध्यान लगावैं ऐसी मेरी प्रार्थना है।

इसके कर्ता यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य हैं परंतु इसमें ऐसा एक भी विषय नहीं है जो किसी एक ही जैन संप्रदायको मान्य हो। इसलिये आशा है कि इसका आदर दोनो सम्प्रदायोंमें एकसा ही होगा।

विद्वानोंका अनुरागी,

वंशीधर गुप्त.

विषयसूची

ओं यथार्थवादिने श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां–

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

श्रीजवाहरलालशास्त्रिविनिर्मितहिन्दीभाषानुवादसहिता

(अनुवादकस्य मङ्गलाचरणम् ।)

यस्य श्रीमुखभूरुहात्समुदितां स्याद्वादगन्धान्वितां
सज्ज्ञानाम्रफलप्रदां मुनिपिका आस्वाद्य वाङ्मञ्जरीम् ।
ऊचुर्यन्मधुरं जनास्तदखिलं श्रुत्वात्र मिथ्यादृशां
काकानां विरसं जहु प्रलपनं त सन्मतिं नौम्यहम् ॥ १ ॥
श्रीहेमचन्द्रयतिभिर्निजबुद्धिबीजादुत्पादिता स्तुतिलतातपवारिणी या ॥
सवर्ध्य युक्तिसलिलैर्मुनिमल्लिषेणः स्याद्वादमञ्जरियुतां किल तां चकार ॥ २ ॥
गीर्वाणगीर्नयनहीनजनान्विलोक्य तल्लाभतो विरहितानतिखिन्नचित्त ॥

तेभ्योऽहमार्यजनवाक्पवनेन तस्या गन्धं तनोमि निजबुद्ध्यनुरूपमत्र ॥ ३ ॥

(ग्रन्थकर्त्तुर्मङ्गलाचरणम्)

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
  र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत्क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
  स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां
  पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन्निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
  सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते ।
सम्प्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भजन्ति ॥ ३ ॥
मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
  र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत्सारस्वतः शाश्वतो
  मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—अनन्तवस्तुविषय अर्थात् अपरिमित पदार्थोंको विषय करनेवाला जिनका ज्ञान है, जो देवोंकरके नित्य पूजे जाते हैं, जिनका वचन खोटे नयवालों अर्थात् अन्यमतावलम्बियों द्वारा किये हुए कोलाहलोंसे लुप्त (नष्ट) नहीं होता तथा जिन्होंने उस राग और द्वेष

---

(१) बुद्धिं नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ।

है आदिमें जिसके ऐसी वैरियोंकी मंडलीको क्षणमात्रमें परास्त की अर्थात् जीती वे श्रीवर्द्धमानस्वामी मेरी बुद्धिको निर्मल करें ॥१॥

समस्त मध्यलोकवर्ती जीवोंके पुण्यके समूहकी प्रेरणासे अपार प्रतिभा (नये नये चमत्कारोंको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि) रूप प्राणोंके धारक सरस्वती और बृहस्पतिजीको अपने शरीरसे अभिन्नरूपमें धारण करते हुए जिन्होंने निज शरीररूप दृष्टान्तसे स्याद्वादमतको सिद्ध किया अर्थात् जैसे मेरा शरीर परस्पर भिन्न ऐसे सरस्वती और बृहस्पतिको एक रूपतासे धारण करता है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंके धारक हैं, ऐसे अपने शरीरसे सूचित किया, वे श्रीहेमचन्द्रस्वामी मेरे सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रकी वृद्धिके अर्थ होवें ॥ २ ॥

जो मनुष्य श्रीहेमचन्द्र मुनीन्द्रको इनके (श्रीहेमचन्द्रजीके) द्वारा कहे हुए शास्त्रोंके अर्थकी सेवाके बहानेसे सेवन करते हैं, वे जगत्में निर्मल कलाओंके गौरवको (बडप्पनको) प्राप्त हो करके योग्य पदको प्राप्त होते हैं । भावार्थ—जो श्रीहेमचन्द्रजी सूरीश्वरकी सेवा करते हैं, वे महाबुद्धिमान् होकर सुगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

हे सरस्वती माताजी ! आप मेरे हृदयमें विराजमान हूजिये, जिससे सर्वज्ञकी स्तुतिपर विवृति (व्याख्या) रचनेके अर्थ जो प्रारंभ करनेकी संभावना है, वह शीघ्र ही सिद्ध होवै अर्थात् शीघ्र ही स्याद्वादमंजरीको रचनेका आरंभ कर दूं । अथवा नहीं नहीं मैं भूल गया क्योंकि, मेरे होठोंके मध्यमें रात्रिदिन " श्रीउदयप्रभ " इन अक्षरोंकी रचनासे मनोहर गुरुका नामरूपी अनादि अनिधन सारस्वतमंत्र तो फुर ही रहा है । भावार्थ—गुरुके स्मरणके प्रभावसे आप स्वयं मेरे हृदयमें विराजमान हो जायगे । अत आपसे प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ४ ॥

(अवतरणिका)

इह हि विषमदुःषमाररजनितिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणीदेश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताभयदानाभिधानजीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पाऽवधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवा-

(१) क-पुस्तके 'स्थिरीकृत' इति पाठः । २ लक्षणागमसाहित्यतर्कात्मातुर्विद्यम् ।

करविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदाऽभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वाऽवबोधनिबन्धनं विदधे। तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोन्नेयत्वाद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषदधिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिबीजप्रबोधविधिर्विधीयते । तस्याश्चेदमादिकाव्यम् ॥—

अवतरणिका ।

इस लोकमें भयंकर पंचमकालरूपी रात्रिको दूर करनेके लिये सूर्य समान तथा स्वर्गसे पृथ्वीतलमें उतर कर आई हुई जो अमृतकी नहर उस जैसा जो उपदेशोंका समूह उसके द्वारा परम जैनी किया हुआ जो श्रीकुमारपाल महाराज उसकरके प्रवर्त्ताया हुआ जो अभयदान नामक जीवनौषधि उससे जीवनको प्राप्त हुए जो बहुतसे जीव उन करके दिये हुए जो आशीर्वाद उनके प्रभावसे कल्पकालपर्यन्त रहने वाला है निर्मल यशरूपी शरीर जिनका ऐसे, और दोषरहित जो व्याकरण, आगम, साहित्य और तर्क (न्याय) नामक चार विद्या है, उनको रचनेके लिये ब्रह्माके समान ऐसे, श्रीहेमचन्द्रजी सूरीनें जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनजी दिवाकरकी बनाई हुई 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' का अनुसरण करके श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप और ज्ञानी जनोंके मनमें तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेको कारणभूत ऐसे अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामके धारक द्वात्रिंशिकायुगलको किया। भावार्थ—'श्री जिनेन्द्र यथार्थवादी ही हैं' इस प्रकार जहांपर विशेषणके साथ एव (ही) पद लगाया जावे वह तो अयोगव्यवच्छेद है, और 'श्रीजिनेन्द्र ही यथार्थवादी हैं' इस प्रकारसे जहां विशेष्यके साथ 'एव' लगाया जावे वह अन्ययोगव्यवच्छेद है। उनमें पहली जो अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है वह सुखसे समझमें आनेवाली है; इसलिये उसके व्याख्यानको उपेक्षित करके अर्थात् न करके, समस्त एकान्तवादियोंकी सभाका खंडन करनेमें समर्थ जो वह दूसरी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है, उसके कितने ही पदार्थोंका विस्तारसे वर्णन करके मैं (मल्लिषेण) मेरा जो स्मृति (धारणा) रूप बीज है उसके उदयका विधान करता हूं। और उस अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तोत्रका प्रथम काव्य यह है—

---

१ विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—शङ्खः पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम् । २ विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—पार्थ एव धनुर्धरः । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः ।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १॥

काव्यार्थ —अनन्तज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, बाधारहित सिद्धान्तवाले, देवोंकरके पूज्य, यथार्थवक्ताओंमें प्रधान और स्वयमेव ज्ञानको प्राप्त हुए ऐसे श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये मैं प्रयत्न करूंगा ॥ १ ॥

व्याख्या। श्रीवर्द्धमानं जिनमहं स्तोतुं यतिष्य इति क्रियासम्बन्धः। किंविशिष्टमनन्तमप्रतिपाति वि-विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं ज्ञानं केवलाख्यं विज्ञानं ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीता निःसत्ताकीभूतत्वेनाऽतिक्रान्ता दोषा रागादयो यस्मात्स तथा तम् । तथा अबाध्यः परैर्बाधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । अमर्त्या देवास्तेषामपि पूज्यमाराध्यम् ॥

व्याख्यार्थः—' मैं (हेमचन्द्र सूरी) श्रीवर्धमानजिनेन्द्रको स्तुतिगोचर करनेके लिये प्रयत्न करूंगा ' इस प्रकार क्रियाका सम्बन्ध अर्थात् अन्वय है। कैसे विशेषणोंके धारक श्रीवर्द्धमानजिनको स्तुतिगोचर करनेके लिये यत्न करूंगा ? अनन्त अन्तरहित अर्थात् पतन(नाश) स्वभावसे रहित और विशिष्ट अर्थात् जीव अजीव आदि समस्त द्रव्य और उनके स्वभाव विभाव रूप भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालसंबन्धी जो अनन्त पर्याय हैं उनको विषयकरनेसे (जाननेसे) उत्कृष्ट ऐसा ज्ञान अर्थात् केवलनामक ज्ञान है जिनके उनको तथा अतीत अर्थात् जिनकी फिर कभी उत्पत्ति न हो ऐसे रूपसे दूर होगये हैं राग, द्वेष आदि अठारह दोष जिनसे उनको और अबाध्य अर्थात् अन्य एकान्तवादियोंसे नहीं बाधा जा सकता है स्याद्वादशास्त्ररूप सिद्धान्त जिनका उनको तथा अमर्त्य जो देव उनके भी पूज्य अर्थात् आराधने योग्य हैं उनको। भावार्थ—मैं (हेमचन्द्रसूरी) केवलज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, बाधारहितशास्त्रवाले और देवोंसे पूज्य ऐसे श्रीमहावीरस्वामीको स्तुतिमें लानेके लिये उद्यम करूंगा ॥

अत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनो विशेषणद्वारेण चत्वारो मूलातिशयाः प्रतिपादिताः। तत्राऽनन्तविज्ञानमित्यनेन

भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानाऽनन्त्यप्रतिपादनाज्ज्ञानाऽतिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाऽष्टादशदोषसंक्षयाऽभिधानादपायापगमाऽतिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाऽशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद्वचनाऽतिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाऽकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुराऽसुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञापनात्पूजाऽतिशयः ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आचार्यने विशेषणों द्वारा श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रके चार मूल अतिशयोंका कथन किया है। उनमें 'अनन्त विज्ञान' यह जो विशेषण है इससे भगवान्के केवलज्ञानरूप लक्षणके धारक ज्ञानकी अनन्तता कही गई है, इस कारण पहिला ज्ञानातिशय कहा गया। और 'अतीतदोष' इस विशेषणसे अठारह दोषोंका नाश कहे जानेसे भगवान्के दूसरा अपायापगम नामक अतिशय कहा गया ॥ १ ॥ तथा 'अबाध्यसिद्धान्त' इस विशेषण द्वारा अन्य कुमतावलम्बियोंकरके दिये हुए जो बुरे हेतु उनके समूहसे बाधाको प्राप्त नहीं हो सकनेवाले स्याद्वादस्वरूप आगमको भगवानने रचा है इस प्रकारके अर्थको कहनेसे तीसरा वचनातिशय सूचित किया ॥ ३ ॥ एवं 'अमर्त्यपूज्य' इस विशेषणसे सच्ची भक्तिके भारसे निर्भर अर्थात् अन्तरंगसे उत्पन्न हुई जो भक्ति है उसके बोझेसे दबे हुए (नीचे हुए) ऐसे जो देव तथा असुरोंके समूह उनके जो स्वामी (इन्द्र) उन करके की हुई जो महाप्रातिहार्य पूजा उसको जनानेसे चोथे पूजातिशयको कहा ॥ ४ ॥

अत्राह परः। अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु नाऽतीतदोषमिति गतार्थत्वात्। दोषाऽत्ययं विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः। अत्रोच्यते--कुनयमताऽनुसारिपरिकल्पिताप्तव्यवच्छेदार्थमिदम्। तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः--"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः।१।" इति। तन्नूनं न ते अतीतदोषाः। कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥

---

१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः। हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा। रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ २ ॥ इत्यष्टादश दोषाः। २ आजीविको बौद्धः।

अब यहांपर वादी शंका करता है कि, श्रीवर्द्धमानस्वामीके 'अनन्तविज्ञान' इतना ही विशेषण रहना चाहिये और 'अतीतदोष' यह विशेषण न रहना चाहिये। क्योंकि, अठारह दोषोंको नाश हुए विना अनन्तविज्ञानरूपकी प्राप्ति ही नहीं होती; इसकारण 'अनन्तविज्ञान' इसके कहनेसे ही दोषरहितरूप अर्थका ग्रहण हो जाता है। इसका आचार्य 'समाधान' करते हैं कि, हमने जो 'अतीतदोष' यह विशेषण दिया है सो व्यर्थ नहीं है, किन्तु खोटे नयवाले मतके धारक जीवोंने जिस आप्त (यथार्थवक्ता) को मान रक्खा है, उसको जुदा करनेके लिये है। क्योंकि आजीविक (बौद्धविशेष) मतके धारक जीव इसी प्रकार कहते हैं कि "धर्मतीर्थके करनेवाले ज्ञानी जीव संसारमें आकर धर्मतीर्थका प्रचार करके मोक्षमें चले जाते हैं और अब संसारमें धर्मतीर्थका अनादर होता है, तब फिर मोक्षमेंसे संसारमें आ जाते हैं। १।" इस प्रकार आजीविक मतवालोंके माने हुए आप्त निश्चयसे दोषरहित नहीं हैं। क्योंकि यदि वे दोषरहित होवें, तो तीर्थका अनादर देख करके भी मोक्षमेंसे संसारमें कैसे आवें अर्थात् वे मोक्षमें जाकर फिर संसारमें आते हैं, इसलिये दोषसहित हैं॥

आह। यद्येवमतीतदोषमित्येवाऽस्तु। अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते दोषाऽत्ययेऽवश्यभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य। न। कैश्चिद्दोषाऽभावेऽपि तदनभ्युपगमात्। तथा च तद्वचनम्– "सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु॥ कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते।१।" तथा– "तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे।१।" तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव। विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याऽप्यर्थस्य यथावत्परिज्ञानाऽभावात्। तथाचार्षं– "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।" तथा "एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।१।॥

फिर वादी शंका करता है कि,—यदि आपने आजीवकमतवालोंके आप्तोंको दूर करनेके लिये अतीतदोष यह विशेषण दिया है तो अतीतदोष यह विशेषण रहो परन्तु अब 'अनन्तविज्ञान' यह जो विशेषण है सो अधिक होता है अर्थात्

१ क-पुस्तके "सर्वं पश्यतु मा वा मा इष्टमर्थं तु पश्यतु।" इति पाठः। २ मदभिमतस्य जिनस्य। ३ अनुष्ठानं नाम कालान्तरभावीष्टोपायवाप्तिपूर्वकं कर्म। ४ य एकं जानाति स सर्वं जानाति। य सर्वं जानाति स एकं जानाति। इतिच्छाया।

व्यर्थ है। क्योंकि जब भगवान् दोषरहित हो गये, तो उनके ' अनंतविज्ञान ' अवश्य (जुरूर) ही होगा, फिर जुदा विशेषण क्यों देते हो। **समाधान**—कितनोंहीने दोषोंका अभाव होने पर भी अनन्त विज्ञान नहीं माना है, इसलिये तुम्हारी शंका ठीक नही। सो ही वे लोग कहते हैं कि " हमारा ईश्वर सब पदार्थोंको देखै अथवा न देखै; केवल वांछित तत्त्वोंको ही जानै। क्योंकि यदि आपके जिनेश्वर कीड़ोंकी संख्या जानते है तो उनका यह कीड़ोंकी संख्या जाननेरूप ज्ञान हमारे किस प्रयोजनमें आता है ? । १ । "तथा वे ही फिर कहते हैं कि " इसलिये हमारे ईश्वरके अनुष्ठानमें प्राप्त हुआ ज्ञान ही विचारना चाहिये। और यदि जिसका ज्ञान उपयोगमें न आवै, ऐसे दूरदर्शीको ही आप प्रमाण मानते हो, तो लो हम गीध पक्षियोंकी सेवा करते हैं। क्योंकि वे भी दूरके पदार्थको देखने वाले हैं। तात्पर्य यह कि—अनुपयोगी पदार्थोंको जानने वाले आपके जिनेन्द्रसे हमको कोई भी प्रयोजन नहीं हैं ॥ २ ॥" इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो कोई ईश्वरको असर्वज्ञ मानते है, उनके मतको दूर करनेके लिये जो हमने ' अनन्तविज्ञान ' यह विशेषण दिया, सो दोषरहित ही है अर्थात् व्यर्थ नहीं है। क्योंकि अनन्तविज्ञानके विना एक भी पदार्थ यथार्थ रीतिसे नहीं जाना जाता है। और इस कथनमें प्रमाणभूत ऋषियोंका वचन भी है कि " जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एकको जानता है " तथा " जिसने एक पदार्थको परिपूर्ण रीतिसे देखा, उसने सब पदार्थ पूर्ण रूपसे देखे। और जिसने सब पदार्थ सर्वथा देखे, उसने एक पदार्थ सर्वथा देखा अर्थात् जाना ॥ १ ॥ "

ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकं[1] यथोक्तगुणयुक्तस्याऽव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात्। न। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। निर्दोषपुरुषप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तो नापरेऽपौरुषेयाद्या असम्भवा[2]दिदोषाघ्रातत्वात् इति ज्ञापनार्थं, आत्ममात्रतारकमूकाऽन्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डके[3]वलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत् ॥

शंका—यदि ऐसा है तो ' अबाध्यसिद्धान्तवाले ' यह जो भगवान्के विशेषण लगाया गया है सो निरर्थक है। क्योंकि, पूर्वोक्त जो अनंतविज्ञानता तथा दोषरहितता रूप दो गुण है, उन करके सहित जो कोई हैं उनके वचन व्यभिचारी नहीं

---

१ निरर्थकं । २ ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च । पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ।
३ बाह्यातिशयरहित ।

होते अर्थात् किसी भी अंशमें असत्य नहीं होते हैं। इस कारण उन करके कहा हुआ जो सिद्धान्त है, उसका खडन ही नहीं हो सकता है समाधान—तुमने हमारा अभिप्राय नहीं जाना, इसलिये यह जो तुम शंका करते हो सो ठीक नहीं है। क्योंकि हमने जो यह विशेषण दिया है, सो निर्दोष पुरुष करके कहा हुआ सिद्धान्त ही बाधारहित सिद्धान्त है और असभव आदि दोषोंसहित होनेसे अन्य जो अपौरुषेय आदि सिद्धान्त हैं, वे बाधारहित नहीं हैं। इस बातको विदित करनेके लिये लगाया है। भावार्थ—कितने ही ऐसा मानते हैं कि, वेद आदि अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुषके बनाये हुए नहीं हैं। परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि वेद अक्षररूप हैं। और वे अक्षर तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होते हैं। तथा वे तालु आदि स्थान मनुष्यके होते हैं। इसलिये पुरुषके रचे विना वेद आदि अक्षररूप नहीं हो सकते हैं, यही असंभव नामा दूषण है। इसको आदि ले और भी अनेक दोष शास्त्रोंको अपौरुषेय माननेमें होते हैं। इस कारण 'निर्दोष पुरुषसे कहा हुआ शास्त्र ही बाधारहित है, पुरुष करके नहीं बनाये हुए शास्त्र बाधारहित नहीं हैं'। इस विषयको सूचित करनेके लिये 'अबाध्यसिद्धान्त' विशेषण है। अथवा एक प्रकारके मूक अन्तकृत्केवली आदि रूप मुंड अर्थात् बाह्यके अतिशयोंसे रहित केवली होते हैं, जो अनन्तविज्ञानके धारक भी हैं और दोषरहित भी हैं। परन्तु वे केवल अपनी आत्माका ही उद्धार करते हैं, दूसरेको उपदेश देनेमें मूक (गूगे) रहते हैं। इसलिये वे भी पूर्वोक्त सिद्धान्तको रचनेमें असमर्थ हैं। इस कारण उनको श्रीजिनेन्द्रसे भिन्न करनेके लिये 'अबाध्यसिद्धान्त' यह विशेषण दिया गया है ॥

अन्यस्त्वाह। अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम्। यावता यथोद्दिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यस्य न कथंचन व्यभिचरतीति। सत्यम्। लौकिकानां हि अमर्त्या एव पूज्यतया प्रसिद्धास्तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनाऽनेन ज्ञापयन्नाचार्यः परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति ॥ एवं पूर्वार्द्धे चत्वारोऽतिशया उक्ताः।

अब दूसरा वादी शंका करता है कि–'अमर्त्यपूज्य' यह विशेषण भगवानके नहीं देना चाहिये। क्योंकि, संपूर्णरूपसे पहिले कहे हुए अनंतविज्ञान आदि गुणोंसे गरिष्ठ (बहुत बड़े) जो तीन लोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्र हैं, उनके देवोंसे पूज्यता किसी प्रकारसे भी व्यभिचारको प्राप्त नहीं होती है अर्थात् वे नियमसे देवोंकरके पूजे जाते हैं। समाधान—एक प्रकारसे तुम्हारा कहना सत्य

१ सामरत्वेन।

अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथावस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ।

'यतिष्ये' अर्थात् यत्न करूंगा । यहांपर जो आचार्यने भविष्यत्कालका प्रयोग किया है, इससे भगवान्‌के गुणोंकी स्तुति योगियोंसे अर्थात् दिव्यज्ञानके धारक मुनियोंसे भी नहीं हो सकती है । इसप्रकार मानते हुए और स्तुतिके करनेमें भक्ति ही एक असाधारण कारण है, ऐसा दूसरोंको जनाते हुए आचार्यने ' भगवान्‌के गुणोंकी स्तुति करनेमें प्रयत्नका करना ही मेरे आधीन है और भगवान्‌में जैसे गुण विद्यमान है, वैसे गुणोंके स्तवनकी सिद्धि मेरे आधीन नहीं है । ऐसा आशय सूचित किया है । और ' यतिष्ये ' यहांपर जो उत्तम पुरुषका एक वचन दिया गया है, इससे यद्यपि ' अहं ' यह कर्त्ताको बोधन करनेवाला, शब्द स्वयं ही आसकता था, तथापि परके उपदेशकी और अन्य (दूसरे) की अनुवृत्ति आदिकी अपेक्षा न करके मैं मेरी भक्तिके वशसे ही स्तुतिका प्रारंभ करता हूं, यह समझानेके लिये ' अहं ' यह पद दिया गया है ॥

अथवा–श्रीवर्द्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते । यत एव श्रीवर्द्धमानमतएवाऽनन्तविज्ञानम् । श्रिया कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूताऽनन्तचतुष्कसंपद्रूपया वर्द्धमानम् । यद्यपि श्रीवर्द्धमानस्य परमेश्वरस्यानन्तचतुष्कसंपत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकालं तुल्यत्वाच्चयापचयौ न स्तस्तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद्वर्द्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्द्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वमपि सिद्धम् । तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्भगवत्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिबन्धनत्वादनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात्पृथग् निर्द्धार्याचार्येणोक्तम् ।

अथवा ' श्रीवर्द्धमानं ' इत्यादि जो श्लोकके उत्तरार्धमें चार विशेषण हैं, उनका 'अनन्तविज्ञानं ' इत्यादि पूर्वार्धके चार पदोंके साथ हेतुहेतुमद्भावसे अर्थात् ' श्रीवर्द्धमान ' यह तो हेतु (कारण) है और ' अनन्तविज्ञान ' यह हेतुमत् (कार्य) है । इस रूपसे व्याख्यान करते हैं । भगवान् श्रीवर्द्धमान हैं अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके नाशसे प्रकट हुई जो अनन्तचतुष्टयसंपदारूप लक्ष्मी है,

उनसे यह गुण है। इसी कारण से अनन्तविज्ञानके धारक हैं। यद्यपि श्रीमहावीरजिनेन्द्रके जबसे अनंतचतुष्टय संपदा उत्पन्न हुई है, तभीसे यह अनन्तचतुष्टयसंपदा सदा एकसी रहती है, इसलिये उसमें घटना और बढ़ना नहीं है। तथापि यह संपदा घटती नहीं है अर्थात् सदा समान रहती है। इस कारण उसमें वर्द्धमानताका अर्थात् बढ़नेपनेका उपचार (लक्षणा) किया जाता है। और यद्यपि 'श्रीवर्द्धमान' इस विशेषणके देनेसे अनंतविज्ञानपना भी भगवान्में सिद्ध हो गया। क्योंकि, यह अनन्तविज्ञान अनन्त चतुष्टयमें अन्तर्गत (गिना जाता) है। तो भी अनन्तविज्ञान ही अन्य जीवोंका उपकार करनेमें समर्थ (असाधारण) कारण है और भगवान्की जो प्रवृत्ति अर्थात् उपदेश आदिका देना है, उसमें परोपकार ही एक कारण है। इसलिये बाकीके तीन जो अनन्तदर्शन आदि हैं, उनसे अनन्तविज्ञानको जुदा निश्चय करके आचार्यने यहांपर कहा है॥

ननु यथा जगन्नाथस्यानन्तविज्ञानं परार्थं तथाऽनन्तदर्शनस्यापि केवलदर्शनापरपर्यायस्य पारार्थ्यमव्याहतमेव। केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी क्रमप्रवृत्तिभ्यामुपलब्धं सामान्यविशेषात्मकं पदार्थसार्थं परेभ्यः प्ररूपयति। तत्किमर्थं तन्नोपात्तम्। इति चेदुच्यते। विज्ञानशब्देन तस्यापि संग्रहाददोषः, ज्ञानमात्रांया उभयत्राऽपि समानत्वात्। य एव हि अभ्यन्तरीकृतसमताधर्मा विषमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थास्त एव अभ्यन्तरीकृतविषमताधर्माः समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते। जीवस्वाभाव्यात्। सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते। तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति।

शंका—जैसे भगवान्के अनंतविज्ञान परके उपकारके लिये है, उसी प्रकार केवलदर्शन है दूसरा नाम जिसका, ऐसा जो अनन्त दर्शन है, वह भी बिना किसी बाधाके परोपकारके निमित्त ही है। क्योंकि भगवान् क्रमानुसार प्रवृत्त हुए जो केवलदर्शन और केवलज्ञान हैं, उनसे जाना हुआ जो पदार्थोंका समूह है, उसीका अन्य जीवोंको उपदेश देते हैं। इसलिये यदि केवलज्ञानको भिन्न ग्रहण किया है, तो अनन्तदर्शनको भी भिन्न क्यों नहीं ग्रहण किया? अब इसका समाधान कहते हैं कि, 'अनंतविज्ञान' यहांपर जो विज्ञान शब्द है, उससे ज्ञानका तो ग्रहण है ही है। परंतु उस दर्शनका भी ग्रहण किया गया है। इसलिये जो तुम दोष देते हो सो ठीक नहीं है।

१ इयत्ताया। २ गौणीकृत। ३ सामान्याख्यधर्माः। ४ विशेषधर्मयुक्ताः। ५ गौणीकृत।

क्योंकि, ज्ञानकी मात्रा जो है वह केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंमें समान है । कारण कि—सामान्य धर्मोंको गौण करके विशेष धर्मोंसहित जो पदार्थ ज्ञानसे जाने जाते हैं, विशेष धर्मोंकी गौणतापूर्वक सामान्य धर्मोंसहित हुए वे ही पदार्थ दर्शनसे जाने जाते हैं क्योंकि, ये जीवके स्वभाव हैं । **भावार्थ**—विशेषको किया है गौण जिसमें और सामान्य है प्रधान जिसमें, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण है, सो दर्शन कहलाता है । तथा जिसमें सामान्य गौण और विशेष मुख्य है, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण करना है, उसको ज्ञान कहते है ॥

तथा यत एव जिनमत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । नचाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाप्तमुख्यमत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठम् । आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते । यत एव स्वयम्भुवमत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति ।

तथा वे भगवान् जिन हैं, इसीकारण दोषरहित हैं । जो रागादिकको जीतनेवाले है, उनको जिन कहते है । जो जिन नहीं है, वे दोषरहित भी नहीं है । और वे श्रीमहावीरस्वामी आप्तोंमें मुख्य हैं, इसीकारण बाधारहित सिद्धान्तवाले है । क्योंकि जो प्रतीतिवाला होता है, वह आप्त कहलाता है । आप्तोंमें जो मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ हो, वह आप्तमुख्य कहा जाता है और विसंवादरहित वचनके धारक होनेसे भगवान् समस्त जीवोंके विश्वासके स्थान है इसी कारण आप्तमुख्य है । तथा आप्तमुख्य हैं, इसी कारण भगवान् बाधारहित सिद्धान्तके धारक है । क्योंकि; ज्ञानद्वारा जिस प्रकारसे स्थित पदार्थोंको देखे हैं, उसी प्रकारसे कहनेवाला जो सिद्धान्त है, वह अन्य कुमतावलम्बियोंसे बाधित नहीं हो सकता है । एवं भगवान् स्वयंभू हैं, इसीलिये देवोंसे पूज्य हैं । क्योंकि भगवान् तीन जगत्से भिन्न लक्षणका धारक जो स्वयंसंबुद्धत्व (स्वयं ज्ञानको प्राप्त होनेरूप) गुण है, उससे ही सौधर्मइन्द्र आदि देवोंद्वारा पूजे जाते हैं ॥

... यद्व्याख्यातं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृ-

तीयपादवर्त्तमानम् । 'श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपम्' इति विशेष्यमनुवर्त्तमानं बुद्धौ सम्प्रधार्य विज्ञेयम् । तत्र हि आत्मरूपमितिविशेष्यपदम् । प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्तं परमात्मानमिति यावत् । आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयमिति प्रथमवृत्तार्थः ॥ १ ॥

इस श्लोकमें जो 'श्रीवर्द्धमानं' इस पदका विशेषणरूपसे व्याख्यान किया गया है, वह अयोगव्यवच्छेद नामकी धारक जो प्रथम द्वात्रिंशतिका (पहली बत्तीसी) है, उसके प्रथमकाव्यके तीसरे चरणमें विद्यमान 'श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपम्' इस विशेष्यको अपनी बुद्धिमें चला आता हुआ समझकर जानना चाहिये । वहांपर 'आत्मरूपं' यह विशेष्यपद है । प्रकृष्ट अर्थात् उत्तम आत्मा जो हो, वह आत्मरूप अर्थात् परमात्मा है, उसको । अथवा पुनः आवृत्ति करके अर्थात् 'श्रीवर्द्धमान' इस पदको पहले विशेषणमें लेकरके, फिर विशेष्यरूपसे ग्रहण करके व्याख्यान करना चाहिये । इसप्रकार प्रथम काव्यका अर्थ है ॥ १ ॥

अस्यां च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन तेषामाप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम् । तच्च भगवतो यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते । अतःस्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह ।

इस स्तुतिमें अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् दूसरोंके संबंधको भिन्न करना लिया गया है और उसका 'अन्यमतियों करके कल्पना किये हुए जो तत्त्वाभास हैं, उनका खंडन करके, उन अन्यमतियोंको आप्तसे भिन्न करना' यह स्वरूप है । और वह भगवान्‌के वस्तुका स्वरूप जैसा स्थित है, वैसा कहनेवाले गुणका धारकपना प्रसिद्ध करनेसे ही प्रमाणताको प्राप्त होता है । इसकारण स्तुतिके कर्त्ता आचार्य यद्यपि तीन जगत्‌के गुरु श्रीभगवान्‌के समस्त गुणोंकी स्तुति करनेमें भक्ति रखते हैं, तौभी यथास्थितपदार्थोंको कहनेरूप जो एक गुण है, उसीका वर्णन करनेके लिये अपने अभिप्रायको प्रकट करते हुए अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥

---

१ पर्याप्ता ।

अयं जनो नाथ तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥

काव्यभावार्थः— हे नाथ ! परीक्षा करनेमें दुर्विदग्ध अर्थात् अपनेको पंडितके समान माननेवाला यह मैं (प्रत्यक्षीभूत हेमचंद्र नामक आचार्य) आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ इच्छावान् ही हूं । परन्तु एक यथार्थवादनामक गुणको ही स्तुतिसे व्याप्त करता हूं ॥ २ ॥

व्याख्या । हे नाथ अयं मल्लक्षणो जनस्तव गुणान्तरेभ्यो यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्यसाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव। किमर्थं स्तवाय स्तुतिकरणाय । इयं तादर्थ्ये चतुर्थी पूर्वत्र तु स्पृहेर्व्याप्यं वेति लक्षणा । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्किमर्थं तत्रोपेक्षेत्याशङ्क्योत्तरार्द्धमाह । किंत्वित्यभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकमेकमेव यथार्थवादं यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणमयं जनो विगाहतां स्तुतिक्रियया समन्ताद् व्याप्नोतु तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ॥

व्याख्यार्थः— 'नाथ' भो स्वामिन् ? 'अयं' यह 'जनः' हेमचन्द्र नामक मनुष्य 'तव' आपके 'गुणान्तरेभ्यः' यथार्थवादसे भिन्न और अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाले शरीरलक्षण आदि जो गुण हैं, उनको 'स्तवाय' स्तुतिगोचर करनेके अर्थ अर्थात् स्तुतिमें लानेके लिये 'स्पृहयालु एव' अभिलाषा (इच्छा) का धारक ही है ['स्तवाय' यहां तादर्थ्यमें चतुर्थी विभक्ति है और 'गुणान्तरेभ्यः' यहांपर "स्पृहेर्व्याप्यं वा" इस सूत्रसे स्पृह धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्ति है ।] भावार्थ—यह मैं आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ भी इच्छा रखता ही हूं । 'जो अन्यगुणोंकी स्तुति करनेमें भी इच्छा है तो उन गुणोंकी स्तुति करनेमें अनादर क्यों है ?' इसप्रकार आशंका करके आचार्य उत्तरार्द्धको कहते हैं । 'किन्तु' किन्तु (वल्कि) [किन्तु यह स्वीकार किये

१ खपुस्तके– तत्किंतान्यपि स्तोष्यति स उत नेत्याशंक्योत्तरार्द्धमाह । इति पाठः ।

दुष्में विशेषता जनानेके अर्थमें निपात है] 'एकम्' एक ही 'यथार्थवादम्' 'वस्तुके यथास्थित स्वरूपको कहनेवाला' इस नामका धारक जो आपका गुण है उसीको यह मनुष्य 'विगाहतां' स्तुतिरूप क्रियासे सर्वत्र व्याप्त करो । क्योंकि, उस यथार्थवादित्वनामक एक ही गुणका वर्णन किये जानेपर अन्यमतके देवोंसे विशिष्टताका कथन हो जायगा । जिसके कि द्वारा वास्तवमें सम्पूर्ण गुणोंके भोगकी सिद्धि हो जावेगी ॥

अथ प्रस्तुतगुणस्तुतिः सम्यक्परीक्षाक्षमाणां दिव्यदृशामेवौचितीमञ्चति नाऽर्वाग्दृशां मयादृशामित्याशङ्कां विशेषणद्वारेण निराकरोति । यतोऽयं जनः परीक्षाविधिदुर्विदग्धः अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः पण्डितंमन्य इति यावत् । अयमाशयो यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षणं मादृशां मतेरगोचरस्तथापि भक्तिश्रद्धातिशयात् तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति । विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्तिमात्रस्वरूपत्वात्स्तुतेः । इति वृत्तार्थः ॥ २ ॥

अथ 'यथार्थवादित्व नामक जो गुण है, उसकी स्तुति करना उत्तमरीतिसे परीक्षा करनेमें समर्थ जो दिव्यज्ञानके धारक मुनीश्वर हैं, उनके ही योग्य है और हम जैसे छद्मस्थोंके, उस गुणकी स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है ।' इसप्रकार जो किसीकी आशंका है, उसको विशेषणद्वारा दूर करते हुए आचार्य कहते हैं । क्योंकि, यह मैं (हेमचन्द्र) 'परीक्षाविधिदुर्विदग्धः' इस यथार्थवादित्वनामक गुणकी परीक्षा करनेमें दुर्विदग्ध हूं अर्थात् अपनेको पंडित मानता हूं । भावार्थ—यह है कि, यद्यपि तीनजगत्के गुरु श्रीजिनेन्द्रके यथार्थवादित्व गुणकी परीक्षा करना मेरे जैसोंकी बुद्धिका विषय नहीं है, तथापि भक्ति और श्रद्धाके प्रभावसे उस परीक्षा करनेमें मैं मुझको चतुरकी समान मानता हूं । क्योंकि, निर्मल श्रद्धा और भक्तिकी जो प्रकटता है, वही स्तुतिका स्वरूप है । इसप्रकार दूसरे काव्यका अर्थ है ॥ २ ॥

अथ ये कुतीर्थ्याः कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नास्तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह ।

---

१ अतीन्द्रियज्ञानिनां । २ योग्यतां । ३ छद्मस्थानां ।

अव जो कुमतावलम्बी कुशास्त्रोंकी गंधसे वासको प्राप्त हुए चित्तसे तीन लोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्रको स्वामी नहीं मानते है, उनको भी तत्त्वोंका विचार करनेके लिये शिक्षा देते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥

काव्यभावार्थः—हे नाथ ! यद्यपि गुणोंमें ईर्षाको धारण करनेवाले ये कुमतावलम्बी आपको स्वामी न मानैं, तथापि नेत्रोंको मींच करके सच्चे न्यायमार्गका विचार करैं ॥ ३ ॥

अमी इति । 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति वचनात्तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्त्वाद्विप्रकृष्टाः परे कुतीर्थिका भवन्तं त्वामनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि मा ईशं शिश्रियन् मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतो गुणेषु बद्धमत्सराः । गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया । यो हि यत्र मत्सरीभवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते । यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थ्यमिवास्थाय तान् प्रति हितशिक्षामुत्तरार्द्धेनोपदिशति । तथापि त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि लोचनानि नेत्राणि सम्मील्य मिलितपुटीकृत्य सत्यं युक्तियुक्तं नयवर्त्म न्यायमार्गं विचारयन्तां विमर्शविषयीकुर्वन्तु ।

व्याख्यार्थः—'अमी' ('अदस् शब्दका दूरवर्त्ती पदार्थको प्रकट करनेके लिये प्रयोग होता है' इस वचनसे) तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे रहित होनेके कारण दूर रखने योग्य '**परे**' कुमतावलम्बी '**भवन्तं**' अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाले ऐसे संपूर्ण गुणोंके स्थान आपको '**नाम**' भी '**ईशं**' स्वामी '**मा**' मत '**शिश्रियन्**' स्वीकार करो । क्योंकि, वे '**गुणेषु**' गुणोंमें '**असूयां**' ईर्षाको '**दधतः**' धारण करनेवाले हैं; अर्थात् गुणोंमें ईर्षा रखते हैं । भावार्थ—गुणोंमें दोषोंको प्रकट करना ही

१ इदमः प्रत्यक्षकृते समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् । १ ।

असूया (ईर्षा) है। जो जिस गुणमें ईर्षाको धारण करता है, वह उस गुणके धारकको भी नहीं स्वीकार करता है। जैसे ऊंट मधुर (मीठे) रसमें ईर्षाको रखता है, इस कारण वह मधुर रसके धारक पौंडे सांठोंके समूहको भी नहीं ग्रहण करता है। इसी प्रकार गुणोंमें ईर्षाके धारक वे कुवादी गुणोंको धारण करनेवाले आपको भी नहीं मानते हैं। इसप्रकार 'परमतावलम्बी भगवान्‌की आज्ञा नहीं मानते हैं' यह कहकर, स्तुतिकर्ता आचार्य एकवार उनमें मध्यस्थता (उदासीनपने) को ही मानों धारण करके, फिर भी उनको काव्यके उत्तरार्द्धसे हितका उपदेश देते हैं। 'तथापि' आपकी आज्ञाको स्वीकार न करने पर भी 'विलोचनानि' नेत्रोंको 'सम्मील्य' बंद (मींच) करके 'सत्यं' युक्तियों सहित 'नयवर्त्म' न्यायके मार्गको 'विचारयन्ताम्' विचारो।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैवं ज्ञापयत्याचार्यो यदवितथनयपथविचारणया तेषामेव फलं वयं केवलमुपदेष्टारः। किं तत्फलमिति चेत्प्रेक्षावत्तेति ब्रूमः। सम्मील्य विलोचनानीति च यदुक्तः प्रायस्तत्त्वविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्रायः। अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण वितीर्यते। ततोऽस्वदमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनायतिसुखत्वान्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम्।

'विचारयन्ताम्' यहांपर कर्त्ताके विषें फलको धारण करनेवाले आत्मनेपदका प्रयोग करनेसे आचार्य 'सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे उनको ही फल होगा, हमको नहीं। क्योंकि हम तो केवल उपदेश देनेवाले हैं' ऐसा अभिप्राय विदित करते हैं। सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे उनको क्या फल होगा? यह पूछो तो हम उत्तर देते हैं कि, 'वे प्रेक्षावान् (विचार करके काम करनेवाले) कहलाये जावेंगे' यही उनको फल होगा। 'सम्मील्य विलोचनानि' ऐसा कहते हुए आचार्य यह अभिप्राय सूचित करते हैं कि, चित्तकी एकाग्रताका कारणभूत जो नेत्रोंको बंद करना है, उस पूर्वक तत्त्वोंका विचार किया जाता है' ऐसा प्राय लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिये ये अन्यमती भी नेत्र बंद करके, सावधान होकर सच्चे न्यायमार्गका विचार करें। अथवा आचार्य यह उपदेश, उनको नहीं रुचता हुआ ही देते हैं। इसकारण नहीं रुचता हुआ भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखरूप होनेके कारण कटुकौषधपानन्यायसे उनको नेत्र बंद करके पी जाना ही चाहिये यह आशय है। भावार्थ—जैसे वैद्य रोगीको रोग दूर करनेके लिये कड़वी औषध देते हैं।

और रोगी उस कडवी औषधको अपने आराम होनेके लिये नेत्र बंद करके पी जाता है। वैसें ही यद्यपि वर्त्तमानमें यह उपदेश उनको अच्छा नहीं लगैगा। तथापि भविष्यमें सुख देनेवाला है, इसलिये इस उपदेशपर उनको नेत्रबंद करके विचार करना ही चाहिये।

ननु च यदि पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकिता तत्किमर्थं तान्प्रत्युपदेशक्लेश इति। नैवं। परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्। तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्। न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्।—"रूसउ वा परो मा वा विसं वा परियत्तउ॥ भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया। १।" उवाच च वाचकमुख्यः—"न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्॥ ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।१। इति वृत्तार्थः।

शंका—यदि अज्ञानकी अधिकतासे उनको अर्हन्त परमेश्वरके वचनमें अरुचि है, तो आप उनके प्रति उपदेश देनेका परिश्रम किसलिये करते हैं? **समाधान**—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, अन्यका उपकार करना ही है सारभूत वर्त्ताव जिनके, ऐसे जो महात्मा हैं, वे शिष्यकी रुचि अथवा अरुचिकी अपेक्षा न करके ही हितरूप उपदेशके देनेमें प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा देखा जाता है। क्योंकि, वे परार्थ (परोपकार) ही को स्वार्थरूप मानते हैं। और परमार्थसे (वास्तवमें) हितोपदेशके सिवाय दूसरा कोई परोपकार नहीं है। इस विषयमें ऋषियोंका वाक्य भी है कि, "जिसको उपदेश दिया जावे वह रोष करे अथवा न करै, वा चाहे वह उस उपदेशको विषरूप समझे। परन्तु ऐसे ही वचन बोलने चाहियें जो कि निजपक्षको गुण करें अर्थात् जिसमें अपना हित हो, वैसा ही उपदेश देना चाहिये, १।" और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वातिजी) भी कहते हैं कि—"हितरूप उपदेशके श्रवण करनेसे संपूर्ण श्रोताओंको धर्म होवै ही, ऐसा एकान्त अर्थात् निश्चय नहीं है, परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे जो हितोपदेशका कहनेवाला है उसको तो नियमसे धर्म होता ही है। १।" इस प्रकार तृतीय काव्यका अर्थ है॥ ३॥

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह॥

१ शिष्यविषयां। २ वानपेक्ष्य इत्यपिपाठः। ३ रुष्यतु वा परो मा वा, विषं वा पर्यटतु। भाषितव्या हिता भाषा, स्वपक्षगुणकारिका।१। इतिच्छाया. ४ उमास्वातिरिति।

अब यथार्थ नयमार्गके विचारका ही विस्तार करनेके लिये परमतियोंके माने हुए तत्त्वोंकी प्रमाणताको दूर करते हुए और प्रथम ही ६ काव्योंद्वारा वैशेषिकमतके तत्त्वोंको दूषित करनेकी इच्छा रखते हुए आचार्य सबसे प्रथम उन वैशेषिकतत्त्वोंके मध्यमें गिरनेवाले जो सामान्य और विशेष नामक दो पदार्थ हैं उनको दूषित करनेके लिये इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपा. ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥

काव्यभावार्थ.—पदार्थ अपने आप ही अनुवृत्ति तथा व्यतिवृत्तिको धारण करते हैं । उनका स्वरूप अन्य किसी पदार्थसे प्रतीत होने योग्य नहीं है । इसकारण जो अकुशलवादी असत्यस्वरूप और पदार्थसे भिन्न ऐसे सामान्य तथा विशेषसे अनुवृत्ति (सामान्य) और व्यतिवृत्ति (विशेष) प्रत्ययका कथन करते हैं वे पतनको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या । अभवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावाः पदार्था आत्मपुद्गलादयस्ते स्वत इति । सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्तीति स्वत एवात्मीयस्वरूपादेवानुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः । एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः, व्यतिवृत्तिर्व्यावृत्तिर्विजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदस्ते उभे अपि संवलिते भजन्ते आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थः—'भावाः' जो हो चुके, हो रहे हैं और होवेंगे, वे भाव अर्थात् आत्मा, पुद्गल आदि पदार्थ हैं । वे 'स्वतःएव' [यहां आचार्य सब वाक्योंको एवकारसहित कहते हैं, इसकारण एवका अध्याहार किया गया है] अपने आप ही 'अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः' एक आकारवाली प्रतीति और एक शब्दसे कहने योग्यता जो है, उसको अनुवृत्ति (सामान्य)

---

१ अन्वयव्यतिरेकयुक्ताः । २ एवकारसहितं ।

कहते हैं, और विजातीय पदार्थोंसे जो सर्वथा जुदापना है, उसको व्यतिवृत्ति (विशेष) कहते हैं। मिले हुए इन दोनोंको भी जो धारण करें, वे अनुवृतिव्यतिवृत्तिभाज हैं। अर्थात् सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप हैं।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह। न भावान्तरनेयरूपा इति। नेति निषेधे। भावान्तराभ्यां पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां नेयं प्रतीतिविषयं प्रापणीयं रूपं यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः। स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति। तथा हि घट एव तावत्पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते। स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते। इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम्। पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात्। न च धर्म्मा धर्म्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः। एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽनुपपत्तेः। करभरासभयोरिव धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशाऽभावप्रसङ्गाच्च। धर्म्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः। अनन्तधर्म्मकत्वाद्वस्तुनः।

अब इसी अर्थके व्यतिरेकका कथन करते हैं। 'न भावान्तरनेयरूपाः' [यहां 'न' निषेध अर्थमें है] पदार्थ वैशेपिकोंके माने हुए जो द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय नामक पदार्थ हैं, उनसे भिन्न जो सामान्य तथा विशेष है, उन करके नेय अर्थात् प्रतीतिके गोचर करने योग्य है स्वरूप जिनका, ऐसे नहीं है। क्योंकि सब पदार्थोंका यह स्वभाव ही है कि, वे अनुवृत्ति और व्यतिवृत्ति प्रत्ययको स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। सो ही दिखलाते है कि, जैसे पृथु (मोटे) और बुध्न (गोल) ऐसे उदर (पेट) आदिके आकारको धारण करनेवाला घड़ा जब प्रथम ही प्रतीत होता है, तब अपने जैसे आकारको धारण करनेवाले जो अन्य (दूसरे) पदार्थ हैं, उनको भी घट रूपतासे और 'घट' इस एकशब्दवाच्यतासे विदित करता हुआ 'सामान्य' इस नामको धारण करता है। और वही घड़ा अपनी जातिवाले जो दूसरे घट हैं, उनसे तथा अपनी जातिसे भिन्न जो पट आदि हैं, उनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल

१ उच्चारणं। २ अनिष्टापादनं प्रसङ्गः।

और भावद्वारा अपनेको जुदा करता हुआ ' विशेष ' इस नामको धारण करता है। इस कारण तुमने जो सामान्य और विशेषको पदार्थोंसे भिन्न पदार्थ माने हैं, सो न्याय (उचित) नहीं है। क्योंकि वे दोनों अन्य पदार्थोंके धर्मरूप ही प्रतीत होते हैं। और धर्मीसे धर्म अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। क्योंकि, यदि धर्म और धर्मीके सर्वथा भेद मान लिया जावे तो ' यह विशेषण है और यह विशेष्य है' इस प्रकारका जो विशेषणविशेष्यभाव संबन्ध है, उसकी सिद्धि न होगी। और जैसे ऊंट और गर्दभ (गधे) में अत्यन्त भिन्नताके कारण धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है, उसी प्रकार पदार्थोंमें भी अत्यन्त भिन्नताके कारण धर्मधर्मीभाव न होगा; अर्थात् यह पदार्थ इन धर्मोंका धर्मी है, और यह धर्मी (पदार्थ) इन धर्मोंको धारण करनेवाला है, इस प्रकारका जो व्यवहार है, उसके अभावका प्रसंग होगा। तथा यदि धर्मोंको भी भिन्न पदार्थ मानोगे तो, एक ही वस्तुमें अनन्त पदार्थ माननेका प्रसंग होगा। क्योंकि, वस्तु अनन्त धर्मोंका धारक है।

तदेवं सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अकुशला अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयस्तीर्थान्तरीयाः स्खलन्ति न्यायमार्गाद्भ्रश्यन्ति निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थः। स्खलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता व्यज्यते। किं कुर्वाणाः द्वयं अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं प्रत्ययद्वयं वदन्तः। कस्मादेतत्प्रत्ययद्वयं वदन्त इत्याह—परात्मतत्त्वात्परौ पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ तयोर्यदात्मतत्त्वं स्वरूपमनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षण तस्मात्तदाश्रित्येत्यर्थः। ' गम्ययपः कर्माधारे ' इत्यनेन पञ्चमी। कथंभूतात्परात्मतत्त्वादित्याह। अतथात्मतत्त्वात्। माभूत्पराभिमतस्य परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम्। यथा येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परैः प्रकल्पितं न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा तस्मात्। यतः पदार्थेभ्यः<u>विष्वग्भावेन</u>[1] सामान्यविशेषौ वर्त्तेते। तैश्च तौ तेभ्यः परत्वेन कल्पितौ परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाऽविनाभावि।

सो इसप्रकार सामान्य और विशेषके स्वरूपको यथावत् (जैसा है वैसा) नहीं समझते हुए ' अकुशलाः ' अतत्त्वको तत्त्व माननेमें दुराग्रहरूप है दृष्टि (बुद्धि) जिनकी ऐसे, अन्यमती ' स्खलन्ति ' न्यायके मार्गसे गिरते हैं अर्थात् उत्तररहित होते

---

१ पदार्थेभ्यः । २ अभिन्नभावेन ।

हैं । [यहांपर ‘ स्खलन ’ इसके कहनेसे ‘ प्रामाणिक जनोंसे हंसे जाते है ’ यह अर्थ ध्वनित होता है] । क्या करते हुए स्खलित होते हैं ‘ द्वयं ’ अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप लक्षणके धारक जो दो प्रत्यय हैं, उनको ‘ वदन्तः ’ कहते हुए स्खलित होते हैं । किससे इन दो प्रत्ययोंको कहते हुए स्खलित होते है ? इस आशंकामें कहते हैं कि ‘ परात्मतत्त्वात् ’ पदार्थोंसे भिन्न होनेके कारण अन्य और आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा (जरूरत) को नहीं धारण करनेवाले ऐसे जो सामान्य और विशेष है, उनका जो आत्मतत्त्व अर्थात् अनुवृत्ति तथा व्यावृत्तिरूप स्वरूप है, उससे अर्थात् उसका आश्रय करके [यहांपर ‘ गम्ययपःकर्माधारे ’ इस सूत्रसे पंचमी विभक्ति हुई है] कैसे परात्मतत्त्वसे ? इस आशंकापर कहते हैं ‘ अतथात्मतत्त्वात् ’ [अन्य मतियोंद्वारा माना हुआ जो परात्मतत्त्व है वह सत्य न हो इसलिये यह विशेषण दिया गया है] जिस एकान्तभेदरूप लक्षणके धारक प्रकारसे वैशेषिकोंने माना है, उस प्रकार नहीं है स्वरूप जिसका ऐसे परात्मतत्त्वसे । क्योंकि, सामान्य तथा विशेष ये दोनों पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्थित है और वैशेषिकोंने इन दोनोंको पदार्थोंसे पर (जुदे) माने है । परका अर्थ अन्य है और वह अन्यपना सर्वथा भेद माने विना नहीं हो सकता है ।

किञ्च पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयं अनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्यय-द्वयं नोपपद्येते । एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः, सामान्यविशेषव्यवहाराऽभावश्च स्यात् सामान्यविशेषो-भयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते । अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रिययोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते । यो ह्यन्यथा स्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम् । इति वृत्तार्थः ॥ ४ ॥

और यह भी विशेष है कि, यदि पदार्थोंसे सामान्य और विशेषके सर्वथा भेद मानलिया जावे, तो एक वस्तुमें विषयके धारक अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप दो प्रत्यय सिद्ध न होवें । तथा यदि सर्वथा अभेद मानें तो दोनोंमेंसे किसी एकके अभावका प्रसंग आवे, और सामान्यविशेषरूप जो व्यवहार है, उसका भी अभाव होवे । क्योंकि, प्रमाणद्वारा सामान्य तथा विशेष इन दोनों रूपतासे ही वस्तुकी प्रतीति होती है अर्थात् सामान्य—विशेष स्वरूप ही पदार्थ प्रमाणसे जाना जाता है । [सामान्य और विशेष ये दोनों परस्पर अपेक्षा

रहित हैं, यह पक्ष जो कह आये हैं, इसका खंडन आगे करेंगे।] इसी लिये उन वादियोंके स्खलन क्रियासे हास्यकी योग्यता प्रकट की जाती है। क्योंकि, जो अन्य प्रकारसे स्थित वस्तुके स्वरूपको आप अन्य प्रकारसे मानता है और अन्य पुरुषोंको भी उसी प्रकार समझाता है, वह आप नाशको प्राप्त होकर दूसरोंका भी नाश करता है। इसलिये निश्चयकर उसके सिवाय कोई दूसरा हास्यका पात्र नहीं है। इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ४ ॥

अथ तदभिमतावेकान्तनित्यानित्यपक्षौ दूषयन्नाह ।

अब वैशेषिकमतवालोंके अभीष्ट जो एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्ष हैं, उन दोनों एकान्तपक्षोंमें दोष देते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

काव्यभावार्थः—दीपकसे लेकर आकाश पर्यन्त अर्थात् समस्त ही पदार्थ समान स्वभावके धारक हैं। क्योंकि, सब ही पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते हैं। तथापि उनमें दीपक आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा अनित्य हैं और आकाश आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। इस प्रकार आपकी आज्ञासे द्वेष रखनेवालोंके अर्थात् वैशेषिक मतवालोंके प्रलाप हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या। आदीपं दीपादारभ्य आव्योम व्योम मर्यादीकृत्य सर्वं वस्तु पदार्थस्वरूपं समस्वभावं समस्तुल्यः स्वभावः स्वरूपं यस्य तत्तथा। किञ्च—वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः। तथा च वाचकमुख्यः— "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति। समस्वभावत्वं कुत इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह। स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा मर्यादा तां नाऽतिभिनत्ति नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि। यथा हि न्यायैकनिष्ठे

राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्त्तितुमीशते। तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् । एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति । तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ॥

व्याख्यार्थः—'आदीपं' दीपकसे लेकर 'आव्योम' आकाशपर्यन्त 'वस्तु' सब पदार्थोंका स्वरूप 'समस्वभावं' समान (एकसे) स्वभाववाला है । किंच हम 'वस्तुका स्वरूप द्रव्य और पर्यायरूप है' ऐसा कहते हैं । और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वाति)ने भी "जो उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) तथा ध्रौव्य (नित्यता)से युक्त है, वह सत् (वस्तु) है" इसी प्रकार वस्तुका लक्षण कहा है । सब वस्तु समान स्वभावका धारक कैसें है ? इस आशंकामें विशेषण द्वारा हेतुका कथन करते हैं । 'स्याद्वादमुद्रानतिभेदि' 'स्यात्' यह अनेकान्तको सूचित करनेवाला अव्यय है । इस कारण स्याद्वादका अर्थ अनेकान्तवाद अर्थात् नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक एक वस्तुका स्वीकार करना है । उस स्याद्वादकी मुद्रा अर्थात् मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला नहीं है । भावार्थ—जैसे न्यायमें ही तत्पर ऐसा कोई राजा राज्यलक्ष्मीका शासन करता हो, तो समस्त प्रजा उसकी मुद्रा (मोहर) का उल्लंघन नहीं कर सकती है । क्योंकि, उसके उल्लंघन करनेसे उस प्रजाके सर्वस्व (सब धन)का नाश हो जावे । इसीप्रकार कंटक (शत्रु) रहित, और विजयी ऐसे स्याद्वादरूपी महाराजके विद्यमान रहते हुए, सब ही पदार्थ उस स्याद्वादकी मुद्राका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं । क्योंकि, उसका उल्लंघन करनेपर उनके अपने स्वरूपकी जो व्यवस्था (स्थिति) है, उसके नाशका प्रसंग होता है ॥

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपाद्यनित्यमेव, इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम्। सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात्[1]पुनरनित्याः। तत्रैकान्ताऽनित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ।

आचार्यने जो 'सब पदार्थ समान स्वभावके धारक है' ऐसा कहा है, सो 'आकाश आदि एक पदार्थ नित्य ही हैं और दूसरे प्रदीप आदि पदार्थ अनित्य ही है' इसप्रकार जो वैशेषिकोंका माना हुआ एकान्तवाद है, उसके खंडन करनेमें बीज (कारण)

१ प्राधान्यात्, अपेक्षातो वा ।

है अर्थात् आचार्य इसीके आधारपर एकान्तवादका खंडन करेंगे। क्योंकि, सब ही पदार्थ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अनित्य हैं। उनमें प्रथम ही परवादियोंने जिस दीपकको एकान्त अनित्य माना है, उसी दीपकमें नित्य तथा अनित्यरूप दोनों धर्म सिद्ध करनेके लिये कुछ कहते हैं॥

तथा हि– प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतस्तैलक्षयाद्वावाभिघाताद्वा ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः। पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात्तेषाम्। नह्येतावतैवाऽनित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः। न खलु मृद्द्रव्यं स्थासककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्। तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्। न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्। चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः। प्रदीपालोकवत्॥

सो ही दिखलाते हैं कि, दीपककी पर्यायको प्राप्त हुए जो तेजके परमाणु हैं, वे यद्यपि स्वभावसे, तेलके न रहनेसे अथवा पवनकी टक्कर लगनेसे, अपने प्रकाशरूप पर्यायको छोड़कर तम (अंधकार) रूप जो दूसरा पर्याय है, उसको प्राप्त होते हैं, तथापि एकान्तसे अनित्य नहीं हैं। क्योंकि, वे तेजके परमाणु पुद्गलद्रव्यरूपतासे, उस तमरूप पर्यायमें भी विद्यमान हैं। और पूर्व पर्यायका नाश तथा उत्तर पर्यायका जो उत्पन्न होना है, इतने ही से दीपकमें अनित्यता नहीं हो सकती है। क्योंकि, मृत्तिका (मिट्टी) द्रव्य यद्यपि स्थासक (चाकपर धरा हुआ मिट्टीका पिंड), कोश (उस मिट्टीके पिंडका बना हुआ आकार), कुशूल (उस बने हुए आकार पर हाथ फेरनेसे उत्पन्न हुआ एक प्रकारका आकार), शिवक (कपाल), घट (घड़ा) इत्यादि रूप भिन्न २ अवस्थाओंको प्राप्त होता है, तथापि सर्वथा नष्ट नहीं होता है। क्योंकि, उन स्थासक आदि पर्यायोंमें बालकसे लेकर गोपाल (ग्वालिये) तक सबोंके मृत्तिकाद्रव्यकी प्रतीति होती है अर्थात् सभी स्थासक आदिमें मृत्तिकाद्रव्यको स्वीकार करते हैं। और तमके पौद्गलिकत्व (पुद्गलका पर्यायपना) असिद्ध नहीं है। क्योंकि, जैसे प्रदीपका प्रकाश पौद्गलिक होनेसे चाक्षुष (नेत्रोंका विषय) है, उसी प्रकार तम भी पौद्गलिक होनेसे ही चाक्षुष है। और यदि तुम तमको पौद्गलिक न मानो तो वह चाक्षुष भी नहीं हो सकता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि तम पौद्गलिक है।

---

1 स्वभावतः।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमस्तत्कथं चाक्षुषम्। नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते। विचित्रत्वाद्भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः, प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्।

शंका—जो चाक्षुप पदार्थ है, वह अपने देखे जानेमें प्रकाश (उजाले) की अपेक्षा (जरूरत) रखता है। और तम ऐसा नहीं है अर्थात् विना प्रकाशके ही देखनेमें आता है। इसलिये आप तमको चाक्षुप कैसे कहते हैं? समाधान—यह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि, जो चाक्षुप पदार्थ तुमको प्रकाशके विना नहीं दीख पड़ता है, वही चाक्षुप पदार्थ उलूक (घूघू) आदिको प्रकाशके विना भी दीखनेमें आता है। और जिन हम तुम वगैरहको जो दूसरा चाक्षुप घटादिक पदार्थ प्रकाशके विना नहीं दीखता है, उन्हीं हम तुम वगैरहको चाक्षुप तम प्रकाशके विना भी देखनेमें आवेगा। क्योंकि, पदार्थ विचित्र हैं अर्थात् सब पदार्थ एकसे नहीं हैं। यदि पदार्थोंमें विचित्रता न हो, तो पीत (पीला) सुवर्ण और श्वेत (सफेद) मोती वगैरह तो अपने देखे जानेमें प्रकाशकी अपेक्षा क्यों रखते हैं? और पीत ऐसा भी दीपक तथा श्वेत ऐसा भी चंद्रमा आदि पदार्थ अपने देखे जानेमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा क्यों नहीं रखते हैं? भावार्थ—पदार्थ विचित्र हैं, इस कारण जैसे सोना मोती आदि कितने ही पदार्थ प्रकाशके विना नही दीख पड़ते हैं, और दीपक आदि प्रकाशके विना दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार हम तुम घट आदि पदार्थोंको प्रकाशसे देखते हैं और तमको विना प्रकाशके ही देखते हैं। इस प्रकार 'तम चाक्षुप है' यह जो हमारा कथन है सो सिद्ध हो गया।

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते। शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिविडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि। तुल्ययोगक्षेमत्वात्।

और तम रूप (नीलवर्ण) को धारण करता है, इसलिये स्पर्शका धारक भी प्रतीत होता है। क्योंकि, शीत स्पर्शकी प्रतीतिको उत्पन्न करता है अर्थात् ज्यों ज्यों अधिक अंधकारमें जाते हैं त्यों त्यों ठंडापन मालुम पड़ता है। इसलिये तम जैसे-

रूपवाला है, वैसे ही स्पर्शवाला भी है। और जो तमको पौद्गलिक न माननेके लिये वादियोंने " अनिविडावयवत्व (कठोर अवयवपना न होना) १ अप्रतिघातित्व (किसीसे रुकनेवाला न होना) २ अनुद्भूतस्पर्शविशेषत्व (इंद्रियोंसे ग्रहण करने योग्य किसी स्पर्शवाला न होना) ३ अप्रतीयमानखंडावयविद्रव्यप्रविभागित्व (खंडित अवयवीरूप द्रव्यके विभागकी प्रतीतिका न होना) ४ इत्यादि साधन दिये हैं " इनका प्रदीपकी प्रभाके दृष्टान्तसे खंडन कर देना चाहिये। क्योंकि, तुल्ययोगक्षेम है। भावार्थ—जैनी तो तमको पुद्गलका पर्याय मानते हैं और वैशेषिक कहते हैं कि, तम पौद्गलिक नहीं है। क्योंकि, "प्रथम तो जो पौद्गलिक होता है, उसके अवयव लोह वगैरहके समान कठोर होते हैं। और तमके अवयव कठोर नहीं हैं। दूसरे पौद्गलिक पदार्थ किसीके आडे आजानेसे रुक जाता है। और तम किसीसे रुकता नहीं है। तीसरे पौद्गलिक पदार्थका स्पष्ट रीतिसे स्पर्श होता है। और तमका स्पर्श नहीं होता है। चौथे पौद्गलिक पदार्थके अवयवीके खड भी होते हैं। जैसे, कि, वस्त्र आदिके खंड होते हैं। परन्तु तमके खड (टुकडे) नहीं होते हैं।" इनका खडन जैनी इस प्रकार करते हैं कि, तुमने जो दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानी है, उसमें भी जो गुण तममें नहीं हैं वे नहीं हैं। इसलिये जैसे तुमने प्रदीपकी प्रभाको पौद्गलिक मानी है, उसी प्रकार तुमको तम भी पौद्गलिक मानना चाहिये।

न च वाच्य तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति। पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात्। दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद्भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः। इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः। यदापि निर्वाणादर्वाग् देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपस्यान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव।

और ' तेजके परमाणु तम रूप कैसे परिणम गये ? अर्थात् अंधकार रूप कैसे हो गये ? ' ऐसी शंका न करनी चाहिये। क्योंकि, उन उन सामग्रियों सहित जो पुद्गल हैं, उनके असमान कार्यकी उत्पत्ति भी देखते हैं। अर्थात् सहकारी कारणोंके मिलनेपर पुद्गलोंसे विसदृश कार्य भी उत्पन्न होते हैं। यह नियम नहीं है कि, तेजके परमाणुओंसे तेजरूप ही दूसरा कार्य हो। क्योंकि, गीले ईंधनके संयोगके वशसे भास्वर (प्रकाशमान) स्वरूपका धारक जो अग्नि है, उससे अभास्वर (*कांति रहित*)

ऐसे धूमरूप कार्यकी उत्पत्ति देखते हैं। भावार्थ—जैसे गीले इंधनके संयोगसे अग्नि धूमको उत्पन्न करता है। उसी प्रकार सामग्रीविशेषसे तेजके परमाणु भी तमको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार दीपकमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए। और बुझनेके पहले जब कि जलता हुआ दीपक है, उसमें भी नये नये पर्यायोंकी उत्पत्ति तथा नाश होनेसे अनित्यत्व है। और उन सभी पर्यायोंमें दीपकका संबंध है, इसलिये नित्यत्व है। इस प्रकार दीपकमें नित्य और अनित्यरूप दोनों ही धर्म रहते है॥

एवं व्योमाप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव। तथा हि—अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह[1] एव तल्लक्षणम्।" अवकाशदमाकाशम्" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो[2] विस्रसातो[3] वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन्प्रदेशे विभागः[4] उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः[5]। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्म्मौ, तद्भेदे चावश्यं धर्म्मिणो भेदः। तथा चाहुः " अयमेव हि भेदो[6] भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्म्माध्यासः कारणभेदश्चेति "। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्। उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम्।

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य (स्थिरता) स्वरूप होनेसे आकाश भी नित्य और अनित्य, इन दोनों धर्मोंका ही धारक हैं। तथाहि—'अवकाशको देनेवाला आकाश है' इस वचनसे 'आकाशके भीतर रहनेवाले जो जीव तथा पुद्गल है, उनको स्थान देकर, उनका उपकार करना' यही आकाशका लक्षण है। और जब उसमें रहनेवाले जीव तथा पुद्गल किसी दूसरेकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे एक आकाशके प्रदेशसे दूसरे आकाशके प्रदेशमें गमन करते हैं; तब उस आकाशका उन रहनेवाले जीव और पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें तो विभाग (वियोग) होता है। और दूसरे प्रदेशमें संयोग होता है। भावार्थ—लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी हैं, इसलिये जब इसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जीव पुद्गल जाते हैं, तब आकाशके

१ उपकारः। २ पुरुषशक्तितः। ३ स्वभावतः। ४ प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः। ५ अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति. संयोगः। ६ उभयथा भेदो वस्तूनां लक्षणभेदात्कारणभेदाच्चेति। अयमेव हि घटपटयोर्भेदो यज्जलाहरणादिशीतत्राणादिविरुद्धधर्माध्यासः॥ अयमेव हि भेदहेतुर्वा यन्मृत्पिण्डादितन्त्वादिकारणभेदः।

एक प्रदेशमें विभाग और दूसरेमें संयोग होता है। और संयोग तथा विभाग ये दोनों परस्पर विरोध रखनेवाले धर्म हैं। अर्थात् जहां संयोग रहता है, वहां विभाग, नहीं रह सकता है और जहां विभाग रहता है, वहां संयोग नहीं रह सकता है। इसलिये जब कि, संयोग और विभागमें भेद हुआ अर्थात् संयोग जुदा और विभाग जुदा रहा तो धर्मी (इन दोनों संयोग और विभाग रूप धर्मोंको धारण करनेवाला) जो आकाश है, उसके भी अवश्य ही भेद हुआ। सो ही कहा है कि, जो "विरुद्ध धर्मोंका रहना है, सो तो भेद है और जो भिन्न २ कारणोंका होना है, वही भेदका कारण है। भावार्थ—पदार्थोंका लक्षणके भेदसे अथवा कारणके भेदसे भेद होता है। जैसे घट और पटमें यही भेद है कि, घट तो जल लाने आदिरूप धर्मोंको धारण करता है और पट (वस्त्र) शीतसे बचाने आदिरूप धर्मोंको धारण करता है। और यही इन दोनोंमें भेद कारण है कि; घट तो मृत्तिकाके पिंड आदिरूप कारणोंसे उत्पन्न होता है और पट तंतु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है। और जब धर्मोंके भेदसे धर्मीमें भेद हुआ, तो, यह आकाश पूर्वपदार्थका जो संयोग था उस संयोगके विनाशरूप परिणामको धारण करनेसे नष्ट हुआ और दूसरे प्रदेशमें जो पुद्गलका संयोग हुआ इस कारण उस संयोगके उत्पाद (उत्पत्ति) नामक परिणामको अनुभवन (धारण) करनेसे यह आकाश उत्पन्न हुआ। और आकाश द्रव्य उन दोनों विनाश और उत्पादरूप अवस्थाओंमें द्रव्यरूपसे अनुगत (चला आ रहा) है अर्थात् विद्यमान है, उसका नाश नहीं हुआ है, इसलिये उत्पाद और व्यय इन दोनोंका एक आकाश ही अधिकरण अर्थात् रहनेका स्थान है॥

तथा च "यदप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते तदपास्तम्। एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "तद्भावाऽव्ययं नित्यम्।" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्। उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद्यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः। न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः। "द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः। क कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा। १।" इति वचनात्। न चाकाशं न द्रव्यम्।

---

१ निरवाधक।

और इस पूर्वोक्त कथनसे " जो कभी अपने खरूपसे गिरै नहीं, अर्थात् नष्ट न हो, उत्पन्न न हो और स्थिर एकरूप रहै, वह नित्य है " ऐसा जो वादियोंने नित्यका लक्षण कहा है, उसका खंडन होगया। क्योंकि, जिसका नाश और उत्पाद न हो और सदा स्थिर एक रूप रहै, ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। और जैनतत्त्वार्थसूत्रकारने "**तद्भावाव्ययं नित्यम्**" (पदार्थके स्वभावका जो नाश न होना है, सो नित्य है) यह जो नित्यका लक्षण कहा है, वह तो सत्य है। क्योंकि, 'उत्पाद और विनाशके होनेपर भी संबंधित स्वरूप जो पदार्थका भाव (स्वरूप) है उससे जो नष्ट न हो अर्थात् रहित न हो, वह नित्य है' यह जो नित्यका अर्थ है, वह पदार्थोंमें घटता हुआ है अर्थात् सिद्ध है। और यदि वादियोंका माना हुआ जो अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त लक्षणका धारक नित्य है, उसको स्वीकार किया जाय तो उत्पाद और व्ययके निराधारताका प्रसंग हो जावे अर्थात् उत्पाद और व्ययका कोई भी पदार्थ आधार न रहै। और हम जो उत्पाद तथा व्ययका पदार्थमें संयोग मानते है, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं होती है। क्योंकि, " पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय किसीने किसी समय किसी स्थलमें किसी रूपवाले किसी प्रमाणसे भी नहीं देखे है? अर्थात् कोई भी कहीं भी किसी भी प्रमाणसे पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय नहीं देख सकता है। १। ऐसा जैनशास्त्रोंका वचन है। और आकाश द्रव्य नहीं है ऐसा नहीं है; अपि तु है ही है।

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम्। घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं तदा पटाकाशमिति व्यवहारः। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिणामवशात्कल्पितभेदं सत्प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति। तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिस्ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदस्तासां ततोऽविष्वग्भावात्। इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः।

तथा जैनी ही आकाशको नित्य-अनित्य मानते हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि, लौकिक अर्थात् सर्वसाधारण जन है, उनके भी " यह, घटका आकाश है, यह पटका आकाश है" ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है। इस लिये वे भी आकाशको नित्यानित्य ही मानते हैं। क्योंकि घटका आकाश जब घटके दूर होजानेपर पटसे युक्त होता है, तब पटाकाश ऐसा व्यवहार होता है। और यह व्यवहार उपचारसे

उत्पन्न हुआ है इस कारणसे अप्रमाण है, यह भी तुम नहीं कह सकते हो। क्योंकि, जो उपचार होता है, वह भी किसी न किसी साधर्म्यद्वारा मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता है अर्थात् मुख्य अर्थके अनुकूल ही प्रवर्त्तता है। क्योंकि, आकाशका जो सर्वव्यापक (सबमें फैल कर रहने) रूप मुख्य परिमाण है, वह उसमें रहनेवाले जो घट पट आदि हैं, उन घटपटादिकसे संबंध रखनेवाला जो नियत परिमाण है, उसके वशसे भेदकी कल्पनाको प्राप्त होकर, उन प्रतिनियत घट आदि देशोंमें व्यापीपनेसे व्यवहारमें लाया जाता है, तब घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहारोंका कारण होता है। और व्यापकरूपसे स्थित जो आकाश है, उसके भी उन २ घटपट आदिका संबंध होनेपर एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति होती है। और जब अवस्थाका भेद हुआ तो उन अवस्थाओंका धारक जो आकाश है उसका भी भेद हुआ। क्योंकि, ये अवस्थायें आकाशसे व्याप्त (अभिन्न) होकर रहती हैं। इसप्रकार आकाशमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए॥

स्वायम्भुवा अपि हि नित्याऽनित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः। तथा चाहुस्ते-त्रिविधः खल्वयं धर्म्मिणः परिणामो धर्म्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्णं धर्म्मि। तस्य धर्म्मपरिणामो वर्द्धमानरुचकादिः। धर्म्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः। यदा खल्वयं हेमकारो वर्द्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्द्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते। रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतामापद्यते। वर्तमानतापन्न एव रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्म्मिणः। धर्म्मलक्षणावस्थाश्च धर्म्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात्तन्नित्यत्वेन नित्याः। भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वम्। इत्युभयमुपपन्नमिति।

सांख्यमतवालोंने भी पदार्थको नित्य तथा अनित्य ही माना है। सो ही वे सांख्य कहते हैं, कि-"धर्मीका जो परिणाम है, वह धर्म १ लक्षण २ और अवस्था ३ इन भेदोंसे तीन प्रकारका है। जैसे कि, सुवर्ण धर्मी है। उस सुवर्णका जो वर्द्धमान (प्याला) तथा रुचक (कठा) आदि पर्याय है, वह धर्मीका धर्मपरिणाम १ है। और धर्मका जो भविष्यत् काल आदिमें होना है, वह

---

१ सांख्याः। २ मौलाभरणं॥

धर्मीका लक्षणपरिणाम २ है । अर्थात् जब यह सुवर्णकार (सोनी) वर्द्धमानको तोड़कर रुचक बनाता है, तब वर्द्धमान वर्त्तमानता (विद्यमानपने रूप) लक्षणको त्याग कर अतीतता (हो चुकनेरूप) लक्षणको प्राप्त होता है । और रुचक अनागतता (होनेवाले रूप) लक्षणको छोड़कर, वर्तमानता लक्षणको ग्रहण करता है । और वर्त्तमानताको प्राप्त जो रुचक है, वही नयेपनेको तथा पुराणेपनेको धारण करता हुआ धर्मीके अवस्थापरिणामवाला होता है । वह जो यह तीन प्रकारका परिणाम है, सो धर्मीका है । और धर्म, लक्षण, तथा अवस्था ये तीनों धर्मीसे भिन्न भी है तथा अभिन्न भी हैं । तथा वे धर्म लक्षण और अवस्थारूप परिणाम धर्मीसे अभिन्न हैं, इस कारण धर्मीकी नित्यतासे नित्य हैं । और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण उत्पत्ति तथा विनाशके विषय हैं । अर्थात् अनित्य हैं । **भावार्थ**—सांख्यमतवाले पदार्थके पर्यायोंको धर्म मानते हैं । पर्यायोंमें जो कालका परिवर्तन है, उसको लक्षण कहते हैं । और वर्त्तमानपर्यायमें जो नया पुराणापन होता है, उसको अवस्था कहते हैं । ये तीनों किसी अपेक्षासे पदार्थसे अभिन्न होनेके कारण नित्य है । और किसी अपेक्षासे पदार्थसे भिन्न हैं, इसलिये अनित्य हैं । इस प्रकार पदार्थमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध होते हैं ।

अथोत्तरार्द्धं विव्रियते । एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव । इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते । इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः । अनन्तधर्म्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्म्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्म्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात् । इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां प्रलापाः प्रलपितान्यसम्बद्धवाक्यानीति यावत् ।

अब काव्यके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हैं । इस पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थोंके उत्पाद विनाश और ध्रौव्य स्वरूपता सिद्ध होने पर भी **‘तत्’** वह **‘एकं’** आकाश, आत्मा आदि एक प्रकारके पदार्थ **‘नित्यं’** नित्य **‘एव’** ही है । और **‘अन्यत्’** दीपक, घट आदि दूसरे पदार्थ **‘अनित्यं’** अनित्य **‘एव’** ही है । [यहां नित्यके साथ जो **‘एव’** पद लगाया गया है, वह अनित्यके साथ

१ निश्शेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषां वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताः सङ्गिनः । औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नयाश्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युः सदा दुर्नयाः ॥ १ ॥ इति नयदुर्नयलक्षणम् । २ यत्कक्षाः ३ प्रकारेण ।

भी लगाया जाता है] और इस प्रकार माननेमें दुर्नयवादकी प्राप्ति होती है। क्योंकि, "अनन्तधर्मस्वरूप जो वस्तु है, उसमें विद्यमान अन्य सब धर्मोंको दूर करके प्रवर्त्त होते हुए और अपने अभीष्ट जो नित्यत्व आदि रूप एक धर्म है, उसको सिद्ध करनेमें तत्पर ऐसे जो नय हैं, वे दुर्नय हैं।" यह उन दुर्नयोंका लक्षण है। 'इति' इस प्रकारसे "त्वदाज्ञाद्विषतां" आपके कहे हुए मतसे विरोध रखनेवाले वादियोंके 'प्रलापाः' संबंधरहित वाक्य (बकवाद) हैं॥

अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्याऽनित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तम्। तदेवं ज्ञापयति यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथंचित्, यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथंचित्। प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाभ्युपगमात्। तथा च प्रशस्तकार[1] –"सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या। कार्यलक्षणात्वनित्या इति।

यहां पर आचार्यने श्लोकके पूर्वार्धमें "आदीपं" इत्यादिसे वादियोंकी प्रसिद्धिसे (वादियोंके मतके अनुसार) पहले अनित्य-पदका कथन किया है। तो भी उत्तरार्धमें क्रमका उल्लंघन करके पहिले यह एक पदार्थ नित्य ही है, इस प्रकार जो नित्य पक्षको कहा है अर्थात् जैसे पूर्वार्धमें पहले अनित्य और पीछे नित्यका कथन किया है, इसी प्रकार उत्तरार्धमें भी पहले अनित्य और पीछे नित्य कहना चाहिये था, परंतु आचार्यने ऐसा न करके उत्तरार्धमें पहले नित्य और पीछे अनित्य कहा है। सो यह जनाता है, कि, जो अनित्य है, वह भी कथंचित् नित्य ही है। और जो नित्य है, वह भी किसी अपेक्षासे अनित्य ही है। क्योंकि वैशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमें नित्यत्व तथा अनित्यत्व रूप दोनों धर्म स्वीकार किये हैं। सो ही वैशेषिक दर्शनपर प्रशस्तभाष्यके बनानेवाले कहते हैं, कि वह पृथिवी दो प्रकारकी है। एक नित्य और दूसरी अनित्य। इनमें परमाणुरूप जो पृथ्वी है, वह तो नित्य है, और कार्यरूप जो पृथ्वी है, वह अनित्य है।"

न चात्र परमाणुद्रव्यकार्यलक्षणविषयद्वयभेदान्नैकाधिकरणं नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम्। पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। एवमबादिष्वपीति। आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात्तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव।

---

१ भाष्यकारः। २ प्रसुतवादिकमणा।

तथा च स एवाह–"शब्दकारणत्ववचनात्संयोगविभागौ" इति । नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वमेतच्च लेशतो भावितमेवेति ।

यहां "भाष्यकारने जो परमाणुद्रव्य और कार्य रूपसे विषयका भेद कहा है अर्थात् नित्यका विषय परमाणुद्रव्यरूप पृथ्वी और अनित्यका विषय कार्यरूप पृथ्वी मानी है । इसकारण नित्य और अनित्य इन दोनों धर्मोंका अधिकरण (पृथ्वीरूप धर्मी) एक नहीं है" ऐसा न कहना चाहिये । क्योंकि, पृथिवीत्वका अव्यभिचार है । अर्थात् पृथिवीत्व जो है, वह परमाणुरूप तथा कार्यरूप दोनों पृथिवियोंमें ही वर्त्तमान है । जल आदिकमें भी उन्होंने इसीप्रकार नित्य तथा अनित्य रूप दोनों धर्म माने है । और संयोग तथा विभागको स्वीकार करनेके कारण उन्होंने आकाशमें भी युक्तिसे अनित्यता मानी ही है । सो ही आकाशमें संयोग और विभागको स्वीकार करनेके लिये प्रशस्तभाष्यकार कहते है कि,–"आकाश शब्दका कारण है, इस वचनसे आकाशमें संयोग और विभाग हैं ।" और इस कथनसे आकाश नित्य तथा अनित्य इन दोनों पक्षोंमें ही मिला हुआ है अर्थात् नित्य अनित्य रूप है । यह आशय किंचित्मात्र भाष्यकारने प्रकट किया ही है ॥

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा । अन्योन्यव्यवच्छेदरूपा[1]णां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न तावत्क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् । समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्–न तर्हि तस्य सामर्थ्यम् । अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । सापेक्षमसमर्थमिति न्यायात् ।

उन वादियोंके वचन प्रलापके समान है, ऐसा जो आचार्यने कहा है, उसका समर्थन इस प्रकार करना चाहिये । "अर्थक्रियाको जो करै वह वस्तु (पदार्थ) है" यह पदार्थका लक्षण है । और वह लक्षण एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य इन दोनों

---

१ परस्परपृथक्भूतानां क्रियाणां ।

पक्षमें ही नहीं पड़ता है। क्योंकि, "जिसका कभी नाश न हो, जो कभी उत्पन्न न हो और सदा एक रूप रहे वह नित्य है" यह वादियोंके माने हुए नित्यका लक्षण है। यहां हम (जैनी) प्रश्न करते हैं कि, वह नित्यपदार्थ क्रमसे (सिलसिलेवार अथवा नम्बरवार) अर्थक्रियाको करै ? अथवा अक्रमसे (बे सिलसिलेसे) अर्थक्रियाको करै ? । क्योंकि, परस्पर भिन्नस्वरूपको धारण करनेवाली जो क्रियायें हैं, वे इन कहे हुए क्रम और अक्रम रूप दो प्रकारोंके सिवाय किसी तीसरे प्रकारसे नहीं हो सकती हैं। अब यदि इन दो प्रश्नोंके उत्तरमें वादी यह कहे कि "वह नित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रियाको करता है" तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, वह नित्यपदार्थ समर्थ है, इसलिये दूसरे क्षणोंमें होनेवाली जो क्रियायें हैं, उनको प्रथम क्रियाके समय (प्रथम क्षण)में ही बलात्कार (जबरदस्ती) से कर सकता है। कारण कि, जो समर्थ है, वह कार्यके करनेमें विलम्ब नहीं करता है। अथवा जो कार्यके करनेमें विलंब करता है, वह असमर्थ है। अब इसपर वादी यह कहै कि जो समर्थ होता है, वह भी उन २ सहकारी (मददगार) कारणोंके संयोग होने (मिलने) पर ही उस २ अर्थ (प्रयोजन)को करता है तो वह नित्य पदार्थ समर्थ नहीं है, यही सिद्ध हुआ। क्योंकि, वह नित्य पदार्थ दूसरे सहायकोंकी अपेक्षासहित रहता है, और जो 'दूसरेकी अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ होता है' यह न्याय है ॥

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते। *अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्*—तत् किं स भावोऽसमर्थः समर्थो वा। समर्थश्चेत्किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते। न पुनर्झटिति घटयति। ननु समर्थमपि बीजमिलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत न वा। यदि नोपक्रियेत तदा सहकारिसन्निधानात्प्रागिव किं न तदाप्यर्थक्रियायामुदास्ते। उपक्रियेत चेत्स तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः।

अब यदि वादी यह कहै, कि वह नित्य पदार्थ स्वयं (खुद) सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करता है किन्तु सहकारीकारणोंके अभावमें नहीं होता हुआ कार्य ही, उन सहकारियोंकी अपेक्षा करता है। तो हम (जैनी) फिर पूछते हैं कि, वह नित्यपदार्थ समर्थ है ? वा असमर्थ है ? । यदि वह समर्थ है तो सहकारीकारणोंके मुख देखनेसे दीन हुए अर्थात् सहकारीकारणोंके विना

नहीं होते हुए उन कार्योंकी उपेक्षा क्यों करता है । शीघ्र (झटपट) ही उन कार्योंको क्यों नहीं बना डालता है । यदि वादी यह कहैं कि, वृक्षका बीज समर्थ है, तो भी जब उसके साथ पृथिवी, जल और वायु आदि सहकारी कारणोंका संयोग होता है, तभी वह बीज अंकुरेको उत्पन्न करता है और पृथिवी आदि सहकारियोंका अभाव हो तो, वह समर्थ भी बीज अंकुरको उत्पन्न नहीं कर सकता है । इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ है, तो भी सहकारियोंके विना कार्यको नहीं करता है । तो हम (जैनी) पूछते है कि, सहकारी उस नित्यपदार्थका कुछ उपकार करते है या नहीं ! यदि वादी यह कहै कि, "सहकारीकारण जो है वे पदार्थका कुछ भी उपकार नहीं करते है।" तो वह पदार्थ जैसे सहकारियोंके मिलनेके पहले अर्थक्रियामें उदास था; वैसे ही सहकारियोंका संयोग होने पर भी अर्थक्रियामें उदास क्यों नहीं रहता है अर्थात् सहकारी जब पदार्थका उपकार नहीं करते है तो जैसे सहकारियोंके विना वह पदार्थ कार्यको नहीं कर सकता था वैसे ही उन सहकारियोंके सद्भावमें भी कार्यको न करै । कदाचित् वादी कहैं कि जो सहकारी हैं, वे पदार्थका उपकार करते है तो हम (जैनी) पूछते है कि सहकारी जो उपकार करते हैं, वह पदार्थसे अभिन्न (मिला हुआ) करते हैं, वा भिन्न करते हैं । यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते है, ऐसा कहो, तो सिद्ध हुआ कि वह नित्यपदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है । और जब ऐसा हुआ तो जो वादी लाभको चाहते थे उनके मूलका भी नाश हुआ । क्योंकि, कृतकपनेसे उस पदार्थके अनित्यताकी प्राप्ति होगई । **भावार्थ**—यदि वादी सहकारियोंके उपकार को नित्यपदार्थसे अभिन्न कहै, तो वह नित्यपदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है यह सिद्ध हुआ । और तब जैसे कोई व्याजकी इच्छासे किसीको द्रव्य देवै और फिर वह द्रव्य लेनेवाला पीछा द्रव्य न दे तो व्याज चाहनेवालेके व्याजकी तो हानि हो ही हो परन्तु मूल-धन भी नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार पहले जो 'नित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रिया करता है वा अक्रमसे' यह प्रश्न किया था; इसका तो उत्तर वादी दे ही न सके और सिवायमें अपने उस नित्यपदार्थको अनित्य बना बैठे । क्योंकि, जो पदार्थ अपने स्वभावकी सिद्धिमें दूसरेके व्यापारकी इच्छा करता है, वह कृतक कहलाता है और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है । यहां पर वादीके कथनानुसार जब पदार्थने सहकारियोंकी अपेक्षा रक्खी तो वह पदार्थ कृतक हुआ और कृतक होनेसे वह पदार्थ नित्य न रहा; किन्तु अनित्य हो गया ।

भेदे तु स कथं तस्योपकारः किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि । तत्संबन्धात्तस्यायमिति चेत्—उपकार्योपकारयोः कः

सम्बन्धः । न तावत्संयोगो द्रव्ययोरेव तस्य भावात् । अत्र तु उपकार्यं द्रव्य, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नापि समवायस्तस्यैकत्वाद् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः । नियतसम्बन्धिसम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः । तथा च सत्युपकारस्य भेदाऽभेदकल्पना तदवस्थैव । उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् । भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसंबंधत्वम् । तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते ।

अब यदि वादी यह कहै कि—सहकारियोंका जो उपकार है वह पदार्थसे भिन्न है, तो वह उपकार जब पदार्थसे जुदा हुआ तब यह कैसे मालुम हुआ कि, यह उपकार पदार्थका ही है सह्य और विंध्य नामक जो दो पर्वत हैं, उनको आदि ले अन्य पदार्थोंका भी क्यों नहीं है । भावार्थ—उपकारसे जैसे नित्य पदार्थ भिन्न है, वैसे ही सह्याचल, विंध्याचल भी भिन्न हैं । तब यह उपकार नित्यपदार्थका ही है यह कैसे जान पड़ा ? इसके उत्तरमें यदि वादी यह कहै कि नित्यपदार्थके साथ उस उपकारका संबंध है; इसलिये जान लिया जाता है कि, यह उपकार इस नित्यपदार्थका है" तो हम (जैनी) पूछते हैं कि, उपकार्य (जिसके ऊपर उपकार किया जाय) और उपकार इन दोनोंके परस्पर कौनसा संबन्ध है ? । यदि कहो कि, 'उपकार्य (पदार्थ)के और उपकारके संयोग नामक संबन्ध है' तो यह तो हो नहीं सकता । क्योंकि, जो संयोग संबन्ध होता है, वह परस्पर द्रव्योंके ही होता है अर्थात् द्रव्यके साथ जो द्रव्यका संबन्ध होता है, वही संयोग संबन्ध कहलाता है और यहांपर जो उपकार्य है, वह तो द्रव्य है तथा उपकार है वह क्रिया है । इसकारण इनमें संयोग संबन्ध नहीं है । फिर यदि वादी यह कहै कि 'उपकार्य और उपकारके समवाय संबन्ध है' तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि, वह समवाय एक और व्यापक (सबमें रहनेवाला) है । इसकारण उस समवाय संबन्धके न तो कोई पदार्थ समीप है ? और न दूर है । सब पदार्थोंमें यह समवाय समान है । इस लिये नियत संबन्धियोंके साथ उस समवायसंबन्धका मानना ठीक नहीं है । और यदि वादी नियतसंबन्धियोंके साथ समवायका संबन्ध स्वीकार ही करें तो उनको उन सहकारियोंसे किया हुआ जो उपकार है, वह इस समवायका मानना चाहिये । और ऐसा जब हुआ तो जो पहले उपकारके विषयमें भेद तथा अभेद रूप दो कल्पनायें की गई थीं वे वैसीकी वैसी ही रहीं । और जब समवायसे उपकारका अभेद माना गया तब तो सहकारियोंने उपकार नहीं किया किंतु समवाय ही किया। और जो भेद माना तो फिर भी

'समवायका नियतसंबन्धियोंके साथ संबन्ध नहीं है' इस कथनसे संबन्धका अभाव आया। अर्थात् उपकार और समवायके भेद माननेमें इन दोनोंके संयोगसंबंध तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह द्रव्योंके ही होता है और समवाय संबंध मानें तो वह व्यापक है इसलिये नियतसंबंधियोंके साथ उसका संबंध नही हो सकता है। इस कारण जो एकान्त नित्य पदार्थ है, वह क्रमसे अर्थ-क्रियाको नहीं करता है। यह सिद्ध हुआ।

नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात्क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रियाव्यापकानुपलब्धिबलाद्व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः।

अब यदि कहो कि नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रियाको करता है तो यह भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'एक पदार्थ समस्त कालकी कलाओंमें होनेवाली अर्थ क्रियाओंको एक ही समयमें कर लेता है' यह कथन प्रतीतिमें नहीं आता है। अथवा पदार्थ एक समयमें अर्थक्रियाओंको करै भी तो हम पूछते है कि, वह पदार्थ दूसरे क्षणमें क्या करेगा। यदि यह कहो कि—पदार्थ दूसरे क्षणमें भी अर्थक्रियाओंको ही करता है। तब तो जो दोप क्रमसे अर्थक्रिया करनेरूप पक्षमें होता है वही यहां भी होगा। अर्थात् प्रथम क्षणमें सब अर्थ क्रियाओंको करके अपनी व्यर्थता न होनेके लिये जो वह दूसरे क्षणमें फिर भी उन्हीं अर्थक्रियाओंको करता है इस कारण उस पदार्थके असमर्थताकी प्राप्ति होगी। यदि कहोकि 'वह दूसरे क्षणमें कुछ भी नहीं करता है' तो दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे उस नित्य पदार्थके अवस्तुताका प्रसंग होगा। इस प्रकार एकान्तनित्यपदार्थसे क्रम और अक्रम करके व्याप्त जो अर्थक्रिया है, वह व्यापकके न मिलनेसे व्यापकके दूर होनेपर नष्ट होती हुई अपना व्याप्य जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसको नष्ट करती है और नाशको प्राप्त होता हुआ जो अर्थक्रियाकारित्व है वह अपनेमें व्याप्य (रहनेवाला) जो सत्त्व है, उसको नष्ट करता है। **भावार्थ**—नित्य पदार्थसे जो अर्थक्रिया होती है, वह या तो क्रम करके हो और या अक्रम करके हो। और नित्यपदार्थसे 'क्रम तथा अक्रम करके अर्थक्रिया होती है, इस विपयका पूर्वोक्त प्रकारसे खंडन हो चुका है। इसलिये

क्रम और अक्रमसे व्याप्त (होनेवाली) जो अर्थक्रिया है, वह क्रम तथा अक्रमरूप व्यापकके न मिलनेसे नष्ट होती है । और अर्थक्रियासे होनेवाला अर्थक्रियाकारित्व है, इसलिये नष्ट होती हुई अर्थक्रिया अपने व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वका नाश करती है। और नष्ट होता हुआ जो अर्थक्रियाकारित्व है, वह अपनेमें व्याप्य (रहनेवाला) जो सत्त्व (वस्तुत्व) है, उसको नष्ट करता है । इसलिये वादियोंका जो पदार्थको एकान्तनित्य माननेरूप पक्ष है, वह युक्तियोंको नहीं सहता ।

एकान्ताऽनित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी । स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः। देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाऽभावात् । क्रमो हि पौर्वापर्यम् । तच्च क्षणिकस्यासम्भवि । अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्तविनाशिनि साऽस्ति । यदाहुः—"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः । न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते । १ ।"

अब वैशेषिकोंका माना हुआ जो एकान्त अनित्य पक्ष है अर्थात् कितने ही पदार्थोंको सर्वथा अनित्य मानना है, वह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है । क्योंकि, जो क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, उसको अनित्य कहते हैं । और वह अनित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रियाके करनेमें समर्थ नहीं है । क्योंकि, देश (स्थान) का किया हुआ और कालका किया हुआ जो क्रम है, उसीका उस अनित्य पदार्थमें अभाव है। भावार्थ—यह इसके पहिले है, यह इसके पीछे है, इस प्रकारके व्यवहाररूप जो पौर्वापर्य है, वही क्रम है और यह क्रम क्षणिक (क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले) पदार्थके नहीं हो सकता है । क्योंकि, स्थिर (नित्य) पदार्थका जो अनेक देशोंमें रहना है, वह तो देशक्रम कहलाता है, और अनेक कालोंमें रहना है, वह कालक्रम कहलाता है । और सर्वथा अनित्यपदार्थके यह अनेक देश तथा कालमें व्याप्ति नहीं है । क्योंकि, बौद्धोंने कहा है कि, "जो पदार्थ जिस स्थानमें है, वह उसी स्थानमें है। और जो पदार्थ जिस क्षणमें रहता है, वह उसीमें रहता है, अन्य क्षणमें नहीं । इस कारण हमारे क्षणिक मतमें पदार्थोंकी देश और कालमें व्याप्ति नहीं है। १ ।"

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति । सन्तानस्याऽवस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाऽक्षणिकत्वं तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः ।

अब कदाचित् वादी कहैं कि–संतानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणोंमें क्रम हो सकता है अर्थात् प्रथम क्षणमें रहनेवाले पदार्थका संतान दूसरे क्षणमें रहता है, इसलिये पूर्वक्षणके और उत्तरक्षणके क्रम हो सकता है। तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि, संतान पदार्थ नहीं है। और जो कदाचित् संतानको पदार्थ मान भी लिया जावे, तो हम पूछते है कि, वह संतान क्षणिक है अथवा अक्षणिक (नित्य) है? यदि क्षणिक कहो तब तो संतानमें पदार्थोंसे कोई विशेष (भेद) न हुआ अर्थात् जैसे पदार्थ क्षणिक है, उसी प्रकार संतान भी क्षणिक हुआ तो जैसे क्षणिक होनेसे पदार्थमें क्रम नहीं होता है, वैसे ही संतानमें भी क्रम नहीं होगा। और यदि कहो कि, संतान अक्षणिक है, तो तुम्हारा क्षणभङ्गवाद समाप्त हुआ अर्थात् संतान पदार्थको तुमनें भी नित्य मान ही लिया।

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति। सह्येको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा। यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्। एकस्वभावजन्यत्वात्। अथ नानास्वभावैर्जनयति, किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किंचिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्–तर्हिं ते स्वभावास्तस्याऽत्मभूता अनात्मभूता वा। अनात्मभूताश्चेत्स्वभावत्वहानिः। यद्यात्मभूतास्तर्हिं तस्यानेकत्वम्। अनेकस्वभावत्वात्। स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत। तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां, तस्य चैकत्वात्।

और क्षणिकपदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। क्योंकि, वह एक बीजपूर (बिजोरा) रूप पदार्थ एक ही समयमें अनेक रस आदि पदार्थोंको जो उत्पन्न करता है, सो एक स्वभावसे करता है? वा अनेक स्वभावोंसे करता है? यदि कहो कि, एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तब तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण उन रस आदि पदार्थोंके एकता हो जावेगी अर्थात् बीजपूर जिस स्वभावसे रस पदार्थको उत्पन्न करता है, उसी स्वभावसे यदि रूप, गन्ध, स्पर्श आदि पदार्थोंको भी उत्पन्न करैगा, तो रूप, रस, गन्ध आदि सब पदार्थ एक हो जावैंगे। क्योंकि वे सब एक स्वभावसे उत्पन्न हुए हैं [बौद्धमतमें 'क्षण' शब्दसे पदार्थका ग्रहण है और यह इसका धर्म (गुण) है, यह इसका धर्मी (गुणी) है, ऐसा नहीं माना गया है। इसलिये जैसे बीजपूर पदार्थ है, वैसे ही रूप रस आदि भी पदार्थ हैं।] अब यदि कहो कि, वह बीजपूर पदार्थ रस आदिको अनेक स्वभावोंसे उत्पन्न

१ बौद्धमते क्षणशब्देन पदार्थसंज्ञा क्षणिकत्वारक्षणः ॥

करता है अर्थात् किसी रूप आदिको उपादानभावसे उत्पन्न करता है और किसी रस आदि पदार्थको सहकारीभावसे उत्पन्न करता है। भावार्थ—बीजपूर रूप आदिकी उत्पत्तिमें तो स्वय (खुद) उपादानरूपसे रहता है, और रस आदिकी उत्पत्तिमें स्वयं सहकारी कारण होकर रहता है, तो हम पूछते हैं कि, वे उपादान तथा सहकारी आदि भाव उस बीजपूरपदार्थके आत्मभूत (निजस्वरूप) हैं? अथवा अनात्मभूत (परस्वरूप) हैं? यदि कहो, कि—अनात्मभूत हैं, तब तो वे उपादानादिभाव उस बीजपूरपदार्थके स्वभाव ही नहीं हैं। और यदि कहो, कि— उपादानादिभाव बीजपूरपदार्थके आत्मभूत हैं, तो अनेक स्वभावरूप होनेसे उस बीजपूरपदार्थके अनेकता हो जावेगी अर्थात् जितने स्वभाव होंगे उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजपूरपदार्थ भी होंगे। अथवा उन स्वभावोंके एकताका प्रसङ्ग होगा। क्योंकि, वे उपादानादिभाव बीजपूरपदार्थसे अभिन्न हैं। और बीजपूर एक है।

अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते। तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसांकर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रमं, अक्रमाच्च क्रमिणा नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिरिति चेत्—अहो स्वपक्षपाती देवानांप्रियो यः खलु स्वयमेकस्मान्निरंशाद्रूपादिक्षणात्कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्मात्क्षणिकस्यापि भावस्याऽक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा।

अब यदि कहो कि, जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता है, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इसलिये हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते हैं। तो हमारा (जैनियोंका) माना हुआ जो एक रूप और क्रमसे अर्थक्रिया करनेवाला नित्यपदार्थ है, उसके तुम क्षणिकवादियों (बौद्धों) ने स्वभावका भेद और कार्यसंकरत्व कैसे माना है। भावार्थ—नित्यपदार्थके माननेमें बौद्ध जो यह दोष देते हैं कि, "यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावसे अर्थक्रिया करै, तब तो एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसंकरता (सब कार्योंके अभिन्नता) हो जावेगी। और यदि अनेक स्वभावोंसे अर्थक्रिया करै तो स्वभावका भेद होजानेके कारण उस नित्यपदार्थके क्षणिकत्वकी प्राप्ति होगी" सो उनका यह दोष देना ठीक नहीं है। क्योंकि, उन्होंने भी तो एक क्षणिक पदार्थसे उपादान तथा सहकारीभावोंद्वारा अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानकर स्वभाव भेद नहीं माना है। अब

यदि बौद्ध कहैं, कि तुम्हारा माना हुआ नित्य पदार्थ एकरूप होनेसे अक्रम (क्रमरहित) है। और अक्रम पदार्थसे क्रमिक (क्रमसे होनेवाले) अनेक कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? तो हमको खेद होता है कि, देवानांप्रिय (मूर्ख) बौद्ध अपना पक्षपाती है। क्योंकि, जो स्वयं एक और अंशरहित (क्षणमात्रवर्ती) रूप आदि पदार्थरूप कारणसे अनेक कारणोंद्वारा सिद्ध होने योग्य अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मान करके भी नित्य पदार्थसें क्रमसे नानाकार्योंके करना माननेरूप भी पर (हमारे) पक्षमें विरोधको उत्पन्न करता है। **भावार्थ**—बौद्ध जब निरंश पदार्थ ही से एक क्षणमें क्रमिक अनेक कार्योंका होना मानता है, तब हम जो चिरकाल-स्थायी नित्यपदार्थसे क्रमद्वारा अनेक कार्योंका होना मानते है, उसमें दोष क्यों देता है। इसकारण सिद्ध हुआ कि क्षणिक पदार्थके भी अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।

इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाऽक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्ताऽनित्यवादोऽपि न रमणीयः।

इसप्रकार एकान्त अनित्य पदार्थसे भी क्रम अक्रमरूप व्यापककी रहिततासे ही व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह भी दूर होती है। और अर्थक्रियाके दूर होनेपर व्यापककी अप्राप्तिके बलसे ही सत्त्व भी दूर होता है। **भावार्थ**—अर्थक्रिया जो है सो क्रम और अक्रमसे व्याप्त है, और एकान्त अनित्यपदार्थसे क्रम तथा अक्रमद्वारा अर्थक्रिया नहीं होती है। इसलिये अपने व्यापक जो क्रम अक्रम हैं, उनके अभावमें क्रम, अक्रमसें व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह दूर होती है। और नष्ट होता हुआ अर्थक्रियारूप व्यापक अपनेसे व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वका नाश करता है। एवं अपना व्यापक जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसका अभाव होनेसे सत्त्व (वस्तुत्व) भी नष्ट होता है। इस कारण एकान्त अनित्यवाद अर्थात् सर्वथा पदार्थोंको अनित्य मानना भी ठीक नहीं है।

स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासाऽयोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्। नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति।– "भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः। तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते। १।" इति। वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात्। एक-

स्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः, सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानील-योर्विरोधानङ्गीकारात् ।

और स्याद्वादमें अर्थात् एक ही पदार्थमें कथंचित् नित्यता और अनित्यतारूप दोनों धर्मोंको माननेवाले हमारे पक्षमें तो पूर्व आकारका त्याग करना १, उत्तर आकारका स्वीकार करना २, और सर्व अवस्थाओंमें द्रव्यस्वभावसे स्थित रहना ३, इन स्वरूप जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप परिणाम है, उसके माननेसे पदार्थोंके अर्थक्रियाकी सिद्धि विरोध रहित है। शंका—एक पदार्थमें परस्पर विरोध रखनेवाले नित्य और अनित्यरूप दोनों धर्मोंका रहना असंभव है, इसकारण तुम्हारा स्याद्वाद मिथ्या है। समाधान—ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि, स्याद्वादमें नित्यपक्ष तथा अनित्यपक्षसे भिन्न जो नित्यानित्यरूप तीसरा पक्ष है, वह स्वीकार किया गया है। और पदार्थोंमें इसी प्रकारसे अर्थात् नित्यानित्यरूपतासे ही सबको अनुभव भी होता है। सो ही दिखलाते हैं।—"जो एक भागमें सिंह है तथा दूसरे भागमें मनुष्य है, उस भागरहित पदार्थको विभाग करके नरसिंह कहते हैं।१।" भावार्थ—नृसिंहा-वतार शरीरके एक भागमें तो सिंहके समान है, और दूसरे भागमें पुरुषके समान है, इसकारण यद्यपि वह एक ही शरीरमें परस्पर विरुद्ध दो आकृतियोंको धारण करनेसे भाग रहित है, तथापि लौकिकजन विभाग करके उसको नरसिंह कहते हैं। इसी प्रकार हमारा स्याद्वाद भी है। वैशेषिकोंने भी एक चित्ररूप अवयवी माना है अर्थात् रक्त, पीत, नील आदि अनेक वर्णरूप धर्मोंको धारण करनेवाले एक चित्ररूप पदार्थको जुदा माना है। और एक ही वस्त्र आदि पदार्थके चल (हिलते हुए) अचल (नहीं हिलते हुए) रक्त (लाल) अरक्त (लालरंगसे भिन्न) आवृत (ढके हुए) अनावृत (नहीं ढके हुए) आदि परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी प्राप्ति होनेसे बौद्धोंने भी एक चित्र (अनेक) वर्णके धारक वस्त्रके ज्ञानमें नील वर्ण और नीलसे भिन्न–श्वेत, पीत आदि वर्णोंके परस्पर विरोध नहीं माना है॥ भावार्थ—एक ही वस्त्र किसी भागमें तो हिलता रहता है और किसीमें नहीं हिलता है। एक भागमें लालवर्णको धारण करता है और दूसरे भागमें पीतवर्णको धारण करता है। एवं एक भागमें किसी दूसरेसे ढका हुआ रहता है और दूसरेमें खुला हुआ। ऐसा देखे जानेसे बौद्धोंने एक वस्त्रके ज्ञानमें नील और पीतवर्णका विरोध नहीं माना है।

अत्र च यद्यप्यविकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तरावस्थायित्वात्क्षणिकं न मन्यन्ते। तन्मते पूर्वापरान्ताव-च्छिन्नायाः सत्ताया एवानित्यतालक्षणात्। तथापि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः। इति तद-

धिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदापि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति । इति काव्यार्थः ॥ ५ ॥

यद्यपि अधिकृत वादियोंने अर्थात् जिनका हमने यहां खण्डन किया है, उन वैशेपिकोंने एक क्षणके सिवाय अन्य क्षणोंमें भी विद्यमान रहनेसे प्रदीप आदि पदार्थोंको क्षणिक नहीं माने हैं अर्थात् वैशेपिकोंके मतमें प्रदीप आदि बहुत क्षणोंमें रहते हैं । क्योंकि, उनके मतमें पूर्व और उत्तरके अन्तसे मिली हुई जो सत्ता है अर्थात् जिसका पहिले भी अभाव हो और पीछे भी अभाव हो ऐसी जो पदार्थकी विद्यमानता है, वह ही अनित्यताका लक्षण है । भावार्थ—बौद्ध जैसे सब पदार्थोंको क्षणस्थायी होनेसे अनित्य कहते हैं, उसप्रकार वैशेपिक क्षणस्थायी पदार्थको अनित्य नहीं कहते, किंतु जिसका आदि और अन्त हो उस पदार्थको अनित्य मानते है । तथापि उन वैशेपिकोंनें भी बुद्धि, सुख, दुःख आदि पदार्थोंको क्षणिकरूप ही स्वीकार किये हैं । इसकारण इस वैशेपिकोंके खण्डनमें भी जो हमने क्षणिकवादकी चर्चा कर डाली है, वह अनुचित नहीं है । और जब पदार्थ अन्य क्षणोंमें वर्त्त रहा है, उस समय भी वह पदार्थ नित्य तथा अनित्य, इन दोनों धर्मों रूप ही है । और वह कोई क्षण भी नहीं है कि, जिस क्षणमें पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप न हो अर्थात् सब ही क्षणोंमें पदार्थ उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणका धारक है । इसप्रकार काव्यका भावार्थ है ॥ ५ ॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह ।

अब वैशेपिकोंने जो ईश्वरको जगतका कर्त्ता माना है, वह मिथ्या आग्रह रूप है । यह दिखलाते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ।

कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

काव्यभावार्थः—हे नाथ ! जिनके आप उपदेशदाता नहीं हैं, उनके "जगतका कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वाधीन है, और वह नित्य है" ये दुराग्रहरूपी विडंवनायें होती हैं ।

व्याख्या। जगतः प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूपः पुरुषविशेषः कर्त्ता स्रष्टा अस्ति विद्यते। ते हि इत्थं प्रमाणयन्ति–उर्व्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं यथा घटस्तथा चेदं तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्त्ता स भगवानीश्वर एवेति।
६१८५

व्याख्यार्थः—"जगतः" प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आते हुए जो ये चर (जंगम) और अचर (स्थावर) रूप तीन जगतके पदार्थ हैं, इनका "कश्चित्" वचनोंके अगोचर स्वरूपका धारक कोई पुरुषविशेष "कर्त्ता" बनानेवाला "अस्ति" है। ये वैशेषिक इस ऊपर कहे हुए अपने मतको इस निम्नलिखित प्रकारसे प्रमाण कराते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं कि, ये पृथिवी, पर्वत और वृक्ष आदि समस्त पदार्थ बुद्धिमानके रचे हुए हैं। क्योंकि, ये सब कार्य हैं। जो जो कार्य हैं, वह वह सब बुद्धिमानका रचा हुआ है। जैसे कि, घट कार्य है और यह बुद्धिमान् कुंभकारसे बनाया हुआ है। उसी प्रकार अर्थात् घटके समान ही ये पृथिवी पर्वत आदिक भी कार्य हैं, इसलिये किसी बुद्धिमानके द्वारा बनाये हुए हैं। व्यतिरेक दृष्टान्तमें व्योम आदि हैं अर्थात् आकाश आदि कार्य नहीं हैं, इसलिये किसी बुद्धिमानके बनाये हुए भी नहीं हैं। और जो कोई बुद्धिमान् इन पृथिवी आदि कार्योंका कर्त्ता है, वह भगवान् ईश्वर ही है।

न चायमसिद्धो हेतुर्यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा। विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः। प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्म्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात्। नापि प्रकरणसमः। तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात्।

और हमने पृथिवी आदिको ईश्वरके बनाये हुए सिद्ध करनेके लिये जो यह कार्यत्वरूप हेतु दिया है, वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि, अपने २ कारणोंके समूहसे उत्पन्न होनेसे अथवा अवयवीपनेसे पृथिवी, पर्वत आदिके कार्यत्व सभी वादियोंने माना है। और विपक्षसे अत्यंत भिन्न है, इस कारण यह कार्यत्वहेतु अनैकांतिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है। तथा यह कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) भी नहीं है। क्योंकि, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणोंसे अबाधित अर्थात् सिद्ध ऐसे जो धर्म और धर्मी हैं, उनके पश्चात् कहा गया है अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म तथा धर्मीका कथन करके

पीछे इस हेतुको कहा है। एवं यह कार्यत्वहेतु प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी नहीं है। क्योंकि, इसके प्रतिकूल धर्मको अर्थात् जिस कर्तृत्वधर्मको यह कार्यत्वहेतु सिद्ध करता है, उस कर्तृत्वधर्मसे प्रतिकूल जो अकर्तृत्व धर्म है, उसको सिद्ध करनेमें समर्थ कोई प्रत्यनुमान नहीं है।

न च वाच्यमीश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति। अशरीरत्वात्। निर्वृत्तात्मवत्। इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति। यतोऽत्रेश्वररूपो धर्म्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः। न तावदप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात्। प्रतीतश्चेद्येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते। इत्यतः कथमशरीरत्वम्। तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति।

शंका—" ईश्वर जो है, सो पृथ्वी, पर्वत आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि, शरीररहित है। मुक्त आत्माके समान अर्थात् जैसे मुक्त आत्मा शरीररहित होनेसे पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अशरीर है, इसकारण पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है।" यह प्रत्यनुमान जगत्रूप धर्मीमें ईश्वरकर्तृत्व धर्मका बाधक है। **समाधान**—यह न कहना चाहिये। क्योंकि, " ईश्वर पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है " इत्यादि इस अनुमानके प्रयोगमें तुमने जो ईश्वररूप धर्मीका कथन किया है, सो प्रतीत है? वा अप्रतीत है? यदि कहो कि, अप्रतीत (नहीं जाने हुए) ईश्वर धर्मीका कथन किया है, तब तो हेतुके आश्रयासिद्धि दोषका प्रसंग आवैगा अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है, तब अशरीरत्व हेतु किसमें रहैगा। और यदि कहो कि,—हमने प्रतीत (जाने हुए) ईश्वरधर्मीका निरूपण किया है, तो जिस प्रमाणसे तुमने उस ईश्वरको जाना है, उसी प्रमाणसे तुम उस ईश्वरको स्वयं (अपने आप ही) उत्पन्न किये हुए शरीरका धारक भी क्यों नहीं जान लेते हो अर्थात् जिस प्रमाणसे तुमने ईश्वर जाना है, उसी प्रमाणसे तुम यह भी मान लो कि, ईश्वरने स्वयं अपना शरीर बनाकर फिर जगतको बनाया है। और जब ईश्वरको शरीरका धारक मानलिया, तब अशरीरपना कहां रहा? इस कारण हमने जो कार्यत्वहेतु दिया है, वह निर्दोष ही है। **भावार्थ**—असिद्ध, १ विरुद्ध, २ अनैकान्तिक, ३ कालात्ययापदिष्ट ४ और सत्प्रतिपक्ष ५ ये जो पांच हेतुके दोष हैं, इनमेंसे हमारे कहे हुए कार्यत्वहेतुमें कोई भी दोष नहीं है, इस कारण ईश्वर जगतका कर्त्ता है। यह सिद्ध हो गया।

स चैक इति । चः पुनरर्थे । स पुनः पुरुषविशेष एकोऽद्वितीयः । बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसंभावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येत । इति ।

"च" [यहां 'च' पुन के अर्थमें है] फिर "सः" यह पुरुषविशेष जो है सो "एकः" एक है अर्थात् उसके सिवाय और कोई दूसरा जगतका कर्ता नहीं है । यदि बहुतोंको जगतके कर्ता मानें तो उनके परस्पर संमति (सलाह) में भेद (फरक) होनेकी संभावना नहीं रुक सकती है, इस कारण एक एक वस्तुकी अन्य अन्य प्रकारसे रचना होने पर सब अनुचित हो जावे । भावार्थ—यदि बहुतसे पुरुष विशेषोंको जगतके कर्ता मानें तो उनके परस्पर मतिभेद हो जायेगा और उस मतिभेदके होने पर कोई तो एक वस्तुको अन्य प्रकारसे बनावेगा और कोई उसी एक वस्तुको दूसरे प्रकारसे बनावेगा और ऐसा होने पर सब अनुचित हो जायगा अर्थात् घुटाला होनेसे किसी भी वस्तुकी सत्रूपव्यवस्था न होगी ॥

तथा स सर्वग इति । सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्वव्यापी । तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः । कुम्भकारादिषु तथा दर्शनात् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः सर्वज्ञः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् । सर्वज्ञत्वाऽभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वादनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् ।

तथा फिर " सः " यह पुरुषविशेष " सर्वगः " सब जगह गमन करनेवाला अर्थात् सर्वव्यापी (सब पदार्थोंमें रहनेवाला) है । क्योंकि, यदि उसको प्रतिनियतदेशवर्ती अर्थात् किसी एक नियमित (मुकर्रर) स्थानमें रहनेवाला मानें तो उसके अनियमितस्थानोंमें रहनेवाले ऐसे जो तीनों लोकोंमें स्थित पदार्थोंके समूह हैं, उनको यथावत् रीतिसे (भले प्रकारसे) बनानेकी सिद्धि न होगी अर्थात् वह भिन्न २ स्थानोंमें स्थित पदार्थोंको यथार्थरीतिसे न बना सकेगा । क्योंकि, कुंभकार आदिमें ऐसा देखा जाता है अर्थात् जहां कुंभकार स्थित है, वहां ही वह घट बनाता है । अथवा वह "गतिरूप अर्थके धारक सब धातु ज्ञानरूप अर्थके धारक भी हैं, " इस वचनसे सर्वग अर्थात् सर्वज्ञ (सबको जाननेवाला) है । क्योंकि, यदि वह पुरुषविशेष सर्वज्ञ न हो तो यथायोग्य उपादान कारणोंको न जाननेसे उसके द्वारा योग्य कार्योंकी उत्पत्ति न होगी अर्थात् असर्वज्ञतासे ईश्वरके 'किन २ उपादान कारणोंसे

कौन २ से कार्य होते हैं ' इस विषयक ज्ञान न होगा और उस ज्ञानके न होनेसे जगतमें जो ये योग्यकार्य देखनेमें आते हैं, इनको वह ईश्वर उत्पन्न न कर सकेगा ।

तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः । सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात् । तथा चोक्तम्—"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा । अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । १ ।" इति । पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघातादनीश्वरत्वापत्तिः ।

तथा फिर " सः " वह " स्ववशः " स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन है । क्योंकि, वह ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब प्राणियोंको सुख और दुःखका अनुभव करानेमें समर्थ है अर्थात् अपनी इच्छासे सबको सुख तथा दुःख देता है । सो ही कहा भी है कि,—"यह जीव ईश्वरका भेजा हुआ ही स्वर्गको अथवा नरकको गमन करता है । क्योंकि, ईश्वरके सिवाय जो अन्य जीव है, वे अपने सुख और दुःखको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं । १ ।" यदि उस ईश्वरको परतंत्र (पराधीन) मानें तो वह ईश्वर जगतके बनानेमें दूसरोंका मुख देखेगा अर्थात् दूसरोंकी आज्ञा लेकर कार्य करैगा इस कारण उसके मुख्यकर्तापनेका नाश होनेसे अनीश्वरता हो जावेगी अर्थात् मुख्यकर्त्ता न रहनेसे ईश्वर ईश्वर न रहैगा ।

तथा स नित्य इति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः । तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते । यश्चापरस्तत्कर्त्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्यात् । नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम् । तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायामनवस्थादौस्थ्यमिति ।

तथा " सः " वह पुरुषविशेष " नित्यः " नित्य है अर्थात् अप्रच्युत (अविनाशी) अनुत्पन्न (उत्पत्तिसे रहित) और स्थिरैकरूप (निश्चल एक स्वभावका धारक) है । क्योंकि, यदि ईश्वरको अनित्य मानेंगे तो परसे उत्पन्न होनेके कारण वह ईश्वर कृतक होजावेगा । कारण कि, जो पदार्थ अपने स्वरूपकी सिद्धिमें अन्य पदार्थके व्यापारकी अपेक्षा रखता है अर्थात् निजको सिद्धकरनेके लिये दूसरेकी सहायता चाहता है, वह कृतक कहलाता है । और जो तुम किसी दूसरेको ईश्वरका कर्त्ता मानों, तो हम प्रश्न करते हैं कि, वह ईश्वरका कर्त्ता नित्य है ? वा अनित्य है ? यदि कहो कि, नित्य है, तब तो हमारे माने हुए इस ईश्वरने क्या

अपराध किया है अर्थात् तुम ईश्वरके कर्त्ताको नित्य न मानकर ईश्वरको ही नित्य क्यों नहीं मानलेते हो। यदि कहो कि, ईश्वरका कर्त्ता अनित्य है, तो ऐसी दशामें उस ईश्वरके कर्त्ताको बनानेवाला भी कोई दूसरा होना चाहिये और उसका भी कोई अन्य। इस प्रकार नित्य तथा अनित्य रूप विकल्पोंकी कल्पना करनेमें अनवस्था नामक दोष कभी दूर न होगा।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्त्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्योत्तरार्द्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे। इमा एता अनन्तरोक्ताः कुहेवाकविडम्बनाः कुत्सिता हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थस्त एव विडम्बनाः विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद्विगोपकप्रकाराः स्युर्भवेयुस्तेषा प्रामाणिकापसदाना येषां हे स्वामिन् त्व नानुशासको न शिक्षादाता।

सो इस प्रकार एकत्वादि विशेषणोंका धारक जो भगवान ईश्वर है, वही तीन जगतका कर्त्ता है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे आचार्य श्लोकके पूर्वार्द्धद्वारा वैशेषिकोंके मतको दिखाकर अब उत्तरार्द्धसे उस वैशेषिकमतकी दुष्टताका कथन करते हैं। "इमाः" ये ऊपर कही हुई "कुहेवाकविडम्बनाः" खोटे आग्रहरूप विडम्बनायें अर्थात् विचारकी चतुरतासे रहित होनेके कारण तिरस्काररूप होनेसे अपने दोषोंको छिपानेके प्रकार उन अधम न्यायवेत्ताओंके (वैशेषिकोंके) "स्युः" होवें। "येषां" जिनके हे स्वामिन्! "त्वं" आप "अनुशासकः" शिक्षा देनेवाले "न" नहीं हो। भावार्थ—हे भगवन्! आपकी आज्ञासे प्रतिकूल वैशेषिकोंने जो विना समझे ईश्वरको जगत्का कर्त्ता मान लिया है, उस दोषको छिपानेके लिये ही उन्होंने ये एकत्व आदि विशेषण दिये हैं।

तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाञ्चकार स्तुतिकारः। तथा चैषमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति। स मूर्ख, स पापीयान्, स दरिद्र इत्यादि। त्वमित्येकवचनसयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितुः परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपरपक्षविभागमितरशास्तॄणामसाधारणमद्वितीय हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते।

स्तुतिके कर्त्ता आचार्यने वैशेषिकोंके अभिप्रायोंको विडम्बनारूप विदित करनेके लिये ही उनके अभीष्ट जो ईश्वरके विशेषण हैं, उनमें प्रत्येक विशेषणके साथ ईर्षाके धारक 'तत्' इस शब्दका प्रयोग किया है। और निन्दाकरनेयोग्य पुरुषके प्रति

कहनेवाले वह मूर्ख है, वह महापापी है, वह दरिद्री है, इत्यादि इसी प्रकार प्रत्येक विशेषणके साथ तत्शब्दको व्यवहारमें लाते है। और 'त्वं' इस एकवचनके धारक युष्मत्शब्दका प्रयोग करनेसे आचार्य परमेश्वर श्रीजिनेन्द्रके परमदयालुताके कारण निज और पर पक्षकी भेदभावनाकी अपेक्षाके विना अन्य उपदेशकोंमें न होनेवाला ऐसा जो अद्वितीय हितोपदेशकपना है, उसको ध्वनित करते हैं। **भावार्थ**—स्तुतिमें युष्मत् शब्दका एकवचन देकर आचार्यने यह दर्शाया है कि, जैसे अन्य उपदेशक पक्षपाती होकर अपने मतवालोंको तो उपदेश देते है, और अन्य मतवालोंको नहीं देते हैं। उसप्रकार श्रीजिनेन्द्र पक्षपाती नहीं है, किंतु परमकरुणाबुद्धिसे सभीको समान हितोपदेश देनेसे अद्वितीय उपदेशक है।

अतोऽत्रायमाशयः। यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे। तथापि सैव केषांचिन्निचितनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते। अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्। तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण—"अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति। अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति।

इस कारण यहां पर यह भाव है कि, यद्यपि भगवान् अविशेषसे अर्थात् समानरूपसे सभीके लिये संपूर्ण जगत्के जीवोंका भला करनेवाले उपदेशवचनको कहते हैं। तथापि वही उपदेशरूपवचन पूर्वकालमें उपार्जन कियेहुए निकाचित-पापकर्मोंसे मलीन है आत्मा जिनका ऐसे कितने ही जीवोंके रुचिरूपतासे नहीं परिणमता है अर्थात् कितने ही पापीजीवोंको अच्छा नहीं लगता है। क्योंकि, वे पापीजीव अपुनर्बन्धक [जो तीव्रभावोंसे पापको नहीं करता है, वह अपुनर्बंधक कहलाता है और इसकी मुक्ति पुद्गल परावर्त्तनमें ही हो जाती है] आदि जीवोंसे भिन्न होनेके कारण अयोग्य है अर्थात् उपदेशके पात्र नहीं हैं। सो ही कादम्बरीमें बाणकवीने भी कहा है कि, जैसे निर्मल स्फटिकमणि (विल्लौर) में चंद्रमाकी किरणें सुखसे प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार मलरहित (स्वच्छ) मनमें उपदेशोंके समूह सुखसे प्रवेश करते है। और जैसे कर्ण (कानों) में स्थित हुआ निर्मलजल शूलरोगको उत्पन्न करता है, उसीप्रकार कर्णोंमें स्थित हुआ निर्मल गुरूका वचन भी अभव्यजीवके शूल नामक रोगको उत्पन्न कर-

1 पापं न तीव्रभावात्करोतीत्यादिलक्षणोऽपुनर्बंधकः। अस्य च पुद्गलपरावर्त्तमध्य एव मुक्तिः॥

ता है अर्थात् यदि अभव्य उपदेशवचन सुनें तो, यह उसको अच्छा नहीं लगता है। इसकारण वास्तवमें भगवान् उनके उपदेशक नहीं हैं अर्थात् 'तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्' (जिनके आप उपदेश दाता नहीं हैं, उनके ही ये दुराग्रह होते हैं) ऐसा जो आचार्यने कहा है यह सत्य है। क्योंकि, वैशेषिकमतवाले अभव्य होनेसे उपदेशके पात्र नहीं हैं।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना। न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयोऽतिप्रसङ्गात्। स हि तेषामेव दोषः। न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानवः कौशिकलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनास्पदम्। तथा च श्रीसिद्धसेनः—"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव तवापि खिलान्यभूवन्। तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः। १।"

और इस कथनसे तीन लोकके गुरु–श्रीभगवानके असामर्थ्यकी संभावना नहीं है अर्थात् कोई यह शंका करे कि, अभव्यको उपदेश न दे सकनेसे भगवान् असमर्थ हैं, सो नहीं है। क्योंकि, अन्यके डसे हुएको जीवदान देनेवाला विषवैद्य यदि कालसर्पके डसेको नहीं जिला सके तो वह विषवैद्य उपालम्भके योग्य नहीं है। क्योंकि, अतिप्रसंग है। भावार्थ—सब सर्पआदिके डसे हुए जीवोंको उनका जहर दूरकरके जिला देनेवाला विषवैद्य (जहरका इलाज करनेवाला) यदि काल जातिके सर्पसे डसे हुएको न जिला सके तो वह वैद्य ठपकेका पात्र नहीं है। क्योंकि, अन्य सैकड़ों विषोंको दूर करता है। इसकारण यह दोष उस विषवैद्यका नहीं, किन्तु उस सर्पका ही है कि, जिस पर मन्त्र आदिका प्रभाव ही नहीं गिर सकता है। इसी प्रकार अन्य सब जीवोंको उपदेश देते हुए भगवान् यदि अभव्योंको उपदेश न देसकें तो इससे भगवान् असमर्थ नहीं हो सकते हैं। यह दोष उन अभव्योंका ही है, कि, वे उपदेशके पात्र नहीं हैं। क्योंकि, संपूर्ण भुवनमण्डलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें यदि उलूकों (घूंघुओं) के प्रकाशकी कारण नहीं होवें तो उपालम्भके पात्र नहीं हैं। भावार्थ—सूर्यकी किरणें सब जगंह प्रकाश करके सब जीवोंको सब पदार्थ दिखलाती हैं, परन्तु यदि घूघूको उनके प्रकाशमें न दीखे तो उसमें सूर्यकी किरणोंका कोई दोष नहीं है। किंतु उन घूघुओंका ही दोष है। सो ही श्रीसिद्धसेनदिवाकरने कहा है कि "हे लोकबान्धव! उत्तम धर्मरूप बीजके बोनेमें अत्यन्त निपुणताके

१ अवहितं क्षेत्रादि खिलमुच्यते। २ तमसि संचरन्त इति तामसाः।

धारक आपके भी जो खिल अर्थात् हल आदिसे नहीं गोदे हुए क्षेत्र हुए सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि, जगतमें अन्धकारमें फिरनेवाले घूघूआदि दिनान्ध पक्षियोंके समूहको सूर्यकी किरणें भ्रमरीके चरणोंके समान पीतवर्णकी धारक दीख पड़ती हैं।"
भावार्थ—जैसे चतुर किसानद्वारा वोया हुआ बीज अयोग्यक्षेत्रमें फलदायी नहीं होता है, उसी प्रकार जब भगवान्‌ने सम्यग्धर्मका उपदेश दिया तब कितने ही अभव्योंको उस उपदेशने लाभ नहीं पहुंचाया। सो इस विषयमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि, जो सूर्यकी किरणें अंधकारको दूरकरके संपूर्ण भुवनमंडलमें प्रकाश कर देती हैं, वे ही सूर्यकी किरणें नेत्र बंद कियेहुए घूघू आदि पक्षियोंको भ्रमरी (भौंरी) की टांगोंके समान कुछ कुछ पीली नजर आती है। १।"

अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः। यत्तावदुक्तं परैः क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वाद्घटवदिति। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्। सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद्दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः। तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात्प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः।

अब उन वैशेषिकोंके खोटे आग्रह विडम्बनारूप कैसे है सो कहते है। प्रथम ही जो वैशेषिकोंने यह अनुमानका प्रयोग कहा है कि, 'पृथ्वी आदिक बुद्धिमानके बनाये हुए हैं, कार्यहोनेसे, घटके समान' सो ठीक नहीं है। क्योंकि, इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नहीं है। कारण कि, 'जब सब स्थलोंमें प्रमाणद्वारा व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, तभी साधन साध्यको जनाता है' यह सब मतवालोंका कहना है। इसलिये हम पूछते हैं, कि तीन लोकको रचता हुआ वह यह तुम्हारा माना हुआ ईश्वर शरीरसहित है वा शरीररहित है। अर्थात् ईश्वरने जगतको शरीर धारणकरके बनाया है ? वा विना शरीर धारणकिये बनाया है ?. यदि कहो कि, सशरीर है, तो क्या हम जैसोंके समान दृश्य (दीखनेंमे आनेवाला) शरीरका धारक है ? अथवा पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरका धारक है ? अर्थात् ईश्वरका शरीर हमारे शरीरकी तरंह सबके दीखनेमें आता है, वा पिशाच आदिके शरीरके समान किसीके दीखनेमें नहीं आता है। यदि कहो कि, ईश्वर दृश्यशरीरका धारक है, तो प्रथम तो प्रत्यक्षसे बाधा होती है। अर्थात् ईश्वर देखनेमें नहीं आता है। और दूसरे उस ईश्वरके शरीरके व्यापारके विना भी उत्पन्न होते हुए घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष तथा मेघ

आदिमें कार्यपना देखनेसे प्रमेयत्वहेतुके समान कार्यत्वहेतु भी साधारणानैकान्तिकनामक जो हेत्वाभास है, उससे दुष्ट होता है। भावार्थ—जैसे, 'पर्वत अग्निका धारक है, प्रमेय (जाननेयोग्य) होनेसे' इस प्रयोगमें प्रमेयत्वहेतु साधारणानैकान्तिक है अर्थात् अग्निरूपसाध्यका धारक जो पर्वत है, उसमें भी रहता है और उस पर्वतसे भिन्न जो जलाशय आदि हैं उनमें भी रहता है। इसी प्रकार ईश्वरने जिन पदार्थोंको अपने शरीरद्वारा रचे उनमें तो कार्यत्वहेतु रहा ही। और जिन घास वृक्ष आदिको ईश्वरने अपने शरीरसे नहीं रचे हैं, उनमें भी रह गया, इस कारण कार्यत्वहेतु साधारणानैकान्तिकदोषका धारक होगया।

द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्। प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः। तत्सिद्धौ प्रमाणाऽभावात्, इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति।

और दूसरा विकल्प जो ईश्वरके पिशाच आदिके समान अदृश्य (देखनेमें न आनेवाले) शरीरका धारकपना है, उसमें उस ईश्वरका माहात्म्यविशेष (एकप्रकारका प्रभाव) कारण है ? अथवा हमारा तुम्हारा मन्दभाग्य कारण है अर्थात् ईश्वरका शरीर ईश्वरके माहात्म्यसे हमको नहीं दीखता है ? वा हमारे मन्दभाग्यसे ? यदि कहो कि, ईश्वरके माहात्म्यसे ईश्वरका शरीर नहीं दीखता है, तो यह कहना एकप्रकारकी शपथ (सौगन) खाकर विश्वास कराने योग्य है अर्थात् मिथ्या है। क्योंकि, ईश्वरके अदृश्य शरीरको सिद्धकरनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। और जब ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होजावे, तब तो ईश्वरके अदृश्यशरीरका धारकपना विश्वासकरने योग्य होवे तथा पहिले जब ईश्वरके अदृश्यशरीरता सिद्ध होचुके तब उसके माहात्म्यविशेषकी सिद्धि होवे, इसकारण अन्योऽन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—जहां दो पदार्थोंमें परस्पर एककी सिद्धिके विना दूसरेकी सिद्धी न हो वहां अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, इसलिये यहां भी माहात्म्यविशेषके विना अदृश्यशरीरता और अदृश्यशरीरताके विना माहात्म्यविशेषकी सिद्धी न होनेसे अन्योऽन्याश्रयदोष आया।

द्वैतीयीकस्तु प्रकारो न सञ्चरत्येव विचारगोचरे। संशयानिवृत्तेः। किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत्, किंवास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाऽभावात्। अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वै-

**षम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमा-
काशादिवत् । तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः ।**

अब यदि कहो कि, हमारे मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर हमको नहीं दीखता है, तो यह कहना हमारे विचारमें ही नहीं आता है। क्योंकि, क्या ? जैसे बन्ध्याके पुत्रका अभाव है, उसप्रकार ईश्वरके शरीरका ही अभाव है, जिससे, कि, उसका शरीर देखनेमें नहीं आता? अथवा क्या? हमारे मंदभाग्यसे जैसे हमको पिशाच आदिका शरीर नहीं देख पड़ता है, उसीप्रकार ईश्वरका शरीर भी हमारे देखनेमें नहीं आता है, यह संदेह दूर नहीं हो सकता है। **भावार्थ**—यदि कहो कि मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर नहीं दीखता है, तो यह हम नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, ईश्वरके शरीर है, वा नहीं है, यह संशय दूर नहीं होता । यदि कहो कि, ईश्वर शरीररहित होकर जगतको बनाता है, तो ऐसा कहनेमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके असमानता होती है । क्योंकि, कार्यरूप जो घटादिक हैं, वे शरीरके धारक कुम्भकार आदिसे बनाये हुए देखे जाते हैं । **भावार्थ**—घट आदि कार्य सशरीरके बनाये हुए देखे जाते हैं और तुमने जगतरूप कार्यको अशरीरीका बनाया हुआ मान लिया, इसलिये घटरूप जो दृष्टान्त है, वह जगतरूप दार्ष्टान्तिकमें घटित नहीं होता है। और शरीररहित उस ईश्वरके कार्यकरनेमें सामर्थ्य भी कहांसे आसकता है। क्योंकि, शरीररहित आकाश आदिमें कार्यकरनेका सामर्थ्य नहीं देखा जाता है। इस कारण सशरीर और अशरीररूप दोनों पक्षोंमें ही कार्यत्वरूप हेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है । **भावार्थ**—तुमने जो जगतको ईश्वरकर्तृक सिद्ध करनेके लिये कार्यत्वहेतु दिया है, उस कार्यत्वहेतुकी व्याप्ति शरीरसहित अथवा शरीररहित इन दोनों ईश्वरोंमें ही नहीं रहती है। इसकारण तुम्हारा अनुमान मिथ्या है।

किञ्च त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः। धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात्। तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्त्ता। एकत्वादीनि तु जगत्कर्त्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव। तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किंचिदुच्यते।

और तुम्हारे मतके अनुसार यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है। क्योंकि, इससमयमें भी उत्पन्न होते हुए जो जगतरूप धर्मीके एकदेशरूप वृक्ष, विजली और मेघ आदि हैं, उनका कोई कर्त्ता देखनेमें नहीं आता है, इस कारण प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित जो धर्मी

है, उसके पश्चात् तुमने कार्यत्वहेतुका कथन किया है। इसलिये पूर्वोक्तप्रकारसे तुम्हारे अनुमानका खंडन होजानेसे सिद्ध हुआ कि, जगतका कर्त्ता कोई भी नहीं है। और ईश्वरको जगतका कर्त्ता सिद्ध करनेके लिये दिये हुए जो एकत्व आदि ईश्वरके विशेषण हैं, वे तो नपुंसकके प्रति स्त्रियोंके रूप लावण्य आदिका कथन करनेके समान है। भावार्थ—जैसे नपुंसकके प्रति स्त्रियोंके रूपका वर्णन करना व्यर्थ है, उसी प्रकार जगत्कर्तृत्वसे रहित उस ईश्वरके प्रति एकत्व आदि विशेषणोंका देना भी वृथा है। तथापि 'वे एकत्व आदि विशेषण विचारको नहीं सहते हैं, यही प्रकट करनेके लिये यहां पर कुछ कहते हैं।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत्। बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावनेति नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्द्धः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्त्तेति ब्रूषे। एवं चेद्भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना। तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्त्ता स एव किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपन्होतु शक्यम्। तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत्तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते। तस्माद्वैमत्यभयान्महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात्कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिव।

उन विशेषणोंमें प्रथम ही ईश्वरके एकत्वविशेषणके विषयमें चर्चा करते हैं। वादियोंने जो कहा है कि, 'बहुतसे ईश्वर मिल कर जो एक कार्य करें, तो उनके परस्पर संमतिमें भेद हो जावे' सो यह एकान्त नहीं है अर्थात् मतिभेद होवे ही ऐसा निश्चय नहीं है। क्योंकि, हम सैकडों कीडियों (चींटियों) द्वारा रचे हुये भी बिलको, बहुतसे शिल्पियों (कारीगरों वा राजों) द्वारा बनाये हुए भी महल आदि मकानोंको, और बहुतसी मक्षिकाओं (मक्खियों) से निर्माण किये हुए सहतके छाते आदिको प्रत्यक्षपूर्वक एकरूपके धारक देखते हैं। यदि इन बिल आदिका भी एक ईश्वरको ही कर्त्ता कहो और ऐसी ही तुम्हारी ईश्वरके प्रति असाधारण भक्ति हो, तो कुविंद (जुलाहा) और कुंभकार आदिका तिरस्कार करके पट तथा घट आदिका कर्त्ता भी उस ईश्वरको क्यों नहीं मान लेते हो। भावार्थ—जैसे तुमने कीटिका आदि द्वारा रचे हुए बिल आदिकोंका कर्त्ता ईश्वर माना है, उसी प्रकार जुलाहेसे बने हुए वस्त्रका और कुंभकार द्वारा रचे हुए घटका कर्त्ता भी उसी ईश्वरको मान लो। यदि कहो कि,

उन कुविंद, कुंभकार आदिका कर्तृत्व प्रत्यक्षसिद्ध है अर्थात् हम प्रत्यक्षमें कुविंद आदिको पट आदि बनाते हुए देखते हैं, इसकारण उन कुविंदादिका पटादिकर्तृत्व कैसे छिपा सकते है, तो उन कीटिका आदिने तुम्हारा क्या अपराध किया है? जो तुम उनके उस असाधारण परिश्रमसे सिद्ध होनेयोग्य कर्तृत्वको एक ही क्षणमें निरादरताके साथ दूर करते हो। इस कारण परस्पर संमतिमें भेद होनेके भयसे जो तुम्हारा ईश्वरको एक मानना है, वह भोजन आदि संवंधी व्ययके भयसे कृपणपुरुषका अत्यंत प्यारे स्त्रीपुत्रोंको छोड़कर शून्य महावनको सेवन करनेके समान है। **भावार्थ**—जैसे कृपण पुरुष खर्चके डरसे स्त्री आदिको छोड़कर निर्जन बनमें चला जावे, उसी प्रकार तुम्हारा मतिभेदके भयसे ईश्वरको एक मानना है।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात्। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता। अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात्। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतःपाणिरुतविश्वतःपाद्" इत्यादि श्रुतेः।

और जो तुमने ईश्वरके सर्वगतपना माना है, वह भी उस ईश्वरके सिद्ध नहीं है। क्योंकि, वह ईश्वर शरीररूपसे सर्वगत है? वा ज्ञानरूपसे? यदि शरीररूपसे ईश्वरको सर्वगत कहोगे तो उस ईश्वरके शरीरसे ही तीन जगत व्याप्त हो जावेगा. इस कारण जगतमें अन्य जो निर्मेय (ईश्वरके बनाने योग्य) पदार्थ हैं, उनको रहनेके लिये कोई स्थान न मिलेगा। यदि कहो कि, ईश्वर ज्ञानरूपसे सर्वगत है; तब तो साध्यकी सिद्धि है अर्थात् जिसको हम सिद्ध करना चाहते थे, वह सिद्ध हो गया। क्योंकि हम भी परमात्माको निरतिशयज्ञान (केवलज्ञान) रूपसे तीन जगतको गोदमें (ज्ञानके विषयमें) करनेवाला मानते है। **भावार्थ**—जैसे तुम ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हो, उसी प्रकार हम भी श्रीजिनेन्द्रको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हैं। इसकारण इस माननेमें तुम्हारे हमारे तो परस्पर कोई विरोध नही है। परन्तु ऐसा मानने पर तुमने जिस वेदको प्रमाण कर रक्खा है, उससे तुमको विरोध होता है। क्योंकि, तुम्हारे प्रमाणीभूत वेदमें "ईश्वर-सर्वस्थलोंमें नेत्रका धारक, सर्वत्र मुखका धारक, समस्त स्थानोंमें हस्तका धारक तथा सब जगंह चरणका धारक है" इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरको शरीररूपसे सर्वगत कहा है।

यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति।

तत्रेदं पृच्छ्यते । स जगत्रय निर्म्मिमाणस्तक्षादियरसाक्षाद्देहव्यापारेण निर्म्मिमीते । यदि या सङ्कल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधाने अक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद्दीयसाऽप्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनाया नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद्दूषणमुत्पश्यामः। नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि संकल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः ।

और जो तुमने यह कहा है, कि—यदि ईश्वरको सर्वगत (सब स्थानोंमें रहनेवाला) न मानकर किसी एक नियत देश (स्थान) में रहनेवाला मानें तो अनियत अर्थात् भिन्न २ अनेकदेशोंमें रहनेवाले जो तीनलोकमें व्याप्त पदार्थ हैं, उनको वह ईश्वर यथावत् न बना सकेगा अर्थात् ईश्वर एक स्थानमें रहकर अनेक स्थानोंमें रहनेवाले घट आदि पदार्थोंको जैसेके तैसे न बना सकेगा । यहां पर हम यह पूछते हैं कि, तीन जगतको रचता हुआ यह ईश्वर खाती (बढ़ई) के समान साक्षात् शरीरके व्यापारसे तीन लोकको बनाता है ? अथवा संकल्प (इच्छा) मात्रसे ही तीनलोकको रचता है । यदि कहो कि, ईश्वर साक्षात् शरीरके व्यापारसे तीन जगतको रचता है, तब तो एक ही पृथ्वी, पर्वत आदिके बनानेमें बहुतसा समय लगना संभव है, इसकारण अत्यन्त अधिक कालमें भी तीन जगतकी समाप्ति (पूर्णता) न होगी । और संकल्पमात्रसे कार्य करनेरूप दूसरे पक्षको मानने पर यदि ईश्वर एकदेशमें रहकर भी तीन जगतकी रचना करे, तो उसमें हम कोई भी दूषण नहीं देखते हैं । क्योंकि हमने नियतदेशमें रहनेवाले सामान्यदेवोंके भी संकल्पमात्रसे ही उन २ कार्योंका करना स्वीकार किया है ।

किञ्च तस्य सर्वगतस्येऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थलेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते । तथा चाऽनिष्टापत्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानाऽऽत्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसम्भावनात्, नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनाऽऽत्मकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्चाऽनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत् । तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति । न पुनस्तत्र गत्वा । तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः । नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादाऽनुभूतिः । तद्भावे हि स्रक्चन्दनाऽङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति ।

और विशेष यह है कि, ईश्वरके सर्वगतपना अङ्गीकार करनेपर निरन्तर महा अंधकारसे व्याप्त जो नरक आदि स्थान हैं, उनमें भी उस ईश्वरके रहनेका प्रसंग होगा और ऐसा होनेसे तुम्हारे अनिष्टापत्ति होगी। अब कदाचित् तुम यह कहो कि—जब परमात्मा ज्ञानरूपसे तीनलोकको व्याप्त करता है, ऐसा आप कहते हैं; तब सर्वज्ञके अपवित्र रसके आस्वाद आदिके ज्ञानकी संभावना होनेसे और नरक आदिमें जो दुःख है, उनके स्वरूपको जाननेके कारण दुःखोंके अनुभवका प्रसंग होनेसे आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति समान ही है। **भावार्थ**—ईश्वरको शरीरसे सर्वव्यापी माननेरूप हमारे पक्षमें जैसे अनिष्टापत्ति होती है, उसीप्रकार ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वव्यापी स्वीकार करनेरूप आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति होती है। सो यह तुम्हारा कथन जैसे उपायोंसे शत्रुको निवारण करनेमें असमर्थ पुरुष धूल फैकता है, उसके समान है। क्योंकि, ज्ञान अप्राप्यकारी है अर्थात् जहां पर ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ स्थित है, वहां पर ज्ञान नहीं जाता है, इस कारण ज्ञान जो है सो अपने स्थलमें (आत्मामें) स्थित हुआ ही ज्ञेयको जानता है। और ज्ञेयके स्थानमें जाकर ज्ञेयको नहीं जानता है। इसलिये तुमने जो हमारे पक्षमें अनिष्टापत्ति दी है, वह किस प्रकारसे उत्तम हो सकती है अर्थात् तुमने जो दोष दिया है, वह मिथ्या है। क्योंकि तुमको भी तो अशुचि पदार्थके ज्ञानमात्रसे उसके रसके आस्वादनका अनुभव नहीं होता है। और यदि कहो कि हमको अशुचिपदार्थके जाननेसे उसके रसका ज्ञान भी हो जाता है, तो इस प्रकार माननेपर पुष्पमाला, चंदन, स्त्री और जलेवी आदि पदार्थोंके ज्ञानमात्रसे ही तुमको तृप्ति हो जावेगी, इसकारण उन माला आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके अर्थ जो प्रयत्न करते हो, उन प्रयत्नोंकी निष्फलताका प्रसंग होगा। **भावार्थ**—जैसे तुम अशुचि पदार्थके ज्ञानसे उसके रसका ज्ञान होना मानते हो, उसीप्रकार तुमको माला आदिके ज्ञानसे ही माला आदिकी इच्छाकी पूर्त्ति भी माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने पर माला आदिकी प्राप्तिके लिये जो तुम प्रयत्न करते हो, वे निष्फल हो जावेंगे।

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम्। तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति। 'अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति' इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि। तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाऽभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति। यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः

सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणानां गुणत्वमसिद्धम् । तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति ।

और जो हमने पहिले ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वव्यापी माननेमें सिद्धका साधन कहा है, वह भी शक्तिमात्रकी अपेक्षा करके स्वीकार करना चाहिये अर्थात् ईश्वरका ज्ञान सब पदार्थोंके जाननेकी शक्तिको धारण करता है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि " इस पुरुषकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें फैलती हुई है " ऐसा कहनेवाले कहा करते हैं। भावार्थ—जैसे किसी मनुष्यकी बुद्धिकी शक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि, इसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें फैलती है, उसीप्रकार ईश्वरके ज्ञानकी शक्तिको देख कर ही हमने भी कहा है कि, ईश्वरका ज्ञान सब जगह व्याप्त है। और ज्ञान प्राप्यकारी (ज्ञेयके समीप जाकर ज्ञेयको जाननेवाला) नहीं है। क्योंकि, ज्ञान आत्माका धर्म होनेसे आत्माके बाहर नहीं जा सकता है। और यदि ज्ञान आत्माके बाहर जावे तो आत्माके अचेतन पनेकी प्राप्ति होनेसे अजीवत्वका प्रसंग आवे अर्थात् ज्ञानके चले जानेपर जीव अजीव हो जावे। क्योंकि, धर्मीको छोड़कर केवल धर्म कहीं भी नहीं देखा जाता है अर्थात् धर्मीके विना धर्म कहीं भी नहीं रहता है। और जो वैशेषिक दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे सूर्यकी किरणें गुणरूप हैं, तो भी सूर्यसे निकलकर जगतको प्रकाशित करती हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मासे बाहर निकलकर ज्ञेयको जानता है। यहांपर यह उत्तर है कि, किरणोंके गुणपना असिद्ध है। क्योंकि, किरणें तेजके पुद्गलरूप होनेसे द्रव्य हैं। और जो उन किरणोंका प्रकाशस्वरूप गुण है, वह उन पुद्गलद्रव्यरूप सूर्यकी किरणोंसे कदाचित् भी जुदा नहीं होता है।

तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः । " किरणा–गुणा न, दव्वं तेसिं पयासो–गुणो, न वा दव्व । ज णाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ । १ । गन्तूण न परिछिंदइ णाणं णेयं तयम्मि देसम्मि । आयत्थ मिय नवर अचिंतसत्तीउ विण्णेय । २ । लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसम्मि । लोहं आगरिसंती दीसइ इह

1 किरणा–गुणा न, द्रव्यं तेषां प्रकाशो–गुणो, न वा द्रव्यम् । यज्ज्ञानमात्मगुणः कथमद्रव्यः सः अन्यत्र । १ । गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञानं ज्ञेयं तस्मिन्देशे । आत्मस्थमेव नवरं अचिन्त्यशक्त्या तु विज्ञेयम् । २ । लोहोपलस्य शक्तिः आत्मस्थैव भिन्नदेशमपि । लोहमाकर्षन्ती दृश्यते इह कार्यप्रत्यक्षा । ३ । एवमिह ज्ञानशक्तिः आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम् । यदि परिच्छिनत्ति सर्वं को नु विरोधो भवेत्तत्र । ४ । इतिच्छाया ॥

है । और जो सचेतन स्थावर वृक्ष आदि हैं, उनके भी पूर्वोपार्जित शुभ–अशुभकर्मोंके उदयसे ही विचित्रता है । तथा जो अचेतन
स्थावर हैं, वे जो जंगम और सचेतन स्थावर हैं, उनके कर्मोंके फल भोगनेकी जो योग्यता है उसके साधन है अर्थात् इनके द्वारा जीवोंको
स्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, इस कारण उन अचेतन स्थावरोंके अनादिकालसे ही सिद्ध वैचित्र्य है ।

**नाप्यागमस्तत्साधकः । स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् । तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति । तदा
तस्य महत्त्वक्षतिः । स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्त्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्त्तृत्वमेव न युज्य-
ते । शास्त्रं हि वर्णात्मकम् । ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः । स च शरीर एव सम्भवी । शरीराऽभ्युपगमे च
तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः । अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा । सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्तदेक-
त्वाभ्युपगमबाधः । तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च । असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः ।**

अव यदि कहो कि, आगम प्रमाण जो है सो उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाला है । सो भी नहीं । क्योंकि, वह आगम
ईश्वरका किया हुआ है ? वा अन्य किसीका ? यदि कहो कि, ईश्वरका किया हुआ है तो यदि ईश्वरका किया हुआ आगम ही
ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करेगा तव तो ईश्वरके महत्त्व (वड़प्पन) का नाश होगा । क्योंकि, महत्पुरुष स्वयमेव (आप ही)
अपनी प्रशंसा करना स्वीकार नहीं करते है । और विशेष यह है कि, वह तुम्हारा ईश्वर शास्त्रका करनेवाला ही नहीं हो सकता है।
क्योंकि शास्त्र अक्षरों रूप है, वे अक्षर तालु (तालवे) आदिके व्यापार (प्रयत्न) से उत्पन्न होते है, और वह तालु आदिका
व्यापार शरीरमें ही हो सकता है । यदि ईश्वरके शरीर मानो तो जो दोष ईश्वरको शरीर माननेमें पहले कहे हैं, वे ही यहां भी
होवेंगे । यदि कहो कि, आगम किसी अन्यका किया हुआ है, तो हम पूछते हैं कि, वह अन्य पुरुष सर्वज्ञ है ? अथवा असर्वज्ञ
है ? यदि कहो कि, वह अन्यपुरुष सर्वज्ञ है, तव तो ईश्वरके द्वैतापत्ति होगी अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे ईश्वर दो हो जावेंगे, एक तो
आगमका कर्त्ता और दूसरा जगतका कर्त्ता । और ऐसा होनेपर पहले जो तुमने ईश्वरको एक स्वीकार किया है, उसका वाध होगा ।
तथा उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाले प्रमाणकी चर्चा करनेपर अनवस्था दोष भी होवेगा। अर्थात् जैसे प्रथम ईश्वरको सर्वज्ञ
सिद्ध करनेके लिये तुमको दूसरा ईश्वर मानना पड़ा है, इसी प्रकार दूसरे ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये तीसरा और तीसरेको सिद्ध

करनेके लिये चौथा प्रकार मानना पड़ेगा, और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि, वह आगमका कर्ता अन्यपुरुष असर्वज्ञ है तो उस असर्वज्ञ पुरुषके वचनमें विश्वास ही क्या है अर्थात् असर्वज्ञके वचनमें हम विश्वास नहीं करते हैं।

अपर च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत स्वप्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति । पूर्वाऽपरविरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि— " न हिंस्यात्सर्वभूतानि " इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तत्रैव पठितम् " षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः । " तथा " अग्नीषोमीयं पशुमालभेत " " सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभेत " इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते । तथा " नानृतं ब्रूयात् " इत्यादिनाऽनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चात् " ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयादित्यादि " तथा " न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन विवाहकाले । प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृतान्याहुरपातकानि । १ । "

और यह तुम्हारा माना हुआ आगम उस अपने रचनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ नहीं सिद्ध करता है, किन्तु उलटा ईश्वरको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। क्योंकि तुम्हारा आगम पूर्व (आगे) तथा अपर (पीछे) में विरुद्ध अर्थोंके धारक वचनों सहित है। भावार्थ— जिस आगमसे तुम ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करते हो, वह आगम पूर्वापरविरुद्धवचनोंका धारक है, अर्थात् पहले जो कहता है, उसके विरुद्ध आगे कह देता है, इसकारण अपने कर्ता ईश्वरको सर्वज्ञके बदले असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। सो ही दिखलाते हैं—"सर्व प्रकारके जीवोंकी हिंसा न करनी चाहिये" ऐसा पहिले कह कर फिर उसी तुम्हारे शास्त्रमें कहा है कि, "अश्वमेधके वचनसे मध्यम (बिचले) दिवसमें तीन कम छ सौ अर्थात् पांचसौ सत्तानवें ५९७ पशुओंका वध किया जाता है। १।" इसीप्रकार "अग्नियोमीय अर्थात् अग्नि और चंद्र है देवता जिसका ऐसे पशुको मारना चाहिये।" तथा "प्रजापति है देवता जिनका ऐसे सतरह १७ पशुओंका वध करना चाहिये।" इनको आदि लेकर जो वचन हैं, वे पूर्वापरविरोधको कैसे नहीं धारण करते हैं? अर्थात् पूर्वापरविरोधके धारक हैं ही। इसी प्रकार "झूठ नहीं बोलना चाहिये" इत्यादि वचनोंसे पहिले असत्यवचन कहनेका निषेध करके फिर "ब्राह्मणके अर्थ झूठ बोलना चाहिये।" इत्यादि वचन कहे हैं। तथा "नर्ममें अर्थात् हास्य (मजाक अथवा ठठोल) में यदि झूठ वचन कहा जावे तो, वह धर्मनाशक नहीं है, स्त्रियोंके साथ संभोग समयमें यदि असत्य-

१ अत्र सर्वत्र धर्मभिन्नाध्याहारः कर्तव्यः ।

वचन कह दिया जावे तो, वह धर्मनाशक नहीं है २, विवाहके अवसरमें वरकन्याके दोषोंको न कहकर उनके झूंठे ही गुणोंको कह दिये जानेमें जो असत्यवचन बोला जाता है, वह भी धर्मनाशक नहीं है ३, अपने वा परके प्राण जाते समय प्राणोंकी रक्षार्थ यदि असत्यवचन कहा जावे, तो वह धर्मनाशक नही है ४, और जब राजा सर्व धनको लूटता होवे, उस समय अपने धनको किसी दूसरेका बतलाकर धनकी रक्षा करनेमें जो असत्य वचन कहा जावे तो, वह भी धर्मनाशक नहीं है ५, इस प्रकार पांच प्रकारके झूंठ पापरूप नहीं हैं । १ ।"

तथा " परद्रव्याणि लोष्टवत् " इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं " यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम् । यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते । तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति । तथा— " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " इति लपित्वा " अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् । १ । " इत्यादि । कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृपणा विवेच्यन्ते । तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किञ्च सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिण, एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति । इति तन्नाऽयं सर्वज्ञः ।

तथा "परके द्रव्योंको लोष्टके समान देखने चाहियें अर्थात् दूसरोंके धनको लोहके समान अल्पमूल्यवाला समझकर न लेना चाहिये" इस वचनसे नहीं दिये हुए द्रव्यके ग्रहणका अर्थात् चोरी करनेका निषेध करके फिर कहा है कि, यदि ब्राह्मण हठसे अथवा अपने बलसे परके धनको लेवे, तौ भी उस ब्राह्मणके अदत्तादान अर्थात् चोरी करनेका दोष नहीं है । क्योंकि " ब्रह्माने सर्व जगतकी संपदा ब्राह्मणोंको दी है, उन ब्राह्मणोंमें जो दुर्बलता हो गई इस कारणसे वृषल (शूद्र) उन संपदाओंका भोग करते हैं, अतः दूसरे पुरुषसे कोई भी पदार्थ छीनता हुआ ब्राह्मण अपना ही लेता है, अपना ही भक्षण करता है, अपना ही पहरता है और अपना ही देता है ।" इसी प्रकार " पुत्ररहितकी गति नहीं है " ऐसा कहकर फिर उसी शास्त्रमें लिखा है कि, " कितने ही हजार बालब्रह्मचारी ब्राह्मण कुलकी संततिको न करके अर्थात् कुलकी रक्षार्थ संतान (पुत्र) उत्पन्न न करके

भावार्थ—जैसे विषमिश्रित भोजनमें से कीड़ोंको दूर करना कठिन है, उसी प्रकार तुम्हारे आगमके दोषोंका कहना कठिन है। सो इस प्रकार परस्परविरुद्ध वचनोंका धारक आगम भी उस ईश्वरको सर्वज्ञ नहीं कहता है। और सर्वज्ञ माननेमें भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर सर्वज्ञ होकर इस स्थावरजंगमरूप जगतको रचता है, तो अपनी इच्छानुसार जगतमें उपद्रव करनेवाले और पीछे वध्न करने योग्य ऐसे सुरवैरियों (दानवों) को तथा इस ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खंडन करनेवाले हम जैसोंको, क्यों रचता है। भावार्थ—यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो जो दानव जगतमें उपद्रव मचाते हैं, उनको क्यों रचता है और रचता है तो फिर उनका निग्रह क्यों करता है। तथा—आपको न माननेवाले हम जैसोंको क्यों रचे अर्थात् ईश्वरने अपने विद्वेषी जैनियोंको क्यों बनाये। इस कारण यह ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है।

तथा स्ववशत्वं स्वातन्त्र्य तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते। तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम्, एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाऽशुभकर्मप्रेरितः संस्तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः। कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्टहेतुकविष्टपसृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वादस्मन्मतमेवाऽङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथाचायातोऽयं "घट्टकुट्यां प्रभातम्" इति न्यायः। किञ्च प्राणिनां धर्म्माधर्म्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति। न हि कुलालो दण्डादि करोति। एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात्तर्हि कर्मणीश्वरत्वमीश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति।

तथा "ईश्वर स्ववश अर्थात् स्वतन्त्र है" ऐसा जो तुमने कहा है, यह भी विचारको नहीं सह सकता है, अर्थात् मिथ्या है। क्योंकि यदि वह ईश्वर स्वाधीन होकर जगतको रचता है और अत्यंत करुणाभावको धारण करता है, ऐसा तुम कहते हो तो सुख तथा दुःख आदि रूप जो अवस्थाओंके भेद हैं, उनके समूहसे भरे हुए जगतको क्यों बनाता है? और एकान्त (सर्वथा) सुख तथा संपदाओंसे मनोहर जगतको क्यों नहीं रचता है? भावार्थ—जो करुणावान् तथा स्वाधीन होता है, वह जीवोंको सुख देनेवाले ही कार्योंको करता है और तुम्हारा ईश्वर जीवोंको सुख, तथा दुःख आदि देनेरूप जगतको रचता है, इस कारणसे विदित

होता है कि, तुम्हारा ईश्वर स्वतंत्र और करुणावान नहीं है। यदि कहो कि, ईश्वर जीवोंके अन्य (पहले) जन्मोंमें उपार्जन किये हुए उन २ शुभ तथा अशुभ कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है अर्थात् पूर्वजन्ममें जिस जीवने जैसा शुभ–अशुभ कर्म बांधा है, उस कर्मके अनुसार ही उस जीवको फल देनेके लिये ईश्वरने सुख–दुःख आदिरूप जगतको रचा है, ऐसा कहो तो तुमने ईश्वरके स्वाधीनपनेके अर्थ जलांजली दी, अर्थात् ऐसा माननेसे तुम्हारा ईश्वर स्वाधीन न रहा; किन्तु कर्मोंके आधीन हो गया। और जब तीन लोककी विचित्रता कर्मोंसे उत्पन्न हुई; तब ईश्वर है कारण जिसमें ऐसी जो जगतकी रचनाकी कल्पना करना है, उसका एक कष्ट ही फल होनेसे विचारको धारण करनेवाले तुमने हमारे ही मतको स्वीकार किया। और हमारे मतको स्वीकार करने पर यह "घट्टकुटीप्रभात (जगात में प्रातःकाल)" नामक न्यायकी प्राप्ति हुई। भावार्थ—जैसे कोई मनुष्य महसूली सामानका महसूल न देनेके विचारसे जिस रास्तेमें महसूल देनेका मुकाम है, उसको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये संपूर्ण रात्रिमें इधर परिभ्रमण करे, और फिर फिराकर प्रातःकाल उस महसूल देनेके स्थानमें ही जा पहुंचे—उसका जैसे सब रात्रिका परिश्रम करना वृथा हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वरको जगतके कर्त्ता माननेके लिये तुमने बहुत कुछ उपाय किये; परन्तु अन्तमें जब कर्मोंसे ही जगतकी विचित्रता सिद्ध हो गई तब ईश्वरको जगतका कर्त्ता माननेमें केवल कष्ट ही कष्ट समझकर तुमने भी हम जैनियोंका जो "ईश्वर जगतका कर्त्ता नहीं है" यह मत है, इसीको मान लिया। और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर जीवोंके पुण्य तथा पापकी अपेक्षा करके इस जगतको रचता है, तो यह सिद्ध हुआ कि, ईश्वर जिसकी अपेक्षा करता है उसको नहीं करता है। क्योंकि कुंभकार दंड आदिको नहीं करता है। भावार्थ—जैसे कुंभकार घट आदि बनानेके अर्थ दंड आदिकी अपेक्षा रखता है, अतः उनको बना नहीं सकता, इसी प्रकार ईश्वर जगतके बनानेमें जीवोंके धर्म–अधर्मकी अपेक्षा (जरूरत) रखता है. इस कारण उनके बनानेमें असमर्थ है। इस प्रकार यदि कर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर जगतका कारण होवे अर्थात् जगतरूपकार्यका कर्त्ता होवे; तो कर्ममें ईश्वरपना सिद्ध होगा और ईश्वर जो है सो अनीश्वर (असमर्थ) हो जावेगा।

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽत-

यथा अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य असृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरन्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ।

अब जो तुम ईश्वरको नित्य कहते हो, सो भी तुम्हारे घरमें ही कहा हुआ अच्छा लगता है, अर्थात् अपने मतवालोंमें तुम चाहे ईश्वरको नित्य कहलो; परन्तु हमारे सामने ईश्वरको नित्य नहीं कह सकते हो। क्योंकि वह ईश्वर नित्य होनेसे एकरूपका धारक है, इसकारण हम पूछते हैं कि, वह ईश्वर तीन जगतको रचनेवाले स्वभावको धारण करता है? अथवा तीन जगतकी रचना करनेवाला जो स्वभाव है, उसको नहीं धारण करता है? यदि कहो कि तीन जगतको रचनेवाले स्वभावका धारक है, तब तो यह जगतके बनानेसे कभी भी विश्राम न लेवे, और यदि विश्राम लेलेवे तो उसके स्वभावका नाश हो जावे। भावार्थ—जब यह जगतकी रचना करनेरूप स्वभावका ही धारक है। तो सदाकाल जगतरूप कार्यको करता ही रहेगा और ऐसा मानने पर ईश्वर जो जगतको रचनेरूप क्रिया करता है, उसकी समाप्ति न होनेसे एक भी कार्यकी रचना न होगी। क्योंकि निश्चयनयके अभिप्रायसे घट जो है सो अपनी रचना प्रारंभ होनेके प्रथम क्षणको लेकर अपनी रचनाकी समाप्तिके अंतिम क्षणपर्यन्त घट इस व्यवहारको नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि जबतक यह बन न चुके, तबतक जलको ग्रहण करना इत्यादिरूप जो अर्थक्रिया है, उसमें असाधकतम है अर्थात् यह घट बन चुकने विना जल भरने आदिमें असमर्थ है।

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिसंहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत्तेनैव तानि संहरेत् स्वभावान्तरेण वा । तेनैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः । स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वाऽपूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शम्भोः स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षतिः ।

यदि कहो कि; ईश्वर तीन जगतकी रचना करने रूप स्वभावका धारक नहीं है, तो वह ईश्वर कदाचित् भी जगतका निर्माण नहीं

करे । क्योंकि जैसे आकाश जगत रचनेरूप स्वभावका धारक नहीं है, इसकारण जगतको नहीं रचता है, वैसे ही ईश्वर भी जगतके रचनेके स्वभाववाला न होनेसे जगतको नहीं रच सकता है। और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर सर्वथा नित्यस्वभावका ही धारक होवे तो जैसे उसके नित्य होनेसे जगतकी रचना सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही ईश्वरकी नित्यतामें जगतका संहार (नाश अथवा प्रलय) भी नहीं सिद्ध होता है । क्योंकि वह ईश्वर जिस स्वभावसे तीनों लोकोंको रचता है, उसी स्वभावसे उन तीनों लोकोंका नाश करता है ? वा किसी दूसरे स्वभावसे तीन जगतका संहार करता है ? यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतको नष्ट भी करता है; तब तो जगतकी रचना और जगतका नाश ये दोनों एक ही समयमें होवें ऐसा प्रसंग होगा । कारण कि स्वभावका अभेद है. अर्थात् ईश्वर जगतके रचने और नष्ट करनेमें एकही स्वभावका धारक है । क्योंकि एक स्वभावरूप जो कारण है, उससे अनेक स्वभावरूप कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध है । अर्थात् एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभाववाले कार्य नहीं हो सकते हैं। यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतका नाश नहीं करता है; किन्तु दूसरे स्वभावसे जगतका संहार करता है, तो ईश्वरके जो नित्यता है, उसका नाश हो जावेगा । क्योंकि जो स्वभावका भेद है, वही अनित्यका लक्षण है । जैसे कि–आहारके परमाणुओंसे सहायको प्राप्त हुआ जो पार्थिव शरीर है, उसमें प्रतिदिन अपूर्व अपूर्व उत्पत्ति होनेके कारण स्वभावका भेद है, इसकारण वह अनित्य है । भावार्थ—जैसे हमारे तुम्हारे शरीरमें प्रतिदिन नवीन नवीन आकृति आदि होनेसे स्वभावका भेद है और स्वभावभेदके होनेसे ही हमारा तुम्हारा शरीर अनित्य है, उसी प्रकार ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा । और जगतकी रचना तथा संहारमें शंभु (ईश्वर)के स्वभावका भेद होना तुमको इष्ट ही है । क्योंकि तुमने ' ईश्वर रजोगुणरूप होकर जगतकी रचनामें, तमोगुणस्वरूपका धारक होकर जगतके नष्ट करनेमें और सात्विकपनेसे जगतकी स्थिति (रक्षा) में व्यापार करता है, ऐसा स्वीकार किया है। और इस प्रकार भिन्न २ गुणरूप होकर कार्य करनेमें ईश्वरकी अवस्थायें भी जुदी जुदी हुई और उन जुदी २ अवस्थाओंके होनेसे अवस्थाओंका धारक जो ईश्वर है, उसका भी भेद हुआ अर्थात् रजोगुणरूप अवस्थाका धारक जो ईश्वर है, उस ईश्वरसे तमोगुणरूप अवस्थावाला ईश्वर भिन्न हुआ । और ऐसा हुआ तो ईश्वरकी नित्यताका नाश हुआ अर्थात् ईश्वर नित्य न रहा ।

फिर भी यदि तुम यही कहो कि, ईश्वर नित्य ही है, तो अस्तु नित्य ही रहो, परन्तु तो भी वह ईश्वर सदाकाल जगतके बनानेमें चेष्टा क्यों नहीं करता है अर्थात् निरंतर जगतको क्यों नहीं बनाता है? यदि कहो कि, ईश्वर इच्छाके वशसे निरंतर जगतको नहीं रचता है अर्थात् जब ईश्वरको जगतके रचनेकी इच्छा नहीं रहती है, तब जगतका बनाना छोड़ देता है, तो हम पूछते हैं कि, अपनी विद्यमानतारूप कारणसे निज स्वरूपको धारण करनेवाली वे इच्छायें सदा क्यों नहीं प्रवर्तती हैं। भावार्थ—इच्छायें जबतक ईश्वरमें विद्यमान रहेंगी तबतक ही इच्छा कह जावेंगी इस कारण वे इच्छायें जगतके रचनेमें ईश्वरको सदा ही क्यों नहीं लगाती हैं? इस प्रकार जो पहले उपालंभ था, वही यहां भी हुआ अर्थात् जैसे पहले ईश्वर सदा जगतको क्यों नहीं रचता है? यह दोष दिया है, वैसा ही यहां 'इच्छायें सदा ईश्वरको जगतके रचनेमें क्यों नहीं लगाती हैं' यह दोष है। और जब तुम ईश्वरको, बुद्धि १ इच्छा २ प्रयत्न ३ संख्या ४ परिमाण ५ पृथक्त्व ६ संयोग ७ और विभाग ८ इन आठ गुणोंका[1] अधिकरण मानते हो अर्थात् ईश्वरमें बुद्धि आदि ८ गुण सदा समानरूपसे रहते हैं ऐसा कहते हो, तब कार्यभेदसे अनुमान करनेयोग्य ऐसी जो ईश्वरकी इच्छायें हैं, उनकी विषमरूपतासे उत्पन्न हुई नित्यताकी हानिको कौन दूर करेगा। भावार्थ—ईश्वरमें इच्छायें सदा समान रहनी चाहियें। परंतु जगतमें जो नाना प्रकारके कार्य देखते हैं, इससे अनुमान होता है कि, ईश्वरकी इच्छायें भी नाना प्रकारकी हैं अर्थात् विषम हैं और जब ईश्वरकी इच्छायें विषम हुईं तो ईश्वर अनित्य होयगा।

किञ्च प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता। ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा। न तावत्स्वार्थात्तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। ततः प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याऽभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम्। कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति।

और भी विशेष यह है कि, जो प्रेक्षावान् (विचारशील) पुरुष हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वार्थ और कारुण्यसे व्याप्त

[1] बुद्धीच्छाप्रयत्नसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाख्याष्टगुणाधिकरणत्वे।

होती है अर्थात् विचारवान् या तो अपने प्रयोजनसे किसी कार्यको करते हैं, और या करुणाबुद्धिको धारणकर परोपकारके लिये किसी कार्यको करते हैं। इस कारण यह ईश्वर जगतके रचनेमें स्वार्थसे व्यापार करता है ? अथवा करुणाभावसे व्यापार करता है, अर्थात् लगता है। यदि कहो कि, ईश्वरकी जगतकी रचनामें स्वार्थसे प्रवृत्ति होती है, सो तो नहीं। क्योंकि वह ईश्वर कृतकृत्य है अर्थात् उसको कोई भी कार्य करना न रहा, इस कारण कृतार्थ है। यदि कहो कि ईश्वर जगतकी रचनामें कारुण्यसे प्रवृत्ति करता है। सो भी नहीं। क्योंकि दूसरेके दुःखोंको दूर करनेकी जो इच्छा है, वह कारुण्य कहलाता है, इसकारण ईश्वरने जब जगत नहीं रचा था, उस समय जीवोंके इंद्रिय, शरीर और विषयोंकी उत्पत्ति न होनेसे दुःखका अभाव था अर्थात् इंद्रिय, शरीर तथा विषयोंसे दुःख उत्पन्न होता है और वे इंद्रियआदि जीवोंके थे नहीं, फिर किसको दूर करनेकी इच्छा हुई जिससे कि, ईश्वरने कारुण्यसे जगतको रचा। और जगतको रचनेके पीछे दुःखी जीवोंको देखकर ईश्वरने कारुण्य धारण किया, ऐसा मानो तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) नामक दोष नहीं दूर हो सकता है। क्योंकि कारुण्यसे जगतकी रचना हुई और जगतकी रचनासे कारुण्य हुआ। इस कारण ईश्वरके जगतका कर्त्तापना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता है।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य घण्टालालान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति। यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक' इति। तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः। अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात्। इति काव्यार्थः॥ ६॥

सो इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष (ईश्वर) में जो वैशेषिकोंका सेवामें आग्रह है, वह बलवान जो मोह है, उसकी विडम्बनाका परिपाक (उदय अथवा फल) है। और "इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।" यहां पर मध्यवर्त्ती जो नकार है, उसका घंटालालान्यायसे अन्वय करनेपर दूसरा अर्थ भी निकलता है अर्थात् जैसे—घंटामें जो टोकरी रहती है, वह घंटाके दोनों तरफको लगती है, इसीप्रकार मध्यवर्त्ती नकारका भी दो प्रकारसे अन्वय होता है। जैसे—कि, यह कदा-

अथ वैशेषिकाः ज्ञानादयश्च रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्म्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसम्बन्धेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्म्मिव्यपदेशमश्नुवते इति तन्मतं दूषयन्नाह ।

अब "यद्यपि जीवादिक धर्मीसे ज्ञानादिक धर्म और घटादिक धर्मीसे रूपआदि धर्म अत्यन्त भिन्न हैं अर्थात् गुणीसे गुण सर्वथा भिन्न है, तथापि परस्पर भिन्नरूप ये दोनों धर्म और धर्मी समवायसंबंधसे परस्पर संबंधको प्राप्त होकर धर्मधर्मिव्यवहारको अर्थात् यह पदार्थ धर्मी (धर्मोंको धारण करनेवाला) है और ये इसमें रहनेवाले धर्म (गुण) हैं, इस व्यवहारको प्राप्त होते हैं" इस वैशेषिकोंके मतको दूषित करते हुए ग्रन्थकार इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ।

न धर्म्मधर्म्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥

काव्यभावार्थः—धर्म और धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेमें धर्मधर्मिव्यवहार नहीं होता है । यदि वादी कहें कि, समवायसंबंधसे परस्पर भिन्नरूप धर्म और धर्मीका एक दूसरेके साथ संबंध हो जाता है, अतः धर्मधर्मिव्यवहार होता है । सो नहीं । क्योंकि जैसे—धर्म और धर्मी इन दोनोंका ज्ञान होता है, उसी प्रकार समवायका ज्ञान नहीं होता है । फिर यदि वादी कहें कि, 'यहां यह है' इस प्रकारके इह प्रत्ययसे समवायका ज्ञान होता है, तो 'यहां यह है' इस प्रकारकी बुद्धि समवायमें भी है । इस कारण उस समवायमें संबंधका कारण दूसरा समवाय और उसमें भी दूसरा समवाय माननेसे अनवस्था होगी । यदि वादी कहें कि, समवायमें समवायत्व गौणरूपसे है । सो भी ठीक नहीं है । और इहप्रत्ययसे समवायको सिद्ध करनेमें लोकसे भी विरोध होता है ॥ ७ ॥

---

१ वैशेषिकाणां मते उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीति ।

व्याख्या। धर्म्मधर्म्मिणोरतीवभेदेऽतीवेत्यत्रेवशब्दो वाक्यालङ्कारे। तं च प्रायोऽतिशब्दात्किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः। यथा "आवर्ज्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्" इत्यादि। ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्म्मधर्म्मित्वं न स्यात्। अस्य धर्मिण इमे धर्म्मा एषां च धर्म्माणामयमाश्रयभूतो धर्म्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति। तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्म्माणामपि विवक्षितधर्म्मधर्म्मित्वापत्तेः।

व्याख्यार्थः—"अतीवभेदे" धर्म (गुण) और धर्मी (गुणी) इन दोनोंको अत्यन्त भिन्न माननेपर ['अतीव' यहांपर जो अति के साथ 'इव' का योग (अति×इव=अतीव) है, वह वाक्यके अलंकारमें है और शाब्दिक (व्याकरणके जाननेवाले) पुरुष इस 'इव' शब्दका प्रायः अतिशब्दके साथ, किंवृत्ति ('किम्' शब्दके साथ समासको प्राप्त हुए शब्द) के साथ तथा किंशब्दके साथ योग किया करते हैं। जैसे कि "आवर्ज्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्।" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्।" यहांपर किंवृत्ति और किंशब्दके साथ 'इव' का योग किया गया है।] "धर्मधर्मित्वं" धर्मधर्मीपना अर्थात् इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका यह आधारभूत (रहनेके स्थानरूप), धर्मी है, इसप्रकारका जो सर्वप्रसिद्ध धर्मधर्मिव्यवहार है, वह नहीं होता है। क्योंकि यदि धर्म और धर्मीके परस्पर अत्यंत भेद होनेपर भी जो धर्मधर्मिभावकी कल्पना करोगे तो अन्यपदार्थोंके जो धर्म हैं, उनके भी विवक्षित धर्मधर्मिभाव हो जावेगा। भावार्थ—वैशेषिकमतमें द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) इन दोनोंको सर्वथा भिन्न माने गये हैं। क्योंकि 'जो द्रव्य उत्पन्न होता है, वह प्रथमक्षणमें गुणोंसे रहित ही रहता है, ऐसा उनका मत है। इसकारण शास्त्रकार कहते हैं कि, यदि परस्पर भेदके धारक धर्म और धर्मीके धर्मधर्मिभाव मानोगे, तो एक पदार्थका धर्म किसी दूसरे पदार्थका धर्म हो जावेगा अर्थात् जब अग्निके उष्णत्वधर्मका अग्निके साथ और जलके शीतत्वधर्मका जलके साथ सर्वथा भेद होगा तब जलका शीतत्व धर्म अग्निका धर्म हो जावेगा और अग्निका उष्णत्वधर्म जो है, वह जलका धर्म हो जावेगा। क्योंकि धर्म धर्मीके सर्वथा भेद होनेसे यह धर्म इसी धर्मीका है, ऐसा कोई नियामक [नियम करानेवाला] नहीं है।

एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। [illegible]स्तीति। अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः

ष्यत। इति नानन्तरोक्तो दोष इति।

इस प्रकार शास्त्रकारके कहने पर वादी उत्तर देते हैं कि, "वृत्त्या" वृत्ति (समवाय) से "अस्ति" है। भावार्थ— अयुतसिद्ध [एक दूसरेके बिना कदापि नहीं रहनेवाले] ऐसे जो आधार्य [रहने योग्य] और आधार (रहनेके स्थानभूत) पदार्थ हैं, उनमें 'यहां यह है' इस ज्ञानका कारणभूत जो संबंध है, उसको समवाय कहते हैं। वह समवाय एक दूसरेको परस्पर संबंधित करनेसे अर्थात् अवयवको और अवयवीको, जातिको और व्यक्तिको, गुणको और गुणीको, क्रियाको और क्रियावानको नित्यद्रव्यको तथा विशेषको मिलानेसे समवाय कहलाता है, और द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ और विशेष ५ इन पांचोंमें रहनेसे वृत्ति कहलाता है। उस समवायसंबंधसे उन दोनों धर्मधर्मियोंके परस्पर भेद होनेपर भी हम धर्मधर्मिव्यवहार मानते हैं।

अत्राचार्यः समाधत्ते। चेदिति। यद्येवं तव मतिः सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता। यतो न त्रितयं चकास्ति। अयं धर्मी, इमे चास्य धर्म्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतन्त्रितयं वस्तुत्रयं न चकास्ति ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते। यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात्पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते। नैवमत्र समवायस्याऽपि प्रतिभानम्। किन्तु द्वयोरेव धर्म्मधर्म्मिणोः। इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः।

अब आचार्य इस उपर्युक्त वादीकी शंकाका समाधान करते हैं कि, "चेत्" यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि है, तो वह प्रत्यक्षसे खंडित है अर्थात् तुम जो समवायसंबंधसे धर्मधर्मिभावको सिद्ध करते हो, उसका प्रत्यक्षप्रमाणसे खंडन होता है। क्योंकि "त्रितयं" तीन "न" नहीं "चकास्ति" प्रतिभासते हैं। अर्थात् यह धर्मी है, ये इस धर्मी के धर्म हैं और यह इन दोनों धर्मधर्मियोंके संबंधका कारणभूत समवाय है, इसप्रकार ये तीन पदार्थ ज्ञानकी विषयतासे प्रतिभासित नहीं होते हैं। अर्थात् जाननेमें नहीं आते हैं। भावार्थ—जैसे शिला [एक प्रकारके पत्थर]के दो टुकड़ोंको जोड़नेवाला राल आदिक द्रव्य तीसरे रूपसे भासता है अर्थात् जैसे शिलाके दो टुकड़ोंका जुदा जुदा ज्ञान होता है, उसी प्रकार उनका संबंध करानेवाला राल आदि द्रव्य भी भिन्न जाना जाता है। इसी प्रकार यहां समवायका भी प्रतिभास होना चाहिये, परंतु नहीं होता है, किन्तु धर्म तथा धर्मी इन दोका ही प्रतिभास होता है। इस कारण धर्म और धर्मीका संबंध करानेवाले समवाय नामक भिन्न पदार्थको जो तुम सिद्ध

करते हो; सो सौगन खाकर विश्वास कराने योग्य है अर्थात् प्रत्यक्षसे समवाय सिद्ध नहीं होता है; तो भी तुम हठसे उसको सिद्ध करते हो, इस कारण हम समवायको नहीं मानते हैं।

किञ्चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्त्तश्च परिकल्प्यते। ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्म्माः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि। तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाकाश एको नित्यो व्यापकः अमूर्त्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण संवध्यते तथा किं नायमपीति। विनश्यदेकवस्तुसमवायाऽभावे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोप इतिचेदेवमनित्यत्वापत्तिः। प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति।

और भी विशेप यह है कि, उन वैशेपिकोंने यह समवाय एक, नित्य, सर्वव्यापक तथा अमूर्त्त माना है, इस कारण जैसे घटमें रहनेवाले पाकज [घटको अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले) रूप आदिक धर्म समवायसंबंधसे घटमें मिले हैं, उसीप्रकार पटमें भी क्यों नहीं मिले। क्योंकि वह समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समान स्वरूपका धारक है। भावार्थ— जैसे–आकाश जो है; वह एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त्त है, इसकारण सब संबंधियोंके साथ एक ही समयमें समानरूपतासे संबंध रखता है, उसीप्रकार यह समवाय भी जैसे पाकजरूपका घटके साथ संबंध कराता है, वैसे पटके साथ भी संबंध क्यों नहीं कराता है। और नष्ट होते हुए किसी एक वस्तुमें समवायका नाश होनेपर समस्त पदार्थोंमें समवायके अभाव होनेका भी प्रसंग होता है. अर्थात् सर्वव्यापक और एक होनेसे समवाय सर्वत्र समान है, इस कारण जब एक पदार्थमें समवायका नाश होवेगा, तब सब पदार्थोंमें समवायका नाश होगा। और यह तुमको इष्ट नहीं है। यदि उस उस अवच्छेदक (भेद करने वाले) के भेदसे यह दोप नहीं है अर्थात् जो घटत्वावच्छेदक समवाय है, वह घटमें रहता है, और जो पटत्वावच्छेदक समवाय है, वह पटमें रहता है, इसकारण जब घटत्वावच्छेदक समवायका नाश होता है तब पटत्वाच्छेदक समवायका नाश नहीं होता है। ऐसा कहो तो प्रत्येक वस्तुके साथ स्वभावका भेद होनेसे समवायके अनित्यता प्राप्त हो जावेगी अर्थात् घटके साथ अन्यस्वभावसे और पटके साथ अन्यस्वभावसे रहनेके कारण समवाय नित्य न रहेगा।

म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं परं, पर: परं तद्धेतु । इति परोक्षं मभिसन्धाय पुनराह । इहेदमित्यस्ति मतिश्च-वृत्ताविति । इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इह प्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसबन्धेऽपि विद्यते । चशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च व्यवहितसम्बन्धस्तथैव च व्याख्यातम् ।

अब " समवायका ज्ञानमें प्रतिभासन कैसे नहीं होता है अर्थात् होता ही है । क्योंकि उस समवायका इहप्रत्यय सावधान (प्रबल) साधन है, अर्थात् समवायके विना इहप्रत्यय नहीं हो सकता है, इसकारण अर्थापत्तिसे समवाय सिद्ध होता है । और इन तन्तुओंमें पट है, इस आत्मामें ज्ञान है तथा इस घटमें रूप आदिक हैं, इस प्रतीतिके प्राप्त होनेसे इहप्रत्यय तो अनुभवसे ही सिद्ध है । और यह इहप्रत्यय केवल धर्मके आधार भी नहीं है और केवल धर्मीके आधार भी नहीं है, इसकारण समवायनामक जो धर्म और धर्मीसे भिन्न एक तीसरा पदार्थ है, वही इहप्रत्ययका हेतु है अर्थात् ' यहां यह है ' ऐसी प्रतीति न तो केवल धर्ममें ही होती है और न केवल धर्मीमें ही होती है अत समवाय ही इस प्रतीतिका कारण है । " इस प्रकार वादीकी शंकाको चित्तमें धारण करके ग्रन्थकार फिर कहते हैं कि, "इह" यहां " इदम्" यह "अस्ति" है । "इति" इसप्रकारकी "मतिः" बुद्धि जो है सो "वृत्तौ" समवायसंबंधमें "च" भी "अस्ति" है अर्थात् आधार तथा आधेय ये दोनों हैं कारण जिसके ऐसा इहप्रत्यय समवायसंबंधमें भी होता है । ['मतिश्च' यहां 'च' यह शब्द अपि शब्दके अर्थमें है, और उसका व्यवहितसंबंध है, इसकारण यहां पर उसीरीतिसे इसकी व्याख्या की गई है ।]

इदमत्र हृदयम् । यथा-त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथिवी तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं नाऽपरं वस्त्वन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते । "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात् । एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते । यतस्तस्याऽपि वस्समवायत्वं स्वस्वरूपं तेन सार्द्धं सबन्धोऽस्त्येव । अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवाये समवायत्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव । ततो यथा पृथिव्याः पृथिवीत्वं

समवायेन समवेतं समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयं तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी।

यहां पर तात्पर्य यह है कि, जैसे तुम्हारे मतमें पृथिवीत्वके संबंधसे पृथिवी है। और उस पृथ्वीमें जो पृथ्वीपना है, वह पृथिवीका ही अस्तित्व नामक धर्म है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। और उस पृथिवीत्वरूप अपने स्वरूपके साथ ही जो कोई पृथिवीका संबंध है, उसीको 'प्राप्त हुओंकी जो प्राप्ति है, वह समवाय है' इस वचनसे 'समवाय' ऐसा कहते है। इसीप्रकार 'समवायत्वके संबंधसे समवाय है' यह भी तुम क्यों नहीं मानते हो?। क्योंकि उस समवायका भी समवायत्वरूप निजस्वरूपके साथ संबंध है ही। क्योंकि यदि समवायका समवायत्वके साथ संबंध न होगा तो स्वभावरहित होनेसे शशशृंग (सुस्सेके सींग) के समान समवाय भी अवस्तु ही हो जावेगा अर्थात् जैसे स्वभावरहित होनेके कारण शशशृंग कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार स्वभावरहितपनेसे समवाय भी पदार्थ न रहेगा, इस कारण समवायका समवायत्वके साथ संबंध तुमको मानना ही होगा। और जब समवायका समवायत्वके साथ संबंध मानोगे तब इस समवायमें समवायत्व है, इस प्रकार कहनेसे समवायमें भी इहप्रत्यय युक्तिसे सिद्ध हो ही जावेगा। अतः जैसे पृथिवीमें पृथिवीत्व समवायसंबंधसे समवेत (मिलाहुआ) है, उसी प्रकार समवायमें भी समवायत्वको दूसरे समवायसे संबंधित करना चाहिये। और उस दूसरे समवायमें जो समवायत्व है, उसको तीसरे समवायसे संबंधित करना चाहिये। और इस प्रकार जब समवायमें समवायत्वको संबंधित करनेके लिये नया २ समवाय मानोंगे तब अनवस्था-दोष नामक जो महानदी है, वह दुस्तर (दुःखसे पार पानेवाली) हो जावेगी अर्थात् नये २ समवायोंका कभी अंत ही न आवेगा।

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति। ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावेजातेरनुद्भूतत्वाद्गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धस्तत्साध्यश्च समवाय इति।

इस प्रकार युक्तिसे समवायका भी समवायत्वके साथ संबंध है, यह सिद्ध कर चुकने पर फिर भी पूर्वपक्षवादी (वैशेपिक) साहसको धारण करके कहते है कि पृथिवी [illegible] साथ पृथिवीत्व [illegible] संबंध करानेका कारणभूत जो समवाय है, वह मुख्य [illegible] पृथिवी आदिमें [illegible] तल' इत्यादि तद्धितके प्रत्ययोंसे जानने योग्य और पृथिवी आदिमें रहनेवाली जो समस्त

जातियें, लक्षण और व्यक्तिविशेष हैं उनको समर करनेवाले ऐसे सामान्यकी उत्पत्ति है। और यहां तो समवाय एक है, इसकारण उस समवायमें व्यक्तिभेद [illegible] नहीं हैं। अत आपका इहप्रत्ययसे सिद्ध होने योग्य समवायरूपका समवायके साथ संबंध और उस समवायत्वसे साध्य समवाय ये दोनों गौण हैं।

तदेतन्न विपश्चिच्चेतश्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत। व्यक्तेरभेदेनेतिचेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति। ततस्तौ सिद्ध एव जात्युद्भवः। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः। इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्।

सो यह तुम्हारा कहना विद्वानोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाला नहीं है अर्थात् इस तुम्हारे कथनसे विद्वानोंको संतोष नहीं होता है। क्योंकि इस समवायमें उत्पन्न हुई जातिको कोन रोकता है? अर्थात् समवायमें जातिको रोकनेवाला कोई भी नहीं है। यदि कहो कि, व्यक्तिका भेद नहीं है अर्थात् समवाय एक ही है, इसकारण समवायमें जाति नहीं है। सो नहीं। क्योंकि उस उस अवच्छेदकके वशसे उस उस भेदकी उत्पत्ति होनेसे घट समवाय अन्य है, और पट समवाय अन्य है इस प्रकारसे समवायके भी व्यक्तिका भेद प्रकट हो ही गया अर्थात् घटत्वावच्छेदकके वशसे जो घटत्वावच्छेदक समवाय उत्पन्न हुआ है वह भिन्न है और पटत्वावच्छेदकके वशसे उत्पन्न हुआ जो पटत्वावच्छेदकसमवाय है, वह भिन्न है। इसकारण घटसमवाय पटसमवाय इत्यादि भिन्न २ व्यक्तियोंके होनेसे समवायमें व्यक्तिभेद प्रकट ही है। और इसप्रकार जब समवायमें व्यक्तिका भेद सिद्ध हो गया तब व्यक्तिका भेद होनेसे जातिकी भी उत्पत्ति हो ही गई। इस कारण जैसे पृथ्वीमें समवाय मुख्य है, उसी प्रकार समवायमें भी समवाय मुख्य ही है। क्योंकि इहप्रत्यय जो है, वह पृथिवी और समवाय इन दोनोंमें ही है।

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह। न गौण इति। योऽयं भेदः स नास्ति गौणलक्षणाऽभावात्।१। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते। "अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धीः कथं गौणे।" तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मुख्यः समवायः समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति भावार्थः।

इस प्रकार इन समस्त पूर्वपक्षोंको (वादियोंकी शंकाओंको) और उन वादियोंकी शंकाओंके जो ऊपरमें समाधान कर चुके हैं, उनको चित्तमें धारण करके सिद्धान्तवादी आचार्यमहाराज कहते हैं कि, वैशेषिकोंने जो समवायमें समवाय है, उसको गौण कहकर धर्मधर्मीके समवायसे समवायके समवायमें भेद कहा है सो नहीं है। क्योंकि गौणका जो लक्षण है, वह समवायमें नहीं सिद्ध होता है । और गौणका लक्षण इस प्रकार कहते हैं "अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण, और अंतरंग ऐसा जो अर्थ है, वह तो मुख्य है, और उससे विपरीत अर्थात् व्यभिचारी, विकल, साधारण तथा वहिरंग अर्थ गौण है.. इसकारण मुख्य अर्थके विद्यमान होने पर गौण अर्थमें बुद्धि कैसे होवे ॥ १ ॥"

किञ्च योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह। अपि च लोकबाध इति। अपिचेति दूषणाभ्युच्चये। लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तदप्रतीतव्यवहारसाधनात्। बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः" इति पुंस्त्रीलिङ्गता)। तस्माद्धर्म्मधर्म्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायात्। इति काव्यार्थः ॥ ७ ॥

और भी विशेष दोष यह है कि, तुम्हारा जो यह "इन तंतुओंमें पट है' इत्यादिरूप इहप्रत्ययसे समवायको सिद्ध करनेका मनोरथ है, वह नपुंसकसे पुत्र उत्पन्न करनेके मनोरथके समान है। भावार्थ—जैसे नपुंसकसे कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, इसी प्रकार इस इहप्रत्ययसे भी समवाय सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि इन तंतुओंमें पट है, इत्यादि व्यवहार लोकसे विरुद्ध है। कारण कि जो पांशुलपाद (धूलिके धारक चरणोंवाले) अर्थात् गांवके लोग हैं, उनके भी इस पटमें तंतु हैं, ऐसी ही प्रतीति होती आती है। और इन तंतुओंमें पट है ऐसी [illegible] — [illegible] मूर्ख लोग भी पटमें तंतु हैं, ऐसा मानते हैं। [illegible] समवायको सिद्ध करते

हो। इसकारण भूतलमें भी [illegible] और यहां यदि "इह भूतले" इस इहप्रत्ययसे ही समवायको सिद्ध करोगे तो इस भूतलमें घटका अभाव है, यहां भी [illegible] और यह तुमको इष्ट नहीं है। "अपि च" और भी दोष यह है कि [यहां अपिच यह शब्द दूषणोंके समूहको दिखलाने वाले अर्थका धारक है।] "लोकबाधः" लोकसे अर्थात् प्रामाणिक (न्यायके जाननेवाले) जन हैं, उनसे और जो सामान्यपुरुष हैं, उनसे भी विरोध होगा। क्योंकि तुम उनकी प्रतीतिमें नहीं आनेवाला ऐसा जो व्यवहार है, उसको सिद्ध करते हो। [यहां पर बाधशब्द पुल्लिंग है। क्योंकि 'ईहाबाधा प्रत्ययमेवत' इस सूत्रसे बाध शब्द पुल्लिंग और स्त्रीलिंग, इन दोनोंमें ही होता है।] इस कारण धर्म और धर्मीके अविष्वग्भावलक्षणका धारक अर्थात् तादात्म्यरूप ही संबंध मानना चाहिये। और समवायसे संबंध न मानना चाहिये। भावार्थ—धर्म और धर्मीके परस्पर समवायसे संबंध होता है, ऐसा माननेमें पूर्वोक्त प्रकारोंसे अनेक दोष आते हैं, इस कारण धर्म और धर्मी, इन दोनोंके तादात्म्यसंबंध है अर्थात् धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। यह ही स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ७ ॥

अथ सत्ताभिधानं पदार्थान्तरमात्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणमात्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिमज्ञानादङ्गीकुर्वतः परानुपहसन्नाह।

अथ सत्तानामक एक भिन्न पदार्थको, आत्मासे भिन्न ज्ञाननामक गुणको तथा आत्माके विशेषगुणोंका नाश होनेरूप मोक्षको अज्ञानसे माननेवाले वैशेषिकोंका हास्य करते हुए शास्त्रकार इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं।

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥

काव्यभावार्थः—हे नाथ! जो सत् पदार्थ हैं, उनमें भी किसी किसीमें सत्ता है। अर्थात् सब सत्पदार्थोंमें सत्ता नहीं है १ ज्ञान उपाधि जनित है, इसकारण आत्मासे भिन्न है २ और मोक्ष जो

है, वह ज्ञान तथा सुखरूप नहीं है ३ इस प्रकार इन तीनों मतोंका समर्थन करते हुए आपकी आज्ञासे बाह्य ऐसे वैशेषिकोंने बहुत अच्छे शास्त्र रचे हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या। वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः। तत्र पृथिव्यापस्ते-जोवायुराकाशः कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा–रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणा-नि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चेति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चि-ताश्च सप्त–द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्म्माधर्म्मौ शब्दश्च। इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थि-तिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम्। कर्माणि पञ्च। तद्यथा–उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति। गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनाद्यविरोधः।

व्याख्यार्थः—वैशेषिकोंके मतमें द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ और समवाय ६ नामक छः पदार्थ तत्त्वरूपसे माने गये है। इन छः पदार्थोंमें–पृथिवी १ जल २ तेज ३ वायु ४ आकाश ५ काल ६ दिशा ७ आत्मा ८ और मन ९ ये नौ द्रव्य हैं। १। गुण चौवीस हैं; वे इस प्रकारसे हैं—रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमाण ६ पृथक्त्व ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ बुद्धि १२ सुख १३ दुःख १४ इच्छा १५ द्वेष १६ और प्रयत्न १७ ऐसे सतरह तो सूत्रमें कहे हुए तथा द्रवत्व १ गुरुत्व २ संस्कार ३ स्नेह ४ धर्म ५ अधर्म ६ और शब्द ७ ये सात च शब्दसे ग्रहण किये हुए; एवं कुल मिलाकर चौवीस २४ गुण हैं। इन गुणोंमें यद्यपि संस्कारनामक गुण–वेग, भावना तथा स्थितिस्थापकरूप भेदोंसे तीन प्रकारका है, तथापि संस्कारत्वजातिकी अपेक्षासे एकरूप है; इस कारणसे और शौर्य, औदार्य आदिका यहां ही अन्तर्भाव होनेसे अर्थात् जैसे शौर्यका प्रयत्नमें अन्तर्भाव है; इसीप्रकार कोई किस गुणमें और कोई किस गुणमें अन्तर्गत हो जाते हैं, इस-कारणसे गुण चौवीस ही हैं, अधिक नहीं है। १। निम्नलिखित प्रकारसे कर्म पांच हैं—उत्क्षेपण (ऊंचा फेंकना) १ अवक्षेपण

[illegible] १। अपक्षेपण [illegible] संयोगकारणं कर्मापक्षेपणम्। २। आकुञ्चनत्वजा-[illegible] उत्क्षेपणत्व [illegible] प्रसारणम्। ४। गमनत्वजातिमदनियतदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम्।

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणादन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ताभावो महासामान्यमिति चोच्यते। द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि[1]। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि–द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यम्। गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः। ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वापेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यम्। द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तनात्कर्मत्वं सामान्यम्। द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम्।

अत्यन्त व्यावृत्त (भिन्न) ऐसे पदार्थोंका जिस कारणसे परस्पर सरूपका अनुगम जाना जाता है, वह अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण सामान्य है। अर्थात् परस्पर भिन्न पदार्थोंमें समान अंशको ग्रहण करके उनके एकताको करनेवाला है, वह सामान्य है। वह दो प्रकारका है। एक तो परसामान्य और दूसरा अपरसामान्य। इनमें जो परसामान्य है, वह सत्ताभाव तथा महासामान्य भी कह-लाता है। क्योंकि यह परसामान्य द्रव्यत्वादिके अन्तर्गत जो सामान्य है, उसकी अपेक्षासे अधिक विषयको धारण करता है। अर्थात् द्रव्यत्व द्रव्यमें ही रहता है और यह परसामान्य द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें रहता है, अतः महाविषयका धारक है। द्रव्यत्व आदि जो है, वह अपरसामान्य है। इस अपरसामान्यको सामान्यविशेष इस प्रकार भी कहते हैं अर्थात् सामान्यविशेष यह भी इस अपरसामान्यका ही नाम है। सो ही दिखलाते हैं अर्थात् इस अपरसामान्यको सामान्यविशेष क्यों कहते हैं, इस विषयको निम्नलिखित प्रकारसे स्पष्ट करते हैं—द्रव्यत्व जो है, वह पृथिवी आदि नवों ही द्रव्योंमें रहता है, इस कारणसे तो सामान्य है। और यह द्रव्यत्व–गुण तथा कर्मोंसे व्यावृत्त (रहित) है, अतः कृत्वा विशेष है। और जब द्रव्यत्व एक अपेक्षासे सामान्य हुआ तथा दूसरी अपेक्षासे विशेष हुआ तब कर्मधारयसमासमें सामान्य जो हो, और विशेष जो हो, वह

---

1 द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।

सामान्यविशेष है, इस प्रकार समास होनेसे सामान्यविशेष हो गया। जिस प्रकारसे महासामान्यकी अपेक्षासे द्रव्यत्व अपरसामान्य है, इसी प्रकारसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व जो है, वह अपरसामान्य है और पृथिवीत्वकी अपेक्षासे घटत्व अपरसामान्य है। इसीरीतिसे गुणत्व जो है सो चौबीसों गुणोंमें रहनेसे सामान्य है और यही गुणत्व द्रव्योंसे तथा कर्मोंसे रहित होनेके कारण विशेष भी है। इसी प्रकार गुणत्वकी अपेक्षासे रूपत्वादिक अपरसामान्य है और रूपत्वादिकी अपेक्षासे नीलत्वादि अपर सामान्य है। एवमेव कर्मत्व जो है, वह उत्क्षेपणादि पांचों कर्मोंमें रहता है। इसकारण सामान्य है और यही कर्मत्व द्रव्यों तथा गुणोंसे रहित होनेसे विशेष है। तथा जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व अपरसामान्य है, उसीप्रकार यहां भी कर्मत्वकी अपेक्षासे उत्क्षेपणत्व आदिको अपरसामान्य समझ लेना चाहिये।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्येति चेत्—उच्यते। न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्येत्यर्थः। एकद्रव्यवत्त्वादेकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्रव्यत्ववत्। यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति। किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव। एवं सत्तापि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्[1]। अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्। तत्राऽद्रव्यमाकाशः कालो दिगात्मामनःपरमाणवः। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति। एकद्रव्यवती च सत्ता। इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता। गुणेषु भावाद् गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्यान्न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत। निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्त्तते च गुणेषु सत्ता। सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म। कर्मसु भावात्कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत। निष्कर्मत्वात्कर्मणां। वर्तते च कर्मसु भावः। सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात्पदार्थान्तरं सत्ता।

यदि प्रश्न करो कि, सत्ता (सामान्य)-जो है सो द्रव्य, गुण तथा कर्मसे भिन्न पदार्थ किस युक्तिसे है ? तो उत्तर यह है कि, सत्ता द्रव्य नहीं है अर्थात् द्रव्यसे भिन्न है। क्योंकि एकद्रव्यवाली है अर्थात् एक एक द्रव्यके प्रति रहती है। द्रव्यत्वके समान अर्थात् जैसे द्रव्यत्व नौ ९ द्रव्योंमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इस कारण द्रव्य नहीं है; किन्तु सामान्यविशेषरूप लक्षणका

1. द्रव्यं [illegible]—अद्रव्यं अनेकद्रव्यं च। [illegible] द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्यं [illegible] कारण[illegible] द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तद[illegible] [illegible]।

जो द्रव्यसे उत्पन्न न हुआ हो अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो, वह द्रव्य है और या अनेकद्रव्य द्रव्य हैं जो अनेकद्रव्योंसे उत्पन्न होवे वा अनेक द्रव्योंका जनक होवे, वह द्रव्य है । उनमें आकाश, काल, दिशा, आत्मा मन और परमाणु ये अद्रव्य द्रव्य हैं, और द्व्यणुक (दो अणुके धारक) आदि जो स्कंध हैं, वे अनेकद्रव्य द्रव्य हैं । और एकद्रव्यका धारक तो द्रव्य ही नहीं है। और सत्ता एकद्रव्यवाली है, इसकारण द्रव्यका जो लक्षण है, उससे भिन्न लक्षणको धारण करनेसे सत्ता द्रव्य नहीं है । इसीप्रकार सत्ता गुण भी नहीं है अर्थात् गुणसे भी भिन्न है, क्योंकि गुणोंमें (प्रत्येक गुणमें) रहती है, गुणत्वके समान । भावार्थ—जैसे चौवीसों गुणोंमेंसे प्रत्येकगुणमें रहनेसे गुणत्व गुण नहीं होता है, इसी प्रकार प्रत्येक गुणमें रहनेसे सत्ता भी गुण नहीं है । और यदि सत्ता गुण होवे, तो प्रत्येक गुणमें न रहे, कारण कि, गुण निर्गुण (गुण रहित) हैं । और गुण सत् अर्थात् है, ऐसी प्रतीति होनेसे गुणोंमें सत्ता है, यह सिद्ध होता है । एवमेव सत्ता जो है, वह कर्म भी नहीं है । क्योंकि जैसे कर्मत्व प्रत्येक कर्ममें रहता है, इसीप्रकार यह भी प्रत्येक कर्ममें रहती है । और यदि सत्ता कर्म होवे तो कर्मोंमें न रहे । क्योंकि कर्म जो हैं, वे निष्कर्म (कर्मरहित) हैं। और कर्म सत् है। ऐसी प्रतीतिके होनेसे निश्चय होता है कि, कर्मोंमें सत्ता रहती है । इस कारण सत्ता पदार्थान्तर (द्रव्य गुण और कर्म इन तीनोंसे भिन्न एक चौथा पदार्थ) है । ४ ।

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात्पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तकरः–" अन्तेषु भवा अन्त्याः । स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । यथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवोपचयावयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु चान्यनिमित्तासम्भवाद्येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमितिप्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकालविप्र-

१ अन्तेऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्याः यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः । एकमात्रवृत्तय इति भावः ।

कृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषा इति । अमी च विशेषरूपा एव । न तु द्रव्यत्वादिवत्सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् ।

तथा नित्यद्रव्योंमें रहनेवाले और अत्यन्त व्यावृत्ति (भेद करने) के कारण ऐसे जो हैं, वे विशेष हैं । **भावार्थ**—अन्त (आख़िर) में रहनेवाले (जिनकी अपेक्षासे फिर कोई भी भेद न हो) ऐसे अर्थात् केवल नित्यरूप एक द्रव्यमें रहनेवाले जो हैं, वे विशेष कहलाते हैं । और ये विशेष द्रव्य, आदि पदार्थोंसे भिन्न ऐसे लक्षणको धारण करते हैं, इस कारणसे भिन्न पदार्थ हैं । सोही वैशेषिक दर्शनपर प्रशस्तभाष्यके कर्त्ता कहते हैं कि, ये विशेष अंतमें होते हैं; इस कारण अन्त्य हैं । और अपने आश्रयके विशेषक (भेदक) होनेसे विशेष है अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित ऐसे जो परमाणु, आकाश, काल, दिशा आत्मा और मन नामक द्रव्य हैं, इनमें द्रव्यके प्रति एक एक विद्यमान रहते हुए सर्वथा व्यावृत्तिरूप बुद्धिके कारण जो हैं, वे विशेष हैं। **भावार्थ**—जैसे हम तुम वगैरहके वृषभ (बैल) आदिमें अश्व (घोड़े) आदिकोंसे तुल्य आकार, तुल्य गुण, तुल्य क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवविशेष (किसी एक अवयवका अधिक होना) और संयोग, इन सबके निमित्तसे होनेवाली यह वृषभ—शुक्ल है, शीघ्र गमन करनेवाला है, मोटा है, ककुद्मान (थूवेको धारण करनेवाला) है तथा बड़े टोकरेका धारक है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी भिन्नता देखी जाती है । उसी प्रकार हमसे अधिक ज्ञान आदिके धारक जो योगी हैं, उनके—नित्य तथा तुल्य आकार, तुल्य गुण और तुल्य क्रियाको धारणकरनेवाले ऐसे परमाणुओंमें, मुक्त आत्माओंमें और मनोंमें भेद करनेका कोई दूसरा निमित्त न होनेसे जिन निमित्तोंसे आधार आधारके प्रति यह इससे विलक्षण (भिन्न) है, यह इससे विलक्षण है, इस-प्रकार प्रतीतिकी भिन्नता होती है अर्थात् भिन्न २ प्रतीति होती है और देशसे विप्रकृष्ट (दूरदेशमें रहनेवाले) तथा कालसे विप्रकृष्ट (अत्यंत—भूत, भविष्यत् कालमें रहनेवाले) परमाणुमें यह वही परमाणु है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है, वे अन्त्य अर्थात् विशेष है । और ये विशेषरूप ही है । द्रव्यत्व—आदिके समान सामान्य तथा विशेष इन दोनों रूप नहीं हैं । क्योंकि ये विशेष केवल व्यावृत्तिके ही कारण हैं । सारांश—वैशेषिक मतवाले यह कहते है कि, यद्यपि वृषभ और अश्वमें आकृति, गुण तथा [illegible] समान है, तथापि वृषभ अश्वकी अपेक्षा मोटाई. थवा (खंध) और घंटाको अधिक [illegible] होता है, इसकारण हम

आत्माओंमें तथा मनोंमें एकके दूसरेसे अर्थात् एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें, एक आत्मासे दूसरे आत्मामें इसीप्रकार आकाश आदि अन्य इंद्रिय अगोचर पदार्थोंमें भेद करानेवाला कोई भी बाह्यकारण नहीं है, इसकारण उनमें जो योगियोंके भेदरूप ज्ञान होता है, उस भेददर्शनका कारणभूत एक विशेषनामक पदार्थ हमारे मतमें माना गया है। ५।

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति। अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः। यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते। यथा छिदिक्रिया च्छेद्येनेति। सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात्पदार्थान्तरमिति षट्पदार्थाः। ६।

और अयुतसिद्ध आधार्य तथा आधारभूतोंके इहप्रत्ययका कारण जो संबंध है, वह समवाय है अर्थात् एक दूसरेको छोड़कर अन्य किसी आधारमें न रहनेवाले ऐसे गुण गुणी आदिक जो एक दूसरेमें रहते हैं, वे अयुतसिद्ध हैं, उन अयुतसिद्धोंके जो 'इन तंतुओंमें पट है।' इत्यादि प्रत्ययका असाधारण कारण है, वह समवाय है भावार्थ—जैसे छिदिक्रिया (छेदन करने रूप क्रिया) छेद्य (छेदने योग्य) मे संबंधित है। उसी प्रकार जिसके वशसे अपने कारणोंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ पटादि आधेय (रहने योग्य) पदार्थ तंतु आदि आधारमें संबंधित होता है, वह समवाय है। और यह समवाय द्रव्य आदिके लक्षणोंको नहीं धारण करता है। इसकारण यह समवाय भी, उन पूर्वोक्त पांचों पदार्थोंसे भिन्न एक छट्ठा पदार्थ है।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते। सतामपीत्यादि। सतामपि सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि षण्णां पदार्थानां मध्ये कचिदेव केषुचिदेव पदार्थेषु सत्ता सामान्ययोगः स्यात्भवेत् न सर्वेषु। तेषामेषा वाचोयुक्तिः। सदिति। यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता इति वचनादत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता। सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेवातस्तेष्वेव सत्तायोगः। सामान्यादिपदार्थत्रये तु न। तदभावात्। इदमुक्तं भवति। यद्यपि वस्तुस्वरूपमस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते। तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति। य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदितिप्रत्यय इति। तदभावान्न

सत्तायोगस्तत्र । द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपमस्तित्वमपि विद्यते । अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति । निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात् ।

इस प्रकार वैशेषिकोंके माने हुए पदार्थोंका निरूपण करके अब अक्षरोंका अर्थ प्रकट करते हैं। "सतामपि" 'सत्' है इस प्रकारकी बुद्धिसे जानने योग्य होनेके कारण साधारण ऐसे भी छः पदार्थोंमेंसे "क्वचिदेव" कितने ही पदार्थोंमें "सत्ता" सामान्यका योग "स्यात्" है और सब पदार्थोंमे सत्ताका संबंध नहीं है। भावार्थ—वैशेषिक इस युक्तिसे कथन करते हैं कि, "द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनोंमें वह सत्ता है" इस वचनसे जहां सत्प्रत्यय होता है, वहां ही सत्ता रहती है, और सत्प्रत्यय द्रव्य, गुण, तथा कर्ममें ही है, इस कारण द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनोंमें ही सत्ताका योग है और सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक जो तीन पदार्थ हैं उनमें सत्ताका योग नहीं है। क्योंकि इन सामान्यादि तीन पदार्थोंमें सत्प्रत्ययका अभाव है। भावार्थ—इस कथनका यह है कि, यद्यपि वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व धर्म है, वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें भी रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें रहनेवाला अस्तित्व अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण नहीं है। और जो अनुवृत्तिप्रत्यय है, उसीको सत्प्रत्यय कहते हैं, उस सत्प्रत्ययका सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें अभाव है, इस कारण उन सामान्य आदिमें सत्ताका योग भी नहीं है। और द्रव्य, गुण, कर्म; इन तीनों पदार्थोंमें तो छः पदार्थोंमें साधारण (समानरूपसे रहनेवाला) वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व है, वह भी रहता है और अनुवृत्तिप्रत्ययका कारणरूप जो सत्ताका योग (संबंध) है, वह भी है। अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इनमें सत्ताका योग ही नहीं है; किन्तु अस्तित्व भी है। क्योंकि यदि इनमें अस्तित्व न होवे तो जैसे अस्तित्वरूप स्वरूपसे रहित शशविषाण (सुस्सेके सींग) आदिमें सत्ताका संबंध नहीं है, इसी प्रकार इनमें भी सत्ताके समवायका अभाव हो जावे इस कारण द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें अस्तित्व और सत्ताका योग ये दोनों रहते हैं।

सामान्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्यय इति चेद्बाधकसद्भावादिति ब्रूमः। तथाहि—सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारेऽनवस्था। विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः। समवाये तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाऽभावः।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः । " इति । ततः स्थितमेतत्सत्तामपि स्यात् कचिदेव सत्तेति ।

' जैसे द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें अनुवृत्तिप्रत्यय है; उसी प्रकार सामान्य, विशेष तथा समवाय, इन तीन पदार्थोंमें अनुवृत्तिप्रत्यय क्यों नहीं है । ' ऐसा यदि आप प्रश्न करो तो हम (वैशेषिक) कहते हैं कि, वहां बाधकका सद्भाव है अर्थात् सामान्यादिकमें अनुवृत्तिप्रत्ययके माननेमें अनेक बाधायें हैं । सो ही दिखलाते हैं—यदि सत्ता (सामान्य) में भी सत्ताका योग मानें तो अनवस्था होती है अर्थात् जब एक सत्तामें दूसरी सत्ताको और दूसरी सत्तामें तीसरी सत्ताको अनुवृत्तिप्रत्ययकी कारणभूता मानेंगे; तब कहीं भी स्थिति न होगी । यदि विशेषोंमें सत्ताके योगको स्वीकार करें तो व्यावृत्तिका हेतुरूप जो विशेषका स्वरूप है, वह नष्ट हो जावेगा भावार्थ—हमारे मतमें विशेषका स्वरूप यह है कि; वह नित्यपदार्थोंको पृथक् (भिन्न) करता है, और स्वयं पृथक् बना रहता है अर्थात् विशेष अपना व्यावर्त्तक आप ही है । अत यदि विशेषमें विशेषत्वरूप सामान्य मान लिया जावेगा; तो विशेषके स्वत व्यावर्त्तकत्वरूप स्वरूपका नाश हो जावेगा । क्योंकि ' जो सामान्यका आश्रय होता है; उसका सामान्यसे भेद होता है । ' ऐसा नियम है । और यदि समवायमें सत्ताके योगको मानें तो सबंधका अभाव है अर्थात् समवायमें सत्ताका योग करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है, इसकारण किस संबंधसे समवायमें सत्ताका योग किया जावे ' । सो ही प्रामाणिकपुरुषोंमें श्रेष्ठ ऐसे उदयनाचार्य कहते हैं कि;—" व्यक्तिका अभेद १, तुल्यत्ता, २, संकर ३, अनवस्था ४, स्वरूपहानि ५ और संबंधका अभाव ६, ये छ जाति (सामान्य) के बाधक हैं । १ । भावार्थ—आकाशत्वधर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकि, वह आकाशरूप एक व्यक्तिमें रहता है । १ । घटत्व और कलशत्व ये दोनों धर्म जातिरूप नहीं हैं । क्योंकि, दोनोंकी व्यक्ति समान है अर्थात् घटत्व तथा कलशत्व ये दोनों एक ही पदार्थमें रहते हैं । २ । भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों जातिरूप नहीं हैं । क्योंकि; यद्यपि आकाशमें केवल भूतत्व और मनमें केवल मूर्तत्व रहता है, तथापि पृथ्वी, जल, तेज और वायुमें इन दोनोंका संकर है अर्थात् पृथ्वी आदिमें भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों धर्म रहते हैं । ३ । सामान्यमें सामान्यत्व जातिरूप नहीं है । क्योंकि, सामान्यमें

---

१ अस्य व्याख्या । आकाशत्वं न जातिः । व्यक्त्यैक्यात् । १ । घटत्वकलशत्वे न जाती । व्यक्तितुल्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्तत्वे न जाती । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसिच मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टये उभयोः सद्भावात्संकरप्रसङ्गः । ३ । जातेरपि जात्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्गः । ४ । अन्त्यविशेषता न जातिः । तदङ्गीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानिः स्यात् । ५ । समवायता न जातिः सम्बन्धाभावात् । ६ । इत्येते जातिबाधकाः ॥

सामान्यत्वको जातिरूप माननेसे अनवस्था होती है । ४ । विशेषोंमें विशेषत्वधर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकि; विशेषोंमें विशेषत्वको जातिरूप माननेसे विशेषके स्वतः व्यावर्त्तकत्वरूप स्वरूपका नाश होता है । ५ । समवायमें समवायत्व जातिरूप नहीं है । क्योंकि; समवाय एक है; अतः समवायमें समवायत्वका संबंध करानेवाला दूसरा समवाय नहीं है । ६ । इस कारण सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता रहती है; न कि सबमें यह जो हमारा मत है; वह निश्चित होचुका ।

तथा चैतन्यमित्यादि । चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादन्यदत्यन्तव्यतिरिक्तम् । असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः । इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतमात्मनः स्वयं जडरूपत्वात्समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद्बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात् । तदव्यतिरिक्तत्वादतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ।

अब 'चैतन्यं' इत्यादि पादकी व्याख्या करते है। " चैतन्यं " ज्ञान जो है; वह " आत्मनः " आत्मासे " अन्यत " अत्यंत भिन्न है । [यहां आत्माशब्दके साथ अन्यत्शब्दका समास न करनेसे भिन्न ही नहीं किंतु अत्यंत भिन्न है, यह अर्थ प्राप्त होता है ।] " यदि ज्ञान और आत्माके अत्यंत भेद है तो ' ज्ञान आत्माका संबंधी है । ' ऐसा कैसे कहा जाता है । " इस प्रतिवादियोंकी शंकाको दूर करनेके लिये ' औपाधिकम् ' इस विशेषणके द्वारा हेतुका कथन करते है । " औपाधिकम् " उपाधिसे आया हुआ है अर्थात् समवायसंबंधरूप जो उपाधि है; उस उपाधिसे ज्ञान आत्मामें मिला हुआ है । भावार्थ—आत्मा स्वयं जडरूप (ज्ञानशून्य) है; इस कारण समवायसंबंधने ज्ञानको आत्मामें मिला दिया है । क्योंकि; यदि आत्माको ज्ञानसे भिन्न (जुदा) न मानें तों दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान; इनमें क्रमशः उत्तरका नाश होनेसे पूर्वका नाश होनेपर बुद्धि आदि जो नौ ९ आत्माके विशेषगुण है; उनका नाश होवेगा और जब बुद्धिआदिका नाश होगा तब उसी समय आत्माका भी नाश हो जावेगा । क्योंकि आत्मा इनसे भिन्न नहीं है । भावार्थ—हमारे मतमें तत्त्वज्ञानके होनेसे मिथ्याज्ञानका

१ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति । तदपाये प्रवृत्तिरपैति । तदपाये जन्मापैति । तदपाये एकविंशतिभेदं -दुःखमपैतीति । २ वाङ्मनःकायव्यापारः शुभाशुभफलः प्रवृत्तिः ३ रागद्वेषमोहास्त्रयो दोषाः ईर्ष्यादीनामेष्वन्तर्भावः ॥

नाश होता है, मिथ्याज्ञानको नष्ट होनेपर राग, द्वेष और मोहरूप दोषोंका नाश होता है। [स्मरण रहे कि, ईर्ष्या आदि दोषोंका राग, द्वेष, मोहमें ही अन्तर्भाव है।] दोषोंको नष्ट होने पर प्रवृत्तिका अर्थात् मन वचन तथा कायके व्यापारका नाश होता है। प्रवृत्तिका अभाव होनेसे जन्म (भव) का नाश होता है। और जन्मका नाश होनेपर इक्कीस २१ प्रकारका जो दुःख है, वह नष्ट होता है, ऐसा क्रम है। और बुद्धि १, सुख २, दुःख ३, इच्छा ४, द्वेष ५, प्रयत्न ६, धर्म ७, अधर्म ८, तथा संस्कार ९ नामक जो आत्माके नौ विशेष गुण हैं; वे, इन मिथ्याज्ञानादिकोंमें ही अन्तर्गत हैं; इसकारण मिथ्याज्ञानादिकोंका नाश हुआ तो बुद्धिसुखादिकका भी नाश हो ही गया। और बुद्धि मिथ्या ज्ञानरूप है, अतः यदि ज्ञानको आत्मासे अभिन्न मानें तो जिस समय बुद्धिका नाश हो, उसी समय आत्माका भी नाश हो जावे। इस कारण 'ज्ञान आत्मासे भिन्न है' यह मानना ही युक्ति संगत है।

तथा न संविदित्यादि। मुक्तिर्मोक्षो न संविदानन्दमयी न ज्ञानसुखरूपा। संविद्‌ज्ञानं आनन्दः सौख्यं ततो द्वन्द्वः संविदानन्दौ प्रकृतौ यस्या सा संविदानन्दमयी। एतादृशी न भवति। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मनो [1]वैशेषिकगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति वचनात्। चशब्दः पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये। ज्ञानं हि क्षणिकत्वादनित्यं सुखं च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते संसारावस्थातः। इति तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति। प्रयोगश्चात्र। नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते संतानत्वात्। यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते। यथा प्रदीपसन्तानः। तथा चायं तस्मादत्यन्तमुच्छिद्यत इति। तदुच्छेद एव महोदयो न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति। " न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। " " अशरीरं [2]वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।" इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेवमुक्तिमादिशन्ति। अत्र हि प्रियाप्रिये सुखदुःखे ते चाशरीरं मुक्तं न स्पृशतः।

अब 'न संवित्' इत्यादिरूप काव्यके तृतीयचरणकी व्याख्या करते हैं। " मुक्तिः " मोक्ष जो है, वह " संविदानन्दमयी " संवित् और आनंद ये दोनों जिसमें होवें ऐसी अर्थात् ज्ञान तथा सुखरूप " न " नहीं है। [यहां पर संवित् और आनंद, इन दोनों शब्दोंका द्वन्द्वसमास किया गया है।] क्योंकि आत्माके जो नौ ९ वैशेषिक (विशेषपमें होनेवाले) गुण हैं,

---

१ विशेषे भवाः वैशेषिकाः। २ सत्यार्थे।

उनका जो अत्यंत नाश है; वह मोक्ष है; ऐसा वचन है । [न संविदानन्दमयी च मुक्तिः] यहां पर च शब्द पहिले कहे हुए (किसी पदार्थमें सत्ता है १, ज्ञान आत्मासे भिन्न है २, इन) दो मतोंका समुच्चय (संग्रह) करनेके लिये है] भावार्थ— ज्ञान तो क्षणिक होनेसे अनित्य है और सुख हानि और वृद्धिरूप स्वरूपका धारक है. अर्थात् कभी कम हो जाता है, कभी अधिक हो जाता है; इसकारण संसारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है अर्थात् संसारकी जैसी दशा है; वैसा ही है । अतः ज्ञान तथा सुख इन दोनोंका नाश होने पर जो आत्माका आत्मस्वरूपसे रहना है; वही मोक्ष है । इस विषयमें अनुमानका प्रयोग भी है । सो ही दिखलाते हैं ।—आत्माके नवों विशेषगुणोंका संतान अत्यन्त नष्ट होता है । क्योंकि संतान है । जो जो संतान होता है; वह वह अत्यंत नष्ट होता है । जैसे कि; प्रदीपका संतान अत्यंत नष्ट होता है । वैसा ही यह आत्मविशेषगुणोंका संतान है, इसकारण अत्यन्त नाशको प्राप्त होता है । अतः सिद्ध हुआ कि नौ ९ जो आत्मविशेषगुण हैं, उनके अत्यंतनाशरूप ही मोक्ष है और आप (जैनियों) का माना हुआ जो संपूर्णकर्मोंके नाशरूप लक्षणका धारक मोक्ष है; वह मोक्ष नहीं है । और " शरीरके धारक जीवके निश्चयसे प्रिय (सुख) तथा अप्रिय (दुःख) इन दोनोंका नाश नहीं है १, अथवा अशरीर (शरीरसे रहित) हुएको ही प्रिय—अप्रिय नहीं स्पर्शते (छूते) है २, [यहां पर प्रियसे सुखका और अप्रियसे दुःखका ग्रहण है, और वे प्रिय अप्रिय अशरीर अर्थात् मुक्त आत्माको नहीं स्पर्शते हैं, ऐसा अर्थ समझना चाहिये] इत्यादि वेदान्तके सूत्र भी ज्ञान और सुखसे रहित ऐसे मोक्षका ही कथन करते हैं ।

अपि च यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःख—व्यावृत्तिर्न विकल्प्यते । १ । धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः । मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः । २ । तदुच्छेदे च तत्कार्य—शरीराद्यनुपप्लवात् । नात्मनः सुखदुःखे स्त—इत्यसौ मुक्त उच्यते । ३ । इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम् । उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते । ४ । तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः । गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः । ५ । ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते । स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः । ६ । ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः । संसारबन्धनाधीन—दुःखक्लेशाद्यदूषितम् । ७ । (कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति । "

इस विषयमें हम और भी विशेष कहते हैं कि,—"जब तक वासनाको आदिलेकर समस्त आत्माके गुण अत्यंत नष्ट नहीं होवें, तब तक आत्माके दुखोंसे अत्यंत रहितता नहीं मानी जाती है। १। धर्म और अधर्मके निमित्तसे ही सुख तथा दु खकी उत्पत्ति होती है अर्थात् धर्मसे सुख और अधर्मसे दु ख होता है; इसकारण संसाररूपी गृहके ये दोनों धर्म–अधर्म ही मूलभूत (आधार रूप) स्तंभ (थंभे) हैं। २। धर्म तथा अधर्म, इन दोनोंका नाश होनेपर इन धर्म–अधर्मके कार्यरूप जो शरीर आदि उपद्रव हैं ये नहीं रहते हैं, इसकारण आत्माके सुख और दु ख नहीं रहता है, अत एव वह आत्मा मुक्त कहा जाता है। ३। इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदिरूप जो विशेष गुण हैं, इनका भोगायतन (शरीर) ही कारण रूप है, इस कारण नष्ट हो गया है भोगायतन जिसके ऐसा अर्थात् शरीररहित ऐसा आत्मा, उन इच्छा, द्वेष आदिसे भी संबंधित नहीं होता है। भावार्थ—शरीरसे इच्छा, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, और आत्मा शरीर रहित हो चुका, अत आत्मा इच्छा आदिसे भी रहित रहता है। ४। सो इस पूर्वोक्त कथनके अनुसार बुद्धि आदि आत्माके नौ ९ विशेषगुणोंका जो मूलसे नाश है, वह मोक्ष है, यह स्थित (सिद्ध) हो चुका। ५। यदि प्रश्न करो कि, उस अवस्थामें अर्थात् मुक्तदशामें कैसा आत्मा रह जाता है, तो उत्तर यह है कि;—अपने एक स्वरूपमें ही स्थित तथा समस्त गुणोंसे रहित ऐसा आत्मा मुक्त अवस्थामें रहता है। ६। इसी कारण बुद्धिमान मनुष्य संसारबंधनके आधीन अर्थात् संसारी अवस्थामें नियमसे होनेवाले जो दु ख तथा क्लेश आदि हैं, उनसे अदूषित (रहित) तथा ऊर्मिषट्क (काम १, क्रोध २, लोभ ३, गर्व ४, दम्भ ५, और हर्ष ६, इन छ ऊर्मियों) को उलंघ गया ऐसा अर्थात् ऊर्मिषट्कसे रहित ऐसा इस मुक्त आत्माका स्वरूप कहते हैं। ७।"

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिरत्वदीयैस्त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः कणादमतानुगामिभिः सुसूत्रमासूत्रितं सम्यगागमः प्रपञ्चितः। अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम्। शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः। इति हृदयम्। "सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः।" इत्यनेकार्थवचनात्।

सो इसप्रकार इन पूर्वोक्त तीन मतोंको समर्थित (पुष्ट) करते हुए " अत्वदीयैः " आपकी आज्ञासे बहिर्भूत अर्थात् आपकी आज्ञाको न माननेवाले ऐसे कणादऋषीके मतानुसारियोंने अर्थात् वैशेषिकोंने " सुसूत्रं " अच्छा शास्त्र " आसूत्रितं " गूंथ

(रच) डाला है । अथवा ' सुसूत्रं ' यह क्रियाका विशेपण है; इस कारण भाव यह है कि;—' सु ' उत्तम है ' सूत्र ' पदार्थोंकी व्यवस्थाके रचनेका विज्ञान जिसमें ऐसा आसूत्रण किया है अर्थात् उन उन शास्त्रार्थोंकी रचना की है । क्योंकि " सूचना करनेवाला जो सूत्र शब्द है; वह ग्रन्थके अर्थमें, तंतुके अर्थमें और व्यवस्थाके अर्थमें व्यवहृत किया जाता है । " ऐसा अनेकार्थकोशका वचन है ।

अत्र सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम् । यथा-"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरं ।" इत्यादि । उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात्तदङ्गीकाराणाम् । तथा हि—अविशेपेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते न सामान्यादित्रये । इति महतीयं पश्यतोहरता । यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः । अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं निर्विशेपमशेपेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजरतीयं यद्द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्र त्रय इति ।

यहां पर ' सुसूत्रं ' यह विपरीतलक्षणासे उपहास है अन्तर्गत जिसके ऐसा प्रशंसाका वचन है अर्थात् ग्रंथकारने 'सुसूत्रं ' इस वचनसे वैशेपिकोंकी प्रशंसा न करके प्रत्युत उनकी हांसी की है । जैसे कि—" हे मित्र ? तुमने बहुत उपकार किया है; इस विपयमें कहना ही क्या है? आपने बहुत सज्जनता प्रकट की है । इसी प्रकार करते हुए तुम सौ १०० वर्पतक सुखी रहो ।१।" इत्यादि । भावार्थ—जैसे इस श्लोकमें विपरीतलक्षणासे उपकार आदि शब्दोंसे अपकार आदिरूप अर्थको ग्रहण किया गया है; उसी प्रकार ' सुसूत्रं ' इस शब्दसे उपहासरूप अर्थको लिया गया है । और वैशेपिकोंके मत युक्ति रहित हैं; इसकारण वे उपहासके योग्य हैं । अब आचार्य निम्नलिखित प्रकारसे वैशेपिकोंके मतका खंडन करके उसको युक्ति रहित ही दिखलाते हैं ।—समानतासे सभी पदार्थ सत् (है) इस प्रकारकी बुद्धिसे वेद्य (जानने योग्य) है; ऐसा मान करके भी जो तुम (वैशेपिक) द्रव्य, गुण तथा कर्म; इन तीनोंमें ही सत्ताका योग मानते हो सो यह तुमारा बड़ा देखते २ हरण करना है अर्थात् प्रत्यक्षमें ठगना है । क्योंकि तुम ' सत्ता ' इस शब्दके शब्दार्थका विचार करो । जो है, वह सत् कहलाता है; सत्का जो भाव है; वह सत्ता अर्थात् अस्तित्व है; और यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है; इसकारण तुमने भी सभी पदार्थोंमें उसको समानरूपसे कहा है । तब फिर

१. विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् । १ । इत्युत्तरार्द्धः । २. स्त्री जरातुरा तारुण्यरमणीया च यथा मत्तेन प्रोच्यते तत्तुल्यं भवद्वाक्यम् ॥

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनमें ही सत्ताका योग है और सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें नहीं। यह अर्द्धजरतीय न्यायके समान कैसे कहते हो भावार्थ—जैसे मदोन्मत्त पुरुष उसी एक स्त्रीको वृद्धावस्थासे पीडित तथा युवावस्थासे मनोहर कह देता है; उसीके समान यह तुमारा कहना है कि, द्रव्यादि तीनमें सत्ताका योग है और सामान्य आदिमें सत्ताका योग नहीं है।

अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इतिचेत्। न। तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात्। पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति। विशेषेष्वपि बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति। समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदादेकाकारप्रतीतेरनुभवात्।

शंका—सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें अनुवृत्तिप्रत्यय नहीं है, इसकारण उनमें सत्ताका संबंध नहीं है। समाधान—सो नहीं। क्योंकि सामान्यआदि तीन पदार्थोंमें भी अनुवृत्तिप्रत्यय बे रुकावट होता है। भावार्थ—पृथिवीत्व, गोत्व तथा घटत्व आदि रूप जो सामान्य हैं, उनमें यह सामान्य है, यह सामान्य है, इसप्रकारसे अनुवृत्ति प्रत्यय है। विशेष बहुत (अनंत) हैं, अत उनमें यह भी विशेष है, यह भी विशेष है; इसप्रकारसे अनुवृत्तिप्रत्यय है। और समवायमें पूर्वोक्तप्रकारसे उस उस अवच्छेदकके भेदसे एक आकाररूप प्रतीतिका अनुभव होता है, इसकारण समवायमें भी अनुवृत्तिप्रत्यय है।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते। अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेतिचेद्द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः। असति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवाद्द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः सामान्यादिषु तु गौण इतिचेत्। न। विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात्।

यदि कहो कि,—स्वरूपसत्त्वसाधर्म्यसे अर्थात् जैसे द्रव्य आदिमें अस्तित्वरूप वस्तुस्वरूपकी सत्ता है; उसी प्रकार सामान्य आदिमें भी अस्तित्वरूप वस्तुस्वरूपकी सत्ता रहनेसे सामान्य आदिमें सत्ताका अध्यारोप (उपचार) कर लेवेंगे, इस कारण सामान्य आदिमें भी यह सत् है, यह सत् है, ऐसी प्रतीति हो जावे गी, तो यह अनुगतप्रत्यय उपचार जनित है, अत मिथ्याप्रत्यय हो जावेगा। यदि कहो कि;—भिन्न स्वभावके धारकोंमें एकताका अनुगम करना मिथ्या ही है अर्थात् सामान्य आदि भिन्न स्वभाववाले पदार्थोंमें एकरूपताकी प्रतीतिका करना असत्य ही है, तो द्रव्य आदिमें भी सत्ताके अध्यारोपसे ही किया हुआ अनुगत प्रत्यय

हो जाओ अर्थात् जैसे तुम सामान्य आदिमें सत्ताका आरोप करके अनुगतप्रत्यय सिद्ध करते हो; उसीप्रकार द्रव्य आदिमें भी सत्ताके आरोपसे ही अनुगतप्रत्ययको स्वीकार करो । यदि कहो कि; मुख्य अर्थके विद्यमान न होनेपर अध्यारोप नहीं हो सकता है अर्थात् जब एक स्थानमें मुख्य अर्थ विद्यमान रहता है; तभी दूसरे स्थानमें उसका आरोप होता है; इस कारण द्रव्य आदिमें तो यह अनुगतप्रत्यय मुख्य है और सामान्य आदिमें गौण है। सो भी नहीं। क्योंकि विपर्ययकी भी कल्पना हो सकती है. अर्थात् द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य और सामान्य आदिमें अनुगत प्रत्ययको गौण माननेमें कोई नियामक नहीं है; अतः द्रव्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको गौण तथा सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य भी मान सकते हैं।

सामान्यादिषु वाधकसम्भवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययो द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्यः इतिचेन्ननु किमिदं वाधकम्। अथ सामान्येऽपि सत्ताभ्युपगमेऽनवस्था। विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः। समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराऽभाव इति वाधकानीतिचेत्। न। सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु। तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात्। विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः। स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात्। निःसामान्यस्य[1] विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात्। समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धोऽन्यथा तस्य स्वरूपाऽभावप्रसङ्गः। इति वाधकाऽभावात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः। इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम्।

यदि कहो कि;—सामान्य आदिकमें वाधकका सद्भाव है, अतः सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य नहीं है और द्रव्यादिमें कोई वाधक नहीं है; अतः द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य है; तो हम प्रश्न करते हैं कि; वह वाधक क्या है ?। यदि उत्तरमें कहो कि;—सामान्यमें सत्ता (सामान्यत्व) का स्वीकार करनेमें अनवस्थादोष होता है, विशेषोंमें विशेषत्वरूप सत्ताके माननेपर विशेषोंका स्वतः व्यावृत्तत्वरूप स्वरूप नष्ट होता है, तथा समवायमें समवायत्वरूप सत्ताका अंगीकार करनेपर समवायमें सत्ताके रहनेके अर्थ कोई दूसरा संबंध नहीं है। इस प्रकार ये वाधक विद्यमान हैं। सो ठीक नहीं है। क्योंकि; यदि सामान्यमें भी सत्ताको माननेसे अनवस्था होती है; तो वह अनवस्था द्रव्य आदिमें भी क्यों नहीं होती है। कारण कि; उन द्रव्यादिकमें भी

१ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि। १। इति नियमात्।

स्वरूपसत्ता पहले ही विद्यमान है। भावार्थ—जब सत्तामें सत्ताके रहनेसे अनवस्था होती है, तब द्रव्यादिकोंमें स्वरूपसत्ता रहती है। और यहां पर ही तुम अनुवृत्तिप्रत्ययकी कारणभूत दूसरी सत्ता मानते हो, अतः द्रव्यादिकोंमें भी सत्ताका योग माननेसे अनवस्था क्यों नहीं होती है? और विशेषोंमें सत्ताका स्वीकार करनेपर भी विशेषोंके स्वरूपकी हानि नहीं होती है। क्योंकि; सामान्यरहित विशेष कहीं भी प्राप्त नहीं होता है, इसकारण विशेषमें विशेषत्वस्वरूप सत्ताको स्वीकृत करनेपर उलटा विशेषोंके स्वरूपको उत्तेजन मिलता है। और समवायमें भी समवायत्वरूप स्वरूपसत्ताका अङ्गीकार करनेपर अविष्वग्भावरूप संबंध (तादात्म्य संबंध) सिद्ध होता ही है। क्योंकि यदि समवायमें अविष्वग्भावरूप संबंध न मानो तो उस समवायके स्वरूपका अभावरूप प्रसग होगा। अर्थात् समवाय स्वरूपरहित हो जावेगा, और वह तुमको इष्ट नहीं है। ऐसे पूर्वोक्तप्रकारसे सामान्य आदिमें बाधकका अभाव हो जानेसे जैसे—द्रव्य आदिमें सत्ताका संबंध मुख्य है, उसी प्रकार, उन सामान्य आदिमें भी सत्ताका संबंध मुख्य ही है, यह सिद्ध हो चुका। इसकारण द्रव्य-गुण-तथा कर्ममें ही जो तुम सत्ताकी कल्पना करते हो, वह व्यर्थ (निष्प्रयोजन) है।

किंच तैर्योदिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः। सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्यते। तथा हि-यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्युः। सत्तायोगात्सत्त्वमस्त्येवेतिचेत्—असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वं, सत्ता तु निष्फलः सत्तायोगः। स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेतिचेत्तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन। सत्तायोगात्प्राग्भावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात्तु सन्निति चेद्वाङ्मात्रमेतत्। सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तस्मात्सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते।

और भी विशेष यह है कि, उन वैशेषिकोंने जो द्रव्य-गुण तथा कर्म इन तीनोंमें सत्ताके संबंधको मुख्यरूपसे स्वीकृत किया है, वह मुख्य सत्ताका संबंध भी जब हम उसका विचार करते हैं; तो जर्जरा हो जाता है। सो ही दिखलाते हैं।—यदि तुम सत्ताको द्रव्य आदिसे अत्यन्त विलक्षण (भिन्न स्वरूपवाली) मानते हो, तो द्रव्य आदिक असत्‌रूपके धारक हो जावेंगे। यदि कहो कि, सत्ताके योगसे उन द्रव्य आदिमें सत्त्व (सत्‌रूप पना) है ही तो जो असत्‌रूप द्रव्य आदि हैं, उनमें सत्ताका योग करने पर भी सत्त्व कैसे होगा अर्थात् असत्‌रूप द्रव्य आदिकोंमें सत्ताका योग होने पर भी द्रव्य आदि सत्‌रूप नहीं हो सकते हैं।

और जो सत्रूप पदार्थ हैं, उनके तो सत्ताका योग निष्फल (व्यर्थ) है। यदि कहो कि; पदार्थोंके स्वरूपसत्त्व है ही; तो फिर नपुंसक (अकार्यकारी) सत्ताके योगको माननेसे क्या प्रयोजन है ? । यदि कहो कि; सत्ताके योगके पहिले न तो पदार्थ सत् था और न असत् था; परन्तु सत्ताका योग होनेसे पदार्थ सत् हो गया सो यह भी कहनेमात्र है अर्थात् व्यर्थ है। क्योंकि (पदार्थोंमें) सत् तथा असत्से भिन्नरूप कोई तीसरा प्रकार ही नहीं हो सकता है। इस कारण 'सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता है' ऐसा वैशेषिकोंका वचन विद्वानोंकी सभामें उपहासके अर्थ कैसे न हो अर्थात् हो ही हो।

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्। न, समवायस्यैकत्वान्नित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात्समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयाववोधप्रसङ्गः। यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः। एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं तच्च क्षणिकं ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः।

यदि तुम ज्ञानको भी आत्मासे सर्वथा भिन्न मानोगे तो जैसे मैत्रके ज्ञानसे आत्माके विषयका ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार उस चैत्रके ज्ञानसे भी आत्माके विषयका ज्ञान न होगा। भावार्थ—जैसे चैत्रनामक एक पुरुषसे मैत्रनामक दूसरे पुरुषका ज्ञान भिन्न है, अतः मैत्रके ज्ञानसे चैत्रके आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है; इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होगा। और ऐसा होगा तो आत्मा पदार्थके ज्ञानसे रहित अर्थात् जडरूप ही हो जावेगा। यदि कहो कि;—जिस आत्मामें ज्ञान समवायसंबंधसे समवेत (मिला हुआ) है; उसीमें ज्ञान पदार्थोंका अवभास (ज्ञान) क[illegible]; तो वह[illegible] यद्यपि चैत्रका ज्ञान चैत्रकी आत्मासे भिन्न है; तथापि चैत्रकी आत्मामें समवायसे संबंधित है; अतः चैत्रकी [illegible] ज्ञान हो जाता है। सो नहीं। क्योंकि; तुम्हारे मतमें समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समानरूपसे रहता है; और जैसे समवाय व्यापक है; उसी प्रकार आत्मा भी सबमें व्यापक है; इस कारण एक आत्माके ज्ञानसे सब आत्माओंको पदार्थका ज्ञान हो जानेसे तुम्हारे अनिष्टकी प्राप्ति होगी। तथा जैसे घटमें रूप आदिक समवायसंबंधसे समवेत हैं और उन रूपआदिका नाश होनेपर उन रूपआदिके आधारभूत घटका भी नाश होता है; इसीप्रकार

ज्ञान भी आत्मामें समवेत है और वह ज्ञान क्षणिक है, अतः ज्ञानका नाश होनेपर उस ज्ञानके आधारभूत आत्माका भी नाश हो जानेसे आत्माके अनित्यताकी प्राप्ति होगी अर्थात् तुम्हारा नित्य आत्मा अनित्य हो जावेगा।

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः किन्तु स एव समवायः केन तयोः संबध्यते । समवायान्तरेण चेद्-नवस्था । स्वेनैव चेत्किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा । अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मानं परं च प्रकाशयति तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्-ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभाव-ता येन स्वयमेवेतौ संबध्येते । किञ्च प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति । यतः प्रदीपस्तावद्द्रव्य, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते । तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता । तदभावे च स्वपरप्र-काशकस्वभावताभणितिर्निर्मूलैव ।

अथवा कदाचित् ज्ञान और आत्मा; इन दोनोंके समवायसे संबंध रहै, तो भी हम प्रश्न करते हैं कि;—वही समवाय ज्ञान तथा आत्मा इन दोनोंमें किससे संबंधित किया जाता है अर्थात् जैसे आत्मामें ज्ञान समवायसंबंधसे समवेत है, उसी प्रकार, उन दोनोंमें समवाय किससे संबंधित है ? । यदि कहो कि;—ज्ञान और आत्माको संबंधित करनेवाला समवाय उन दोनोंमें दूसरे समवायसे संबंधको प्राप्त होता है, तब तो अनवस्था दोष आता है । और यदि कहो कि;–समवाय स्वयं (अपने आप) ही ज्ञान और आत्मामें संबंधित होता है, तो ज्ञान और आत्मा इन दोनोंके भी स्वय संबंधित होना क्यों नहीं है अर्थात् जैसे समवाय ज्ञान और आत्मामें स्वय संबंधको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ज्ञान तथा आत्मा ये दोनों भी स्वयं ही परस्पर संबंधित क्यों नहीं होते हैं ? । भावार्थ—ज्ञान और आत्मा समवायसे संबंधित होते हैं ऐसा माननेमें कोई नियामक नहीं है; अत जैसे तुम समवायका ज्ञान तथा आत्मामें स्वत संबंध मानते हो, उसी प्रकार ज्ञान और आत्माकेभी स्वत संबंध ही मान लो समवायसे संबंध मानना व्यर्थ है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि;—जैसे दीपक उसके स्वभावसे आत्माको और परको प्रकाशित करता है, अर्थात् दीपक अपने स्वभावसे आपको भी प्रकाशित करता है और घट पट आदि पर पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, इसीप्रकार समवायका भी ऐसा ही स्वभाव है कि;—वह आपको और ज्ञान तथा आत्मा, इन दोनोंको संबंधित करता है अर्थात् समवाय अपने स्वभावसे ज्ञान और आत्माको भी परस्पर संबंधित करता है और आप स्वयं भी उनमें संबंधित हो जाता है, तो ज्ञान और आत्मा, इन दोनोंके

भी ऐसा स्वभाव क्यों नहीं है, जिससे कि;–वे दोनों ज्ञान और आत्मा स्वयं ही संबंधको प्राप्त हो जावें अर्थात् जैसे समवायका स्वयं संबंधित होजानेरूप स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान और आत्माका भी स्वयं परस्पर संबंधको प्राप्त होजानेरूप स्वभाव मानलेना चाहिये। और जो तुमने प्रदीपका दृष्टान्त दिया है; वह भी तुह्मारे पक्ष (मत) में घटित नहीं होता है। क्योंकि;—प्रदीप तो द्रव्य (धर्मी) है और प्रकाश; उस प्रदीपका धर्म है; तथा धर्म और धर्मी इन दोनोंके तुमने अत्यंत भेद माना है; अतः प्रदीप प्रकाशरूप कैसे हो सकता है? अर्थात् जो जिसका स्वभाव होता है; वह उससे भिन्न नही रहता है और तुम प्रदीप तथा प्रकाशके सर्वथा भेद मानते हो; अतः प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव नहीं हो सकता है। और जब प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव ही न रहा तब 'प्रदीप स्वपरप्रकाशक है' यह तुम्हारा कहना निर्मूल (निराधार) अर्थात् असत्य ही है।

यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते तदा घटादीनामपि तदनुपज्यते। भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्बन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्यातामभिन्नौ वा। यदि भिन्नौ ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाऽभिन्नौ ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तदव्यतिरिक्तत्वात्तत्स्वरूपवदिति। किञ्च यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते तदा को दोषः।

और यदि तुम प्रदीपसे प्रकाशके अत्यंत भेद होनेपर भी प्रदीपके निज तथा परका प्रकाशकपना मानोगे; तो घट आदिके भी स्वपरप्रकाशकताका प्रसंग होगा। क्योंकि; भेदका अविशेष है अर्थात् जैसे प्रदीपसे प्रकाश भिन्न है; उसी प्रकार घट पट आदिसे भी प्रकाश भिन्न है। तथा यह भी विशेष प्रष्टव्य है कि,–समवायके जो स्व तथा परका संबंध करनेरूप स्वभाव है; वे समवायसे भिन्न हैं? अथवा अभिन्न है?। यदि कहो कि; समवायसे भिन्न हैं; तब तो ये दोनों स्वपरसे संबंधकरनेरूप स्वभाव समवायके हैं; इस प्रकारका संबंध कैसे हुआ। क्योंकि;—इन स्वभावोंको समवायमें संबंधित करनेवाला जो दूसरा समवाय है; उसको तुमने अनवस्थाके भयसे स्वीकार नहीं किया है। यदि कहो कि;—वे निज तथा परका प्रकाश करनेवाले स्वभाव समवायसे अभिन्न हैं; तो वे दोनों स्वभाव समवायरूप ही हैं; समवायसे भिन्न वे दोनों स्वभाव नहीं हैं। क्योंकि; वे दोनों समवायके स्वरूपके समान समवायसे अभिन्न है **भावार्थ**—जैसे अभिन्न होनेसे समवायका स्वरूप समवायरूप ही है; इसी प्रकार ये स्वप्रकाशक और परप्र-

कारकरूप स्वभाव भी समवायरूप ही हैं। और भी विशेष वक्तव्य यह है कि;—जैसे इन समवायियों (समवायके धारकों) में समवाय है, ऐसी बुद्धि समवायके बिना भी उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार यदि तुम ' इस आत्मामें ज्ञान है ' इस इहप्रत्ययरूप प्रतीतिको भी समवायके बिना ही उत्पन्न हुई कह दो तो क्या दोष है ? अर्थात् समवायके बिना ही ' इस आत्मामें ज्ञान है ' ऐसे प्रत्ययका होना मान लेनेमें कोई भी दोष नहीं है।

अथात्मा कर्त्ता, ज्ञानं च करणं, कर्तृकरणयोश्च वर्द्धकिवासीवद्भेद एव प्रतीतस्तत्कथं ज्ञानात्मनोरभेद इति चेत्। न। दृष्टान्तस्य वैषम्यात्। वासी हि बाह्यं करणं, ज्ञानं चाभ्यन्तरं तत्कथमनयोः साधर्म्यम्। न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम्। यदाहुर्लाक्षणिकाः—"करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः। यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा ॥१॥" यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते ततः स्याद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्। न च तथाविधमस्ति। न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते। अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपादिवच्चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात्। तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति।

शंका—आत्मा तो कर्ता है, ज्ञान करण है;—कर्ता और करणके बढ़ई (खाती) और कुठारके समान भेद ही प्रतीत है, अर्थात् जैसे बढ़ईरूप कर्ता अपनेसे भिन्न कुठाररूप करणसे काष्ठको छेदता है, उसी प्रकार आत्मारूप कर्ता ज्ञानस्वरूप करणके द्वारा पदार्थको जानता है, अतः आत्मा और ज्ञान ये दोनों भिन्न ही प्रतीतिके गोचर होते हैं। इस कारण ज्ञान तथा आत्मा; इन दोनोंके अभेद कैसे हो सकता है ? समाधान—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि दृष्टान्त विषम है। भावार्थ—कुठार तो बाह्यकरण है और ज्ञान अंतरंग करण है, इस कारण इन दोनोंके समानता कैसे हो सकती है अर्थात् कुठाररूप बाह्यकरणके दृष्टान्तसे ज्ञानरूप अंतरंगकरणको भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते हो। और हमने जो दो प्रकारके करण कहे हैं, वे अप्रसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि व्याकरणके ज्ञाता जन कहते हैं कि;—" ज्ञानवानोंको बाह्य और आभ्यन्तर (अंतरंग) रूपसे दो करण जानने चाहियें। जैसे देवदत्त दात्र (दरांती) से छेदता है और मनसे मेरुपर्वतको जाता है, यहां पर दात्र बाह्यकरण है और मन अंतरंग करण है। हां यदि तुमने

---

१ ख-पुस्तके ' दृष्टान्तस्यैव ' इति पाठः। २ ख-पुस्तके न चेदमिति पाठः।

जैसे बढ़ईरूप कर्त्तासे कुठाररूप बाह्यकरणको भिन्न बताया है; उसीप्रकार किसी कर्त्ताको किसी अंतरंग करणसे सर्वथा भिन्न दिखलाओ तो दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक (ज्ञान) के समानता हो सकती है; परंतु इस प्रकारका कोई दृष्टान्त ही नहीं है । और बाह्यकरणमें प्राप्त जो धर्म है; उस सबको ही तुम अंतरंगकरणमें नहीं लगा सकते हो । क्योंकि; यदि बाह्यकरणके सब धर्मको अंतरंगमें लगाओगे तो देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहां जैसे देवदत्तसे दीप आदि भिन्न है; उसीप्रकार नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न हो जावे और ऐसा होने पर लोककी प्रतीतिसे विरोध उत्पन्न होवे ।

अपि च साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्तः । तथाहि—नायं वर्द्धकिः काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्य इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनाऽपरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति । किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा। तथा परिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि । इत्येवं लक्षणैकार्थसाधकत्वाद्वासिवर्द्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते। तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते । एवमात्मापि विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामीति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति । ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं आहोस्विद्विषय इति वाच्यम् । आत्मनि चेत्—सिद्धं नः समीहितम् । विषये चेत्कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते । अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि । तद्भेदाविशेषात् ।

और भी यह दोष है कि; तुमने जो बढ़ई और कुठारका दृष्टान्त दिया है; वह साध्यसे विकल (रहित) है अर्थात् आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके भेदको नहीं साध सकता है । सो ही दिखलाते है—वह बढ़ई ' इस काष्टको इस कुठार (कुहाड़े) से घड़ूंगा ' ऐसा जो कुठारको ग्रहण करनेरूप परिणाम है; उससे अपरिणत (रहित) हो कर; उस कुठारको विना ग्रहण किये नहीं घड़ता है; किन्तु कुठारके ग्रहण करनेरूप परिणामसे सहित होकर उस कुठारको ग्रहण करके ही काष्टको घड़ता है । और जब वह बढ़ई कुठारग्रहणरूप परिणामसे विशिष्ट हुआ तो सिद्ध हुआ कि कुठार भी उस काष्टके घड़नेमें व्यापार करता है और वह बढईरूप पुरुषभी काष्टके घड़नेमें व्यापार करता है । और इस उक्त प्रकारसे काष्टके घड़नेरूप अर्थक्रियाकी साधकतासे बढ़ई तथा कुठारके अभेद भी सिद्ध होता है अर्थात् जैसे कुठारसे काष्ट घड़ा जाता है; उसी प्रकार उस बढ़ईसे भी घड़ा जाता है;

अत काष्ठघटनरूप एक अर्थक्रियाको करनेसे बढ़ई और कुठार ये दोनों किसी अपेक्षासे अभिन्न भी हैं। अब तुम ' ये दोनों भिन्न ही हैं ' ऐसा कैसे कहते हो। इसी प्रकार आत्मा भी ' विवक्षित (अमुक) अर्थको इस ज्ञानसे जानूंगा ' इस प्रकारके ज्ञानग्रहणरूप परिणामसे सहित हुआ ज्ञानको ग्रहण करके पदार्थको जानता है। और जब ऐसा हुआ तो पदार्थके जाननेरूप एक अर्थके साधक होनेसे ज्ञान और आत्मा ये दोनों भी अभिन्न ही सिद्ध हुए। इस प्रकार कर्त्ता और करणके अभेद सिद्ध होने पर हम प्रश्न करते हैं कि, यह संविधि (जानने) रूप कार्य क्या ? आत्मामें स्थित है, अथवा विषय (जिस पदार्थको आत्मा जानता है, उस) में स्थित है; इसका उत्तर कहना चाहिये। यदि कहो कि, संविधिरूप कार्य आत्मामें स्थित है, तब तो हमारा मनोरथ सिद्ध होगया अर्थात् हम जैनी भी जाननेरूप कार्यको आत्मामें ही मानते हैं। यदि कहो कि, विषयमें स्थित है; तो आत्माके सुख–दु ख आदिका अनुभव कैसे प्रतीत होता है '। उत्तरमें कदाचित् यह कहो कि विषयमें विद्यमान जो संविधि है; उससे आत्माके अनुभव होता है, तो वह अनुभव उस एक आत्माके ही क्यों होता है अन्य आत्माओंके क्यों नहीं होता है। कारण कि, भेदका अविशेष है अर्थात् जैसे विषयस्थितसंविधिसे दूसरे आत्मा भिन्न हैं, वैसे ही यह आत्मा भी भिन्न है।

अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभाव इति चेत्–ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र ' अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रापि '। अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात्कथं परिकल्पितत्वम्। न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तु शक्यम्। तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभाव· सिद्ध एव। किञ्च चैतन्यमितिशब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थ। चेतनस्य भावश्चैतन्यम्। चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते। तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं न तत्ततो भिन्न भवितुमर्हति। यथा वृक्षाद्वृक्षस्वरूपम्।

अब यदि तुम (वैशेषिक) ऐसा प्रश्न करो कि;—ज्ञान और आत्माके अभेद माननेमें कर्तृकरणभाव कैसे होगा अर्थात् यह कर्त्ता है, यह करण है ऐसी व्यवस्था कैसे होगी, तो उत्तर यह है कि, ' सर्प आपको अपनेसे वेष्टित करता है अर्थात् वेढ़ता (घेरता) है ' यहां पर जैसे कर्त्ता और करणके अभेद होने पर भी कर्तृकरणभाव है, उसी प्रकार ' आत्मा ज्ञानसे

१ ख-ग-पुस्तकयोरेष पाठो न विद्यते।

जानता है ' यहां भी कर्तृकरणभाव होता है । यदि कहो कि;—यह कर्तृकरणभाव परिकल्पित अर्थात् असत्य है; तो सर्पकी वेष्टन
अवस्थामें पूर्व अवस्थासे विलक्षण गमनके निरोध रूप अर्थक्रियाको देखनेसे परिकल्पित कैसे है अर्थात् जब सर्प आपको अपनेसे
वेढ़ता है; उससमय वह पहलेकी जो गमनरूप अर्थक्रिया है; उसको छोड़कर गमनके बंद होनेरूप अर्थक्रियाको धारण करता है;
अतः उसमें कर्तृकरणभाव कल्पित नहीं हो सकता है । क्योंकि; सैंकड़ों कल्पनाओंसे भी यह पाषाणका स्तंभ (थंभा) आपको
अपनेसे वेष्टित करता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । इस कारण आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके अभेद होनेपर भी कर्तृकरणभाव
सिद्ध हो ही गया । और भी विशेष यह है कि; तुम चैतन्य इस शब्दके यथार्थ अर्थका विचार करो । चेतनका जो भाव होता है,
वह चैतन्य कहलाता है और आत्माको चेतन तुम भी कहते हो, उस आत्माका जो भाव अर्थात् स्वरूप है; वह चैतन्य
(ज्ञान) है । और जो जिसका स्वरूप होता है; वह उससे भिन्न नहीं हो सकता है । जैसे कि, जो वृक्षका स्वरूप है; वह
वृक्षसे कदापि भिन्न नहीं होता है ।

अथास्ति चेतन आत्मा । परं चेतनासमवायसम्बन्धात् । न स्वतः । तथाप्रतीतेरितिचेत्—तदयुक्तम् । यतः प्रतीतिश्चेत्प्रमाणीक्रियते तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति । न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं, चेतनायोगाच्चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति । ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत् । न । कथं चित्तादात्म्याऽभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद्दृष्टा । न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः । उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चात्मनि ज्ञाताहमितिप्रतीतिः कथंचिच्चेतनात्मतां गमयति । तामन्तरेण ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् । घटादिवत् । न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाऽभावादसौ न तथा प्रत्येतीतिचेत् । न । अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात् । इत्यचेतनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति । तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया ।

यदि कहो कि; आत्मा चेतन तो है; परंतु समवायसंबंधसे है अर्थात् समवायसंबंधसे ज्ञान आत्मामें समवेत है; अतः ज्ञानके
योगसे चेतन है और आत्मा स्वयं चेतन नहीं है । क्योंकि ऐसी ही प्रतीति होती है । सो यह कहना अनुचित है । क्योंकि;

यदि तुम प्रतीतिको ही प्रमाण करते हो तो विना किसी बाधाके ज्ञानस्वरूप ही आत्मा सिद्ध होता है। क्योंकि, 'मैं स्वम अचेतन हूं, चेतना (ज्ञान) के योगसे चेतन हुआ हूं, अथवा मुझ अचेतन *आत्मामें चेतनाका समवाय है;* ऐसी प्रतीति कदाचित् भी नहीं होती है। कारण कि 'मैं ज्ञाता (जानने वाला) हूं' इस प्रकारकी समानअधिकरणपनेरूप प्रतीति होती है। यदि कहो कि,— यह प्रतीति आत्मा और ज्ञानके भेद होनेपर भी हो जावेगी। सो नहीं। क्योंकि, कथंचित् तादात्म्य (अभिन्नता) के अभावमें सामानाधिकरण्यप्रतीति कहीं भी देखनेमें नहीं आती है अर्थात् जब किसी न किसी प्रकारसे एककी दूसरेके साथ अभिन्नता होती है; तभी उन दोनोंके समानअधिकरणपनेरूप प्रतीति होती है। और जो पुरुष यष्टि है अर्थात् यह पुरुष यष्टि (लाठी व लकड़ी) रूप है, इत्यादि प्रतीति होती है; यह पुरुष और यष्टिके परस्पर भेद होनेपर भी उपचारसे देखी जाती है। और 'पुरुष यष्टि है' यह प्रतीति तत्त्वरूप अर्थात् यथार्थ नहीं है। तथा पुरुषके यष्टिमें प्राप्त स्तब्धता आदि गुणोंसे जो अभेद है, वही उपचारका कारण है। क्योंकि, उपचार मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता है। भावार्थ—पुरुष यष्टि है, इस प्रतीतिमें यद्यपि पुरुष और यष्टि दोनों भिन्न २ हैं, तथापि यष्टिके जो स्तब्धता आदि गुण हैं, वे पुरुषमें भी हैं, अत यष्टिके स्तब्धता आदि मुख्य गुणोंको ग्रहण करके पुरुषमें यष्टिका उपचार किया गया है। और जैसे ' पुरुष यष्टि है ' यह प्रतीति पुरुषमें स्तब्धता आदि गुणोंसे कथंचित् यष्टिरूपता जनाती है, उसी प्रकार 'मैं ज्ञाता हूं' यह प्रतीति आत्मामें कथंचित् चैतन्यरूपता घोषित करती है। क्योंकि; उस चैतन्यरूपताके विना 'मैं ज्ञाता हू' ऐसी प्रतीति उत्पन्न नहीं होती है। घट आदिके समान। क्योंकि, अचेतनरूप घट 'मैं ज्ञाता हूं' इस प्रतीतिको नहीं करता है। और ' मैं ज्ञाता हू ' ऐसी प्रतीति आत्माके होती है; अत ' आत्मा कथंचित् चेतनरूप है ' यह निश्चित होता है। यदि कहो कि, घटमें चैतन्य (ज्ञान) का योग नहीं है अर्थात् *घटमें ज्ञान समवायसंबंधसे* नहीं रहता है; इसकारण घट ' मैं ज्ञाता हू ' ऐसी प्रतीति नहीं करता है, सो नहीं। क्योंकि, अचेतनके भी चैतन्यके योगसे 'मैं चेतन हू ' ऐसी प्रतीति होती है " यह जो तुम्हारा अङ्गीकार (मत) है, उसका अभी ऊपर ही खंडन कर चुके हैं। इस प्रकार जड आत्माके सिद्ध हुआ अचेतनपना आत्माके विषयज्ञानको दूर करता है। और जो आत्माके पदार्थका ज्ञान चाहता है, उसको आत्माके चैतन्यस्वरूपता स्वीकार करनी चाहिये। भावार्थ—अचेतन आत्मा पदार्थको

नहीं जान सकता है; अतः यदि तुम (वैशेषिक) आत्माको ज्ञाता (पदार्थोंका जाननेवाला) मानना चाहते हो तो पहले आत्माको चैतन्यस्वरूप (ज्ञानरूप) स्वीकार करो।

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः। अन्यथा धनवानितिप्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गात्। तदसत्। यतो ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वात्। घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाऽभावात्। इति मा निर्णैपीः।तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नाऽगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते। स्वमतविरोधात्। "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात्।

शंका—'मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। क्योंकि; यदि इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद न होवे तो 'मैं धनवान हूं' इस प्रत्ययसे धन और धनवान इन दोनोंके भेदके अभावका प्रसंग होगा। भावार्थ—वैशेषिक अब यहांपर ऐसा कहते हैं कि; यदि 'मै ज्ञाता हूं' इस पूर्वोक्त प्रत्ययसे आत्मा तथा ज्ञानके भेद सिद्ध नहीं होता है; तो अस्तु मत हो; परन्तु 'मैं धनवान हूं' इस प्रत्ययसे जैसे धनके और धनवानके भेद प्रतीत होता है; उसी प्रकार 'मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। समाधान—यह तुम्हारा कहना मिथ्या है। क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्मा सर्वथा जडरूप है; अतः 'मै ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है। घटके समान अर्थात् जैसे—सर्वथा जड होनेसे घट उक्त प्रतीतिको नहीं करता है; वैसे ही आत्मा भी उक्त प्रतीतिको नहीं कर सकता है। अब कदाचित् ऐसा कहो कि; आत्मा सर्वथा जड भी है और मैं 'ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययका धारक भी है। क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है। सो तुम ऐसा भी निर्णय मत करो। क्योंकि; आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति ही नहीं होती है। कारण कि; 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रत्यय ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्यको ग्रहण किये विना कदाचित् भी उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि; 'विशेषणको ग्रहण किये विना विशेष्यमें बुद्धि नहीं होती है' ऐसा वचन है; अतः तुम्हारे मतसे विरोध होगा।

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्—कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत्स्वतः। स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते। नान्यथा। सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते

ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम् । गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तराद्यवगृह्णेन भाव्यम् । इत्यनवस्थाना-स्कुतः प्रकृतप्रत्ययः । तदेवं नात्मनो जडस्वरूपता संगच्छते । तदसंङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदि-ति वाङ्मात्रम् ।

यदि कहो कि, जब आत्मा ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्य, इन दोनोंको ग्रहण कर चुकता है; तब ' मैं ज्ञान वान हूं ' ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है, तो यहां पर हम प्रश्न करते हैं कि, आत्माके उस ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण किससे हुआ ? यदि उत्तरमें कहो कि; आत्मा स्वत: (अपने आप ही से) उन दोनोंका ग्रहण कर लेता है; तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि, तुमने आत्मा तथा ज्ञानको स्वसंवेदक (अपने जाननेवाला) नहीं माना है । भावार्थ—यदि आत्मा और ज्ञान ये दोनों स्वसंविदित (अपनेसे आप जाननेमें आते हुए) होवें, तब तो आत्माके ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण हो सकता है और अन्यप्रकारसे नहीं । दूसरे संतानके समान । अर्थात् जैसे घट पट आदि दूसरे संतान (पदार्थ) अस्वसंवेदक होनेसे ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान व आत्माके ग्रहण करनेमें असमर्थ है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि, आत्मा पर (दूसरे) ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञाननामक विशेषणको ग्रहण करता है, तो वह दूसरा ज्ञानरूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्वविशेषणको ग्रहण किये बिना उस आत्माके ज्ञानरूपविशेषणको ग्रहण करनेमें असमर्थ है । क्योंकि, घटत्वका ग्रहण होनेपर घटका ग्रहण होता है भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें घटत्वका ग्रहण हो चुकने पर घटका ग्रहण होता है, उसी प्रकार ज्ञानत्वका ग्रहण होनेके पश्चात् ही ज्ञानका ग्रहण होना चाहिये । इस कारण दूसरे ज्ञानके ज्ञानत्वका ग्रहण तीसरे ज्ञानसे और तीसरे ज्ञानके ज्ञान-त्वका ग्रहण चौथे ज्ञानसे एवं उत्तरोत्तर ज्ञानत्वका ग्रहण उत्तरोत्तर ज्ञानसे मानोगे तो कहीं भी स्थिति न होगी अर्थात् अनवस्था दोष प्राप्त होगा । अत: आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं ' यह प्रकृत प्रत्यय किससे होवे ? अर्थात् किसी प्रकारसे भी आत्मा 'मैं ज्ञान-वान हूं ' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है । सो इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माके जडरूपपना प्राप्त नहीं होता है अर्थात् आत्मा जड सिद्ध नहीं होता है । और आत्माके जडरूपताकी प्राप्ति नहीं होनेपर 'ज्ञान उपाधिजनित होनेके कारण आत्मासे भिन्न है' यह जो तुम वैशेषिकोंका कहना है; सो वचनमात्र है अर्थात् व्यर्थ है ।

---

१ जडस्वरूपतायाः असमाप्तौ.

नहीं जान सकता है; अतः यदि तुम (वैशेषिक) आत्माको ज्ञाता (पदार्थोंका जाननेवाला) मानना चाहते हो तो पहले आत्माको चैतन्यस्वरूप (ज्ञानरूप) स्वीकार करो।

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः। अन्यथा धनवानितिप्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गात्। तदसत्। यतो ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वात्। घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाऽभावात्। इति मा निर्णैषीः।तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नाऽगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते। स्वमतविरोधात्। " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात्।

शंका—'मै ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। क्योंकि; यदि इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद न होवे तो 'मैं धनवान हूं' इस प्रत्ययसे धन और धनवान इन दोनोंके भेदके अभावका प्रसंग होगा। **भावार्थ**— वैशेषिक अब यहांपर ऐसा कहते हैं कि; यदि 'मैं ज्ञाता हूं' इस पूर्वोक्त प्रत्ययसे आत्मा तथा ज्ञानके भेद सिद्ध नहीं होता है; तो अस्तु मत हो; परन्तु 'मै धनवान हूं' इस प्रत्ययसे जैसे धनके और धनवानके भेद प्रतीत होता है; उसी प्रकार 'मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। **समाधान**—यह तुम्हारा कहना मिथ्या है। क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्मा सर्वथा जडरूप है; अतः 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है। घटके समान अर्थात् जैसे—सर्वथा जड होनेसे घट उक्त प्रतीतिको नहीं करता है; वैसे ही आत्मा भी उक्त प्रतीतिको नहीं कर सकता है। अब कदाचित् ऐसा कहो कि; आत्मा सर्वथा जड भी है और मै 'ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययका धारक भी है। क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है। सो तुम ऐसा भी निर्णय मत करो। क्योंकि; आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति ही नहीं होती है। कारण कि; 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रत्यय ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्यको ग्रहण किये विना कदाचित् भी उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि; 'विशेषणको ग्रहण किये विना विशेष्यमें बुद्धि नहीं होती है' ऐसा वचन है; अतः तुम्हारे मतसे विरोध होगा।

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्—कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत्स्वतः। स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते। नान्यथा। सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते

ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम् । गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यम् । इत्यनवस्थानाप्लुतः प्रकृतप्रत्ययः । तदेवं नात्मनो जडस्वरूपता संगच्छते । तदसंगतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् ।

यदि कहो कि; जब आत्मा ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्य, इन दोनोंको ग्रहण कर चुकता है; तब 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है; तो यहां पर हम प्रश्न करते हैं कि; आत्माके उस ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण किससे हुआ ? यदि उत्तरमें कहो कि, आत्मा स्वत (अपने आप ही से) उन दोनोंका ग्रहण कर लेता है, तो यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि, तुमने आत्मा तथा ज्ञानको स्वसंवेदक (अपने जाननेवाला) नहीं माना है । भावार्थ—यदि आत्मा और ज्ञान ये दोनों स्वसंविदित (अपनेसे आप जाननेमें आते हुए) होवें, तब तो आत्माके ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण हो सकता है और अन्यप्रकारसे नहीं । दूसरे संतानके समान । अर्थात् जैसे घट पट आदि दूसरे सतान (पदार्थ) असस्वसंवेदक होनेसे ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान व आत्माके ग्रहण करनेमें असमर्थ है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि, आत्मा पर (दूसरे) ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञाननामक विशेषणको ग्रहण करता है, तो यह दूसरा ज्ञानरूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्वविशेषणको ग्रहण किये विना उस आत्माके ज्ञानरूपविशेषणको ग्रहण करनेमें असमर्थ है । क्योंकि, घटत्वका ग्रहण होनेपर घटका ग्रहण होता है भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें घटत्वका ग्रहण हो चुकने पर घटका ग्रहण होता है, उसी प्रकार ज्ञानत्वका ग्रहण होनेके पश्चात् ही ज्ञानका ग्रहण होना चाहिये । इस कारण दूसरे ज्ञानके ज्ञानत्वका ग्रहण तीसरे ज्ञानसे और तीसरे ज्ञानके ज्ञानत्वका ग्रहण चौथे ज्ञानसे एवं उत्तरोत्तर ज्ञानत्वका ग्रहण उत्तरोत्तर ज्ञानसे मानोगे तो कहीं भी स्थिति न होगी अर्थात् अनवस्था दोष प्राप्त होगा । अत आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रकृत प्रत्यय किससे होवे ? अर्थात् किसी प्रकारसे भी आत्मा 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है । सो इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माके जडरूपपना प्राप्त नहीं होता है अर्थात् आत्मा जड सिद्ध नहीं होता है । और आत्माके जडरूपताकी प्राप्ति नहीं होनेपर 'ज्ञान उपाधिजनित होनेके कारण आत्मासे भिन्न है' यह जो तुम वैशेषिकोंका कहना है, सो वचनमात्र है अर्थात् व्यर्थ है ।

---

१ जडस्वरूपताया अप्राप्तौ

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनायामनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते । ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयाऽपरापरोत्पत्तिर्वा । तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः । अपरापरेषामुत्पादुकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात् । अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात् । अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति। विपर्यये बाधकप्रमाणाऽभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम् । किञ्च स्याद्वादवादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदो द्रव्यरूपतया स्थाष्णूनामेव सतां भावानामुत्पादव्यययुक्तत्वात्। इति विरुद्धश्च । इति नाधिकृतानुमानाद्बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिध्यति ।

और जो तुमने ' ज्ञान तथा सुखस्वरूप मोक्ष नहीं है ' इस विषयको सिद्धकरनेके लिये संतानपनेसे अर्थात् ' आत्माके ज्ञान सुख आदि नवों विशेषगुणोंका संतान अत्यंत नाशको प्राप्त होता है; संतानपना होनेसे ' ऐसा अनुमान कहा है; उसमें हम यह कथन करते हैं कि; वह संतानत्व क्या है ? अर्थात् स्वतंत्र अपर अपर (भिन्न २) पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप ही संतानत्व है ? अथवा एक आश्रय (अधिकरण) में अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप संतानत्व है । यदि कहो कि;— स्वतंत्ररूपसे जो भिन्न २ पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वही संतानत्व है; तब तो यह तुम्हारा विकल्प व्यभिचार सहित है अर्थात् आत्माको ज्ञान—सुखरहित सिद्ध करनेके अर्थ जो तुमने संतानत्व हेतु दिया है; वह व्यभिचारी है । क्योंकि; उत्पन्न होनेवाले जो अपर अपर घट पट कट (चटाई) आदि हैं; इनके संतानपना होनेपर भी अत्यंत नाशवानपना नहीं है । **भावार्थ**—वैशेषिकमतमें घट आदि संतानोंका निरन्वय नाश नहीं होता है अर्थात् नष्ट हुए घट आदि पदार्थोंका परमाणुपर्यन्त समवायी रहता है । इस कारण घट आदिक संतान हैं तो भी उनका सर्वथा नाश नहीं होता है । अतः प्रकृत अनुमानमें जो संतानत्व हेतु है; वह सर्वथा नष्ट होनेवाले ज्ञान सुख आदिमें भी रहता है और सर्वथा नष्ट न होनेवाले घट पटादिमें भी रहता है; इसकारण व्यभिचारी है । यदि कहो कि; एक ही आश्रयमें जो अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वह संतानत्व है; तो ऐसा संतानत्व प्रदीपमें नहीं है; इसकारण साधनविकल दृष्टान्त है । **भावार्थ**—प्रदीपमें जो संतान हैं; उसका अधिकरण एक नहीं है । क्योंकि पूर्ववन्हिज्वाला

रूप जो प्रदीप है, वह जिस क्षणमें पूर्व वन्हिज्वाला नष्ट होती है, उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है। इस कारण उक्त अनुमानमें जो तुमने प्रदीपका दृष्टान्त दिया है; वह साधनविकल (साधनसे शून्य) है। और परमाणुमें जो पाकजरूप आदि हैं, उनसे यह हेतु व्यभिचारी भी है। क्योंकि, उन रूप रस आदिमें परमाणुरूप एक आश्रयमें होनेवाले अपर अपर रूप रस आदि संतान हैं, तो भी उनका अत्यंत नाश नहीं होता है। भावार्थ—वैशेषिकमतमें पृथिवीके परमाणुमें पाक होता है, और जब घट रूप अवयवीका अग्निके संयोगसे नाश हो जाता है तब स्वतंत्र (अवयवी रहित) जो परमाणुरूप अवयव हैं, उनमें पाक होता है और फिर पके हुए परमाणुओंके संयोगसे अदृष्टके बलसे पुनः घट हो जाता है; ऐसी व्यवस्था है। अब घटको अग्निमें धरनेसे जब उस घटका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, तब उन परमाणुओंमें जो पूर्व घटके रूप, रस आदि संतान हैं; वे बदलकर दूसरे रूप रस आदि रूपसे उत्पन्न होवे हैं इसकारण यद्यपि पूर्व तथा अपर रूप रस आदिका संतानत्व परमाणुरूप एक आश्रयमें रहता है, तो भी उन रूपादिक संतानोंका सर्वथा नाश नहीं है। इस कारणसे भी संतानत्वरूप हेतु व्यभिचारी है। और संतानत्व भी होगा, अत्यंत नाश भी न होगा, इस विपरीततर्कमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अर्थात् घट आदि पदार्थ संतान भी हैं और उनका सर्वथा नाश भी नहीं है, ऐसा यदि विपरीत तर्क किया जावे तो इस तर्कका बाधक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है; इसकारण यह संतानत्व हेतु संदिग्ध है विपक्षसे व्यावृत्ति जिसकी ऐसा होनेके कारण अनेकान्तिक भी है। भावार्थ—वैशेषिकोंके प्रयुक्त अनुमानमें सर्वथा उच्छेदत्वरूप साध्यका अभावस्वरूप जो अनुच्छेदत्व है, उस अनुच्छेदत्वके धारक घटादि संतान हो सकते हैं; इस कारण विपक्षरूप घटादिमें सर्वथा उच्छेदत्वकी रहितताामें संदेह होनेसे यह संतानत्व हेतु अनैकान्तिक भी है।

नापि " न हि वै सशरीरस्य " इत्यादेरागमात्। स हि शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः। मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव। तत्कथं प्रतिषिध्यते। आगमस्य चायमर्थः। सशरीरस्य गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्त्तिन आत्मनः प्रियाप्रिययोः परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोरपहतिरभावो नास्तीति। अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्। (परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते)। अशरीरं मुक्तात्मानं (वा शब्दस्यैवकारार्थत्वात्) अशरीरमेव वसन्तं सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं प्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते सुखदुःखे न स्पृशतः।

और '**नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति**' इत्यादि आगमका प्रमाण जो तुमने दिया है; उससे भी मुक्त अवस्थामें आत्मा सुखदुःख रहित नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि; वह आगम शुभअदृष्ट (पुण्य) तथा अशुभअदृष्ट (पाप); इन दोनोंके उदयसे उत्पन्न हुआ और परस्परानुषक्त (आपसमें एकके पीछे दूसरा लगा हुआ) ऐसा जो संसारसंबंधी सुख तथा दुःख है; उसकी अपेक्षाकरके व्यवस्थित है.। और मुक्त अवस्थामें तो समस्त—पुण्य पापके नाशसे उत्पन्न हुआ ऐसा केवल एकान्तिक (सर्वथा) तथा आत्यंतिक (फिर नाशको प्राप्त न होनेवाला) सुख ही है। अतः वह आगम उस सुखका निषेध कैसे कर सकता है। तथा आगमका अर्थ यह है कि; सशरीर अर्थात् नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव नामक चार गतियोंमेंसे किसी भी एक गतिमें रहनेवाले आत्माके प्रिय अप्रियका अर्थात् परस्परानुषक्त जो सुख तथा दुःख हैं; उन दोनोंका अपहति (अभाव) नास्ति (नहीं है) इस कारण उन चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवके नियमसे सुख और दुःख ये दोनों होने चाहिये। ['प्रियाप्रिय' यहां पर जो द्वंद्वसमास किया गया है; उससे सुख तथा दुःखके परस्परानुषक्तताका ग्रहण होता है] और 'वसन्तं' मुक्तिके स्थानमें विराजमान 'अशरीरं' मुक्त आत्माको 'वा' ही 'प्रियाप्रिये' परस्परानुषक्त सुख तथा दुःख, ये दोनों 'न स्पृशतः' नहीं स्पर्श करते हैं (यहां वा शब्द एवकारके अर्थमें है।)

इदमत्र हृदयम्। यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां न तथा मुक्तात्मनः। किंतु केवलं सुखमेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाऽभावात्। सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव। स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। अत एवचाऽशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः। यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते। "सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद्—दुष्प्रापमकृतात्मभिः। १।" न चायं सुखशब्दो दुःखाऽभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाऽभावात्। अयं रोगाद्विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीतिप्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च दुःखाभावमात्रस्य रोगाद्विप्रमुक्त इतीयतैवगतत्वात्।

भावार्थ यहां पर यह है कि; जैसे—संसारी जीवके परस्परानुषक्त सुखदुःख होते हैं अर्थात् जैसे संसारमें जीवके सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख होता है; वैसे परस्परानुषक्त सुख, दुःख मुक्त आत्माके नहीं होते हैं; किन्तु मुक्त जीवके केवल सुख ही होता है। क्योंकि; दुःखका मूल (असाधारण कारण) जो शरीर है; उस शरीरका ही उस मुक्त जीवके अभाव है।

और सुख तो आत्माका सरूप होनेसे मुक्त जीवके है ही है। क्योंकि, अपने सरूपमें जो स्थित होना है, वही मोक्ष कहलाता है; भावार्थ—सुख आत्माका सरूप है। और सरूपमें स्थित होना ही मोक्ष है, अत मुक्तजीवके सुख है ही। तथा इसी कारण 'अशरीरं वा' इत्यादि आगममें अशरीर ऐसा कहा है। और इस आगमके अर्थका इसी प्रकार तुमको समर्थन करना चाहिये अर्थात् हमने जैसा आगमका अर्थ किया है, वैसा ही तुमको करना चाहिये। क्योंकि उस आगमके अर्थका अनुसरण करनेवाली स्मृति भी वैसी जाती है। वह यह है कि, 'जहां बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य और इन्द्रियोंके अगोचर ऐसा आत्यतिक सुख है; उसीको पापी जीवोंको दुर्लभ (दु:खसे प्राप्त होने वाला) मोक्ष जानना चाहिये। १।" और यहां पर यह सुख शब्द केवल दु:खके अभावमें ही नहीं है। अर्थात् यदि तुम कहो कि, यहां सुखशब्दसे दु:खके अभावरूप अर्थका ही ग्रहण है, सो नहीं है। क्योंकि प्रथम तो सुख शब्दका मुख्य सुखरूप अर्थके करनेमें कोई बाधक नहीं है; दूसरे यदि सुखसे दु:खका अभाव ही माना जावे तो 'यह रोगसे रहित होकर सुखी हो गया' इत्यादि वचनोंमें पुनरुक्तिदोषका प्रसंग होता है। भावार्थ—यदि दु:खके अभावको ही सुख मानों तो 'यह रोगसे रहित हो गया' इस कहनेसे ही यह सुखी होगया ऐसा समझ लिया जावेगा अत 'यह रोगसे रहित होकर सुखी हो गया' ऐसा कथन करनेमें पुनरुक्तिदोष होगा और वह तुमको इष्ट नहीं है।

न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः। को हि नाम शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत। दु:खसंवेदनरूपत्वादस्य। सुखदु:खयोरेकस्याभावे परस्यावश्यम्भावात्। अत एव त्वदुपहास: श्रूयते। "वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्। न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति। १।" सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात्स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरीतानन्दमम्लानज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः। यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्तदलमपवर्गेण। संसार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तरान्तरापि दु:खकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते। चिन्त्यतां तावत्किमल्पसुखानुभवो भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव।

और तुम्हारे कहे हुए मोक्षको मनुष्य उपादेय (ग्रहण करने योग्य) रूप नहीं मानते हैं। क्योंकि, ऐसा कौन पुरुष है जो शिलाके समान सब सुखोंके ज्ञानसे रहित ऐसे आत्माको बनानेके लिये प्रयत्न करे, भावार्थ—जैसे शिला (एक पाषाणभेद)

सुखके अनुभवसे रहित है; उसी प्रकार तुम्हारे मोक्षमें भी जीव सुखके ज्ञानसे रहित हो जाता है। अतः हितका चाहनेवाला कोई भी पुरुष अपने आत्माको सुख रहित बनाना नहीं चाहता है। क्योंकि;–सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरेका अवश्य सद्भाव रहता है; अतः वह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप है। भावार्थ—जहां सुख नहीं रहता है; वहां दुःख और जहां दुःख नहीं रहता है; वहां सुख नियमसे रहता है और तुम्हारे मोक्षमें सुखका अनुभव होता नहीं है; अतः वह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप (दुःखरूप) है। और इसी कारण तुम्हारा उपहास भी सुना जाता है। वह यह है—"न्यायदर्शनके कर्त्ता गोतममुनि मनोहर वृंदावनमें शृंगाल (गीदड़) होनेकी इच्छाको करनेको तो अच्छा समझते हैं। परंतु वैशेषिकोंकी मुक्तिमें जानेकी इच्छा नहीं करते हैं। भावार्थ—गोतम ऋषी वैशेषिकोंके ज्ञान–सुख रहित मोक्षमें जानेसे वृंदावनमें शृगाल हो जाना अच्छा समझते हैं। और उपाधिसहित, मर्यादाके धारक (इस देवको यहां इतने समय ही सुख मिलेगा इससे अधिक नहीं ऐसी हद्दवाले) तथा परिमित (इसको यहां इस इस प्रकारका इतना ही सुख मिलेगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकारके परिमाण अर्थात् अंदाज वाले) आनंदको देनेवाला जो स्वर्ग है; उससे भी अधिक उपाधिरहित, मर्यादारहित और अपरिमाण सुखको धारण करनेवाला तथा नहीं मलीन हुआ है; ज्ञान जिसमें ऐसा अर्थात् परिपूर्ण निर्मल ज्ञानसहित ऐसा मोक्ष कहते हैं। और यदि आत्मा पाषाणके समान जड़रूप ही उस मोक्षअवस्थामें होवे तो ऐसे मोक्षसे पूर्णता हो अर्थात् उस मोक्षसे पूरा पड़ो। संसार ही अच्छा रहो कि; जिसमें दुःखसे कलुषित ऐसा भी कुछ २ सुख बीच २ में भोगा जाता है। भावार्थ—सुखके अभावरूप मोक्षसे संसार ही अच्छा है; जिसमें कभी कभी थोड़ा २ सुख भोगनेमें आता है। तुम (वैशेषिक) ही विचार करो कि; क्या अल्प सुखका अनुभव करना अच्छा है? वा सब सुखका नाश हो जाना ही अच्छा है?।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्। ते ह्येवं विवेचयन्ति। संसारे तावद्दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति। दुःखं चावश्यहेयम्। विवेकहानं[1] चानयोरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशकमत एव द्वे अपि त्यज्येते। अतश्च संसारान्मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्याद्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता न तु तस्याः कृते दुःखभार इयान् व्यूढ इति।

1 विवेकेन पृथक्त्वेन दुःखस्य त्यागः।

शंका—हमारे ज्ञान सुखरहित मोक्षमें हेयोपादेयके विचारमें चतुर पुरुषोंको संसारकी अपेक्षा विशेष लाभ है। भावार्थ—अब वैशेषिक ऐसा कहते हैं कि, संसारमें जो सुख होता है; वह दुःखसे अस्पर्शित नहीं होता है अर्थात् संसारसंबंधी सुखकी आदिमें भी दुःख होता है और अंतमें भी दुःख होता है।और दुःख अवश्य छोड़ने योग्य है। तथा जैसे एक पात्रमें गिरे हुए मधु (सहत) तथा विष (जहर) इन, दोनोंमेंसे विषको निकालकर उसका त्याग कर देना अत्यंत कठिन है, उसी प्रकार इन सांसारिक सुखदुःखोंमेंसे दुःखको जुदा करके उस दुःखका त्याग कर देना भी बहुत ही कठिन है। इस कारण संसार संबंधी सुख तथा दुःख ये दोनों ही छोड़े जाते हैं। अतः संसारसे मोक्ष ही अच्छा है कि, जिसमें सर्वथा दुःख होता ही नहीं है। क्योंकि, यह कभी कभी होनेवाले सुखका अंश भी यदि छोड़ दिया जावे तो अच्छा है, परन्तु उस थोड़ेसे सुखके अर्थ इतने दुःखोंके समूहका सहन करना (भोगना) अच्छा नहीं है।

तदेतत्सत्यम्। सांसारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद्दुःखरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षूणां तज्जिहासा। किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवसिद्धमेव। तद्यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति ततो मोक्षो दुःखरूप एवापद्यत इत्यर्थः। ये अपि विषमधुनी एकत्र सम्पृक्ते त्यज्येते ते अपि सुखविशेषलिप्सयैव। किञ्च यथा प्राणिनां संसारावस्थायां सुखमिष्टं, दुःखं चानिष्टम्। तथा मोक्षावस्थायां दुःखनिवृत्तिरिष्टा, सुखनिवृत्तिस्त्वनिष्टैव। ततो यदि त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्तदा न प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्यात्। भवति चेयम्। ततः सिद्धो मोक्षः सुखसंवेदनस्वभावः। प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्तेः।

समाधान—यह वैशेषिकोंका कहना सत्य है। क्योंकि संसारसंबंधी जो सुख है; वह सहतसे लिपटी हुई तथा तीक्ष्ण धारवाली ऐसी जो तलवारकी नोंक (अणी) है, उसको भक्षणकरने (चाटने) के समान है अर्थात् जैसे सहतसे लिपटी हुई तलवारकी नोंकको चाटनेसे प्रथम ही कुछ सुख और अंतमें अत्यंत दुःख होता है, उसीप्रकार संसारका सुख भी पहिले कुछ सुखरूप और अंतमें महादुःखरूप ही है, इस कारण मोक्षके इच्छुक पुरुष जो उस सुखको छोड़नेकी इच्छा करते हैं, वह युक्त (ठीक) ही है। परन्तु जो एक प्रकारके आत्यंतिक सुखको चाहनेवाले मुमुक्षुजन हैं, उन्हींको सांसारिक सुखका त्याग करना चाहिये। अर्थात् यदि मोक्षमें आत्यन्तिक सुख होवे तब तो मोक्षाभिलाषियोंको सांसारिकसुखके त्यागनेकी इच्छाका करना उचित ही है और मोक्ष-

में आत्यंतिक सुख न होवे तो संसारसंबंधी सुखको त्याग देना ठीक नहीं है। और विषयोंकी रहिततासे उत्पन्न होनेवाला सुख यहां भी अनुभव सिद्ध है अर्थात् इस संसारमें भी जो जो वैराग्यका अवलम्बन करके विषयोंका त्याग करते हैं: उनको एक प्रकारका विलक्षण सुख अनुभव गोचर होता है: इस कारण यदि मोक्षमें सांसारिक सुखसे विशिष्ट (अधिक दर्जेका) सुख नहीं है तो; वह तुम्हारा मोक्ष दुःखरूप ही हो जावेगा। तथा जो एक भाजनमें मिले हुए जहर और शहदका त्याग किया जाता है वह भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है अर्थात् उस मिले हुए विषमधुका भक्षण करनेकी अपेक्षा भक्षण न करनेमें सुख अधिक है; इसीकारण उन दोनोंका त्याग किया जाता है। यदि उनके त्यागनेमें विशेष सुख न हो तो त्याग करनेवाले न करें। और भी विशेष यह है कि; जैसे जीवोंके संसारअवस्थामें सुख तो इष्ट है और दुःख अनिष्ट है: उसी प्रकार जीवोंके मोक्षअवस्थामें भी दुःखकी रहितता इष्ट है और सुखकी रहितता अनिष्ट ही है: अर्थात् जीव मोक्षमें भी दुःखसे छूटनेकी तथा सुखको भोगनेकी ही इच्छा करते है। इसकारण यदि तुम वैशेषिकोंका माना हुआ ज्ञान–सुख रहित ही मोक्ष होवे तो उस ज्ञान सुख रहित मोक्षमें प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्ति न होवे अर्थात् विचारवान पुरुष उस मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न न करें। परंतु विचारवानोंकी मोक्षके अर्थ प्रवृत्ति होती है अतः मोक्ष 'ज्ञान तथा सुखरूप स्वभावका धारक है' यह सिद्ध हो गया। क्योंकि यदि ज्ञान–सुखरूप मोक्ष न होवे तो अन्यप्रकारसे मोक्षमें विचारवानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात्तदा तद्रागेण प्रवर्त्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। नहि रागिणां मोक्षोऽस्ति। रागस्य बन्धनात्मकत्वात्। नैवम्। सांसारिकसुख एव रागो बन्धनात्मको विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्। मोक्षसुखे तु रागस्तन्निवृत्तिहेतुत्वान्न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च स्पृहामात्ररूपोऽप्यसौ निवर्तते। "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाभ्युपगमे दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत। इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात्परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षो न तु बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूप इति।

संसारसुखमें जो रागका करना है वही बंधन रूप है । कारण कि, यह सांसारिकसुखमें रागका करना विषयादिकोंमें प्रवृत्तिका कारण है अर्थात् सांसारिकसुखमें राग होनेसे जीवकी विषय आदिमें प्रवृत्ति होती है और मोक्षसुखमें जो अनुराग है, वह विषयआदिमें निवृत्तिका कारण है अर्थात् मोक्षसुखमें रागके होनेसे जीवके विषयोंसे रहितता होती है; इस कारण यह मोक्ष सुखमें रागका करना बंधनरूप नहीं है । तथा उत्कृष्ट कोटि (कक्षा व श्रेणी) में चढ़े हुए जीवके तो केवल इच्छारूप राग भी दूर हो जाता है अर्थात् ऊंचे दर्जेको प्राप्त हुए आत्माके तो उस मोक्षसुखमें भी इच्छा नहीं रहती है। क्योंकि; 'जो उत्तम मुनि होता है, वह मोक्ष और संसारमें अर्थात् सभीमें इच्छा रहित रहता है' ऐसा वचन है । यदि ऐसा न होवे तो दुःखकी रहिततारूप मोक्षको स्वीकार करनेवाले तुम्हारे पक्षमें भी दुःखके विषयमें जो कषायरूप कालुष्य उत्पन्न होता है, उसका कौन निषेध कर सकता है । भावार्थ—जैसे सुखरूप मोक्ष माननेसे मोक्षसुखमें राग होता है, उसी प्रकार दुःखरहित मोक्षके माननेसे दुःखमें द्वेष तथा मोक्षमें राग उत्पन्न होता है; और राग तथा द्वेष ये दोनोंही बंधनरूप हैं इस कारण पराकाष्ठाको प्राप्त हुए योगीके इच्छाका अभाव हो जाता है, यह तुमको भी मानना पड़ेगा । इस पूर्वोक्त प्रकारसे संपूर्ण कर्मोंका नाश होनेसे जो परमसुख और परमज्ञानस्वरूप मोक्ष होता है, वही यथार्थ मोक्ष है और तुम्हारा माना हुआ जो बुद्धि आदि नव विशेषगुणोंका नाश है, उस स्वरूप मोक्ष नहीं है ।

अपि च मोक्षतपस्विन्! कथंचिदेषामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूपं मनः कृथाः । तथाहि-बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते । तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात्पञ्चधा । तत्राद्यं ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात्केवलज्ञानाविर्भावकाल एव प्रलीनम् । "नट्ठंमि छाउमत्थिए नाणे" इत्यागमात् । केवलं तु सर्वद्रव्यपर्यायगतं क्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वादस्त्येव मोक्षावस्थायाम् । सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति । तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात् । यत्तु निरतिशयमक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद्बाढं विद्यते । दुःखस्य त्वधर्ममूलत्वात्तदुच्छेदादुच्छेदः ।

और हे तपस्विजनो ! किसी अपेक्षासे हमको भी इन बुद्धि आदि गुणोंका नाश अभीष्ट ही है अर्थात् हम भी कथंचित् बुद्धिआदिका नाश मानते ही हैं; इस कारण मनको विरूप (उदास अथवा मलीन) मत करो । सोही दिखाते हैं;—बुद्धि शब्दसे ज्ञान कहा जाता है अर्थात् हमारे मतमें बुद्धिसे ज्ञानका ग्रहण है और वह ज्ञान—मति १, श्रुत २, अवधि ३, मनःपर्यय ४ और केवल ५, इन भेदोंसे पांच प्रकारका है। उनमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान ये चारों क्षायोपशमिक हैं

अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेशक्षय और उपशमसे उत्पन्न होते हैं; इसकारण जब आत्माके केवलज्ञानकी प्रकटता होती है उसी समय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि 'क्षायोपशमिक ज्ञानोंके नष्ट होनेपर' ऐसा वचन है। और सब द्रव्य तथा पर्यायोंमें प्राप्त अर्थात् समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला (जाननेवाला) जो केवल ज्ञान है; वह तो ज्ञानावरणीयकर्मके सर्वथा क्षय (नाश) होनेसे उत्पन्न होता है; इसकारण आत्माका निर्मलस्वरूप होनेसे मोक्ष अवस्थामें है ही है। और विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख तो उस मोक्ष अवस्थामें नहीं है। क्योंकि; उस विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखका कारण जो वेदनीय नामा कर्म है; उसका मोक्ष अवस्थामें अभाव है। और जो निरतिशय, अविनाशी तथा स्वतंत्र (किसी दूसरेकी अपेक्षा न करनेवाला) और जिसका कभी अंत (पार) न आवे ऐसा सुख तो उस मोक्षअवस्थामें पूर्णरूपसे विद्यमान है। दुःखका कारण अधर्म (पाप) है; उस अधर्मका मोक्ष अवस्थामें अभाव हो गया है; इसकारण दुःखका भी मोक्ष अवस्थामें नाश है।

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद्धर्मस्य चोच्छेदात्तदपि न युज्यते। "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद्भवतु तदुच्छेदो न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात्तस्य च समूलकाषं कषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव। कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नो दानादिलब्धिवत्। न च क्वचिदुपयुज्यते कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरपर्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव। तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव। तस्य च मोहक्षयानन्तरमेव क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः॥ ८॥

शंका—जैसे अधर्ममूलक दुःखका अधर्मके नष्ट होनेसे नाश हो जाता है; उसीप्रकार सुखका भी मूल धर्म है और मुक्तात्माके धर्मका उच्छेद होगया है. अतः मुक्तात्माके सुख भी नहीं रहता है। क्योंकि; 'पुण्य तथा पापका जो नाश है; वही मोक्ष है' ऐसा आगमका वचन है। **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं हैं। क्योंकि विषयजनित सुख ही धर्ममूलक है; इसकारण धर्मका नाश होनेसे मुक्तात्माके उस विषयजनितसुखका ही नाश होता है और उस धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला जो स्वाभाविक सुख है; उसका मुक्तात्माके नाश नहीं होता है। तथा इच्छा और द्वेष ये दोनों मोहके भेद हैं; उस मोहको मुक्तजीवने मूलसहित उखाड़ (नष्ट कर) डाला है; अतः मोक्षअवस्थामें जीवके इच्छा तथा द्वेषका अभाव है। और क्रियाके व्यापारके गोचर जो प्रयत्न है;

यह तो मुक्तिमें है ही नहीं। क्योंकि; मुक्तात्मा कृतकृत्य है अर्थात् मुक्तजीवको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है; जो कुछ करना था; उसको वह कर चुका है। और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ जो प्रयत्न है, वह तो मुक्तिमें है ही है। दान आदि लब्धिके समान। भावार्थ—जैसे–मुक्तजीवके दानान्तरायकर्मके क्षयसे दानलब्धि, भोगान्तरायकर्मके क्षयसे भोगलब्धि आदि लब्धियें उत्पन्न हुई हैं उसी प्रकार वीर्यान्तरायकर्मके नाशसे उत्पन्न जो वीर्यलब्धिरूप प्रयत्न है, वह भी मुक्तात्माके है ही। परन्तु मुक्तात्मा कृतार्थ है, इस कारण वह प्रयत्न उसको कहीं उपयोग (काम) में नहीं आता है। तथा पुण्य और पाप हैं दूसरे पर्याय जिनके ऐसे जो धर्म और अधर्म हैं; उनका नाश तो मुक्तात्माके है ही है। क्योंकि उन धर्म अधर्मके नाशके विना जीवको मोक्षकी प्राप्ति ही नहीं होती है। और जो संस्कार है, वह मतिज्ञानका ही भेद है और उस संस्कारका आत्माके जब मोहका नाश हुआ उसी समय नाश हो चुका है, अत मुक्तात्माके संस्कार भी नहीं है। सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे ' मोक्ष ज्ञान तथा सुखरूप नहीं है ' ऐसा जो तुम्हारा कथन है; वह युक्ति रहित है अर्थात् ज्ञान—सुखरहित मोक्षको माननेमें कोई भी युक्ति तुम वैशेषिकोंके पास नहीं है। इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ८ ॥

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमप्यपलप्य तादृक्कुशास्त्रशस्त्रसंपर्कविनष्टदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्तेऽतस्तत्सोपालम्भमाह ।—

अब उसीप्रकारके कुशास्त्ररूपी शस्त्रके लग जानेसे नष्ट होगये हैं नेत्र जिनके ऐसे वे वैशेषिक आत्माकी स्वयं जाननेमें आती हुई भी शरीरप्रमाणताको गुप्त करके आत्माको सर्वव्यापक मानते हैं भावार्थ—यद्यपि आत्मा शरीरप्रमाण है तथापि वैशेषिक उसको सर्वव्यापक मानते हैं; इस कारण अग्रिम काव्यसे आत्माको सर्वव्यापक माननेमें उपालंभ देते हैं।

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद्बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

काव्यभावार्थ—जैसे घटके रूप आदि गुण जहां हैं, वहां ही वह घट भी रहता है, उसी

प्रकार जिस पदार्थके गुण जिस स्थलमें देखे जाते हैं; वह पदार्थ उसी स्थलमें मिलता है। यह कथन बाधकरहित है। तथापि कुतत्त्ववादसे व्यामोहको प्राप्त हुए वैशेषिक आत्मानामक पदार्थको देहके बाहर भी रहनेवाला कहते हैं ॥ ९ ॥

यत्रैव देशे यः पदार्थो दृष्टगुणो दृष्टाः प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूता गुणा धर्म्मा यस्य स तथा स पदार्थस्तत्रैव विवक्षितदेश एवोपपद्यते (इति क्रियाध्याहारो गम्यः) (पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात्तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः।) अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति। कुम्भादिवदिति घटादिवत्। यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र। एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न वहिः। तस्मात्तत्प्रमाण एवायमिति। यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते तथापि तेन न व्यभिचारः। तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलास्तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति। अत एवाह निष्प्रतिपक्षमेतदिति। एतन्निष्प्रतिपक्षं वाधकरहितम्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

व्याख्यार्थः—" यत्रैव " जिसी देशमें अर्थात् स्थानमें ' यः ' जो पदार्थ ' दृष्टगुणः ' देखे हैं अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनुभवगोचर किये हैं गुण अर्थात् धर्म जिसके ऐसा है " सः " वह पदार्थ 'तत्रैव' उसी स्थानमें " उपपद्यते " प्राप्त होता है। भावार्थ—जहां जिसपदार्थके गुण देखनेमें आते हैं; वहां ही वह पदार्थ रहता है। [यहां पर ' उपपद्यते ' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है अर्थात् उपपद्यते यह क्रिया ऊपरसे लाई गई है; ऐसा जानना चाहिये। और ' यत्रैव ' यहां पर जो निश्चयरूप अर्थको कहनेवाला एवकार है; उसको ' तत्र ' इसके आगे भी लगा देनेसे ' वह पदार्थ उसी स्थानमें है अन्य स्थानमें नहीं है; इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद होगया है] अव इसी ऊपर कहे हुए अर्थको दृष्टान्तद्वारा दृढ करते हैं। " कुम्भादिवत् " घट आदिके समान। भावार्थ—जैसे घटआदि पदार्थके रूप आदि गुण जिस स्थानमें देखे जाते हैं; उसी स्थानमें उस घटादिपदार्थकी विद्यमानता प्रतीत की जाती है; और उस स्थानसे भिन्न स्थानमें उन घटादिकी विद्यमानता नहीं जानी जाती

॥ ५९ ॥

है। इसी प्रकारसे आत्माके जो ज्ञान आदि गुण हैं; वे शरीरमें ही देखे जाते हैं, शरीरके बाहर नहीं देखे जाते हैं, इसकारण आत्मा शरीरप्रमाण ही है अर्थात् जितना बड़ा उस आत्माका शरीर है, उतना बड़ा ही यह आत्मा है। यद्यपि पुष्प आदिकोंका गंध आदि गुण जहांपर पुष्पादि विद्यमान हैं; उस स्थानसे भिन्न दूसरे स्थानमें भी मिलता है, तथापि उस भिन्नस्थानमें गुणोंके मिलनेसे यहां पर व्यभिचार नहीं होता है। क्योंकि, उन पुष्पादिमें रहनेवाले गंधआदि गुणोंके पुद्गल स्वभावसे उत्पन्न हुई अथवा प्रयोगसे उत्पन्न हुई गतिसे गमनके धारक हैं अर्थात् ये गंधादि पुद्गल स्वभावसे अथवा वायु आदिके प्रयोग (प्रयत्न) से गमन करते हैं; इस कारण पुष्प आदिमें स्थित गंधादिपुद्गलोंका नासिकाइन्द्रिय आदि स्थानों तक आजाना सिद्ध है। इसी कारण आचार्यमहाराज कहते हैं कि;—" एतद् " जिसके गुण जहां मिलते हैं, वह वहां ही रहता है, यह जो हमारा कथन है; यह " निष्प्रतिपक्षम् " बाधक रहित है। क्योंकि, 'प्रत्यक्षसे देखे हुएमें असिद्धताकी संभावना नहीं है' ऐसा न्याय है। भावार्थ—हमारा उक्त कथन प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है, अत उसका कोई खंडन करनेवाला नहीं है।

ननु मन्त्रादीनां भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत्। नैवं वोचः। स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम्। तासां चाकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः। न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते। तथापीत्यादि। तथाप्येवं निःसपत्ने व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे अतत्त्ववादोपहताः (अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात्) कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहता व्यामोहिता देहाद्बहिः शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे आत्मतत्त्वमात्मरूपं पठन्ति। शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते। इत्यक्षरार्थः।

शंका—भिन्नदेशमें विद्यमान मंत्र आदिका सौ १०० योजन (चारसौ ४०० कोश) आदिसे भी दूर पर्यन्त आकर्षण, उच्चाटन आदिरूप गुण देखा जाता है। यही आपके कथनका बाधक है। भावार्थ—एक स्थानपर सिद्ध कियेहुए मंत्रका गुण; उस स्थानसे सौ योजनसे भी अधिक दूरपर रहनेवाले पुरुषका आकर्षण तथा उच्चाटन करता है; इस कारण मंत्रके स्थानसे भिन्न स्थानमें मिलनेवाला जो मंत्रका गुण है; यह आपके उक्त कथनका बाधक है। समाधान—ऐसा मत कहो। क्योंकि वह गुण; उन मंत्र आदिका नहीं है, किन्तु उन मंत्र आदिके अधिष्ठाता (स्वामी) जो देव हैं, उनका गुण है। और वे देव आकर्षण करने-

योग्य तथा उच्चाटन करनेयोग्य स्थानोंमें स्वयं चले जाते हैं; इस कारण यह तुम्हारा उपालंभ कहांसे हो सकता है । **भावार्थ—**
आकर्षण आदि गुण देवोंका है, अतः मंत्रके सिद्ध करनेसे उस मंत्रका स्वामी देव प्रसन्न होकर जिस स्थानमें स्थित पुरुषका आक-
र्षण करना है; उसी स्थानमें चला जाता है; इस कारण मंत्र आदिके गुणोंको भिन्न देशमें मिलते हुए बताकर जो तुम हमारे कथ-
नमें दोष देते हो; वह दोष हमारे कथनमें नहीं होता है । इससे सिद्ध हुआ कि,–जो गुण है; वे गुणी (पदार्थ) को छोड़कर
कदाचित् भी नहीं रहते है । अब काव्यके तथापीत्यादि उत्तरार्धकी व्याख्या करते हैं । "**तथापि**" इस उक्त प्रकारसे बाधकरहित
जैसे हो वैसे तत्त्वको स्थित होनेपर भी अर्थात् हमारा सिद्धान्त विना बाधकके सिद्ध होगया है तो भी "**अतत्त्ववादोपहताः**"
निन्दित तत्त्ववादसे अर्थात् उनके अभीष्ट आप्ताभासरूप किसी पुरुषके द्वारा रचे हुए तत्त्वाभासोंके प्ररूपणसे व्यामोहको प्राप्त
हुए वैशेषिक [जैसे 'अनाचार' यहांपर कुत्सित अर्थमें नञ् समास होता है; उसी प्रकार अतत्त्ववाद यहांपर भी कुत्सित अर्थमें
नञ् समास किया गया है ।] "**देहाद्बहिः**" शरीरसे भिन्न स्थानमें भी "**आत्मतत्त्वं**" आत्मापना "**पठन्ति**" पढते हैं
अर्थात् शास्त्ररूपतासे कहते हैं । **भावार्थ—**हे भगवन् ? हमारा कथन निर्बाध है तो भी वैशेषिक मतवाले किसी अपने अभीष्ट
आप्ताभाससे रचा हुआ जो अतत्त्ववाद है; उससे भ्रमको प्राप्त होकर आत्मा शरीरसे बाहर भी रहता है; ऐसा शास्त्रकी आज्ञारूप
उपदेश देते हैं । इस प्रकार मूलके अक्षरोंका अर्थ है ।

भावार्थस्त्वयम् । आत्मा सर्वगतो न भवति । सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः । यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति । यथा घटः । तथा चायं तस्मात्तथा । व्यतिरेके व्योमादि । न चायमसिद्धो हेतुः । कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात् । तथा च भट्टः श्रीधरः "सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र । शरीरस्योपभोगायतनत्वात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति"।

भावार्थ तो यह है कि; आत्मा सर्वव्यापी नहीं है । क्योंकि; सर्व स्थानोंमें आत्माके गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है । जिस जिस
पदार्थके गुण सब स्थानोंमें नहीं मिलते हैं; वह वह पदार्थ सर्वव्यापी नहीं होता है । जैसे कि;–घटके गुण सर्वत्र न मिलनेसे घट
सर्वव्यापी नहीं है । उस घटके समान ही यह आत्मा है; इस कारण आत्मा सर्वव्यापी नहीं है । व्यतिरेकदृष्टान्तमें आकाश
आदि हैं अर्थात् आकाश आदिके गुण सब स्थानोंमें प्राप्त होते हैं; अतः आकाश आदि पदार्थ सर्वव्यापी भी हैं । और हमने जो

यहांपर यह आत्माके गुणोंकी प्राप्ति न होनेरूप हेतु दिया है; सो असिद्ध नहीं है। क्योंकि, वादी (वैशेषिक) तथा प्रतिवादी (जैनी) इन दोनोंने ही आत्माके बुद्धि आदि गुणोंको शरीरसे भिन्न स्थानमें नहीं माने हैं। सो ही श्रीधरभट्ट कहता है कि;- ' यद्यपि आत्मा सर्वव्यापी है, तथापि उस आत्माके ज्ञाता (जाननेवाला) पना अपने शरीरके प्रदेशोंमें ही है। दूसरे स्थानोंमें नहीं है। क्योंकि, शरीर जो है सो उपभोगका स्थान है। यदि शरीर उपभोगका स्थान न हो तो शरीर व्यर्थ हो जावे। भावार्थ—आत्माको जो शरीर मिला है; वह उपभोगके अर्थ है; इसकारण आत्मा शरीरमें रहकर ही पदार्थोंको जानता है। इस कथनसे श्रीधरभट्टने प्रकट किया है कि, आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं रहते हैं; इस कारण हमने जो हेतु दिया है, वह असिद्ध नहीं है।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणस्तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्त्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते। अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाऽभावात्। अथास्त्येव प्रमाणं वन्हेरूर्द्धज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्-न तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेर्दहनस्य दहनशक्तिवत्। साप्यदृष्टकारिता चेत्तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराऽभावात्। नापि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्। आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्। इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा।

शंका—आत्माके अदृष्टनामक एक विशेषगुण है [बुद्धि आदि नव विशेष गुणोंमें जो धर्म और अधर्म नामक गुण हैं, वे दोनों अदृष्ट कहलाते हैं] और वह अदृष्ट सब उत्पन्न होनेवालोंका निमित्त है अर्थात् जो संसारमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सबके उत्पन्न होनेमें अदृष्ट ही कारण है, तथा वह अदृष्ट सर्वव्यापक भी है। क्योंकि; यदि वह अदृष्ट सर्वव्यापक न होवे तो एक नियतस्थान (मुकर्रर जगह) में रहनेवाले पुरुषके भोगने योग्य जो सुवर्ण, रत्न, चन्दन, तथा स्त्री आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य अन्य द्वीपोंमें भी कैसे उत्पन्न करता है। भावार्थ—एक स्थानमें रहनेवाले पुरुषके भोगनेके लिये जिस द्वीपमें वह पुरुष रहता है, उस द्वीपसे दूसरे द्वीपोंमें भी वह अदृष्ट सुवर्ण आदि पदार्थोंको उत्पन्न करता है, इससे जाना जाता है कि, अदृष्ट सर्वव्यापी

है। और जो गुण होता है; वह गुणी (अपने आधाररूप पदार्थ) को छोड़कर नहीं रहता है; इसकारण अनुमान किया जाता है
कि, आत्मा सर्वव्यापक है अर्थात् आत्माके अदृष्टगुणको सर्वत्र देखनेसे अनुमान होता है कि; अदृष्टका धारक आत्मा सर्वव्यापक है।
समाधान—ऐसा मत कहो। क्योंकि; आत्माका अदृष्टगुण सर्वगत है; इस मतको सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि
कहो कि; अग्निका ऊंचा जलना अर्थात् अग्निकी शिखाका ऊंचा जाना और वायुका तिर्यक् (तिरछा) गमन करना अदृष्टका
किया हुआ है; यह प्रमाण है ही है। **भावार्थ**—अग्नि सर्वत्र अदृष्टके बलसे ऊर्द्ध गमन करता है और वायु भी सर्वत्र अदृष्टके
वशसे तिरछा गमन करता है; अतः यह प्रमाण अदृष्टको सर्वगत सिद्ध करता है, सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि; जैसे
अग्निमें दग्ध करने (जलाने) की शक्ति स्वभावसे है अर्थात् जैसे अग्निका दग्धकरना स्वभाव है; उसी प्रकार अग्निका ऊर्द्धगमन-
रूप तथा वायुका तिर्यक्गमनरूप भी स्वभाव है। यदि कहो कि; अग्निमें जो दहनशक्ति (जलानेकी ताक़त) है; वह भी अदृष्टकी
कराई हुई है अर्थात् अदृष्टके बलसे ही अग्निमें दहनशक्ति उत्पन्न होती है तो तीनलोककी विचित्रताके रचनेमें भी वह अदृष्ट ही
सूत्रधारकीसी तरह आचरण करै; ईश्वरकी कल्पनासे क्या है? **भावार्थ**—यदि तुम (वैशेषिक) पदार्थोंके स्वभावोंको भी अदृष्टसे
उत्पन्न हुए मानते हो तो फिर 'तीन जगतकी विचित्राको रचनेवाला ईश्वर है' यह तुम्हारी कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि अदृष्टसे
ही तीनलोककी विचित्रता हो जावेगी। इसकारण यह हेतु असिद्ध नहीं है। **भावार्थ**—'आत्मा सर्वगत नहीं है; क्योंकि सर्वत्रा-
नुपलभ्यमानगुण (सबस्थानोंमें नहीं मिलनेवाले गुणोंका धारक) है।' इस अनुमानके प्रयोगमें जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु
दिया है; वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि आत्माके गुण सब जगंह नहीं मिलते हैं। और यह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु अनै-
कान्तिक भी नही है। क्योंकि; साध्यसाधनकी व्याप्तिका ग्रहण करनेसे व्यभिचार नहीं होता है। **भावार्थ**—असर्वगतरूप साध्य
और सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणस्वरूप साधन (हेतु); इन दोनोंके 'जो जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणका धारक है; वह वह असर्वगत है इस
प्रकारसे परस्पर व्याप्ति होती है। तथा विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि विपक्षसे अत्यंत व्यावृत्त है। **भावार्थ**—साध्य जो असर्वगत है;
उसके अभावरूप सर्वगतपनेको धारण करने वाला जो कोई है, वह विपक्ष कहलाता है; उस विपक्षसें यह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुण-
रूप हेतु अत्यंत व्यावृत्त (सर्वथा भिन्न) है; इस कारण यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। और आत्माके बुद्धि आदि गुण है; वे शरीरमें
ही मिलते है; इस कारण गुणी (आत्मा) को भी शरीरमें ही रहना चाहिये। इस प्रकार आत्मा शरीरप्रमाण है; यह सिद्ध हो गया।

अन्यच्च त्वयात्मना बहुत्वमिष्यते " नानात्मानो व्यवस्थातः[1]" इति वचनात् । ते च व्यापकास्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाशुभकर्मणामपि परस्पर सङ्करः स्यात् । तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेदितरस्याऽशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत । अन्यच्चैकस्यैवात्मनः स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं परोपार्जिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः । अथ स्वावष्टब्धभोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगस्तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनाद्बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्द्धज्वलनादिकं करोतीति चिन्त्यमेतत् ।

तथा व्यवस्थासे अर्थात् आत्माके जन्म-मरण आदिके भिन्न २ होनेसे आत्मा अनेक हैं, इस वचनसे तुमने बहुतसे आत्मा माने हैं । और वे आत्मा व्यापक (सर्वगत) हैं, अत जैसे प्रदीपोंकी प्रभाओंके समूह परस्पर (एक दूसरेमें) मिल जाते हैं; उसी प्रकार उन आत्माओंके भी परस्पर मिलजानेसे उन आत्माओंमें रहनेवाले जो शुभ तथा अशुभ कर्म है, वे भी परस्पर मिल जावेंगे। और जब उन भिन्न २ आत्माओंके शुभ-अशुभकर्मोंका परस्पर मेल हो जावेगा तब एकके शुभकर्मसे दूसरा सुखी हो जावेगा तथा दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा दु खी हो जावेगा अर्थात् जिनदत्तकी आत्माके जो शुभकर्म हैं, उनसे देवदत्तका आत्मा सुखी हो जावेगा और देवदत्तकी आत्माके अशुभ कर्मोंसे जिनदत्तका आत्मा दु'खी हो जावेगा इस प्रकार असमजस अर्थात् अनुचित (घुटाला) हो जावेगा । और यही नहीं किन्तु एक ही आत्मा अपनेसे उपार्जन किये हुए शुभकर्मके उदयसे सुखी और दूसरे आत्माके द्वारा उपार्जन किये हुए अशुभकर्मोंसे दु खी हो जावेगा; और इसप्रकार होनेसे एक आत्माके एक ही समयमें सुख तथा दु'खका अनुभव होगा; जो कि, तुमको अनिष्ट है। यदि कहो कि;—आत्मा अपनेसे अवष्टब्ध (ग्रहण किये हुए) भोगायतनको आश्रय करके ही शुभ—अशुभको भोगता है अर्थात् जिस शरीरको आत्माने धारण कर रक्खा है, उस शरीरका अवलंबन करके ही आत्मा शुभ—अशुभ कर्मोंके सुख—दु'खरूप फलोंको भोगता है तो आत्माका स्वोपार्जित भी अदृष्ट भोगायतनसे बाहर निकलकर अग्निके ऊर्द्धज्वलन आदिको कैसे करता है, यह विचारने योग्य है भावार्थ—जब आत्मा अपने शरीरमें रह कर सुखदु ख भोगता है, पेसा तुम

---

1 जन्ममरणादेः पार्थक्यात् ।

मानत हो तो फिर यह कैसे कहते हो कि; आत्माका अदृष्ट शरीरसे बाहर निकलकर अग्निको ऊंचा जलाता है और वायुका तिरछा गमन कराता है, अतः तुमको इस अपने पूर्वापरविरुद्ध कथनपर विचार करना चाहिये।

आत्मनां च सर्वगतत्व एकैकस्य सृष्टिकर्त्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरनुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरनुप्रवेशे तस्याप्यकर्त्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योऽन्यसंवन्धे एकतरस्य पानादिक्रिया अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्चात्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमान्नायं दोष इति चेन्नतु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयादेकदेशेन वा। सर्वात्मना चेदस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः परिपूर्णभोगाभावश्च।

और आत्माओंके सर्वगत होनेमें एक एक (हरएक) आत्माके सृष्टिकर्तृताका प्रसंग होगा। क्योंकि; सर्वगतपनेसे आत्माओंका ईश्वरके भीतर भी प्रविष्ट हो जाना संभावित है। **भावार्थ**—सर्वगत आत्मा ईश्वरके भीतर भी प्रवेश कर सकते हैं; अतः ईश्वरका जो जगत्कर्तृत्व है; वह प्रत्येक आत्मामें आजानेसे हर एक आत्मा जगतका करनेवाला हो जावेगा; जो कि, तुमको अनिष्ट है। अथवा यदि ऐसा कहो कि; आत्मा ईश्वरमें प्रवेश नहीं करते हैं; किन्तु ईश्वर उन सब आत्माओंके भीतर प्रवेश करता है तो उस ईश्वरके अकर्तृता प्राप्त होगी। क्योंकि दूध और जलके परस्पर संबंधमें किसी एककी पानादिक्रिया दूसरेकी नहीं होती है अर्थात् मिले हुए दूध तथा जलमेंसे कोई एक दूध अथवा जल पीने आदिमें आता है और दूसरा नहीं आता है; यह कहना ठीक नहीं है। **भावार्थ**—जैसे मिले हुए दूध और जलकी पानादिक्रिया एक ही होती है; उसीप्रकार व्यापकतासे परस्पर मिले हुए ईश्वर तथा आत्माओंकी क्रिया भी एक ही होगी अर्थात् ईश्वर जगत्को रचनेरूप क्रिया करेगा तो अन्य आत्मा भी जगतको रचेंगे और जो अन्य आत्मा जगतको रचनेरूप क्रिया न करेंगे तो ईश्वर भी जगतको नहीं रचेगा। और भी विशेष यह है कि; यदि तुम आत्माको सर्वगत मानोगे तो मनुष्यपर्याय, नारकपर्याय आदि जो पर्याय हैं; उनको एक ही समयमें अनुभव करनेका प्रसंग होगा अर्थात् आत्मा सर्वव्यापक होनेसे मनुष्यपर्याय आदि समस्त पर्यायोंका एक ही समयमें अनुभव करेगा। जोकि, तुम्हारे अनिष्ट है। अब यदि ऐसा कहो कि; हमने आत्माके भोगायतन को स्वीकार किया है; अर्थात् आत्मा शरीरमें रह कर ही भोग करता है; यह माना है; तो हम प्रश्न करते हैं कि; वह आत्मा भोगायतनको सर्वरूपसे धारण करता है; अथवा एक देशसे अर्थात्

आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे व्याप्त है, वा अपने एक प्रदेशसे शरीरको व्याप्त कर रक्खा है? यदि उत्तरमें कहो कि, आत्मा भोगायतन-को पूर्णरूपसे व्याप्त कर रक्खा है अर्थात् आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे विद्यमान है तब तो तुमने हमारे मतको स्वीकार किया अर्थात् हम (जैनी) भी यही मानते हैं कि, आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे रहता है, इस कारण कोई विवाद ही नहीं है। यदि कहो कि, आत्मा अपने किसी एक प्रदेशसेही शरीरको धारण कर रक्खा है; तो आत्माके सावयवपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—जो प्रदेशों (हिस्सों) का धारक होता है; वह अवयवी होता है और आत्माको तुमने अवयवी माना नहीं है, इसकारण तुमको अनिष्टकी प्राप्ति होगी। और परिपूर्ण भोगका अभाव भी होता है। भावार्थ—यदि आत्मा एक प्रदेशसे शरीरको व्याप्त करके रहे-गा तो जिस प्रदेशसे शरीरको धारण कर रक्खा है उसी प्रदेशमें सुख, दुःख आदिका भोग होगा अन्य प्रदेशोंमें नहीं; इसकारण समस्त प्रदेशोंमें भोग न होनेसे आत्माके परिपूर्णरूपसे भोगका भी अभाव होगा।

अथात्मनो व्यापकत्वाऽभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाऽभावादाद्यकर्माऽभावस्तदभावादन्त्यसं-योगस्य, तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्संबन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्। यद्येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसम्भवात्। अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनासंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथा-संयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गान्न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्यादिति चेत् संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकल-परमाणूनां तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम्।

शंका—यदि आत्मा व्यापक न होगा तो दिगन्तर (एक दिशासे दूसरी दिशा) में तथा देशान्तर (एक देशसे अर्थात् स्थान-से दूसरे देश) में रहनेवाले जो परमाणु हैं; उनके साथ आत्माका एक ही समयमें संयोग न होनेसे आद्यकर्मका अभाव होगा, उस आद्यकर्मका अभाव होनेसे अन्त्यसंयोगका अभाव होगा, उस अन्त्यसंयोगके अभावसे उस अन्त्यसंयोगरूप निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव हो जावेगा। और शरीरका अभाव होनेसे उस शरीरका जो आत्माके साथ संबंध है, उसका अभाव होगा, इसकारण सब जीवोंके सदा विना उपायके सिद्ध हुआ अर्थात् किसी उपायको किये विना मोक्ष हो जावेगा।

भावार्थ—वैशेषिकोंके मतमें पहले किसी कारणसे अर्थात् अदृष्टविशिष्ट आत्माके संयोगसे परमाणुमें क्रिया उत्पन्न होती है; उस क्रियासे परमाणुका पूर्व आकाशप्रदेशसे विभाग (वियोग) होता है अर्थात् परमाणु एक आकाशप्रदेशको छोड़कर गमन करता है; उस विभागके द्वारा परमाणुका उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग होता है अर्थात् परमाणु पूर्व आकाशप्रदेशसे गमन कर दूसरे आकाशप्रदेशमें ठहरता है, इस रीतिसे एक आकाशप्रदेशमें जब अन्य अन्य परमाणु इकट्ठे होते हैं; तब द्व्यणुक, त्र्यणुक आदिरूप कार्य होते हैं; ऐसा माना गया है। इस कारण यहां वैशेपिक शंका करते हैं कि— यदि आत्मा सर्वव्यापक न होगा तो उस आत्माका भिन्न स्थानमें स्थित परमाणुके साथ संयोग न होनेसे वह आत्मा परमाणुमें क्रिया उत्पन्न न कर सकेगा; जिससे आद्यकर्मका अभाव हो जावेगा। क्योंकि—क्रियाका न होना ही आद्यकर्मका अभाव है; उस आद्यकर्मके अभावसे अर्थात् परमाणुका क्रियासे पूर्व आकाशप्रदेशके साथ वियोग और उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग न होनेसे अन्त्य (आख़िर) के संयोगका अर्थात् जिन द्व्यणुक त्र्यणुक आदि अवयवोंका संयोग होनेसे शरीररूप अवयवी पूर्ण होता है; उस अंत्यसंयोगका अभाव होगा और जब अन्त्यसंयोगका अभाव हो जावेगा तब उस अंत्यसंयोगसे होनेवाले शरीरका अभाव होगा। और शरीरका अभाव होनेके कारण शरीरका आत्माके साथ संवध न रहैगा; जिससे आत्मा शरीर रहित हो जावेगा और शरीरकी रहितता ही मोक्ष है; इसकारण सव जीव सदा किसी विना उपाय किये ही मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे। **समाधान**—ऐसा नहीं है। क्योंकि; जो जिससे संयुक्त होता है अर्थात् जिसका जिसके साथ संयोग होता है; वही उसके प्रति गमन करता है; यह नियम नहीं हो सकता है। कारण कि; लोह जो है; वह चुम्वकलोहसे असंयुक्त है तथापि उस लोहका चुम्वक आकर्पण कर लेता है; यह प्रत्यक्षमें देख पड़ता है। **भावार्थ**—जैसे चुम्वक अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले लोहेको अपनी ओर खेंच लेता है; उसीप्रकार आत्मा भी अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले दिशान्तर तथा देशान्तरमें विद्यमान परमाणुओंका अपने प्रति आकर्पण कर लेगा; इस कारण जो तुमने आत्माको व्यापक न मानने पर विना उपायके सव आत्माओंका मोक्ष हो जानेरूप दोप दिया है; वह नहीं हो सकता है। अव कहो कि; यदि आत्मा अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले परमाणुओंका आकर्पण करेगा तो उस आत्माके शरीरको आरंभकरनेके प्रति सन्मुख हुए ऐसे तीनलोकके उदर (वीच) में रहने वाले परमाणुओंके उपसर्पण (आजाने) का प्रसंग होनेसे न जाने आत्मा कितने प्रमाणका धारक हो जावेगा;

तो संयुक्त परमाणुओंका आकर्षण माननेमें भी यह दोष क्यों नहीं होता है। क्योंकि, आत्मा व्यापक है, इस कारण उस आत्माका समस्त परमाणुओंके साथ संयोग है। भावार्थ—वैशेषिक कहते हैं कि; यदि आत्मा असंयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करेगा तो उस आत्माके शरीरको रचनेके लिये तीनलोकके समस्त परमाणु आजावेंगे और ऐसा होगा तो न मालुम उस आत्माका शरीर कितना लम्बा, चौड़ा व मोटा हो जावेगा। क्योंकि, यह सपूर्णपरमाणुओंसे रचा जावेगा। इस पर जैनी उत्तर देते हैं, कि—जो दोष तुम हमको देते हो, वही दोष आत्मा अपनेसे संयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करता है, यह जो तुम्हारा पक्ष है, उसमें भी होता है। क्योंकि आत्मा व्यापक होनेसे सब परमाणुओंके साथ संयुक्त है, अत जब संयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करेगा तब तीनलोकके समस्त परमाणु उसका शरीर रचनेके अर्थ आ जावेंगे। अब यदि यह कहो कि, असंयुक्त तथा संयुक्त इन दोनों ही परमाणुओंका आकर्षण माननेमें कोई भेद नहीं है अर्थात् समान ही दोष है, तथापि अदृष्टके वशसे उस विवक्षित शरीरको उत्पन्न करनेके योग्य जो नियत (मुकर्रर) परमाणु हैं, वे ही उस आत्माके प्रति आगमन करते हैं अर्थात् आत्मा तो सभी परमाणुओंका आकर्षण कर सकता है; परंतु पुण्य—पापके वशसे जैसा शरीर उसको धारण करना है, वैसे शरीरको उत्पन्न करनेमें समर्थ कितने ही परमाणु आत्माके प्रति आते हैं; सबके सब परमाणु नहीं आते हैं। तो यह तुम्हारा कथन दूसरे पक्षमें अर्थात् असंयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करनेरूप हम जैनियोंके पक्षमें भी समान है। भावार्थ—जैसे तुम पुण्य—पापके वशसे नियत परमाणुओंका ही आत्माके प्रति आना मानते हो, उसी प्रकार हम भी पुण्य—पापके अनुसार नियतपरमाणु ही आत्माके प्रति शरीर रचनेको आते हैं, ऐसा मानते हैं; इसकारण तुम जो दोष दिखाते हो, वह हमारे मतमें नहीं हो सकता है।

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिस्तथापि सावयवं शरीरम्। प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्। तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः। कार्यत्वे चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न तावद्विजातीयैस्तेषामनारम्भकत्वात्। न हि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैर्यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम्। पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम्। तच्चाऽयुक्तम्। एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रतिसन्धानाऽनुपपत्तिः। न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति। अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्विनाशः

स्यात् । तस्माद्व्यापक एवात्मा युज्यते कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्– न । सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात् । तत्र सावयवत्वं तावदसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात् । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ[1] “ आकाशोऽपि सदेशः सकृत्सर्वमूर्त्ताभिसम्बधार्हत्वात्” इति । यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु[2] भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या । प्रदेशेष्वप्यवयवव्यवहारात्कार्यत्वं तु वक्ष्यामः ।

अब वैशेषिक कहते है कि; चाहे जिस प्रकारसे शरीरकी उत्पत्ति होवे **भावार्थ**—चाहे आत्मासे असंयुक्त परमाणुओंद्वारा शरीर उत्पन्न होवे; चाहे आत्मासे संयुक्त परमाणुओं द्वारा शरीर उत्पन्न होवे; इसमें हमको कोई विवाद नहीं है; तथापि शरीर अवयवों सहित है । इस कारण शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करता हुआ आत्मा भी अवयवों सहित हो जावेगा। और यदि आत्मा अवयव सहित हो जावेगा तो पट आदिके समान आत्माके कार्यत्वका प्रसंग होगा **भावार्थ**—जैसे पट आदि पदार्थ सावयव होनेसे कार्यरूप हैं; उसी प्रकार आत्मा भी सावयव होनेसे कार्य हो जावेगा और आत्माका कार्यरूप हो जाना आप (जैनियों) को अनिष्ट है । क्योंकि; कार्य अनित्य होता है और आपने आत्माको नित्य माना है । और यदि आत्माको कार्यरूप मानों तो भी हम (वैशेषिक) प्रश्न करते हैं कि; वह आत्मा विजातीय कारणोंसे आरंभित होता है ? वा सजातीय कारणोंसे ? **भावार्थ**—जो कार्य होता है; उसका आरंभ (उत्पत्ति) कारणोंसे होता है; अतः हम प्रश्न करते हैं कि, वह आत्मारूप कार्य विजातीयकारणोंसे उत्पन्न किया जाता है; अथवा सजातीय कारणोंसे उत्पन्न किया जाता है । यदि कहो कि;–विजातीय (अपनीजातिसे भिन्न जातिके धारक) कारणोंसे आरंभित होता है; सो नहीं । क्योंकि; तंतु घटका आरंभ नहीं करते हैं अर्थात् जैसे विजातीय तंतुओंसे घटरूपकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसी प्रकार विजातीय कारणोंसे आत्मा भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि कहो कि, सजातीय कारणोंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है; तो यह भी नहीं कह सकते हो । क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय हैं; इस कारण आत्मत्वके संबंधसे ही उन कारणोंमें सजातीयता होवे अर्थात् जिन कारणोंमें आत्माका संबंध होवे वे ही कारण आत्माके सजातीय होवें । और उन सजातीय कारणोंसे यदि आत्मा उत्पन्न किया जावे तो आत्माओं द्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है; यह सिद्धान्त आ खड़ा रहै। और आत्माओंद्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है, यह मानना ठीक नहीं है ।

१ हेमचन्द्रगुणचन्द्रौ । २ गन्धहस्तिनाम तत्त्वार्थसूत्रोपरि दिगम्बराचार्यश्रीसमन्तभद्रस्वामिनिर्मितं चतुरशीतिसहस्रश्लोकसंख्यात्मकं महाभाष्यम् । तदादिजैनशास्त्रेषु ।

क्योंकि, एक शरीरमें आत्माका आरंभ करनेवाले बहुतसे आत्मा नहीं हो सकते हैं अर्थात् बहुतसे आत्मा एक आत्माको नहीं बना सकते हैं। अथवा यदि एक आत्माको उत्पन्न करनेवाले बहुतसे आत्मा होसकें तो भी प्रतिसंधान (स्मरण) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, अतिप्रसंग होनेसे अन्य आत्मासे देखे हुएका दूसरा आत्मा स्मरण करनेको समर्थ नहीं है। भावार्थ—जब बहुतसे आत्मारूप कारण एक आत्माको उत्पन्न करने लगेंगे तब एक आत्मारूप कारणने जो देखा है, उसका दूसरा आत्मारूप कारण स्मरण नहीं कर सकेगा, और ऐसा होगा तब आत्मारूप कार्यकी सिद्धि न होगी। और यदि उन आत्मारूप सजातीयकारणोंसे आत्मानामक कार्य उत्पन्न किये जाने योग्य होगा तो घटके समान उस आत्माका भी अवयवक्रियासे विभाग होनेके कारण संयोगका विनाश हो जानेसे विनाश हो जावेगा भावार्थ—जैसे घटरूपकार्यका अवयवक्रियासे विभाग होता है और विभागके होनेसे पूर्वसंयोगका (कपालद्वयसंयोग) का नाश होता है, जिससे घटका भी नाश हो जाता है, इसी प्रकार आत्मारूप कार्यका भी अवयवक्रियासे विभाग और विभागसे संयोगका नाश होनेपर नाश हो जावेगा, और आप (जैनियों) ने आत्माको नित्य माना है, अत आत्माका नष्ट होना आपको इष्ट नहीं है। इसकारण आप (जैनियों)को आत्मा व्यापक ही है, ऐसा मानना ठीक है। क्योंकि शरीरपरिमाण (जितना बड़ा शरीर हो उतना ही बड़ा) आत्मा माननेमें ऊपर कहे हुए अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। सो ठीक नहीं है अर्थात् तुम (वैशेषिकों) ने जो 'आत्माको व्यापक न मानोगे तो आत्मा अवयवोंका धारक तथा कार्यरूप हो जानेसे अनित्य हो जावेगा' यह दोष दिया है, वह दोष हमारे दोषरूप नहीं है। क्योंकि हम (जैनियों) ने किसी अपेक्षासे आत्मामें अवयवसहितपना तथा कार्यपना स्वीकार किया है। उनमें आत्मा असंख्यात प्रदेशोंवाला है, इस कारणसे तो आत्मामें अवयवसहितपना है। सो ही द्रव्यालंकारनामक ग्रन्थके रचनेवाले कहते हैं कि, "आकाश भी प्रदेशोंका धारक है, क्योंकि, एक ही समयमें समस्त मूर्त पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेयोग्य है अर्थात् आकाशमें एक ही समयमें सब मूर्तपदार्थ विद्यमान रहते हैं, अत आकाश प्रदेशोंका धारक है।" भावार्थ—उक्त प्रमाणसे जैसे हम आकाशको नित्य मानकर भी प्रदेशोंका धारक मानते हैं, उसी प्रकार आत्माको भी नित्य मानकर किसी अपेक्षासे अवयवसहित मानते हैं। [यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बराचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामीविरचित जो ८४००० श्लोकपरिमाण गंधहस्तिनामक महाभाष्य है; उसको आदि ले कितने ही शास्त्रोंमें अवयव तथा प्रदे-

शमें भेद माना गया है, तथापि यहांपर इस सूक्ष्मताका विचार न करना चाहिये] और प्रदेशोंमें भी अवयवका व्यवहार होनेसे प्रदेशोंके कार्यता है अर्थात् प्रदेशोंको अवयवरूप माननेसे प्रदेश कार्य हैं, इस विषयको तो आगे कहेंगे।

नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः। अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते यथा तन्तवः पटमिति चेत् न वाच्यम्। न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्। कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव। ततश्चात्मापि स्यात्कार्यः। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः। काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम्। न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात्प्रतिसन्धानाऽभावोऽनुपज्यते। कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात्। प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम्। तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते। अवस्थाभेदात्। अन्या ह्यनुभवावस्था अन्या च स्मरणावस्था। अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम्।

शंका—यदि आत्मा कार्य होवेंगे तो उन कार्यरूप आत्माओंके घट आदिकी तरँह पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होनेकी योग्यताका प्रसंग होगा। क्योंकि; अवयव अवयवीको उत्पन्न करते हैं। जैसे कि–तंतुरूप अवयव पटरूप अवयवीको उत्पन्न करते हैं। भावार्थ—जो कार्य होता है; वह अवयवी होता है और अवयवीको उत्पन्न करनेवाले अवयव हैं; अतः जैसे घटरूप अवयवी अपनेसे पहले विद्यमानतासे प्रसिद्ध जो समानजातीय अर्थात् अपनी पार्थिवत्व जातिको ही धारण करनेवाले दो कपालरूप अवयव हैं; उनसे उत्पन्न होता है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय (अपनी आत्मत्वजातिके धारक) अवयवोंसे उत्पन्न होवेंगे और ऐसा होना आपको इष्ट नहीं है। समाधान—ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि; घट आदि कार्यमें भी पूर्वप्रसिद्ध जो समानजातिके धारक दो कपालरूप अवयव हैं; उनके संयोगसे उत्पन्न होनेकी योग्यता नहीं देखते हैं। कारण कि–कुंभकार आदिके व्यापारसे सहित जो मृत्तिकाका पिंड है; उसके द्वारा दो कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले ही पृथु तथा बुध्न ऐसे उदरके जैसे आकारको धारण करनेवाले इस घटकी उत्पत्ति प्रतीत होती है। भावार्थ–तुम जो पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय कपाल-

कपालसंयोगसे घटकी उत्पत्ति मानते हो सो प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। क्योंकि, जब मृत्तिकाके पिण्डके प्रति कुम्भकार दण्ड चाक आदि द्वारा २ व्यापार (क्रिया) करते हैं, तब उस मृत्तिकाके पिंडसे दो कपालोंकी उत्पत्ति होनेके पहले ही अर्थात् कपालोंके बने बिना ही पृथुबुध्नोदरादि आकारका धारक घट बन जाता है, यह सबको प्रत्यक्षसे प्रतीति होती है। और पूर्व (पहले) के आकारका त्याग करके जो उत्तर (आगे) के आकाररूप परिणामका हो जाना है, यही द्रव्यके कार्यत्व है अर्थात् पूर्व आकारको छोड़कर उत्तर आकारको धारण करनेसे ही द्रव्य कार्यरूप है। और उस कार्यपनेका बाह्यके समान अंतरंगमें भी अनुभव किया ही जाता है अर्थात् जैसे बाह्यमें कटकादि आकारोंको छोड़कर कुंडल आदि आकारोंरूप होनेवाले सुवर्ण आदि द्रव्योंमें कार्यरूपता देखते हैं; उसी प्रकार पूर्व आकारको छोड़कर उत्तर आकारको धारण करते हुए आत्माओंमें भी कार्यरूपताका अनुभव होता ही है। इसकारण आत्मा भी कथंचित् कार्यरूप है। और पट आदिमें अपने अवयवोंके संयोगपूर्वक कार्यत्व देखकर सब द्रव्योंमें वैसा मानना ठीक नहीं है अर्थात् तंतुआदिरूप अवयवोंके संयोगसे पट आदि कार्य होते हैं; यह देख कर घटआदि कार्य भी अवयवोंके संयोगपूर्वक होते हैं, ऐसा मान लेना उचित नहीं है। क्योंकि, यदि ऐसा मानोगे तो काष्ठ (लकड़ी) में लोहसे खुदनेकी योग्यता देखकर वज्र (हीरे) में भी वैसा होना (लोहसे खुदनेकी योग्यताका होना) स्वीकार करना पड़ेगा; जो कि, तुमको अनिष्ट है। और प्रमाणसे बाधा दोनों स्थानोंमें ही समान है। भावार्थ—यदि तुम कहो कि—वज्र लोहसे नहीं खुदता है, यह प्रत्यक्षमें देखते हैं। इस कारण वज्रमें लोहसे खुदनेकी योग्यता कैसे मान सकते हैं। क्योंकि, प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधा आती है, तो कपालोंके संयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, इस कारण कार्य अपने समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होता है; इस नियमका घटरूप कार्यमें व्यभिचार होता है; अतः उक्तनियमसे आत्माके समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होनेकी योग्यता बनाकर जो तुमने हमारे मतमें अनिष्टकी आपत्तिरूप दोष दिया है; वह नहीं हो सकता है। और आत्मामें पूर्व आकारके त्यागसे उत्तर आकारके स्वीकाररूप कार्यताके मानने पर भी जो आत्माके अनित्यताका अनुषंग (प्राप्ति) होता है, उससे प्रतिसंधानके अभावका अनुषंग नहीं होता है अर्थात् आत्माके अनित्य होनेपर प्रतिसंधान न होगा ऐसा नहीं है। क्योंकि, आत्माके कथंचित् अनित्यता होने पर ही यह प्रतिसंधान सिद्ध हो सकता है। कारण कि—प्रतिसंधान 'जिसको मैंने देखा है, उसको मैं स्मरण (याद) करता हूं' इत्यादि रूपका धारक है। और यह रूप आत्माके सर्वथा नित्यपनेमें कैसे सिद्ध होवे?। क्योंकि, अवस्थाका

भेद है। भावार्थ—अनुभव स्मरणके पहले होता है; इस कारण अनुभवकी अवस्था दूसरी है और स्मरण अनुभवके पीछे होता है; अतः स्मरणकी अवस्था दूसरी है। और अवस्थाका भेद होनेसे अवस्थाओंके धारक आत्माका भी भेद हुआ; जिससे आत्माके एकरूपताका नाश हुआ इस कारण आत्माके कथंचित् अनित्यपना जो युक्तिसे आता है; उसको तुम किससे दूर कर सकते हो अर्थात् आत्माके कथंचित् अनित्यत्वका खंडन तुम नहीं कर सकते हो।

अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यान्मूर्त्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात् ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत् किमिदं मूर्तत्वं नाम। असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं रूपादिमत्त्वं वा। तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय। संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः। नहि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वे ऽपि भवन्मते तदसंभवात्। आकाशकालदिगात्मना सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्तत्वान्मनसो वैधर्म्यात्सर्वगतत्वप्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येन निरात्मकं तत्स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते। आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्।

यदि कहो कि; आत्माको शरीरपरिमाण मानने पर आत्मा मूर्त्त हो जावेगा; इस कारण उस आत्माका शरीरमें प्रवेश न होगा। क्योंकि; मूर्त्तमें मूर्त्तके प्रवेशका विरोध है अर्थात् मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश होना विरुद्ध है। और जब मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश न होगा तो संसारके यावन्मात्र (सबके सब) शरीर आत्मासे शून्य (रहित) ही हो जावेंगे। तो हम (जैनी) प्रश्न करते है कि; यह मूर्तपना क्या है ? अर्थात् तुम (वैशेषिकों) ने मूर्तका क्या लक्षण माना है। असर्वगत द्रव्यपरिमाणपना जो है; वह मूर्त्त है; अथवा जो रूपादिमान् (रूप आदिका धारक) पना है; वह मूर्त्त है। भावार्थ— असर्वगत (अव्यापक) द्रव्यका जो अल्पपरिमाण है; उस अल्पपरिमाणके धारक द्रव्यको मूर्त्त कहते हो; अथवा रूप आदिको

---

१ सर्वैर्मूर्त्तैः सह संयोगः। न तु सर्वत्र। तेषां निःक्रियत्वात्। २ इयत्ताऽनवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं परममहत्त्वम्। ३ सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं—सर्वेषांमूर्त्तद्रव्याणाम्। आकाशं समानो देश एक आधार इत्यर्थः। एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयम्। यद्यपि आकाशादिकं सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति। इहप्रत्ययविषयत्वेनावस्थानात्। तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते।

धारण करनेवाले द्रव्यको मूर्त कहते हो। यदि कहो कि, असर्वगतद्रव्यपरिमाणताको ही हम मूर्त कहते हैं, तो यह प्रथमपक्ष तो हमारे दोपके लिये नहीं है। क्योंकि समत है अर्थात् असर्वगत द्रव्यपरिमाणको ही तुम मूर्त कहते हो तो कहो, इससे हमारे सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं है। यदि कहो कि, रूप आदिका धारक जो द्रव्य है, वह मूर्त है तो यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो असर्वगत है वह रूपादिमान है, ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती है। भावार्थ—जब तुम पहले असर्वगत द्रव्यको रूपादिमान सिद्ध करलो तब पश्चात् यह कह सकते हो कि, असर्वगत आत्मा रूपादिमान है, अत मूर्त है, अन्यथा नहीं। और जो २ असर्वगत द्रव्य है, वह वह नियमसे रूपादिमान है, ऐसी व्याप्ति तुम नहीं कर सकते हो॥ क्योंकि—तुम्हारे मतमें मन असर्वगत है तौभी रूपादिमान नहीं है। कारण कि, आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये चारों सर्वगत (सब मूर्तद्रव्योंके संयोगके धारक) हैं, परममहत्परिमाणके धारक हैं और जो समस्त मूर्तद्रव्यरूप संयोगी हैं, उनके संयोगके आधारभूत हैं, अर्थात् सब मूर्तद्रव्योंका परस्पर संयोग इनमें होता है, ऐसा कहा है, और इस कथनसे मनमें इन आकाश आदिका धर्म न होनेसे सर्वगतपनेका निषेध किया गया है अर्थात् आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये चार ही सर्वगत हैं, ऐसा कहकर मनको असर्वगत सिद्ध किया है। इस कारण आत्माका शरीरमें प्रवेश होना असिद्ध नहीं है, जिससे कि समस्त शरीर आत्मारहित हो जावें क्योंकि, मनके समान असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वरूप लक्षणका धारक जो मूर्त है, उसके प्रवेशमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है। भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें मूर्त मनका मूर्त शरीरमें प्रवेश होता है, उसी प्रकार हमारे मूर्त आत्माका भी मूर्त शरीरमें प्रवेश हो जावेगा, इस कारण मूर्त आत्माका मूर्त शरीरमें प्रवेश न दिखलाकर जो तुम हमारे पक्षमें निरात्मक शरीर होजानेरूप दोष देते हो, वह नहीं हो सकता है। और रूपादिमान लक्षणरूपमूर्तताको धारण करनेवाले अर्थात् रूप आदिके धारक जो जल आदि हैं, उनका मूर्त मृत्तिका आदिमें जो प्रवेश होता है, उसका तो तुम निषेध नहीं करते हो और रूप आदिसे रहित ऐसा भी जो आत्मा है, उसके मूर्तशरीरमें प्रवेशको मना करते हो यह बड़ा आश्चर्य है।

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्। किं तत्परिमाणपरित्यागात्तदपरित्यागाद्वा। परित्यागाच्चेत्तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात्परलोकाद्यभावानुपङ्गः। अथाऽपरित्यागात्। तन्न। पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्। युवशरीरपरिमा-

णावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसम्भवात् । विफणावस्थोत्पादे सर्पवत् । इति कथं परलोकाभावोऽनुपज्यते । पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात् ।

शंका—यदि आत्मा शरीरपरिमाण होगा तो जो आत्मा बालशरीरपरिमाण (बालकके शरीर जितना बड़ा) है; वह युवशरीरपरिमाण (युवा अर्थात् जवान पुरुषके शरीर जितने बड़े आकार) को कैसे ग्रहण करेगा ? क्या ? उस बालशरीरपरिमाणको छोड़कर युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करेगा अथवा उस बालशरीरके आकारका त्याग न करके युवशरीरपरिमाणको स्वीकार करेगा । **भावार्थ**—जो आत्मा देवदत्तकी बालअवस्थाके छोटे शरीर जितना है; वही आत्मा जब देवदत्त जवान होगा तब उसके बड़े शरीर जितना पूर्वपरिमाणको छोड़कर होगा ? वा विना छोड़े ही ? यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग करके युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करता है; तब तो शरीरके समान आत्मा भी अनित्य हो जावेगा । यह प्रसंग होगा । जिससे परलोक आदिके अभावका अनुषंग होगा । **भावार्थ**—जैसे पूर्वपरिमाणको छोड़कर उत्तर परिमाणका स्वीकार करनेसे शरीर अनित्य है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वपरिमाणका त्यागकरके उत्तर परिमाणको ग्रहण करनेसे अनित्य हो जावेगा और यदि आत्मा अनित्य हो जावेगा तो फिर आत्माके परलोक (अन्य २ जन्मोंका धारण करना) आदि नहीं होगा; जोकि; आपको अनिष्ट है । यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग न करके युवशरीर परिमाणको ग्रहण करता है; तो सो नहीं । क्योंकि; जैसे शरीरके पूर्वपरिमाणका त्याग किये विना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति की सिद्धि नहीं है; उसी प्रकार उस आत्माके भी पूर्व परिमाणको छोड़े विना उत्तर परिमाणका उत्पन्न होना सिद्ध नहीं हो सकता है । **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि; आत्मा जो युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करते समय बालशरीरपरिमाणका त्याग करता है; उस बालशरीपरिमाणके त्यागमें आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है जैसे कि–फणरहित अवस्थाके उत्पन्न होनेमें सर्पका नाश नहीं होता है । **भावार्थ**—जो सर्प फणको फैला करके बैठा है, वही सर्प जब फणको संकोचता है; तब यद्यपि वह सर्प पहली फणसहितअवस्थाका त्यागकरके पिछली फणरहितअवस्थाको ग्रहण करता है; तथापि उस सर्पका सर्वथा नाश नहीं होता है; इसी प्रकार यद्यपि आत्मा पूर्व बालशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको छोड़कर उत्तर युवशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको स्वीकार करता है; तथापि आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है; किंतु किसी अपेक्षासे विनाश होता है । इस कारण परलोकका अभावरूप प्रसंग कैसे होता है अर्थात् जो तुमने पूर्वपरिमाणका त्याग किये

विना उत्तर परिमाणके स्वीकारमें आत्माके परलोकादिका अभाव हो जावेगा यह दोष दिया है, यह नहीं हो सकता है। क्योंकि; आत्मा यद्यपि पर्यायरूपसे अनित्य है, तथापि द्रव्यरूपसे नित्य है॥

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्ग इतिचेत्—क' किमाह। शरीरस्य खण्डने कथञ्चित्तत्खण्डनस्येष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः। तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः। अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसंगात्। शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत्।

यदि कहो कि; आत्मा शरीर परिमाण होगा तो जब शरीरका खंडन होगा तब आत्माके भी खंडनका प्रसंग होगा अर्थात् शरीरके टुकड़े किये जाने पर आत्माके भी टुकड़े होवेंगे तो कौन क्या कहता है। क्योंकि, शरीरका खंडन होनेपर किसी अपेक्षासे आत्माका खंडन भी इष्ट ही है। कारण कि, शरीरसे संबंधको प्राप्त हुए जो आत्माके प्रदेश हैं; उनमेंसे कितने ही आत्माके प्रदेशोंके खंडित (कटे हुए) शरीरमें रहनेसे आत्माका खडन होता है। और यह खडन आत्मामें है ही। क्योंकि, यदि ऐसा खडन आत्मामें न होवे तो शरीरसे भिन्न (जुदे) हुए अवयव (हिस्से) में कंप की प्राप्ति न होवे भावार्थ—पूर्णशरीरसे जो शरीरका अवयव कट कर अलग होता है, वह थोड़ी देरतक कांपा करता है अर्थात् हिलता है व उछलता है, ऐसा प्रत्यक्षमें देखते हैं, अत प्रतीत होता है कि, शरीरसे संबंधित आत्माके प्रदेश खंडित शरीरमें भी कुछ देरतक रहते हैं, और ऐसा हुआ तो आत्माका भी खडन हो ही गया और यह खडन कथंचित् हमको इष्ट ही है। इसकारण तुम जो दोष देते हो, यह नहीं हो सकता है। यदि कहो कि, ऐसा है तो शरीरके खडित अवयवमें विद्यमान जो आत्माके प्रदेश हैं; उनके भिन्न आत्मापनेका प्रसंग होगा अर्थात् शरीरके कटे हुए भागमें आत्माके प्रदेशोंका रहना मानोगे तो उस भागमें जुदा आत्मा सिद्ध हो जायगा जोकि, तुमको अनिष्ट है। सो यह न कहना चाहिये। क्योंकि, उस खंडित अवयवमें रहनेवाले जो आत्माके प्रदेश हैं, उनका उस शरीरमें ही प्रवेश हो जाता है, अर्थात् आत्माके प्रदेश शरीरके खडित भागमें थोड़ी देर तक रहकर फिर उस पूर्वशरीरमें ही प्रवेश कर जाते हैं। और एक सतान (शरीर) में अनेक आत्मा नहीं हैं। भावार्थ—यदि तुम यहां पर यह कहो कि;—शरीरके

खंडित अवयवमें विद्यमान आत्मप्रदेशोंका शरीरस्थ आत्मप्रदेशोंमें प्रवेश न मानना चाहिये; किन्तु उस खंडित अवयवमें दूसरा ही आत्मा मान लेना चाहिये। तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि एक शरीरमें अनेक आत्मा मानेंगे तो अनेक रूप रस आदि पदार्थोंका प्रतिभास (निश्चय) करानेवाले जो नेत्रइंद्रिय आदिसे उत्पन्न ज्ञान हैं; उनके एक प्रमाता (ज्ञाता आत्मा) की आधारतासे प्रतिभास (अनुव्यवसाय) न होनेका प्रसंग होगा। जैसे कि,—दूसरे शरीरोंमें विद्यमान अनेकज्ञानोंसे जाननेयोग्य जो रूप आदि पदार्थ हैं; उनके ज्ञानका एक आत्मामें प्रतिभास नहीं होता है। **भावार्थ**—जैसे देवदत्तकी आत्माका ज्ञान जिस रूप आदि पदार्थको देखता है; उसका 'मैं देखता हूं अतः ज्ञानवान हूं' इस प्रकारका अनुव्यवसाय देवदत्तके आत्माको ही होता है। जिनदत्तके आत्मा को नहीं होता है। उसी प्रकार एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर शरीरके नेत्ररूप अवयवमें स्थित आत्मा जिस रूपको देखेगा; उसका अनुव्यवसाय उस जिनदत्तके नेत्रस्थ आत्माको ही होगा और उस जिनदत्तके कर्णरूप शरीरावयवमें जो आत्मा स्थित है; उसके 'मै देखता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होगा। और ऐसा होगा तो प्रत्येक आत्माके जो 'मै देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं सूंघता हूं, इत्यादिरूप से एक प्रमाता (जाननेवाले) को अवलंबन करके प्रतिभास होता है; वह न होगा। और इस एक प्रमाताके आधाररूपसे प्रतिभासका न होना तुमको अनिष्ट है।

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चादिति चेत् एकान्तेन छेदाऽनभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवच्छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात्तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्त्तव्यो न व्यापकः। तथा च आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात्। यत्तु व्यापकं न तच्चेतनम्। यथा व्योम। चेतनश्चात्मा। तस्मान्न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत्पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्। तत्कादाचित्कम्। इति न तेन व्यभिचारः। स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम्। इति काव्यार्थः॥ ९॥

यदि कहो कि; आत्माके खंडित अवयवों (प्रदेशों) का पीछे मेल कैसे हो जाता है अर्थात् जो आत्माके प्रदेश कट कर शरीरके खंडित अवयवोंमें चले गये हैं; वे और जो आत्माके प्रदेश शरीरमें विद्यमान हैं वे; ये दोनों पीछे परस्पर कैसे मिल जाते हैं; तो उत्तर यह है कि; हमने उन आत्माके प्रदेशोंका छेद (विभाग) सर्वथा नहीं माना है। और जो छेद माना है; उसको भी कम-

कमलकी नालीके तन्तुओंके छेदके समान माना है भावार्थ—जैसे कमलकी नाली (डंडी) का टुकड़ा करने पर उस नालीके तंतुओंका विभाग होता है, परंतु वे तंतु पूर्व तंतुओंमें आ मिलते हैं, इसी प्रकार यद्यपि शरीरका खंडन होनेपर आत्माके प्रदेशोंका विभाग होता है, तथापि वे आत्माके प्रदेश पूर्व आत्मप्रदेशोंमें आ मिलते हैं । और उस प्रकारके अदृष्टके वशसे उन खंडित आत्मप्रदेशोंका परस्पर मिलना विरोधरहित ही है । भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें पाकमें गेरे हुए घटके परमाणु भिन्न २ होकर फिर वैसे अदृष्टके वशसे मिलकर घटरूप हो जाते हैं; उसीप्रकार आत्माके प्रदेश भी भिन्न २ होकर पुन परस्पर मिल जाते हैं, अत हमारे माननेमें कोई विरोध नहीं है । इस कारण तुम (वैशेषिकों) को आत्मा शरीरपरिमाण ही मानना चाहिये और व्यापक न मानना चाहिये । इस उक्तविषयको सिद्ध करनेके लिये अनुमानका प्रयोग भी है। वह यह है—'आत्मा व्यापक नहीं है । क्योंकि चेतन है, जो व्यापक होता है, वह चेतन नहीं होता है । जैसे कि—आकाश व्यापक है; अत चेतन नहीं है । और आत्मा चेतन है, इस कारण व्यापक नहीं है । ' इस अनुमानसे जब आत्मा व्यापक न हुआ तो अव्यापक सिद्ध हुआ और अव्यापक होनेपर इस आत्माके गुण शरीरमें ही प्राप्त होते हैं, इसकारण आत्मा शरीरपरिमाण है, यह सिद्ध हो चुका। और हम जैनियोंके भी जो आठ ८ समयोंसे सिद्ध (पूर्ण) होनेयोग्य केवलिसमुद्घातकी दशामें चौदह रज्जुपरिमाण तीन लोकमें व्याप्त हो जानेसे आत्मा सर्वव्यापक है, वह कादाचित्क (किसी समयमें हुआ करता) है इस कारण उससे यहां व्यभिचार नहीं होता है। भावार्थ—यद्यपि हम (जैनियों) ने आत्माको केवलिसमुद्घातदशामें सर्वव्यापक माना है । क्योंकि, केवलिसमुद्घातदशामें आत्माके प्रदेश दंड, कपाटादिरूप होकर तीनलोकमें व्याप्त हो जाते हैं, परन्तु यह केवलिसमुद्घात किसी समय किसी आत्माके हो जाता है नियमित नहीं है, इसकारण तुम आत्माको अव्यापक माननेरूप इस अनुमानमें दोष नहीं दे सकते हो । और स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) रूपी कवच (बकतर) से ढके हुए हम जैनियोंको तुम्हारी ऐसी विभीषिकाओंसे अर्थात् व्यभिचारादिदोषरूप भयोंको उत्पन्न करनेवाली कुयुक्तियोंसे भय (डर) नहीं है । इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ९ ॥

वैशेषिकनैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम् । पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति साम्प्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थाना सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि

तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात्तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह ।—

वैशेषिक और नैयायिक; इन दोनोंके सिद्धान्त प्रायः समान हैं; इस कारण पूर्वोक्त प्रकारसे जो वैशेषिकोंके मतका खडन किया गया है; उससे नैयायिकोंके मतका खंडन भी हो चुका ही समझना चाहिये और पदार्थोंमें उन दोनोंके भी समान स्वीकारता नहीं है अर्थात् वैशेषिक तथा नैयायिक ये दोनों पदार्थोंको भिन्न २ प्रकारसे मानते हैं; अतः इस अवसरमें यद्यपि अक्षपाद (न्यायसूत्रकार गौतम ऋषी) के कहे हुए सब पदार्थोंको मोक्षके प्रति असाधकतम (मोक्षकी प्राप्ति न करनेवाले) कहने चाहियें तथापि उन पदार्थोंके मध्यमें रहनेवाले जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ हैं; वे केवल परके कथनका तिरस्कार करनेरूप ही प्रयोजनको धारण करते हैं अतः सर्वथा ग्रहण करने योग्य नहीं है; इस कारण उन छल जाति और निग्रहस्थानोंका उपदेश देनेवाले गौतम ऋषीके वैराग्यका हास्य करते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते है ।—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात्परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥

सूत्रभावार्थः—अपने आप ही विवादरूपी पिशाचसे गृहीत (पकड़े हुए) और वितंडाकी चतुराँईसे मानो खुजलीको ही धारण करता है मुख जिनका ऐसे मूर्खसदृश मनुष्योंमें मायाका उपदेश देकर परमर्मोंको अर्थात् वादीके सिद्धान्तको सिद्ध करनेमें समर्थ उत्तम हेतुओंको भेदता हुआ नैयायिकोंका गोतममुनि वैराग्यका धारक है; यह आश्चर्य है ॥ १० ॥

व्याख्या। अन्येऽविज्ञातत्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे तेषामयं शास्तृत्वेन संबन्धी अन्यदीयो मुनिरक्षपादऋषिरहो विरक्तोऽहो वैराग्यवान् । (अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति।) (अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके"

इति दोन्तः।) किं कुर्वन्नित्याह।—परमर्म भिन्दन् (जातावेकवचनप्रयोगात्) परमर्माणि व्यथयन् बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणीति पारिभाषिकी संज्ञा तत उपचारात्साध्यस्वतत्त्वसाधनाव्यभिचारितया प्राणभूतः साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म। कस्मात्तद्भिन्दन् मायोपदेशाद्धेतोः। माया परवञ्चनं तस्या उपदेशश्छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्यः प्रतिपादनं तस्मात्। (" गुणादस्त्रियां न वा " इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी)।

व्याख्यार्थ—" अन्यदीयः " अन्य अर्थात् आपकी आज्ञाके सार (रहस) को न जाननेके कारण नहीं ग्रहण करने योग्य हैं नाम जिनके ऐसे जो पर (नैयायिक) हैं उनका अर्थात् उनके साथ उपदेश्यकरूपसे संबंधको धारण करनेवाला [' अन्यदीय ' यहां पर 'ईयकारके' इस सूत्रसे अन्तमें अर्थात् अन्यके आगे 'द' हुआ है।] "मुनिः" जो अक्षपाद (गोतम) ऋषी है; वह " अहो " आश्चर्य है कि, [' अहो ' यह उपहास (हास्य) सहित आश्चर्य को सूचित करता है।] " विरक्तः " वैराग्यका धारक है। क्या करता हुआ वैराग्यको धारण करता है, सो कहते हैं।— " परमर्म " दूसरोंके (सिद्धान्तियोंके) मर्मोको [' परमर्म ' यहां पर जातिमें एकवचनका प्रयोग है; अत बहुवचनका अर्थ किया गया है] " भिन्दन् " भेदता (दु खित करता) हुआ। भावार्थ—बहुतसे आत्माके प्रदेशोंसे व्याप्त जो शरीरके अवयव हैं, वे अर्थात् शरीरके जिन भागोंमें बहुतसे आत्माके प्रदेश रहते हैं वे भाग, मर्म कहलाते हैं, यह शास्त्रका संकेतित नाम है, इसकारण सिद्ध करने योग्य जो अपने अभीष्ट तत्त्व हैं, उनके साधनमें व्यभिचार रहिततासे अर्थात् सिद्ध करनेमें समर्थ होनेसे प्राणोंके समान आचरण करनेवाला ऐसा जो साधनका उपन्यास (निर्दोष हेतुका स्थापन करना अथवा देना) है, उसको भी उपचारसे मर्मके समान आचरण करनेसे मर्म कहते हैं, उस परमर्मको अर्थात् सिद्धान्तियोंके निर्दोष हेतुको खंडित करता हुआ। किससे उस परमर्मको भेदता हुआ " " मायोपदेशात् " मायाका उपदेश देनेरूप हेतुसे भावार्थ—परके ठिगनेरूप मायाका जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थोंके कथनके द्वारा शिष्योंके प्रति उपदेश देना है; उस कारणसे। [' मायोपदेशात् ' यहांपर " गुणादस्त्रियां न वा " इस सूत्रसे हेतुमें तृतीयाका प्रसग होनेपर पंचमी विभक्ति की गई है]

कस्मिन् विषये मायामयमुपदिष्टवान् इत्याह।—अस्मिन् प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे जने तस्याऽतत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया

प्राकृतप्राये लोके। कथम्भूते स्वयमात्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव विवादग्रहिले। विरुद्धः परस्परकक्षीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षो वादो वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—“ लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः। १।” तेन ग्रहिल इव ग्रहगृहीत इव विवादग्रहिलस्तत्र। यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किंचन प्रलापी स्यादेवमयमपि जन इति भावः।

किसके विषयमें अर्थात् किन शिष्योंमें इस गोतम ऋषीने मायाका उपदेश दिया सो कहते हैं।—“ अस्मिन् ” इस प्रत्यक्षप्रमाणसे देखनेमें आते हुए “ जने ” तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे वहिर्मुख (रहित) होनेके कारण मूर्खके समान लोक (मनुष्योंके समूह) में। कैसे लोकमें ? “ स्वयं ” दूसरेके उपदेशकी आवश्यकताके विना अपने आप ही “ विवादग्रहिले ” ‘ वि ’ विरुद्ध अर्थात् परस्पर (आपस) में स्वीकार किया हुआ जो पक्ष है; उसके खंडन करनेमें समर्थ ऐसा जो ‘ वाद ’ वचनका देना है अर्थात् दूसरेके मतको खंडन करनेमें समर्थ वचनका जो कहना है; वह विवाद है। सोही भगवान श्रीहरिभद्रसूरी कहते हैं—“ द्रव्य आदिका लाभ तथा अपनी प्रसिद्धि (कीर्त्ति) को चाहनेवाले ऐसे जो नीच दुर्मती (कुमतावलम्वी) जन हैं; उनके द्वारा जो छल, तथा जातिको मुख्य ग्रहण करके कहा जाता है अर्थात् लाभ व कीर्त्तिके इच्छक नीच दुर्मती छल व जातिको प्रधान कर जो कुछ कहते है; वह विवाद है। १।” उस विवादसे ग्रहिल अर्थात् ग्रह करके पकड़े हुएकी तरह जो होवे; उस लोकमें। भावार्थ—जैसे भूत पिशाच आदिके घुस जानेसे स्मृति (बुद्धि) के नाशको प्राप्त हुआ पुरुष चाहे सो वकता है, उसी प्रकार अपने आप ही विवादरूपी ग्रहके वशमें हुआ यह लोक भी जो कुछ (भला बुरा) चाहता है, सो वकता है।

तथा वितण्डा प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्। वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः। “ अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते ” इति न्यायवार्त्तिकम्। वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा। तत्र यत्पाण्डित्यमविकलं कौशलं तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन्। कण्डूः खर्जूः कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम् (सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लप्रत्ययः)। यथा किलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं

१ वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपन्थिप्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षः। कोऽर्थः। वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो वैतण्डिकस्य स्वपक्ष एवेति ॥

निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति। एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासम्बद्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते।

तथा "वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे" संबित किया जाता है प्रतिपक्ष अर्थात् वादीकरके कहे हुए पक्षका विरोधी होनेसे प्रतिवादीके पक्षका अर्थात् अपने पक्षका सिद्ध करना जिससे, वह वितंडा है, इस व्युत्पत्तिसे तथा "जो किसी पक्षको स्वीकार करके फिर उसको स्थिर (सिद्ध) नहीं करता है, उसको वैतंडिक कहते हैं" इस न्यायवार्तिकसे प्रतिपक्ष (अपने मत) की स्थापना (सिद्धि) से रहित जो वाक्यका कहना है, सो वितडा है। यथार्थमें तात्पर्य तो यह है कि—नहीं किया गया है सत्त्व, तथा असत्त्वका विचार जिसमें ऐसा जो मौखर्य (शीघ्रता से कह देना) है अर्थात् विना सोचे समझे मुखसे बक देना है, उसको वितंडा कहते हैं, उस वितडामें जो पाण्डित्य अर्थात् परिपूर्ण चतुरता है, उससे कण्डूल अर्थात् कण्डू (खाज व खुजली) है जिसके वह कण्डूल कहलाता है ['कण्डू' यह शब्द सिध्मादिगणका है, इस कारण यहां मत्वर्थीय ल प्रत्यय हुआ है।] कण्डूलके समान कण्डूल है अर्थात् खुजलीका धारक है मुख जिसका ऐसे लोकमें। भावार्थ—जैसे अपने शरीरके भीतर पैदा हुए कीड़ोंके समूहसे उत्पन्न हुई खुजलीको रोकने (मिटाने) में असमर्थ हुआ पुरुष व्याकुलताको करता है, इसी प्रकार उस विवादप्रस्तलोकका जो मुख है, यह भी वितंडाकी चतुराईसे विना संबंधके बकवाद करनेकी चपलताको धारण करता है; इस कारण यहां पर उस विवादग्रस्तलोकके मुखमें साधर्म्यसे कण्डूल इस शब्दका उपचार किया गया है॥ [सूचना—यहां पर व्याख्याके अनुसार खंडान्वयकी रीतिसे ही अनुवाद किया गया है, परंतु यदि दूरान्वय होनेके कारण आशय समझमें न आवे तो इस अनुवादमें मूलके शब्दों पर जो खंडान्वयकी रीतिसे अंक दिये गये हैं; उनको क्रमशः लगाकर आशय समझ लेना चाहिये।]

एवं च स्वरसत एव स्वस्वाभिमतमतव्यवस्थापनाविसंस्थुलो वैतण्डिकलोकस्तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशश्चेत्सहायः समजनि तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलति हुताशन इव कृतो घृताहुतिप्रक्षेप इति। तैश्च भयाभिनन्दिभिर्यादिभिरेवंविधोपदेशदानमपि तस्य मुनेः कारुणिकत्व-

१ एवमानाम अर्थज्ञानपूर्वकं मागसत्ता एव पदानुपूर्व्याः करणम्। २ संकटे प्रस्तावे च सति छलादिभिः स्वपक्षस्थापनमभिमतं परविजये हि न धर्मध्वंसादिदोषसम्भवः तस्मादुरं छलादिभिरपि जय इति।

कोटावारोपितम्। तथा चाहुः—"दुःशिक्षितकुतर्कांश–लेशवाचालिताननाः। शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ।१। गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः । मागादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः । २ ।" कारुणिकत्वं च वैराग्यान्न भिद्यते । ततो युक्तमुक्तमहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम् ।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे वैतंडिकलोक स्वभावसे ही अपने अपने अभीष्ट मतका स्थापन करनेमें चतुर है और उसमें जो उस वैतंडिकलोकके परम आप्त (यथार्थवक्ता) स्वरूप पुरुषविशेष (गोतममुनि)के द्वारा कल्पना किये हुए दूसरोंका ठिगना है प्रधान जिनमें ऐसे वचनोंकी रचनारूप (पदार्थ ज्ञानसहित अपूर्व वाक्योंके बनाने रूप) उपदेश सहायक हो गया तब मानों गौतममुनिने अपने आप ही ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त ऐसी जलती हुई अग्निमें घृतकी आहुतिका ही क्षेपण किया। **भावार्थ—**जैसे स्वतः जाज्वल्यमान अग्निमें घृतके गेरनेसे वह अग्नि द्विगुण–चतुर्गुणरूपसे प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार स्वभावसे ही वितंडाको धारण करनेवाले मनुष्योंमें गोतममुनिने छल आदिका उपदेश देकर उन मनुष्योंकी वितंडाको अत्यन्त बढ़ा दी है । और संसारमें संतोपको धारण करने वाले अथवा संसारकी प्रशंसा करनेवाले अर्थात् संसारको अच्छा समझनेवाले उन नैयायिक वादियोंने उस गोतममुनिका जो ऐसा अर्थात् संकट तथा प्रस्तावके आनेपर छलआदिके द्वारा अपने पक्ष (मत) की स्थापना करनी चाहिये; क्योंकि;–दूसरोंके जीतनेमें छल आदिसे धर्मका नाश नहीं होता है; इस कारण छल आदिसे भी वादियोंको जीत लेना अच्छा है; इस प्रकारके उपदेशका जो देना है; उसको भी करुणवानपनेकी श्रेणीमें रक्खा है । सो ही वे नैयायिक कहते है कि;—अत्यन्त परिश्रमसे पढ़े हुए जो कुतर्क (खोटी दलीलें) हैं उनके अंशोंके लेशोंसे वाचालित (बकवाद करनेके लिये तत्पर हुए) मुखको धारण करनेवाले वादी अन्यप्रकारसे अर्थात् छल आदिके विना कैसे जीते जा सकें । १ । लोक गतानुगतिक (देखादेखीसे गयेके पीछे जानेवाला) है; अतः उन वादियोंसे ठिगा हुआ होकर उनका अनुकरण करके कुमार्गमें न चला जावे; इसी हेतुसे दयाके धारक गोतमऋपीने छल आदिका उपदेश दिया है । **भावार्थ—**यदि मै छल आदिका उपदेश न दूंगा तो भोले मनुष्य दूसरे वादियोंके मतमें चले जावेंगे; यही अपने मनमें विचारकर करुणाके धारक गोतममुनिने छल आदिका उपदेश दिया है । २ ।" और करुणावानपना वैराग्यसे जुदा नहीं होता है अर्थात् कारुणिकत्व और वैराग्य ये दोनों एकरूप ही है; इस कारण स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने जो "आश्चर्य है कि;– गोतम मुनि विरक्त है" ऐसा हास्यका वचन कहा है; सो ठीक ही कहा है ।

अथ मायोपदेशादितिसूचनासूत्रं वितन्यते । अक्षपादमते किल षोडश पदार्थाः—"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इति वचनात् । न चैतेषां व्यस्तानां समस्तानां वा अधिगमो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । न ह्येकेनैव क्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती । असमग्रसामग्रीकत्वात् । विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत् ।

अब ' मायोपदेशात् ' इस सूचनासूत्रको विस्तृत करते हैं अर्थात् मूलमें जो मायाके उपदेशसे ऐसा कुछ सूचित किया है, उसको यहां विस्तारसे कहते हैं । अक्षपादके मतमें (नैयायिक मतमें) " प्रमाण १, प्रमेय २, संशय ३, प्रयोजन ४, दृष्टान्त ५, सिद्धान्त ६, अवयव ७, तर्क ८, निर्णय ९, वाद १०, जल्प ११, वितण्डा १२, हेत्वाभास १३, छल १४, जाति १५ और निग्रहस्थान १६, इन सबोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । " इसवचनसे सोलह १६ पदार्थ हैं । परन्तु नैयायिकोंके माने हुए इन सोलह पदार्थोंमेंसे व्यस्त अर्थात् एक दो चार आदि थोड़ेसे पदार्थोंका ज्ञान लेना अथवा इन सब सोलह पदार्थोंका ज्ञान लेना भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं है । क्योंकि, क्रियासे रहित केवल एक ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्तिका होना युक्तिको नहीं धारण करता है; कारण कि;—पूर्णसामग्रीसे (संपूर्ण कारणोंसे) शून्य है । जैसे कि;—एक टूटे हुए पहियेको धारण करनेवाले रथसे मनोवाछित नगरकी प्राप्ति नहीं होती है । भावार्थ—नैयायिक जो सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका होना कहते हैं सो ठीक नहीं है । क्योंकि, जैसे रथके दो पहियोंमेंसे एक पहिया टूटा हुआ हो तो उस एक पहियेवाले रथमें बैठनेसे मनुष्य अपने चाहे हुए नगरको नहीं जाता है, इसी प्रकार, इन सोलह पदार्थोंके जानलेने मात्रसे ही आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञान और क्रिया इन दोनोंके होनेसे ही आत्माको मोक्ष मिलता है ।

न च वाच्यं न खलु वयं क्रियां प्रतिक्षिपामः । किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं तत्त्वज्ञानान्निः—श्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति । न ह्यमीषां संहते अपि ज्ञानक्रिये मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते । वितथत्वात् तज्ज्ञानक्रिययोः । न च वितथत्वमसिद्धम् । विचार्यमाणानां षोडशानामपि तत्त्वाभासत्वात् । तथा हि—तैः प्रमाणस्य तावल्लक्षणमित्थं सूत्रितम्—" अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् " इति । एतच्च न विचारसहम् । यतोऽर्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रं तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः । अथ कर्तृकर्मादिवि-

लक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं न चेन्द्रियसन्निकर्षादि । यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः । साधकतमं[1] हि करणम् । अव्यवहितफलं च तदिष्यते । व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः । तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम् । अन्यत्रोपचारात्[2] । यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तं–" सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् " इति । तत्रापि साधनग्रहणात्कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति । तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव। इति न तत्सम्यग्लक्षणम्। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । " इति तु तात्त्विकं लक्षणम् ।

अव यदि यह। नैयायिक यह कहै कि, हम क्रियाका निषेध नहीं करते हैं; अर्थात् सूत्रमें १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ऐसा कहनेसे यह न समझना चाहिये कि;–हम क्रिया (आचरण व चारित्र) को मोक्षकी प्राप्तिके प्रति कारण नहीं मानते हैं; किन्तु सोलहपदार्थोंके तत्त्वज्ञान पूर्वक (सहित) जो क्रिया है; वही मुक्तिकी कारणभूता है; इस आशयको विदित करनेके लिये ' तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं । सो यह भी उनको न कहना चाहिये । क्योंकि पदार्थोंके ज्ञान और क्रिया ये दोनों मिले हुए भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारणभूत नहीं हैं अर्थात् इन सोलह पदार्थों संबंधी ज्ञान और क्रियाके समुदायको भी मोक्षका कारण मानना ठीक नहीं है । क्योंकि; उन पदार्थोंसंबंधी जो ज्ञान तथा क्रिया है; वे दोनों ही मिथ्या हैं। और मिथ्यापना असिद्ध नहीं है । कारण कि;–परीक्षा करनेपर ये सोलह ही पदार्थ तत्त्वाभास सिद्ध होते हैं । सो ही दिखलाते हैं–उन नैयायिकोंने प्रथम ही प्रमाणका लक्षण इस प्रकारसे सूत्रित किया है " अर्थोपलब्धिमें अर्थात् पदार्थके प्रत्यक्षमें जो हेतु है; वह प्रमाण है " । और यह प्रमाणका लक्षण विचारको नहीं सहता है अर्थात् विचार करनेपर असत्य सिद्ध होता है । क्योंकि; यदि अर्थोपलब्धिमें हेतु जो है वह निमित्तमात्र है अर्थात् जो जो अर्थोपलब्धिमें निमित्तकारण है; उस २ सभीको अर्थोपलब्धिमें हेतु कहोगे तो वह हेतुत्व सब कारकोंमें साधारण है; अतः कर्त्ता, कर्म आदिके भी प्रमाणताका प्रसंग

---

१ यत्र हि प्रमात्रा व्यापारिते सत्यवश्यं कार्योत्पत्तिरन्यथा पुनरनुत्पत्तिरेव तत्तत्र साधकतमम् । यथा छिदायां दात्रम् । तथाचोक्तं—" क्रियायाः परनिष्पत्तिः यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम् ॥ १ ॥ " २ कारणे कार्योपचारात् कार्ये कारणोपचाराद्वा प्रमाणभूतेन पक्षहेतुवचनात्मकेन परार्थानुमानेन व्यभिचारवारणाय अन्यत्रोपचारादित्युक्तम् ।

होगा अर्थात् अर्थोपलब्धिमें छहों ही कारक निमित्तभूत हैं; इसकारण कर्ता कर्म आदि भी प्रमाण हो जावेंगे; जो कि, तुम्हारे अनिष्ट है। और यदि हेतुशब्दसे कर्ता कर्म आदिसे भिन्न लक्षणका धारक (जुदे सरूपवाला) ऐसा जो करण है, वह ही विवक्षित है अर्थात् हेतुशब्दसे करणका ही कथन करना चाहते हो, तो उस आत्मा ज्ञानको ही अर्थोपलब्धिमें करण कहना ठीक है और इन्द्रियसन्निकर्ष (इंद्रिय और पदार्थके संबध) आदिको अर्थोपलब्धिमें करण कहना अनुचित है। क्योंकि, जिसके विद्यमान होनेपर अर्थ उपलब्ध होवे अर्थात् देखा व जाना जावे, वही अर्थोपलब्धिमें करण है। और इंद्रियसन्निकर्ष आदि सामग्री (सहकारी कारणोंके समूह) के विद्यमान होने पर भी ज्ञानका अभाव होवे तो अर्थका उपलम्भ (ज्ञान) नहीं होता है। भावार्थ—ज्ञानके होने पर ही अर्थोपलब्धि होती है, न कि, केवल इंद्रिय सन्निकर्ष आदिसे, अतः ज्ञानको ही अर्थोपलब्धिमें हेतु मानना चाहिये। क्योंकि; जो साधकतम (कार्यको मुख्यतासे सिद्ध करनेवाला) होता है; वही हेतु (कारण) करण कहलाता है। अर्थात् जहां जिस कारण को व्यवहारमें लानेसे अवश्य ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, वही वहां साधकतम होता है और वह करण अव्यवहितफल माना गया है अर्थात् उस करणको व्यवहारमें लानेसे कार्यरूप फलकी ही उत्पत्ति होती है बीचमें अन्य कुछ भी नहीं होता है। यदि व्यवहितफलवालेको (बीचमें अन्य २ कार्योंको करनेके पश्चात् कालान्तरमें अभीष्टकार्यरूप फल देनेवालेको) भी करण मानें तो दुग्धके भोजन आदिके भी करणता हो जावे। भावार्थ—दुग्धभोजन आदिसे इंद्रिय आदिकी शक्ति बढ़ती है इंद्रिय आदिकी शक्ति हो तब पदार्थके साथ उनका संबंध होनेसे अर्थोपलब्धि होती है, इसप्रकार परंपरासे अर्थोपलब्धिमें कारणभूत जो दुग्ध भोजन आदि हैं, वह भी करण हो जावें, जो कि तुमको अभीष्ट नहीं है। इस कारण ज्ञानसे अन्यमें प्रमाणता नहीं है अर्थात् अर्थोपलब्धिमें हेतु होनेसे ज्ञान ही प्रमाण है। क्योंकि, अन्य स्थलमें अर्थात् कारणमें कार्यका व कार्यमें कारणका उपचार करके पक्ष तथा हेतुका कथन करने रूप जो परार्थानुमान है, उसमें जो प्रमाणत्व है, वह उपचारसे है। और "जो अनुभवका सम्यक् (भले प्रकार) साधन है, वह प्रमाण है। ऐसा जो न्यायभूषणसूत्रके कर्ताने प्रमाणका लक्षण कहा है, उस लक्षणमें भी साधनका ग्रहण करनेसे कर्ता-कर्म आदिको दूर करने द्वारा करणके ही प्रमाणता सिद्ध होती है। तो भी अव्यवहितफलपनेसे ज्ञान ही साधकतम (करण) है। इस कारण यह भी प्रमाणका लक्षण अच्छा नहीं है। और 'अपने तथा परका निश्चयकरानेवाला जो ज्ञान है, वह प्रमाण है।' ऐसा जो हम जैनियोंका लक्षण है, वह तो यथार्थ (सच्चा) है।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद्द्वादशविधमुक्तम् । तच्च न सम्यग् । यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानामात्मन्येवान्तर्भावो युक्तः । संसारिण आत्मनः कथञ्चित्तदविष्वग्भूतत्वात् । आत्मा च प्रमेय एव न भवति । तस्य प्रमातृत्वात् । इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाऽभावः । दोषास्तु रागद्वेषमोहास्ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति । वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात् । रागादिदोषाणां च मनोव्यापारात्मकत्वात् । दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः । " प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं तत्साधनं तु गौणम् ।" इति जयन्तवचनात् । प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वान्न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम् । तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् । " द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम् " इति तु समीचीनं लक्षणम् । सर्वसंग्राहकत्वात् । एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम् । अत्र तु प्रतीतत्वाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम् । न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम् । तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम् ।

उन नैयायिकोंने प्रमेय (प्रमाण करने योग्य जो पदार्थ) है; उसको भी आत्मा १, शरीर, २, इन्द्रिय ३, अर्थ ४, बुद्धि ५, मन ६, प्रवृत्ति ७, दोष ८, प्रेत्यभाव ९, फल १०, दुःख ११ और अपवर्ग; इन भेदोंसे बारह १२ प्रकारका कहा है। और वह बारह प्रकारके प्रमेयका कथन करना उत्तम नहीं है। क्योंकि;—शरीर १, इन्द्रिय २, बुद्धि ३, मन ४, प्रवृत्ति ५, दोष ६, फल ७, तथा दुःख ८; इन आठ भेदोंका तो आत्मामें ही अन्तर्भाव कर लेना ठीक है अर्थात् शरीरादि आठ प्रमेयोंको तो आत्मारूप प्रमेयमें ही मिला लेने चाहियें । क्योंकि जो संसारी आत्मा है; वह किसी प्रकार (अपेक्षा) से इन शरीर आदिसे भिन्न नहीं है अर्थात् शरीरादिरूप ही है। और जो आत्मा है वह तो प्रमाता (प्रमितिक्रियाका करनेवाला) है अतः प्रमेय ही नहीं हो सकता है। इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन ये तीनों तो करण हैं अर्थात् प्रमाता इनके द्वारा प्रमितिक्रियाको करता है अतः प्रमेय नहीं है। और दोष जो राग, द्वेष तथा मोहरूप हैं; वे प्रवृत्तिसे जुदे होने योग्य नहीं हैं । क्योंकि; उन नैयायिकोंके मतमें शुभ और अशुभफलको धारण करनेवाला ऐसा जो बीस २० प्रकारका मन, वचन, तथा काय; इन तीनोंका व्यापार है;

वही प्रवृत्तिशब्दसे वाच्य (कहने योग्य) है अर्थात् उन नैयायिकोंने प्रवृत्तिशब्दसे मन, वचन तथा कायके बीस प्रकारके व्यापाररूप अर्थको ग्रहण किया है और राग आदि दोष मनके व्यापार रूप हैं । दुःखका तथा शब्द आदि जो इंद्रियोंके विषय हैं, उनका फलरूप प्रमेयमें ही अन्तर्भाव होता है अर्थात् दुःख और अर्थरूप जो दो प्रमेय हैं वे फलनामक प्रमेयमें ही शामिल होते हैं । क्योंकि ' प्रवृत्ति तथा दोषसे उत्पन्न हुआ ऐसा जो सुख दुःखरूप फल है, वह मुख्य फल है और उस सुखदुःखरूप फलका जो साधन है, वह गौणफल है । ' ऐसा अक्षपादका वचन है । प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्मा ही के दूसरे परिणामरूप हैं अर्थात् आत्मा ही पूर्वपरिणामका त्याग करके इस प्रेत्यभाव तथा अपवर्गरूप उत्तर परिणाम (अवस्था) को धारण कर लेता है, अतः इन दोनोंको आत्मासे जुदे मानना उचित नहीं है । सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे बारहप्रकारके प्रमेयोंका जो कथन करना है, वह केवल वाग्जाल (वचनोंके आडम्बर) रूप है अर्थात् व्यर्थ है । और द्रव्य तथा पर्यायस्वरूप जो वस्तु है; वह प्रमेय है, यह जो हम जैनियोंने प्रमेयका लक्षण कहा है सो तो बहुत उत्तम है । क्योंकि,—यह लक्षण सबका संग्रह करनेवाला है । इस पूर्वोक्त प्रकारसे प्रेक्षावान पुरुषोंको संशय आदिके भी तत्त्वाभासपना उपेक्षित नहीं करना चाहिये । भावार्थ—जैसे नैयायिकोंके १६ पदार्थोंमेंसे प्रमाण तथा प्रमेयको हमने उक्त प्रकारसे तत्त्वाभासरूप सिद्ध किया है; उसीप्रकार विचारवान पुरुष संशय आदि शेष चौदह १४ पदार्थोंको भी तत्त्वाभासरूप समझ लेवें। यहां तो वे सब संशयादि पदार्थ जाने हुए हैं इस कारणसे तथा उनका यहां कथन करनेसे ग्रंथका विस्तार अधिक हो जानेके भयसे उनको विस्तृतरूपसे नहीं दिखाये हैं। क्योंकि यहां पूर्णरूपसे न्यायशास्त्र (नैयायिकोंके मत) का अवतरण करना चाहिये अर्थात् संपूर्ण नैयायिकोंके मतको दिखलाना चाहिये । और अवतरण किया हुआ वह न्यायशास्त्र इस ग्रंथसे भिन्न एक दूसरे ग्रंथरूप हो जावे । इस कारण वह न्यायशास्त्र यहां न कहा हुआ ही रहो ।

तदेवं प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाभासत्वे प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां मायोपदेशादितिपदेनोपक्षेपः कृतः । तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम् । तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बला इति । संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्य-

च्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपदिति । तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपद्भवति व्रात्येऽपि सा भवेद्व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्था पुरुषाः क्रोशन्तीति ।

सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वाभासपनेमें कोई भी विशेष नहीं है अर्थात् नैयायिकोंके माने हुए सोलह ही पदार्थ समानरूपतासे तत्त्वाभास हैं; तो भी स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने **'मायोपदेशात्'** इस पदसे उन पदार्थोंमेंसे प्रकटमें कपटरूप नाटकके सूत्रधार अर्थात् सर्वसाधारणके देखते २ कपटको रचनेवाले ऐसे जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ है; उनका ही उपक्षेप (ग्रहण) किया है । उनमें वादी जो कहै; उसके कथनमें अर्थविकल्प (दूसरे अर्थ) को उत्पन्न करके जो वादीके वचनका निषेध करना है; उसको छल कहते हैं । वह छल वाक्छल १, सामान्यछल २ और उपचारछल ३; इन भेदोंसे तीन प्रकारका है । इन तीनों छलोंमेंसे वादी साधारणशब्द (अनेक अर्थोंके धारक एक शब्द) का प्रयोग करे; तब उस कहनेवाले वादीके वांछित (चाहे हुए) अर्थसे अन्य दूसरे अर्थकी कल्पना करके जो वादीके कथनका निषेध करना है; वह वाक्छल है । जैसे यह बालक नव (नये) कम्बल ('कामला' नामक वस्त्रविशेष) को धारण करता है; इस प्रकार 'नव' शब्दसे नवीन (नये) रूप अर्थको कहनेकी इच्छासे वादी कहै; तब प्रतिवादी नव इस शब्दसे नौ ९ की संख्यारूप अर्थको ग्रहण करके इस बालकके नव (नौ) कम्बल कहां हैं अर्थात् यह तो एक ही कंबलका धारक है इस प्रकार कहकर वादीके कथनको निषेध करता है । १ । संभावनासे अत्यंत प्रसंग (संबंध) को धारण करनेवाले सामान्यका कथन करनेपर उस सामान्यमें हेतुका आरोप करके अर्थात् सामान्यको हेतु बनाकर जिसमें दूसरेके कथनका निषेध किया जाता है; वह सामान्यछल कहलाता है । जैसे आश्चर्य है कि—यह ब्राम्हण विद्या और आचरणरूप संपदाको धारण करता है; इस प्रकार ब्राह्मणकी स्तुतिके प्रसंगमें अर्थात् यह ब्राम्हण ज्ञान व चारित्र सहित है इसरूपसे कोई ब्राम्हणकी प्रशंसा करता हो; उसी अवसरमें कोई पुरुष कथन करे कि; ब्राम्हणमें विद्या और आचरणरूप संपदा हो सकती है । तब सामान्यछलको कहनेवाला

प्रतिवादी ब्राह्मणमें हेतुताका आरोप करके अर्थात् ब्राह्मणत्व सामान्यको हेतु बनाकर उसके कथनका खंडन करनेको तैयार होता है कि—यदि ब्राह्मणमें विद्या तथा आचरणकी संपदा होती है तो व्रात्यमें भी अर्थात् जो जातिसे तो ब्राह्मण है, परन्तु संस्कार आदिसे रहित होनेके कारण ब्राह्मणोंके समूहसे गिर गया है; उसमें भी यह विद्या और आचरणकी संपदा होवे। क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण ही है अर्थात् यद्यपि ब्राह्मणोंने उसको अपने समूहमेंसे निकाल दिया है तथापि यह ब्राह्मण मातापिता दोनोंके योगसे उत्पन्न हुआ है; अत यह भी ब्राह्मण ही है। २। उपचार (लक्षणा) से किये हुए प्रयोगमें मुख्य अर्थका निषेध करके जिसमें वादीके कथनसे विरुद्ध कथन किया जावे, वह उपचारछल कहलाता है। जैसे—' मंच (माँचे अर्थात् खाटें) रुदन करती हैं ' इस प्रकार वादीके कहनेपर पर उपचारछलसे कथन करनेवाले प्रतिवादी विरुद्ध भाषण करते हैं कि, अचेतन मंच कैसे रुदन करते हैं ' मंचपर स्थित पुरुष रुदन करते हैं। भावार्थ—तुम जो कहते हो कि;—' मंच रुदन करते हैं; ' सो ठीक नहीं है; क्योंकि मंच तो अचेतन हैं, अत तुमको मंचपर बैठे हुए मनुष्य रुदन करते हैं, ऐसा कहना चाहिये।

तथा सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिर्दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन। यथा-साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाऽपकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्याऽनित्यकार्यसमाः।

तथा जब वादी निर्दोष हेतु अथवा हेत्वाभासका प्रयोग करे तब उस वादीके कथनमें किसी दोषका प्रतिभास न होनेपर भी अर्थात् दोष मालूम हुए विना भी जो, प्राय हेतुके समान प्रतीत हो, ऐसा शीघ्रतासे कुछ भी विरुद्ध कह देना है, उसको जाति अथवा दूषणाभास कहते हैं। यह साधर्म्यआदिसे प्रत्यवस्थान (विरुद्ध भाषण करने) रूप भेदोंसे चौबीस २४ प्रकारकी है। वे चौबीस भेद निम्नलिखित हैं—साधर्म्य १, वैधर्म्य २, उत्कर्ष ३, अपकर्ष ४, वर्ण्य ५, अवर्ण्य ६, विकल्प ७, साध्य ८, प्राप्ति ९, अप्राप्ति १०, प्रसंग ११, प्रतिदृष्टान्त १२, अनुत्पत्ति १३, संशय १४, प्रकरण १५, हेतु १६, अर्थापत्ति १७, अविशेष १८, उपपत्ति १९, उपलब्धि २०, अनुपलब्धि २१, नित्य २२, अनित्य २३, और कार्यसम २४।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते

साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् । नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यत्रैव प्रयोगे स[1] एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण[2] प्रयुज्यते। नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्। अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु । न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्-अश्रावणो दृष्टः । एवं शब्दोऽप्यस्तु । नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः । एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः । अत्र त्वनुपयोगित्वान्न लिखिताः ।

उन २४ प्रकारकी जातियोंमेंसे जो साधर्म्यके द्वारा प्रत्यवस्थान है; वह साधर्म्यसमा जाति कहलाती है । **भावार्थ**—जैसे कोई वादी ' शब्द जो है; वह अनित्य है । कृतक होनेसे, घटके समान अर्थात् जैसे कृतक (अपनी उत्पत्तिमें दूसरेके व्यापारको चाहनेवाला) होनेसे घट अनित्य है; उसी प्रकार कृतक होनेसे शब्द भी अनित्य है; ऐसा अनुमानका प्रयोग करे अर्थात् घटके कृतकस्वरूप धर्मको शब्दमें ग्रहण करके शब्दको अनित्य सिद्ध करे तब प्रतिवादी जो ' शब्द नित्य है निरवयव होनेसे आकाशके समान अर्थात् जैसे अवयवरहित होनेके कारण आकाश नित्य है; उसी प्रकार अवयवरहित होनेसे शब्द भी नित्य है । और घटके साधर्म्यरूप कृतकत्वको धारण करनेसे शब्द अनित्य है तथा आकाशके साधर्म्यरूप निरवयवत्वको धारण करता हुआ भी शब्द नित्य नहीं है इस माननेमें कोई विशेषहेतु (नियामक) नहीं है जिससे कि—शब्दको घटके समान अनित्य ही माना जावे और आकाशके समान नित्य न माना जावे। इस प्रकार आकाशके निरवयवत्वधर्मका धारक शब्दको दिखलाकर वादीके कथनसे विरुद्ध भाषण करे अर्थात् शब्दमें नित्यता सिद्ध करे तो समझना चाहिये कि; यहां पर प्रतिवादी साधर्म्यसमा जातिका प्रयोग

१. निरवयवत्वरूप एव । २. घटरूपदृष्टान्तवैधर्म्येण ।

लिये कही गई है। इसीप्रकार बाकी की जो बीस जातियें है; उनका स्वरूप भी गोतमके शास्त्र (न्यायदर्शनसूत्र अथवा नैयायिकोंके ग्रन्थों) से जान लेना चाहिये। इस प्रकृत ग्रन्थमें तो वे अनुपयोगी है; इसलिये उनका स्वरूप नहीं लिखा गया है।

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति। अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम्।तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम्।तद्यथा–प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरं, अर्थान्तरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थं, अपार्थकं, अप्राप्तकालं, न्यूनं, अधिकं, पुनरुक्तं, अननुभाषणं, अज्ञानं, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च।

और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति जो है; उसको निग्रहस्थान कहते हैं। उनमें साधनाभासमें अर्थात् जो यथार्थमें तो साधन न हो; परंतु साधन जैसा जान पड़े उसमें जो साधनकी बुद्धि है अर्थात् साधनपना मान लेना है; वह, तथा दूषणाभास (दूषणके समान प्रतीत होनेवाले) में जो दूषणकी बुद्धिका होना है; वह; ऐसे इन दोनों प्रकारोंरूप तो विप्रतिपत्ति है। और साधनका अदूषण अर्थात् प्रतिवादीके साधनको दोषरहित मानलेना तथा प्रतिवादीके दिये हुए दूषणको दूर न करना; इन दोनों प्रकारोंरूप अप्रतिपत्ति है। यह निग्रहस्थान बाईस २२ प्रकारका है। वे भेद इस निम्न लिखित रीतिसे है—प्रतिज्ञाहानि १, प्रतिज्ञान्तर २, प्रतिज्ञाविरोध ३, प्रतिज्ञासंन्यास ४, हेत्वन्तर ५, अर्थान्तर ६, निरर्थक ७, अविज्ञातार्थ ८, अपार्थक ९, अप्राप्तकाल १०, न्यून ११, अधिक १२. पुनरुक्त १३, अननुभाषण १४, अज्ञान १५, अप्रतिभा १६, विक्षेप १७ मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षण १९, निरनुयोज्यानुयोग २०, अपसिद्धान्त २१ और हेत्वाभास २२।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्। यथाऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवत्विति। स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्। प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं सामान्य-

मैन्द्रियकं नित्यम्। तद्धि सर्वगतम्। असर्वगतस्तु शब्द इति। तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञात प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम्। अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि। इह तु न लिखितानि पूर्वहेतोरेव। इत्येवं मायाशब्देनात्रच्छलादित्रयं सूचितम्। तदेवं परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम्। इति काव्यार्थः ॥१०॥

इन २२ निग्रहस्थानोंमेंसे–प्रतिवादी जब हेतुको अनैकान्तिक (व्यभिचारी) सिद्ध करदे तब प्रतिदृष्टान्तके धर्मको अपने दृष्टान्तमें स्वीकार करते हुए वादीके प्रतिज्ञाहानिनामक निग्रहस्थान होता है । जैसे–वादी शब्दमें अनित्यत्वरूप प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये 'शब्द अनित्य है ऐन्द्रियक (इन्द्रियका विषय) होनेसे घटके समान' ऐसे अनुमानके प्रयोगका कथन करे और इस प्रयोगमें प्रतिवादी सामान्य ऐन्द्रियक है तो भी नित्य देखा गया है, इस प्रकार कहकर ऐन्द्रियकत्वरूपहेतुको व्यभिचारी बना देवे तब वादी जो ऐसा कहै कि, सामान्यके समान घट भी नित्य हो जावे, तो इस प्रकार कहता हुआ वह वादी शब्दमें अनित्यता सिद्ध करनेरूप जो प्रतिज्ञा है, उसको छोड़ देता है अर्थात् सामान्यरूप प्रतिदृष्टान्तके नित्यत्वधर्मको घटरूप दृष्टान्तमें स्वीकार करके शब्दको नित्य मानता हुआ वादी प्रतिज्ञाहानिनामक दोषसे दूषित होता है । १ । जब प्रतिवादी अपने (वादीके) प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका निषेध करदे तब उसी धर्मीमें दूसरे धर्मको सिद्ध करनेयोग्य कहते हुए अर्थात् धर्मीमें उस धर्मके सिवाय किसी दूसरे धर्मको मानते हुए वादीके प्रतिज्ञान्तरनामा दूसरा निग्रहस्थान होता है । जैसे–'शब्द अनित्य है, ऐन्द्रियक होनेसे इस प्रकार वादीके कहने पर प्रतिवादी पहलेके समान ही सामान्यसे अर्थात् सामान्य ऐन्द्रियक है तौभी नित्य है यह कहकर ऐन्द्रियकत्व हेतुको व्यभिचारी करदे तब यदि वादी ऐसा कहै कि;—' सामान्य ऐन्द्रियक होनेसे नित्य है ' यह तुम्हारा कहना ठीक है; परन्तु सामान्य तो सर्वगत है और शब्द असर्वगत है, । तो इस प्रकार वादी शब्दमें अनित्यता सिद्ध करनेरूप जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उसको छोड़कर उसी शब्दरूप धर्मीमें असर्वगतरूप दूसरी प्रतिज्ञाको कहता हुआ प्रतिज्ञान्तर नामक दूसरे निग्रहस्थानको प्राप्त होता है । इसी प्रकारसे शेष जो बीस २० निग्रहस्थान हैं उनको भी जान लेने चाहियें । यहां तो पहले ही कारणसे अर्थात् अनुपयोगी होनेसे ही शेष निग्रहस्थानोंको नहीं लिखे हैं। ऐसे स्तुतिके कर्ता आचार्यमहाराजने काव्यमें स्थित मायाशब्दसे छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थोंको सूचित किये हैं। सो इस पूर्वोक्त प्रकारसे दूसरों (वादियों) को ठिगनेरूप छल

जाति और निग्रहस्थानोंका तत्त्वरूपता (पदार्थपने) से उपदेश देतेहुए गोतमऋषीके वैराग्यका वर्णन करना अर्थात् छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहना मानों अंधकारको प्रकाशस्वरूप कहनेके समान है; अतः कैसे उपहासके योग्य न हो। **भावार्थ—**जैसे अंधकारको प्रकाशरूप कहता हुआ पुरुष हास्यका पात्र होता है; उसीप्रकार छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहते हुए नैयायिक भी उपहासके पात्र है। इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ १० ॥

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरस्सरं निराकुर्वन्नाह ।—

अब एक प्रकारके मीमांसक अर्थात् पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक (वेदान्ती) इन दो प्रकारके मीमांसकोंमेंसे पूर्वमीमांसक जो है; वे वेदमें कही हुई हिंसाको जो धर्मकी कारणभूता मानते हैं; उसका युक्तिपूर्वक खंडन करते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

सूत्रभावार्थः—वेदमें कही हुई भी हिंसा धर्मकी कारण नहीं है। और यदि पूर्वमीमांसक कहैं कि; वेदोक्त हिंसाकी विधि अपवादमार्गसे है; इसकारण दोषके लिये नहीं है; सो उचित नहीं है। क्योंकि; उत्सर्गवाक्य जो है; वह दूसरे कार्यके लिये प्रयुक्त किये हुए वाक्यसे अपवादका विषय नहीं होता है अर्थात् शास्त्रमें जिस प्रयोजनको अवलम्बनकरके उत्सर्गवाक्य वर्त्तता है; उसी प्रयोजनको ग्रहणकरके अपवादवाक्य भी वर्त्तता है। इस कारण उन मीमांसकोंकी चेष्टा अपने पुत्रको मार कर राजा बननेवाले पुरुषकी चेष्टाके समान है। **भावार्थ—**जैसे कोई अपने पुत्रको मारकर राजा

---

१. मीमांसका द्विधा—पूर्वमीमांसावादिनः, उत्तरमीमांसावादिनश्च । तेषु पूर्वमीमांसावादिनामभिमतम् । २. युक्तिपूर्वकम् ।

बनजावे तौ भी वह अपने पुत्रको मारनेके कलंकसे नहीं बच सक्ता है, इसीप्रकार यद्यपि वेदोक्त हिंसाको करके वे मीमांसक नीच देवताओंको प्रसन्न करलेते हैं, तथापि वे मीमांसक उस हिंसाजनित पापसे रहित नहीं हो सक्ते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या । इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते । या हिंसा गार्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाऽधर्मानुबन्धहेतुः । प्रमादसंपादितत्वात् । शौनिकलुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतुः । देवतातिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात् । तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसम्पादकत्वमसिद्धम् । कारीरीप्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः । एवं त्रिपुरार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात्परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु मधुपर्कसंस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितॄणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धादिविधानेन प्रीणितात्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् । स च देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधादिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविषयस्तु 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत् ।" इत्यादिः । पितृप्रीत्यर्थस्तु "द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु । १ । इत्यादिः ।

व्याख्यार्थ—यहां पर अर्चिमार्गसे विरुद्ध (प्रतिकूल) धूममार्गके धारक जैमनीय (जैमनिऋषीके शिष्य मीमांसक) ऐसा कहते हैं कि; कसाई व शिकारीके समान जो हिंसा लोभीपनेसे अथवा व्यसनीपनेसे की जाती है, वही पापके बधकी कारण है । क्योंकि, प्रमादसे की जाती है । और जो वेदोक्त हिंसा है, वह तो पापके बधकी कारण नहीं है किन्तु उल्टी उस प्रकारकी पूजा

---

१ कं जलं मृण्वन्तीति कराः मेघास्तमीरयतीति कारीरी इति व्युत्पत्तेः कारीरीनामा वृष्टिकारको यज्ञविशेषः । २ त्रिपुरार्णवो ग्रन्थविशेषः । ३ दधि मधु घृतं मधुपर्कम् । ४ अश्वो मेध्यते हिंस्यते यत्रेत्यश्वमेधो यज्ञविशेषः । एवमन्यत्रापि । ५. प्राघूर्णिकश्रोत्रियाय । ६ षण्मासांश्छाग मांसेन पार्षतेन हि सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ।२। दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः। शशकूर्मस्य मांसेन मासानेकादशैव तु।३।संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा । वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी । ४ । इति पूर्णपाठः ।

सेवाके समान धर्मकी कारण है। क्योंकि देवता अतिथि और पितृजनोंके प्रीतिको उत्पन्न करती है। **भावार्थ—**जैसे वेदोक्त पूजासेवाके करनेसे देवतादि प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार इस वेदोक्त हिंसासे भी देवतादि प्रसन्न होते है अतः यह वेदोक्तहिंसा धर्मबंधकी कारण है। और वेदोक्त हिंसासे देवतादिके प्रीति उत्पन्न नहीं होती है; ऐसा न कहना चाहिये अर्थात् वेदोक्तहिंसासे देवतादि प्रसन्न होते ही है। क्योंकि; कारीरीनामक यज्ञको आदि ले जो यज्ञ हैं; उनके अपने द्वारा सिद्ध करने योग्य वृष्टिआदि फलमें जो अव्यभिचारित्व (सफलता) है; वह उन यज्ञोंसे प्रसन्न किये हुए देवोंके अनुग्रहरूप हेतुवाला ही है अर्थात् कारीरी-आदि यज्ञोंके करनेसे जो वृष्टि (वर्षा) आदि फलोंकी प्राप्ति होती है; वह उन यज्ञोंद्वारा प्रसन्न किये हुए देवोंकी कृपासे ही होती है। इसी प्रकार त्रिपुरार्णवनामक एक प्रकारके ग्रन्थमें कहे हुए बकरे तथा जांगल (वनके पशु) के होमसे दूसरेके राज्यको वशमें करना है; वह भी उस होमसे अनुकूल किये हुए देवताओंके प्रसादसे ही सिद्ध होता है। और मधुपर्कपूजामें दही. और सहत आदिके भक्षणसे उत्पन्न हुई अतिथिप्रीति (पाहुणेकी प्रसन्नता) तो प्रत्यक्षमें ही देखनेमें आती है। तथा उन २ उपयाचना किये हुए श्राद्ध आदिके करनेसे प्रसन्न हो गया है आत्मा जिनका ऐसे अर्थात् जो २ पितर जिस २ श्राद्धकी याचना करें; उस २ श्राद्धके करनेसे प्रसन्न हुए वे पितर अपने संतानकी वृद्धि करते है अर्थात् श्राद्धकर्त्ताके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि उत्पन्न करते हैं; यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है। और आगम भी इस विषयमें प्रमाण है। वह निम्न लिखित प्रकारसे है। देवोंकी प्रीतिके लिये अश्वमेधयज्ञ (जिसमें घोडा मारा जावे ऐसे यज्ञ,) को तथा गोमेधयज्ञ आदिको कहनेवाला आगम प्रसिद्ध ही है। " आये हुए श्रोत्रिय (वेदपाठी) के लिये बड़े बैलको अथवा बड़े बकरेको प्रकल्पन करे अर्थात् मारे। " इत्यादि आगम अतिथि (पाहुणे) की प्रीतिके लिये हिंसा करनेका उपदेश देता ही है। तथा पितरोंकी प्रीतिके लिये "मत्स्य (मांछले) के मांससे दो महिने तक, हिरणके मांससे तीन महिने तक मेष (मींढे) के मांससे चार महिने तक और शाकुन (पक्षिविशेष) के मांससे पांच महिनेतक पितृजन तृप्त रहते हैं अर्थात् यदि उक्त जीवोंके मांससे श्राद्ध किया जावे तो पितृजन उक्त समयपर्यन्त किसी पदार्थको खानेकी इच्छा नहीं करते हैं। १। " इत्यादि कथन करनेवाला आगम है।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते। न धर्मेत्यादि। विहितापि वेदप्रतिपादितापि आस्तां तावदविहिता हिंसा प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा न धर्महेतुर्न धर्मानुबन्धनिबन्धनम्। यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः।

तथाहि—' हिंसा चेद्धर्महेतुः कथम् ' ' धर्महेतुश्चेद्धिंसा कथम् ' " श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।" इत्यादिः । न हि भवति माता च वन्ध्या चेति । हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः । नचायं निरपायः । यतो यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम् । यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः । न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् । तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात् ।

इस प्रकार उन पूर्वमीमांसकोंके आशयको हृदयमें धारण करके स्तुतिके कर्ता आचार्यमहाराज ' न धर्म ' इत्यादि श्लोकसे उनके मतका खंडन करते हैं, वह इसप्रकार है ।—" विहिता अपि " वेदमें कही हुई भी अर्थात् वेदमें न कही हुई हिंसा तो दूर रहो वेदोक्त भी जीवोंके प्राणोंका त्याग करानेरूप हिंसा । " धर्महेतुः " धर्मका कारण " न " नहीं है । क्योंकि, इस वेदोक्त हिंसाको धर्मकी कारण माननेमें उन वादियोंके अपने वचनसे विरोध प्रकट ही है । सो ही दिखाते हैं—यदि हिंसा है तो धर्मकी कारण कैसे है ? और धर्मकी कारण है तो हिंसा कैसे है ? अर्थात् जो हिंसा है वह धर्मकी कारण नहीं है, जो धर्मका कारण है; वह हिंसारूप नहीं है । क्योंकि—"तुम धर्मके सर्वस्व (सारभूत रहस्य) को श्रवण करो और श्रवणकरके हृदयमें धारण करो; वह धर्मका रहस्य यह है कि, अपने प्रतिकूल दूसरोंके मत करो अर्थात् जो तुमको बुरा लगे; वह कार्य तुम दूसरोंके लिये भी मत करो ।१।" इत्यादि आगम हिंसाको पापकी कारण कहता है । और माता है तथा वंध्या (बांझ) है, ऐसा नहीं होता है भावार्थ—जैसे कोई किसी स्त्रीको माता भी कहे और वन्ध्या भी कहे तो इसमें उसको अपने वचनसे विरोध आता है । क्योंकि, जो माता हो, वह वन्ध्या नहीं हो सकती है और जो वंध्या हो वह माता नहीं हो सकती है, इसी प्रकार जीवोंके प्राणोंका त्याग करानेरूप हिंसाको पाप तथा धर्म; इन दोनोकी कारण कहते हुए उन वादियोंके भी अपने वचनसे विरोध आता है । यहां पर उन वादियोंका यह अभिप्राय है कि—हिंसा तो कारण है और धर्म उस हिंसाका कार्य (फल) है सो यह निरपाय अर्थात् दोषरहित नहीं है । क्योंकि, जो जिसका अन्वय (सत्त्व) होनेपर अपने अन्वयको करता है और व्यतिरेक होनेपर अपने व्यतिरेकको करता है; वही उसका कार्य होता है । जैसे कि; मृत्पिंड आदिका अन्वय तथा व्यतिरेक होनेपर घट आदि अपना अन्वय और व्यतिरेक करते हैं । भावार्थ—जैसे घट मृत्पिंडके सत्त्वमें अपने सत्त्वको और मृत्पिंडके अभावमें अपने अभावको करता है; अत घट मृत्पिंडरूप

---

१. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् । १ । इत्युत्तरार्द्धः ।

कारणका कार्य है; उसी प्रकार यदि धर्म हिंसाके सत्त्वमें अपने सत्त्वको तथा हिंसाके अभावमें अपने अभावको करे तो धर्म हिंसारूप कारणका कार्य हो सकता है। और धर्म हिंसासे ही होता है; यह प्रतीतिका विषय नहीं है। क्योंकि यदि तुम हिंसासे ही धर्मका होना मानोंगे तो तपका करना, दानका देना, ध्यानका साधना; इत्यादि जो है; उनके धर्मकी अकारणताका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् तपश्चरण आदि धर्मके कारण न रहेंगे और यह तुमको अनिष्ट है।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः किंतु विशिष्टामेव। विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्— ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाऽभावेन मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाऽभावात्सुगतिलाभेन वा। नाद्यः पक्षः। प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात्। न द्वितीयः। परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयाऽऽर्त्तध्यानाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात्। प्रत्युत हा कष्टमस्ति। न कोऽपि कारुणिकः शरणम्। इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदन-दैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनात् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात्।

यदि कहोकि—हम सामान्यपनेसे हिंसाको धर्मकी कारण नहीं कहते है अर्थात् जो हिंसा है; उस सभीको धर्मकी कारण नहीं मानते है; किन्तु विशिष्ट (उन हिंसाओंमेंसे एक प्रकारकी) हिंसाको धर्मकी कारण कहते है। और विशिष्ट हिंसा वही है; जो कि—वेदमें कही हुई है अर्थात् हम वेदोक्त हिंसाको ही धर्मकी कारण मानते है; तो हम प्रश्न करते हैं कि; वह वेदोक्त हिंसा क्या वध्य (मारने योग्य) जीवोंका मरण न होनेसे अर्थात् जिन जीवोंको यज्ञ आदिमें मारे जाते है; उनका मरण नहीं होता है जिससे धर्मकी कारण है ? अथवा वे वध्यजीव मरते हैं; तो भी उनके आर्त्तध्यान न होनेसे सुगति (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है जिससे धर्मकी कारण है। यदि कहो कि—वेदोक्तविधिसे मारनेपर उन वध्यजीवोंका मरण नहीं होता है; सो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उन वध्यजीवोंके प्राणोंका त्याग साक्षात् (प्रत्यक्षमें) ही देखते हैं। यदि कहो कि; मरणसमयमें आर्त्तध्यानके न होनेसे वे वध्यजीव सुगतिको प्राप्त होते हैं; तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि; दूसरोंकी चित्तवृत्तियें कठिनतासे देखने योग्य हैं। **भावार्थ**—दूसरे जीव अपने मनमें भला वा बुरा कैसा विचार कर रहे हैं; इस विषयका ज्ञान सुगम रीतिसे ही नहीं हो सकता है; जिससे यह जानलिया जावे कि; उन वध्यजीवोंके मरण समयमें आर्त्तध्यान नहीं होता है। किन्तु उलटा हा! बड़ा दुःख हो रहा है हमारे कोई भी करुणावान शरण ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। अर्थात् हमको इस महादुःखसे बचानेवाला कोईभी नहीं है।

सह प्रकार अपनी भाषा (बोली) से विरस (कानोंको बुरा लगने वाली) पुकार करते हुए उन पशुजीवोंमें मुखकी दीनता तथा नेत्रोंकी चंचलता आदि चिन्होंके देखनेसे आर्तध्यान स्पष्टरीतिसे (संदेहरहितपनेसे) ही निश्चित होता है।

अथेत्थमाचक्षीथाः। यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपत्रादिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते। यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन्नहि दहति। एवं मन्त्रादिविधिसंस्काराच्च खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय। न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम्। तत्कारिणा याज्ञिकाना लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तदेतच्च दक्षाणां क्षमते क्षोदम्। वैषम्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात्। अयःपिण्डादयो हि पत्रादिभावान्तरापन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः। नच वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनापि विशस्यमानाना पशूनां काचिद्वेदनानुत्पादादिरूपा भावान्तरापत्तिः प्रतीयते। अथ तेषां वधानन्तरं देवत्वापत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेतिचेत्—किमत्र प्रमाणम्। न तावत्प्रत्यक्षम्। तस्य संबद्धवर्त्तमानार्थग्राहकत्वात्। "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" इति वचनात्। नाप्यनुमानम्। तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः। नाप्यागमः। तस्याद्यापि विवादास्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वात्।

अब यदि तुम ऐसा कहो कि; जैसे लोहका पिंड अपने भारीपनसे जलमें डूबनेरूप स्वभावका धारक है; तो भी यदि उस लोहपिंडको अत्यन्त हलके २ पत्र (पत्तर) आदि बनाकर संस्कारको प्राप्त कर लिया जावे, तो यह जलके ऊपर तैरने लग जाता है, और जैसे विष (जहर) मारनेरूप स्वभावका धारक है, तो भी यदि उस विषको मन्त्रआदिसे संस्कृत करलिया जावे तो, वही मारणात्मक विष उपमगुणके लिये हो जाता है अर्थात् रसायनरूप होकर शरीरकी रक्षा करनेवाला होजाता है, अथवा जैसे अग्नि दहन करने (जलाने)रूप स्वभावको धारण करती है, तो भी सत्य आदिके प्रभावसे अपनी दहनशक्तिसे रहित होकर नहीं जलाती है अर्थात् कोई सत्यवादी व ब्रह्मचारी मनुष्य लोकको अपनी निर्दोषता दिखलानेके लिये अग्निमें बीज लेवे तो उसके सत्य आदिके प्रभावसे यह अग्नि उस पुरुषको नहीं जलाती है, इसीप्रकार मंत्र आदिकी विधिसे संस्कारको प्राप्त हुई वेदोक्तहिंसा भी दोषकी पुष्टिके लिये नहीं है अर्थात् पापबंधकी कारण नहीं है किन्तु धर्मकी ही कारण है। तथा यह वेदोक्तहिंसा निंदनीय

---

1 हिंस्यमानानां।

है; ऐसी शंका भी न करनी चाहिये। क्योंकि; उस वेदोक्तहिंसाके करनेवाले याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले) जन लोकमें पूज्य देखे जाते है। भावार्थ—वेदोक्तहिंसाके कर्त्ता याज्ञिकजनोंको लोक पूजते है; अतः वेदोक्तहिंसा जगतमें निन्दनीय भी नहीं है। सो तुम्हारा यह कथन भी चतुर पुरुषोंके विचारको नहीं सहता है अर्थात् युक्तिरहित ही है। क्योंकि; तुमने जो लोहपिंड आदिके दृष्टान्त दिये हैं, वे विषमरूप होनेसे असाधकतम हैं अर्थात् वेदोक्त विधिसे जीवोंको मारनेरूप दार्ष्टान्तिकमें बराबर न घटनेसे वेदोक्त हिंसाको निर्दोष सिद्ध करनेमें समर्थ नही हैं। कारण कि; लोहके पिंड आदि जो हैं; वे पत्र (पत्तर) आदिरूप दूसरे भावों (अवस्थाओं वा पर्यायों) को प्राप्त होकर जलमें तिरने आदिरूप क्रियाके करनेमें समर्थ होते है। और वेदोक्तमंत्रोंसे संस्कारकरनेरूप विधिसे भी मारे जाते हुए उन पशुओंके वेदना (पीड़ा) आदिके उत्पन्न न होनेरूप किसी दूसरे भावकी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती है अर्थात् वेदोक्त विधिसे मारे जाते हुए भी वे पशु मरते समयमें वेदनाको ही भोगते हुए देखे जाते है। यदि कहो कि; मारनेके पश्चात् वे जीव देवपनेको प्राप्त हो जाते हैं यह भावान्तर है ही अर्थात् वे पशु मरकर देव हो जाते है यह एक अवस्थाका पलटना है ही है; तो हम प्रश्न करते है कि; इस कथनमें क्या प्रमाण है अर्थात् तुम जो कहते हो कि; वेदोक्तहिंसासे पशु मरकर देव हो जाते हैं; सो कौनसे प्रमाणसे कहते हो। यदि कहो कि; इस कथनमें प्रत्यक्ष प्रमाण है सो तो नहीं हो सकता है। क्योंकि "चक्षु आदि इंद्रियें अपनेसे संबंधको प्राप्त हुए तथा वर्त्तमान ऐसे पदार्थका ग्रहण करती हैं।" इस वचनसे वह प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे संबंधित वर्त्तमान पदार्थको ही ग्रहण करता है। और इस कथनमें अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि; उस देवपनेकी प्राप्तिरूप भावांतरसे संबंधित जो लिंग (साधन) है; वह जाननेमें नहीं आता है। और आगम प्रमाण भी इस कथनको सिद्ध करनेवाला नहीं है। क्योंकि; वह अबतक भी विवादका स्थान है अर्थात् उसकी सत्यतामें अभीतक संदेह है। तथा अर्थापत्ति और उपमान ये दो प्रमाण तो अनुमान प्रमाणमें ही अन्तर्गत होते है अर्थात् अनुमानके ही भेद हैं; इसकारण अनुमानप्रमाणमें जो साधनकी अप्राप्तिरूप दूषण दिया है; उसीसे गतार्थ है अर्थात् उसी दोषके धारक हैं।

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात्पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यत इति कल्पना। तथा अस्माकमपि किं नेष्यते। वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽपकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथि-

व्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनाऽपरिमितसुकृतसम्प्राप्तिर्न पुनरितरः । भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तत्श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु यमनियमादिषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीक कर्त्तनकदर्थनया कान्दिंशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः । एवं च यं कंचन पदार्थं किंचित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते ।

शंका—जैसे आप (जैनियों) के भी " जिनमंदिर आदिके बनानेमें जो पृथिवी आदि जीवोंके समूहका घात (वध) होता है, वह भी परिणामविशेषसे पुण्यके अर्थ माना गया है " ऐसी कल्पना है, उसी प्रकार आप हमारे भी क्यों नहीं मानते हैं, क्योंकि, वेदोक्तविधिके करनेरूप जो परिणामविशेष है, वह उस वेदोक्तहिंसामें निर्विकल्प (निश्चित) रूपसे है ही है । समाधान—ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि, परिणामविशेष भी वही शुभफल (स्वर्ग आदिकी प्राप्तिरूप फल) का धारक है, कि—जिसमें किसी दूसरे उपायके न होनेपर प्रवृत्ति करनेसे अत्यंत स्वल्प ज्ञानको धारण करनेवाले पृथिवी आदि जीवोंका वध होनेपर भी बहुत अल्प (कम) पुण्यका नाश होनेसे अपरिमाण (बे अंदाज्) पुण्यकी प्राप्ति होती है और इससे भिन्न जो कोई परिणामविशेष है, वह शुभफलका धारक नहीं है । और तुम्हारे मतमें तो उन उन श्रुति, स्मृति, पुराण तथा इतिहास आदिकोंमें कहे हुए यम, नियम आदि बहुतसे स्वर्गकी प्राप्तिके उपायोंको विद्यमान रहते भी उन २ देवोंका उद्देश्य करके अर्थात् मैं अमुक देवके अर्थ इस अमुक पशुका वध करता हूं, ऐसा विचार करके भयसे विह्वल और कृपण (दयाके योग्य) ऐसे पचेन्द्रियजीवोंको शरीरके प्रत्येक अवयवको काटनेरूप पीड़ा पहुंचानेसे कसाईसे भी अधिक निर्दयतापूर्वक मारनेवाले और समस्तपुण्यका नाश करके केवल दुर्गतिको ही अनुकूल करनेवाले अर्थात् नरक गतिका बंध बांधनेवाले ऐसे जो यज्ञके कर्त्ता पुरुष हैं, उनके शुभफलके धारक परिणामविशेषका होना अत्यंत कठिन है । और इसप्रकार जिस किसीपदार्थको किसी साधर्म्यद्वारा ही दृष्टान्तगोचर करते हुए अर्थात् किसी साधर्म्यको लेकर किसी पदार्थका दृष्टान्त देते हुए तुम पूर्वमीमांसकोंके अत्यत अनिष्टकी प्राप्ति होती है ।

न च जिनायतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः । तथाहि—तद्दर्शनाद्गुणानुरागितया भव्यानां बोधिलाभः । पूजातिशयविलोकनादिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः, ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति । तथा

१ प्रतमपवम् । २ भयविह्वलान् । ३ कृपार्हान् । ४ बोधिः सम्यक्त्वं प्रेत्यजिनधर्मावाप्तिर्वा । ५. समाधिश्चारित्रावाप्तिः । ६ निःश्रेयसो मोक्षः ।

च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः—"पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिंतो । तव्विसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा । १ । एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खंति जेण पुढवाई । इत्तो निव्वाणगया अवाहिया आभवमिमाणं । २ । रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरियाव सुप्पउत्ताओ । परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से वाहजोगेवि" ।३।

और जिनमंदिर बनवाने आदिमें पृथिवी आदि जीवोंका जो वध होता है; उसमें भी गुण नही है अर्थात् जैसे आप वेदोक्त विधिपूर्वक हिंसाके करनेमें गुण नहीं बतलाते है, उसीप्रकार जिनमंदिर आदिके बनवानेमें भी गुण नही है; ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि श्रीजिनेन्द्रके दर्शन करनेसे श्रीजिनेन्द्रके गुणोंमें अनुराग (प्रीति) होता है, श्रीजिनेन्द्रके गुणोंमें प्रीति होनेसे जो भव्य है; उनको बोधि (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होती है, और श्रीजिनेन्द्रकी पूजा तथा अतिशय (प्रभाव) को देखने आदिसे चित्त प्रसन्न (प्रफुल्लित) होता है, मनःप्रसादके होनेसे समाधि, (समताभाव) की प्राप्ति होती है; और फिर क्रमानुसार मोक्षकी प्राप्ति होती है । सो ही पंचलिङ्गीके कर्त्ता भगवान् श्रीजिनपतिसूरीश्वरजी कहते है कि;—"यद्यपि जिनमंदिर बनवाने आदि क्रियाओंके करनेसे पृथिवी आदि जीवोंका विनाश होता ही है । तथापि सम्यग्दृष्टीके उन पृथिवी आदि जीवों संबंधी दया नियमसे है ही अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीवके चित्तमें उन पृथिवी आदि जीवोंकी दया ही बस रही है; उसके परिणाम उन जीवोंकी दयासे शून्य कभी नहीं होते हैं । १ । क्योंकि, भव्यजीव इन जिनमंदिर बनवाने आदि क्रियाओंसे ज्ञानको प्राप्त होकर फिर संसारसे विरक्त होकर अर्थात् मुनि होकर पृथिवी आदि जीवोंकी रक्षा करते हैं; इसीकारण इन पृथिवी आदि जीवोंको बाधा न पहुंचानेवाले इस भवमें मोक्ष गये है । **भावार्थ**—जिनमंदिर बनवाने आदिसे गृहस्थोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है, हेयोपादेयका ज्ञान होनेपर वे गृहस्थाश्रमसे तथा संसारसे विरक्त होकर मुनिपदको धारण करते हैं और मुनिपद धारण करके इन पृथिवी आदि जीवोंकी अधिक रक्षा करते है और जब इन पृथिवी आदि जीवोंकी पूर्ण दया पालते हैं तब वे इसी भवमें मोक्ष चले जाते हैं; अतः जिनमंदिर आदिका बनवाना दयाभावका वर्धक ही है नाशक नही है । २ । जैसे रोगीकी नसका छेदना और उत्तमप्रकारसे प्रयोगमें लाई हुई उत्तम

---

१. पञ्चलिङ्गीकारः श्रीजिनपतिसूरिः । २. "पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव (प्राकृते हु एवकारार्थे) विनाशो जिनालयादिभ्यः । तद्विषयापि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा । १ । एताभ्यः (जिनालयादिक्रियाभ्यः) बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन् । अतो निर्वाणगता अबाधका आभवं (अस्मिन् भवे) एषाम् । २ । रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रिया इव सुप्रयुक्ता तु । परिणामसुन्दरैव चेष्टा सा बाधायोगेऽपि । ३ ।" इतिच्छाया ।

वैद्यकी रोगीको लंघन कराना, कडुवौषधि देना आदि क्रिया परिणामसुंदर हैं अर्थात् शुभपरिणामोंसे की हुई हैं अथवा अंतमें उत्तम फलकी धारक हैं, उसी प्रकार जिनमंदिर बनवाने आदिरूप जो भव्यजीवोंकी चेष्टा है, वह भी पृथिवी आदि जीवोंकी बाधाका योग होनेपर भी शुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुई तथा शुभफलकी धारक है। १।"

वैदिकवधविधाने तु न कंचित्पुण्यार्जनानुगुणं गुणं पश्यामः। अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशादिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत्—न। पवित्रसुवर्णादिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जनसम्भवात्। कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थमांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति। अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियायाः फलं किन्तु भूत्यादिकम्। यदाह श्रुतिः[1]—"श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः" इत्यादि। एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव। भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यमानत्वात्। अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्य सद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत् वाङ्मात्रमेतत्। प्रमाणाऽभावात्। न हि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति। अथास्त्यागमास्य प्रमाणम्। यथा—"औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा। यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः। १।" इत्यादि। नैवम्। तस्य पौरुषेयाऽपौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात्।

और वेदोक्त हिंसाके करनेमें तो हम पुण्यको उपार्जन करने योग्य कोई भी गुण नहीं देखते हैं। यदि कहो कि यज्ञमें जो ब्राह्मणोंको पुरोडाश (होम करनेके पश्चात् बचा हुआ द्रव्य) आदि दिया जाता है, उससे पुण्यकी प्राप्तिरूप गुण है ही। सो नहीं। क्योंकि, पवित्र ऐसा जो सुवर्णआदि द्रव्य है, उसके देनेसे ही पुण्यका उपार्जन हो सकता है। विचारे पशुओंके समूहको मारनेसे उत्पन्न हुए ऐसे मांसका देना तो केवल घृणा (ग्लानि) रहितपना ही प्रकट करता है। यदि कहो कि, वेदोक्तरीतिसे पशुवध करनेका ब्राह्मणोंको पुरोडाश आदि देनेमात्र ही फल नहीं है, किन्तु भूति (ऐश्वर्य) की प्राप्ति आदिक भी फल है, क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि—"ऐश्वर्य प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाला यज्ञमें वायु देवताके अर्थ श्वेत (सफेद) वर्णके बकरेका होम करे" इत्यादि। सो यह कहना भी व्यभिचाररूपी पिशाचसे ग्रसित होनेके कारण प्रमाणरहित ही है। क्योंकि, भूतिकी प्राप्ति अन्य २ उपायोंसे भी सिद्ध हो सकती है। यदि कहो कि, उस यज्ञमें मारे जानेवाले जो बकरे आदि पशु हैं, वे मरण करके

[1] द्भुतवेदः।

परलोकमें (अर्थात् दूसरे भवमें) उत्तमगति (स्वर्ग) को प्राप्त होते है; यह उन पशुओंके प्रति उपकार होता ही है; तो यह भी कहनेमात्र ही है। क्योंकि, इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। कारण कि वे मरे हुए पशु उत्तम गतिकी प्राप्ति होनेसे प्रसन्न हो गया है चित्त जिनका ऐसे हो कर अर्थात् हर्षित होकर और स्वर्गमेंसे आकर किसीको अपने उत्तम गतिको प्राप्ति होनेका कथन नहीं करते हैं। यदि कहो कि; इस हमारे कथनमें आगमनामक प्रमाण तो है ही है जैसे कि—औषधियें, पशु, वृक्ष, तिर्यंच और पक्षी ये सब यदि यज्ञके लिये नाशको प्राप्त होवें तो फिर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। १। " इत्यादि और भी आगमके प्रमाण है। सो यह भी न कहना चाहिये। क्योंकि तुम्हारे आगमका पौरुषये (पुरुषका रचा हुआ) तथा अपौरुपेय (किसीका नहीं बनाया हुआ) इन दोनों विकल्पोंसे आगे खंडन किया जावेगा। **भावार्थ**—तुम्हारा आगम पौरुषेय भी नहीं सिद्ध होता है और अपौरुपेय भी नहीं सिद्ध होता है; इसकारण उस असिद्ध आगमका प्रमाण यहां माननेयोग्य नहीं है।

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्। यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः। शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात्। तथा च पठन्ति परमार्षाः[1]—"यूपं छित्त्वा पशून् हत्त्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते। १।" किंचाऽपरिचिताऽस्पष्टचैतन्याऽनुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिस्तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते। अथ 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः' इति वचनाद्वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इतिचेत्—न। इह लोके विवाहगर्भाधानजातकर्मादिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाददृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते। दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तरं वैधव्याल्पायुष्कतादारिद्र्याद्युपद्रवविधुराः परःशताः। अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः। अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत्—न। संशयानिवृत्तेः। किं तत्रक्रियावैगुण्यात्फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्यादिति न निश्चयः। तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः।

1 सांख्याः।

और वेदोक्तविधिसे जो पशुओंकी हिंसा करते हैं, उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है यह उपकार वेदोक्त हिंसासे होता ही है, यह भी न कहना चाहिये। क्योंकि यदि हिंसाके करनेसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होवे तो नरकनगरके दरवाजे खूब ढक जावें। भावार्थ—हिंसाके करनेसे भी जब स्वर्ग मिलेगा तब नरकमें कोई भी नहीं जावेगा। और जो कसाई आदि हैं, उनको भी स्वर्गकी प्राप्तिका होना सिद्ध होगा, जो कि तुमको अभीष्ट नहीं है। सो ही पारमार्ष (सांख्य) कहते हैं कि,—वेदोक्तप्रकारसे यज्ञके स्तम्भ (खंभे) को छेदकर पशुओंको मारकर और रुधिर (खून) से पृथ्वीमें कादा मचाकर यदि यज्ञके कर्ता स्वर्गमें जावेंगे तो फिर नरकमें कोन जावेगा अर्थात् हिंसाके करनेवाले जब स्वर्गमें जावेंगे तब नरकमें कोई भी नहीं जावेगा। १।" और भी विशेषवक्तव्य यह है कि, यदि यज्ञके कर्ताओंको—अपरिचित (बेजान बूझके) निर्मल ज्ञानको नहीं धारण करनेवाले और जिन्होंने कभी अपना (यज्ञकर्त्ताका) उपकार नहीं किया ऐसे पशुओंके मारनेसे भी देवपदकी प्राप्ति होगी तो परिचित (जन्मसे परिचयमें अर्थात् जानकारीमें आये हुए) स्पष्ट (निर्मल अर्थात् अधिक) ज्ञानके धारक और अपने (यज्ञकर्त्ताके) ऊपर अत्यंत उपकार करनेवाले ऐसे जो माता, पिता आदि हैं, उनका वध करनेसे यज्ञकर्त्ताओंको देवपदसे भी अधिक ऊंचा पद प्राप्त होनेका प्रसग होगा। यदि कहो कि,—" मणि (रत्न), मंत्र और औषधियोंका प्रभाव अचिन्त्य (विचारमें न आनेवाला अर्थात् अत्यंत अधिक) है।" इस वचनसे वैदिक (वेदके) मंत्र अचिंत्य माहात्म्यके धारक हैं, इस कारण उन वैदिकमंत्रोंसे संस्कारको प्राप्त हुए पशुके मारनेसे यज्ञकर्त्ताओंके स्वर्गकी प्राप्ति हो ही सकती है। सो नहीं। क्योंकि, इस लोकमें विवाह, जातकर्म, तथा गर्भाधान आदि कर्मोंमें उन वैदिकमंत्रोंका व्यभिचार देखनेमें आता है, इस कारण नहीं देखे हुए स्वर्ग आदिमें भी उन मंत्रोंके व्यभिचारका अनुमान किया जाता है। क्योंकि, वेदोक्तमंत्रोंसे संस्कारको प्राप्तहुए ऐसे भी विवाहादि कर्मोंके होनेके पीछे विधवापन, अल्पआयुका धारक होना तथा दरिद्रताका प्राप्त होना इत्यादि उपद्रवोंसे दु खित हजारों नरनारी देखे जाते हैं। और मंत्रसंस्कारके विना भी विवाह आदि कर्मोंके करने पीछे हजारों नर नारी उनसे विपरीत अर्थात् सधवापन, पूर्णआयु व संपदाका धारक होना आदि सुखोंसे सुखी देखनेमें आते हैं.। भावार्थ—जिनके वेदोक्तमंत्रोंसे विवाहादि कर्म हुए हैं, वे तो कितने ही दु खी और जिनके मंत्रोंसे विवाहादि नहीं हुए ऐसे कितने ही सुखी देखे जाते हैं। यदि कहो कि, उस मंत्रसंस्कृत विवाहादिकर्मोंके उत्तमफल न होनेमें क्रियाका वैगुण्य (फेरफार) अर्थात् जिस विधि (प्रकार) से

भविष्यति । १ । तथा ' अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु छान्दसत्वान्मोचयतु इत्यर्थः " इति । व्यासेनाप्युक्तम्—ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि । स्नात्वातिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि । १ । ध्यानाग्नौ जीवकुंडस्थे दममारुतदीपिते । असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरुत्तमम् । २ । कषायपशुभिर्दुष्टै—र्धर्मकामार्थनाशकैः । शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः । ३ । प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः । स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् । ४ । " इत्यादि ।

और वेदोक्तहिंसा निंदनीय नहीं है ऐसा भी न कहना चाहिये । क्योंकि सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके धारक पुरुषोंने तथा अर्ची मार्गको स्वीकार करनेवाले वेदान्तवादियोंने उस वेदोक्त हिंसाकी निन्दा की है । सो ही तत्त्वोंके देखने (जानने) वाले कहते है कि,—" जो घृणा (ग्लानि) रहित पुरुष देवताके भेट करनेरूप छलसे अथवा यज्ञ करनेके मिषसे जीवोंको मारते हैं; वे घोर दुर्गति (सप्तम नरक आदि) को गमन करते हैं । वेदान्तिक भी कहते हैं कि;—" जो हम पशुओंसे देवादिकोंकी पूजा करें तो अंध तम (सप्तम नरक अथवा घोर अज्ञानान्धकार) में डूब जावें । क्योंकि हिंसा नामक धर्म न तो कभी हुआ और न कभी होगा । १ । " तथा "अग्नि देवता मुझको इस हिंसाद्वारा किये हुए पापसे मुक्त करो [यहांपर मुञ्चतु यह प्रयोग वेदका है, अतः णिजन्तका अर्थ किया गया है] श्रीव्यासजीने भी कहा है कि,—"ज्ञानरूपी पालि (पाल) पर गिरा हुआ ब्रह्मचर्य और दयारूप है जल जिसमें ऐसे पापरूपी कर्दमको दूर करनेवाले अत्यंत निर्मल तीर्थमें स्नान करके । १ । जीवरूपी कुंडमें दमरूपी पवनसे दीपित ऐसी जो ध्यानरूपी अग्नि है, उसमें अशुभकर्मोंरूपी काष्ठको गेरकर उत्तम अग्निहोत्रको करो । २ । धर्म, काम और अर्थको नष्ट करनेवाले, शमरूपी मंत्रसे आहूतिको प्राप्त हुए ऐसे दुष्ट कषायरूपी पशुओंसे ज्ञानवानोंद्वारा किये हुए यज्ञको करो । ३ । जो मूर्खचित्तका धारक मनुष्य जीवोंके मारनेसे धर्मकी प्राप्तिकी इच्छा करता है; वह काले सर्पके मुखरूपी कोटर (वृक्षके छिद्र) से अमृतकी वर्षाको चाहता है भावार्थ—जीवोंके मारनेसे धर्म कभी भी नहीं हो सकता है । ४ । " इत्यादि ।

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तं इदमप्यसारम् । अबुधा एव हि पूजयन्ति तान्न तु विविक्तबुद्धयः । अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम् । तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलंभात् । यदप्यभिहितं देवतातिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद्वेदविहिता हिंसा न दोषायेति तदपि विवितथम् । यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलर-

सास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वात् युष्मदीयार्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिग्रहीताविच्छैव दुःसंभवा । औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः । न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । "चतुर्थ्यन्तपदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्रः "शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु । न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत् ॥ १ ॥" सेति देवता ।

और जो तुमने यह कहा है कि; यज्ञके कर्ता पुरुषोंको लोकपूज्य देखते हैं, इसकारण वेदोक्त हिंसा निंदित नहीं है, सो यह कथन भी असार (व्यर्थ) है, क्योंकि, मूर्ख मनुष्य ही उन यज्ञकर्ताओंकी पूजा करते हैं किंतु निर्मल बुद्धिके धारक उनकी पूजा नहीं करते हैं । और मूर्खोंसे पूज्यपना प्रमाण करने योग्य नहीं है । क्योंकि वह मूर्खोंसे पूज्यपना श्वान (कुत्ते) आदिमें भी देखा जाता है अर्थात् मूर्खजन श्वान वगैरह पशुओंकी भी पूजा किया करते हैं । और जो तुमने कहा है कि; देवता, अतिथि तथा पितृ जनोंकी प्रीतिको उत्पन्न करनेके कारण वेदोक्त हिंसा दोषके लिये नहीं है; सो यह कहना भी मिथ्या है । क्योंकि संकल्प मात्र (मनमें भोजन करनेकी इच्छा) करनेसे ही प्राप्त हुए जो मनोवांछित आहारके पुद्गल हैं,[1] उनके रसका आस्वादन करनेसे तृप्त होनेवाले देवोंके वैक्रिय शरीर होनेके कारण तुम्हारी दी हुई जो ग्लानियुक्त पशुमांस आदिकी आहुति है, उसको ग्रहण करनेमें इच्छाका होना ही कठिन है । क्योंकि जो औदारिक शरीरके धारक जीव हैं; वे ही उस तुम्हारी दी हुई आहुतिको ग्रहण करनेकी योग्यता रखते हैं । और यदि तुम देवोंके दिये हुए आहारका स्वीकार करना-पना मानोगे तो 'देव मन्त्रमयशरीरके धारक हैं' इस तुम्हारी स्वीकारतामें दोष आवेगा । और देवोंके मन्त्रमय शरीरका होना तुम्हारे मतमें असिद्ध नहीं है । क्योंकि, 'देवताओंके अर्थ चतुर्थीविभक्तिसहित पदका ही प्रयोग करना चाहिये' ऐसा जैमिनिऋषिका वचन प्रमाण करने योग्य है । सो ही मृगेन्द्र नामक एक तुम्हारा आचार्य कहता है कि—"यदि देवता शब्दमय (मन्त्रमय) शरीरसे भिन्न शरीरका धारक होवे तो जैसे हम तुम मूर्त शरीरके धारक होनेसे एक ही समयमें भिन्न २ स्थानोंमें उपस्थित (विद्यमान) नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार वह देव भी मूर्त देहको धारण करनेवाला होनेसे एक ही समयमें भिन्न २

---

१ पुद्गल—। २ यदि शब्देतरत्वं मन्त्रमयशरीरापरशरीरत्वं स्यात्तस्वरूप भवति तदा भिन्नदेशस्थायिषु याज्ञिकेषु कथं सान्निध्यं कुरुते । मूर्तत्वात् सर्वत्र सांनिध्यस्याप्रसङ्गः ॥

स्थानोंमें पूजा करनेवाले पुरुषकी समीपताको प्राप्त न हो। (यहां 'सा' इस शब्दसे देवताका ग्रहण करना चाहिये.) भावार्थ—
यदि देव मंत्रमय देहके धारक न होवें तो एक ही समयमें अनेक स्थानोंमें पूजा करनेवालोंके समीप न जा सकें, इसलिये देव
मन्त्रमय शरीरके धारक ही हैं।

हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम्। अपि च योऽयं त्रेताग्निः स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्। "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः। ततश्चोत्तममध्यमाऽधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः। तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते। तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते। न पुनरेकेनैव वदनेन। किञ्च एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते। यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम्। सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धस्ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसंकरः प्रसज्येत। अन्यच्च मुखं देहस्य नवमो भागस्तदपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया।

और होम किये जातेहुए पदार्थका केवल भस्म होना ही देखा जाता है, इसकारण उस होम किये हुए पदार्थके उपभोगसे
देवोंके प्रीति उत्पन्न होती है; यह तुम्हारा कहना प्रलाप (बकवाद) करने रूपही है। और "देव अग्निरूप मुखके ही धारक
हैं अर्थात् देवोंका अग्नि ही मुख है" इस श्रुतिके वचनसे जो यह त्रेताग्नि (दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि तथा गार्हपत्याग्नि नामक
तीनों अग्नियोंका समुदाय) है; वह तेंतीस ३३ करोड़ देवोंका मुख है और जब त्रेताग्नि ही सब देवोंका मुख हुआ; तब एकही
मुखसे भोजन करते हुए उन उत्तम, मध्यम तथा जघन्य श्रेणीके सभी देवोंके परस्पर उच्छिष्ट (जूठन) खानेका प्रसङ्ग हुआ
और ऐसा होनेपर वे देव तुरुष्कों (मुसलमानों) से भी अधिक नीच हुए। क्योंकि; वे तुरुष्क तो एक ही पात्रमें भोजन करते
हैं और एकही मुखसे भोजन नहीं करते हैं। और भी विशेष वक्तव्य यह है कि;—एक शरीरमें बहुतसे मुखोंका होना किसी २ में
अर्थात् ब्रह्मा, स्वामी कार्तिकेय तथा रावण आदि व्यक्तिमें सुना जाता है और जो तुम अनेक शरीरोंमें एक मुखका
होना कहते हो; यह बड़ा आश्चर्य है। और यदि सब देवोंके एकही मुखका होना स्वीकार करोगे; तो जब कोई पुरुष एक देवको

तो पूजा आदिके करनेसे प्रसन्न करेगा और किसी दूसरे देवको निन्दाआदिके करनेसे अप्रसन्न (कुपित) करेगा तब एक ही समयमें एकही मुखसे अनुग्रह तथा निग्रहरूप वाक्यके कहनेमें संकरदोषका प्रसङ्ग होगा अर्थात् प्रसन्न हुआ देव जिस समय जिस मुखद्वारा उस पुरुषके प्रति अनुग्रह—वचन कहना चाहेगा उसी समय कुपित हुआ दूसरा देव उस पुरुषके प्रति निग्रह (तिरस्कार) रूप वचन कहना चाहेगा और ऐसी दशामें गड़बड मच जावेगी; जोकि, तुमको भी अभीष्ट नहीं है। और भी विशेष वक्तव्य यह है कि,—मुख शरीरका नवम (९ वां) भाग है, वह भी जब देवोंके दाह स्वरूप है अर्थात् भस्म करनेवाला है; तब उन सब तेंतीस करोड़ देवोंमेंसे जो प्रत्येक देवका पूर्ण शरीर है वह भी यदि दाहस्वरूप हो जायगा, तो यह सब देवोंके सब शरीरोंका दाहरूप होना तीनों लोकोंके भस्म करनेमें समर्थ ही होगा, ऐसी संभावना की जाती है। इसप्रकार इस विषयमें बहुत कुछ चर्चा की जा सकती है, परन्तु उसको यहांही समाप्त करते हैं।

यच्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलाव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवतानुग्रहहेतुक उक्तः । सोऽप्यनैकान्तिकः क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न स्वदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः । किंतु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्कार्याणीच्छावशात्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्य-सहकृतः सन्न साधयति । द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाचिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलम्भात् । स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरस्तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ।

और "जो कारीरी यज्ञादिके करनेसे वृष्टि आदिरूप फलमें व्यभिचार नहीं होता है अर्थात् कारीरी यज्ञादिके करनेसे वृष्टि आदि फल नियमसे होते ही हैं, उसमें उन यज्ञ आदिसे प्रसन्न किये हुए देवताओंका अनुग्रह ही कारण है" यह जो तुमने पहले कहा है, वह कहना भी अनैकान्तिक है क्योंकि, किसी २ स्थानमें यज्ञादिके करनेसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति न होनेरूप व्यभिचार भी देखा जाता है। और जहां व्यभिचार नहीं होता है अर्थात् यज्ञादिके करनेसे अभीष्ट फल मिलता ही है, वहां भी तुम्हारी दी हुई आहुतिके भोजन करनेसे उन देवोंका अनुग्रह नहीं हुआ है; किन्तु वह देवताविशेष अतिशय (तुम्हारी अपेक्षा अधिक) ज्ञानका धारक है अर्थात् अवधिज्ञानी है, इसकारण अपने स्थानमें स्थित हुआ ही वह देव जब अपने उद्देश्यसे किये हुए पूजा

सत्कारको जानता है; तब उस पूजा सत्कारको करनेवालेके प्रति प्रसन्नचित्त होकर उस आराधक पुरुषके उन २ अभीष्ट कार्योंको अपनी इच्छाके वशसे सिद्ध कर देता है। और जब उपयोग (पूजाकी ओर ध्यान व खयाल) आदिके न होनेसे उस अपने उद्देश्यसे की हुई पूजाको नहीं जानता है; अथवा जानता हुआ भी पूजा करनेवालेके अभाग्यसे सहकृत होता है; तब वह देव उस पूजकके कार्यको नहीं सिद्ध करता है; क्योंकि; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावआदि सहकारी कारणोंकी अपेक्षाकरके ही कार्यकी उत्पत्ति होती है; ऐसा देखा जाता है। और वह पूजोपचार पशुओंको मारनेके विना जो अन्य २ प्रकार हैं; उनसे भी सुखपूर्वक (सुगमतासे) होता है; फिर इस पापरूप ही एक फलको धारण करनेवाली कसाई पनेकी जीविकासे क्या प्रयोजन है? **भावार्थ**—देवोंकी पूजा अक्षत पुष्प नैवेद्यादि द्रव्योंके समर्पण करने आदिसे भी होती है अतः पूजाके अर्थ पशुओंकी हिंसा करना वृथा है।

यच्च छगलजाङ्गलहोमात्परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोपानुमानं तत्र कः किमाह। कासांचित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात्। केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोपो न पुनस्तद्भुक्त्या। निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात्। परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति। अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात्। अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसंपन्नपक्वान्नादिनापि साध्या। तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकितामेव ख्यापयति।

और जो तुमने यह कहा है कि;—" बकरा और वनके पशुओंका होम करनेसे पर राज्यका वशीकरण सिद्ध हो जाता है; इस कारणसे देवीकी प्रसन्नताका अनुमान होता है अर्थात् देवीके आगे बकराआदिके मारनेसे दूसरोंका राज्य अपने वशमें हो जाता है; अतः अनुमान किया जाता है कि;—बकरेके चढ़ानेसे देवी प्रसन्न होती है।" तो इस कथनमें कौन क्या कहता है? अर्थात् हम (जैनी) तुम्हारे इस कथनको असत्य नहीं कहते हैं, क्योंकि; कितनीही नीच देवियें बकरे आदिके चढ़ानेसे ही प्रसन्नताको स्वीकार करती हैं। परन्तु उस हिंसामें भी केवल उस वस्तु (बकरेके मांसादि पदार्थ) के देखने अथवा जाननेआदिसे ही देवीकी प्रसन्नता होती है और उस मांसादिके भोजन करनेसे देवी प्रसन्न नहीं होती है, क्योंकि;—यदि मांसादिके खानेसे देवी प्रसन्न होवे तो नीमके पत्ते, कड़वा तेल, कांजिक (काँजिया) और धूमांश (धूगसा) आदि जो होमे जाते हुए पदार्थ हैं;

उनकी भी भोज्यताका प्रसंग देवीको होगा। भावार्थ—यदि देवी मांसका भोजन करती है, ऐसा मानोगे तो देवीके निंब-पत्रादिका भोजन करना भी सिद्ध होगा, जो कि तुमको अभीष्ट नहीं है। परमार्थसे (यथार्थमें) तो उन २ सहकारी कारणोंके संयोगकी सहायताको धारण करनेवाले जो आराधक पुरुष हैं उनकी भक्ति ही उस २ अभीष्ट फलको उत्पन्न करती है। क्योंकि;—अचेतन चिन्तामणि रत्नादिमें ऐसा देखा जाता है। भावार्थ—जैसे चिन्तामणि रत्न अचेतन होनेसे किसीपर तुष्ट तथा रुष्ट नहीं होता है; उसी प्रकार देवी भी किसीपर तुष्ट, रुष्ट नहीं होती है; किन्तु उस आराधक पुरुषकी भक्ति ही अभीष्ट फल दे देती है। और जो अतिथियोंकी प्रीति है, वह तो संस्कारयुक्त (मन्त्रादिके संस्कारसहित) जो पकान्न आदि पदार्थ हैं, उनसे भी सिद्ध होती है; उस अतिथिप्रीतिके अर्थ महोक्ष (बड़ा बैल) और बड़े बकरे आदिका मारना केवल तुम्हारी मूर्खताको ही कहता है।

पितॄणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी। श्राद्धादिविधानेनापि भूयसां संतानवृद्धेरनुपलब्धेः। तदविधानेऽपि च केषांचिद्गर्दभशूकराजादीनामिव सुतरां तद्दर्शनात्। ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव। ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत्स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते। ते कथमिव तनयादिभिरावर्जितं पिण्डमुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः। तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्। तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम्॥ १॥" इति। कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु तस्य तदन्यकृतत्वात् जडत्वान्निश्चरणत्वाच्च।

और जो तुमने श्राद्धआदिके करनेसे पितृजनोंके प्रीतिका उत्पन्न होना कहा है, वह भी अनैकान्तिक (सव्यभिचार) दोषसे दूषित है। क्योंकि;—बहुतसे पुरुष श्राद्धआदि करते हैं, तोभी उनके करनेसे उनके संतानकी वृद्धि नहीं देखी जाती है अर्थात् श्राद्धादिके करनेपर भी कितनेही लोग संतानरहित ही रह जाते हैं। और श्राद्धादिके न करनेपर भी कितनेही पुरुषोंके गधा, सूअर, तथा बकरेआदिके समान अतिशयरूपसे (बहुतसी) सन्तानकी वृद्धि देखते हैं। इस कारणसे सिद्ध हुआ कि, जो श्राद्धआदिका करना है; वह भोले मनुष्योंको ठगनेरूप ही फलका धारक है। क्योंकि;—जो पितृजन परलोकको चले गये हैं; वे तो अपने कियेहुए पुण्य तथा पापकर्मके अनुसार देवगति तथा नारकगति आदिमें सुख अथवा दुःखको भोगते हुए ही

रहते हैं। भावार्थ—जिन्होंने पुण्य किया है; वे स्वर्गमें सुखको ही भोगा करते हैं और जिन्होंने पाप किया है; वे नरकमें दुःख ही भोगा करते है। इसकारण वे पितृजन, पुत्रादिकोंद्वारा दिये हुए पिंडका भोजन करनेके लिये इच्छाके धारक भी कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते हैं। सो ही तुम्हारे साथी कहते हैं कि,—"यदि श्राद्ध मरे हुए जीवोंकी भी तृप्तिका कारण है तो तैल भी बुझे हुए दीपककी शिखाको बढ़ावे"। भावार्थ—जैसे दीपकके बुझ जानेपर तैल उस दीपककी शिखाको नहीं बढ़ाता है; उसीप्रकार श्राद्ध भी मृतक जीवोंको तृप्त नहीं करता है। और श्राद्धआदिके करनेसे प्राप्त किया हुआ जो पुण्य है; वह भी उन मृत पितृजनोंके समीप कैसे जावे, क्योंकि वह पुण्य उनसे भिन्न जो पुत्रादिक हैं उनसे किया हुआ है, जडरूप तथा चरणों (पगों) से रहित है।

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत् तन्न। तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात्। एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति विचाल एव विलीनं त्रिशङ्कु[1]ज्ञातेन किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव। अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्कइवैतत्प्रत्येतु। विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात्। तद्वपुषि च तेषां संक्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यते। भोजनावसरे तत्संक्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात्, विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात्। यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्ध्याद्भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः। इति मुधैव श्राद्धादिविधानम्। यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम्।

अब यदि ऐसा कहो कि; "उन पितृजनोंके उद्देशसे जो श्राद्ध आदि किया जाता है; उससे दान देनेवाले पुत्रादिको ही पुण्य होता है। भावार्थ—पुत्र जो पिताके उद्देशसे श्राद्ध करता है; उस श्राद्धसे उत्पन्न हुआ पुण्य यदि उस पुत्रके पिताको प्राप्त नहीं होता है, तो न हो; उस पुत्रको तो होताही है। सो नहीं। क्योंकि,— उस पुत्रने उस श्राद्धआदिके करनेसे उत्पन्न हुए पुण्यको अपने अध्यवसायसे उतार दिया है। भावार्थ—पुत्रने उस पुण्यसे अपना कुछ भी सम्बन्ध न रखकर श्राद्धआदि

---

1 त्रिशङ्कुर्नाम राजा वशिष्ठशापाच्चण्डालो जातो विश्वामित्रं पुरोधाय कृतक्रतुस्त्यक्तभूतलः शक्रकोपेन स्वर्गान्निवर्तितोऽन्तराल एव स्थितः। तस्मान्न द्यौरपि न भूरपि तस्योपभुक्त्यै तद्वत् ॥

किया है, अतः यह पुत्र उस पुण्यका भागी नहीं हो सकता है। और ऐसा होनेपर वह पुण्य पिता और पुत्र इन दोनोंमेंसे किसी एकको भी न हुआ, त्रिशंकुराजाके दृष्टान्तसे बीचमें ही नष्ट होगया। भावार्थ—जैसे-त्रिशंकुनामक राजा वशिष्ठ ऋषिके शापसे चांडाल होगया और विश्वामित्रजीकी सहायतासे यज्ञ करके पृथ्वीको छोड़कर स्वर्गमें जाने लगा परन्तु इन्द्रने कुपित होकर उसको स्वर्गमें नहीं आने दिया, तब वह त्रिशंकु पृथ्वी और स्वर्ग इन दोनोंके बीचमें ही लटकता रहगया, यह तुम्हारे पुराणोंकी कथा है; उसी प्रकार यह श्राद्धसे उत्पन्न हुआ पुण्य पूर्वोक्त प्रकारसे पिता और पुत्र इन दोनोंमेंसे किसीको भी प्राप्त न होकर बीचमें ही रह गया। और भी विशेष यह है कि,-यह श्राद्ध आदिसे उत्पन्न हुआ पुण्य पापको उत्पन्न करता है अर्थात् अपना फल देकर पश्चात् पापमें प्रवृत्ति करता है अतः यथार्थमें वह पुण्य भी पापरूप ही है। अब यदि यह कहो कि,—"ब्राह्मणोंकरके खाया हुआ अन्न उनके अर्थ प्राप्त होता है। तो इस तुम्हारे कथनकी कौन प्रतीति करे। क्योंकि,—उस भोजनसे केवल ब्राह्मणोंके उदरका ही मोटा होना देखते हैं। और 'उन ब्राह्मणोंके शरीरमें उन पितृजनोंका प्रवेश होता है' इस कथनका तो श्रद्धान भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भोजनके समयमें अर्थात् जब ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाता है, उस समय ब्राह्मणोंके शरीरमें पितृजनोंके प्रवेशको सिद्ध करनेवाला कोई चिन्ह देखनेमें नहीं आता है तथा ब्राह्मणोंकी ही तृप्ति प्रत्यक्षमें देखी जाती है। और आकुलतापूर्वक अत्यन्त लोलुपतासे बड़े २ ग्रासोंद्वारा उस भोजनको खाते हुए ये ब्राह्मण ही प्रेतोंके समान प्रतीत होते हैं। इसकारण श्राद्धादिका करना वृथा ही है। और जो गयाश्राद्ध आदिकी याचना देखी जाती है अर्थात् लोकमें जो कितने ही पितृजन पुत्रादिके शरीरमें प्रविष्ट होकर पुत्रादिकोंको गयाश्राद्ध आदि करनेके लिये कहते हैं, वह भी उसी प्रकारके जो धोखा देनेवाले और विभंगज्ञानके धारक व्यन्तर (भूत पिशाच) आदि नीच देव हैं; उनका किया हुआ ही समझना चाहिये।

यदप्युदितमागमश्चात्र प्रमाणम्। तदप्यप्रमाणम्। स हि पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा। पौरुषेयश्चेत् सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा। आद्यपक्षे युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भवत्सिद्धान्तः—"अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते। नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः॥ १॥" द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्गः। अपौरुषेयश्चेत् न संभवत्येव। स्वरूपनिराकरणात् तुरङ्गश्रृङ्गवत्। तथाहि "उक्तिर्वचनमु-

च्यते” इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य। एतत्क्रियाऽभावे कथं भवितुमर्हति। न चैतत्केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते। उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासंभवात्। तस्मात् वचनं तत्पौरुषेयमेव। वर्णात्मकत्वात्कुमारसंभवादिवचनवत्। वचनात्मकश्च वेदः। तथाचाहुः।—“ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च। पुंसश्च ताल्वादिरतः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः। १।” इति।

और जो तुमने “हिंसाके करनेमें आगम प्रमाण है” ऐसा कहा है। सो वह तुम्हारा आगम भी हमारे प्रमाणभूत नहीं है। क्योंकि, वह आगम पौरुषेय (किसी पुरुषका रचा हुआ) है, वा अपौरुषेय (किसी पुरुषका नहीं रचा हुआ) है? यदि कहो कि;—आगम पौरुषेय है, तो हम प्रश्न करते हैं कि,—वह आगम सर्वज्ञ पुरुषकृत है, अथवा असर्वज्ञ पुरुषकृत है? यदि उत्तर दो कि,—सर्वज्ञ पुरुषकृत है; तब तो “इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको प्रत्यक्षमें देखनेवाला कोई नहीं है; अतः नित्य ऐसे जो वेदके वाक्य हैं; उनहीसे उन अतींद्रियपदार्थोंकी यथार्थताका (अस्तित्व आदि स्वरूपका) निश्चय होता है। १।” यह जो तुम्हारा सिद्धांत (मत) है; उसका खंडन होगा। यदि कहो कि,—वह आगम असर्वज्ञ पुरुषसे रचा हुआ है; तो वह असर्वज्ञ पुरुष दोषी है अर्थात् असर्वज्ञपनेरूप दोषका धारक है और वह आगम उससे किया हुआ है; अतः दोषीकृत आगममें अविश्वासका प्रसंग होगा। **भावार्थ**—दोषीकृत आगममें विश्वासका करना हम और तुम दोनोंको ही अभीष्ट नहीं है. यदि कहो कि; वह आगम अपौरुषेय है; तो जैसे-स्वरूपरहित होनेसे घोड़ेका सींग असत् है; उसी प्रकार स्वरूपका निराकरण होनेसे वह आगम अपौरुषेय हो ही नहीं सकता है। सो ही दिखलाते हैं कि,—जो उक्ति अर्थात् बोलना है; उसको वचन कहते हैं. इसकारण वचनका स्वरूप पुरुषक्रियासे युक्त है; अतः वह वचन पुरुषक्रियाके विना कैसे हो सकता है। **भावार्थ**—जब मनुष्य वचनके उच्चारण करनेमें प्रवृत्त होवे; तभी वचन उत्पन्न हो सकता है। और पुरुषक्रियारहित यह केवल वचन कहीं भी शब्द करता हुआ नहीं प्राप्त होता है। और यदि कहीं पुरुषक्रियाके विना शब्द करता हुआ यह वचन मिल जावे तो भी उस स्थानमें अदृश्य वक्ताकी अर्थात् अपने माहात्म्यसे हमारे तुम्हारे देखनेमें नहीं आनेवाला ऐसा जो वचनको कहनेवाला पुरुष है; उसकी आशंका हो सकती है। इसकारण अनुमान किया जाता है कि,—जो वचन है, वह पौरुषेय ही है। अक्षररूप होनेसे कुमारसंभव आदि ग्रन्थोंके वचनोंकी समान। **भावार्थ**—जैसे—अक्षररूप होनेसे कुमारसंभव काव्य

आदिके वचन पौरुषेय हैं; उसी प्रकार सब वचन पौरुषेय हैं। और जो वेद है; वह वचनरूप है, अत वेद भी पौरुषेय ही है। सो ही आचार्योंने कहा है कि,—"वर्णोंका समूह निश्चय करके तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होता है और वेद वर्णों- (अक्षरों) स्वरूप है, यह भी निश्चित है, और वे तालु आदि स्थान पुरुषके होते हैं, अत यह तुम्हारा आगम (वेद) अपौरुषेय है यह प्रतीति कैसे होवे अर्थात् नहीं हो सकती है। १।"

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तायज्ञयज्ञिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते। अन्यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यत्र श्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थो नियामकाऽभावात्। ततो वरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वाऽपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रामाण्यम्। आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति। एवं च तस्याऽप्रामाण्ये तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसात्मको यागश्राद्धादिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति।

और तुमने भी श्रुति (वेदकी ऋचा) को अपौरुषेय मान करके उस श्रुतिके अर्थके व्याख्यानको पौरुषेय ही स्वीकार किया है। यदि तुम श्रुतिके अर्थ व्याख्यानको पौरुषेय न मानो तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस श्रुतिका जो 'स्वर्गकी इच्छा करनेवाला अग्निहोत्र नामक आहुति दे' ऐसा प्रसिद्ध अर्थ है, उसके स्थानमें 'स्वर्गका इच्छक अग्निहा (कुत्ते) के उत्र (मांस) की आहुति देवे, यह अर्थ भी क्यों नहीं होवे। क्योंकि,—'इस शब्दका यही अर्थ करो, दूसरा अर्थ मत करो' इस विषयमें कोई नियामक नहीं है। इसकारण जैसे-तुम श्रुतिके अर्थको पुरुषकृत मानते हो, उसी प्रकार श्रुतिको भी पुरुषकृत ही मानलो तो अच्छा है। अथवा चाहे तुम आगमको अपौरुषेय ही मानो, तथापि उस अपौरुषेय आगमकी प्रमाणता नहीं है। क्योंकि;—वचनोंकी प्रमाणता आप्त (यथार्थवक्ता) पुरुषके आधीन है अर्थात् लोकमें यथार्थवादी पुरुषके कहे हुए वचन ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। अत अपौरुषेय आगम आप्तकृत न होनेसे प्रमाण नहीं है। और इसप्रकार उस तुम्हारे आगमकी अप्रमाणता सिद्ध होनेपर उस आगमका कहा हुआ और उस आगमका अनुसरण करनेवाली (वेदोंके अनुकूल उपदेश देनेवाली) स्मृतियोंद्वारा कहा हुआ जो हिंसारूप यागश्राद्धआदिका करना है, वह प्रमाणरहित ही है।

अथ योऽयं 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः। सामान्यतो विधिरित्यर्थः। वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदं विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चाऽपवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वान्न श्रौतो

हिंसाविधिर्दोषाय । "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान्" इति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः । तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञातत्वाद् ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च । अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टालम्बनत्वात् । इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह–नोत्सृष्टमित्यादि ।

शंका—जो यह **"न हिंस्यात् सर्वभूतानि"** अर्थात् 'सब जीवोंकी हिंसा मत करो।' इत्यादि वचनोंसे हिंसाका निषेध है, वह उत्सर्गका मार्ग है अर्थात् सामान्य प्रकारसे हिंसा न करनेका उपदेश है। और जो वेदोक्त हिंसा है; वह अपवादका मार्ग है अर्थात् विशेष प्रकारसे हिंसा करनेका उपदेश है। और अपवादके उपदेशसे उत्सर्गका उपदेश बाधित होता है; अतः वेदोक्त हिंसाका विधान दोषके अर्थ नहीं है अर्थात् आपने जो पहले एक वाक्यसे हिंसाका निषेध और दूसरे वाक्यसे हिंसाका विधान करनेसे हमारे पक्षमें स्ववचनविरोध नामक दोष दिया था; वह दोष हमारे पक्षमें नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्सर्गविधि और अपवादविधि इन दोनोंमेंसे अपवादविधि बलवान् होती है; ऐसा न्याय है। और आप (जैनियों) के भी एकान्तसे (सर्वथा) हिंसाका निषेध नहीं है, क्योंकि उन २ कारणोंके उत्पन्न होनेपर पृथ्वीकाय आदिके प्रतिसेवनोंकी (वध करनेकी) आज्ञा दी गई है। और ग्लान (रोगी) आदि मुनियोंका निर्वाह न होनेपर आधा कर्म आदिके ग्रहण करनेका कथन किया गया है। **भावार्थ**—उत्सर्गमार्गसे मुनियोंको अपने निमित्त किये हुए भोजनका आहार करनेकी आज्ञा नहीं है, परंतु यदि मुनि रोगी हो और उसका निर्वाह न हो सके तो वह अपने निमित्त किये हुए भोजनका भी आहार करले ऐसा अपवादमार्गसे उपदेश किया गया है। [अपने निमित्त किये हुए भोजनको ग्रहण करनेवाला मुनि आधाकर्म नामक दोपसे दूषित होता है] और यज्ञमें होनेवाली जो हिंसा है; वह अपवादरूप है। क्योंकि; देवताआदिकी प्रीतिका पुष्ट आलंबन है अर्थात् यज्ञआदिमें हिंसाके कियेविना देवताआदि प्रसन्न नहीं होते हैं। इसप्रकार वादियोंकी ओरसे परम आशंका करके स्तुतिके कर्ता आचार्य महाराज **"नोत्सृष्टम्"** इत्यादि काव्यके दूसरे चरणका कथन करते हैं।—

अन्यार्थमिति मध्यवर्त्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनोभयत्रापि सम्बन्धनीयम् । अन्यार्थमुत्सृष्टं अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तं उत्सर्गवाक्यमन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते नाऽपवादगोचरीक्रियते । यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः

१ अनिर्वाहे ।

प्रवर्तते तमेवार्थमाश्रित्याऽपवादोऽपि प्रवर्तते । तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत्परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात् । यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः । तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराऽभावे पञ्चकादियतनयाऽनेषणीयादिग्रहणमपवादः । सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराऽभावोऽसिद्ध इति वाच्यम् । "सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाऽविरई । १ ।" इत्यागमात् ।

'नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च' इस पादमें जो 'अन्यार्थ' यह मध्यवर्ती पद है; उसका डमरुकमणिन्यायसे दोनों स्थानोंपर संबंध किया गया है । "अन्यार्थं" दूसरे कार्यके लिये "उत्सृष्टम्" प्रयोग किया हुआ उत्सर्गका वाक्य "अन्यार्थेन" अन्य प्रयोजनके अर्थ प्रयोग किये हुए वाक्यसे "न अपोद्यते" अपवादके गोचर नहीं किया जाता है । भावार्थ—जिस प्रयोजनको ग्रहण करके शास्त्रोंमें उत्सर्ग प्रवर्त्तता है; उसी अर्थको लेकर शास्त्रोंमें अपवाद भी प्रवर्त्तता है । क्योंकि–जैसे नीचेपन ऊंचेपन आदिका व्यवहार एक दूसरेकी अपेक्षाको धारण करनेसे एक ही कार्यका साधक है; उसीप्रकार ये दोनों उत्सर्ग और अपवाद भी आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा (जरूरत) के धारक होनेसे एक ही प्रयोजनके साधक हैं । दृष्टान्तमें जैसे–हम जैनियोंके मतमें 'मुनिको संयमकी रक्षा करनेके लिये नवकोटियोंसे विशुद्ध अर्थात् मन, वचन और काय इन तीनोंको कृत, कारित और २ अनुमोदनासे गुणा करनेपर जो नौ भेद होते हैं, उनसे निर्दोष ऐसे आहारका ग्रहण करना चाहिये' यह उत्सर्ग है । और अमुक २ प्रकारकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावसंबंधी आपदाओंमें गिरा हुआ मुनि दूसरा कोई मार्ग न हो, तब अर्थात् जब इस उत्सर्गकथित नवकोटि विशुद्ध आहारके न मिलनेसे मरण ही होता हो, उस अवस्थामें उक्त नवकोटियोंसे एषणा करनेके अयोग्य जो पदार्थ है, उसको पांचआदि कोटियोंसे विशुद्ध करके ग्रहण कर लेवे' यह अपवाद है । और यह अपवाद भी संयमकी रक्षा करनेके लिये ही है । और "मरण ही है एक शरण जिसके ऐसे मुनिके अन्य उपायका अभाव असिद्ध है अर्थात् उत्सर्गका निर्वाह न होनेपर मरण करता हुआ मुनि अपवादको ग्रहण न करके किसी दूसरे उपायको धारण करे' ऐसा तुमको न कहना चाहिये । क्योंकि–" मुनि प्रथम तो सर्व प्रकारसे संयमकी

---

१ सर्वत्र संयमं संयमात् आत्मानमेव रक्षेत् । मुच्यतेऽतिपातेभ्यः पुनर्विशुद्धिर्नचाविरतिः । १ । इति छाया ।

ही रक्षा करे, जो संयमकी रक्षा करनेपर मरण होता हो तो; उस अवस्थामें संयमको छोड़कर आत्माकी रक्षा करे। क्योंकि— संयमका त्याग करनेसे जो दोष लगते है; उनसे वह मुनि रहित हो जाता है। कारण कि उन दोषोंकी प्रायश्चित्त आदिसे फिर शुद्धता हो जाती है। और ऐसी दशामें वह मुनि अविरति (व्रतरहित) नहीं होता है। १।" यह आगम अपवादको ग्रहण करनेका उपदेश देता है।

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्यांचिदवस्थायां किंचिद्वस्त्वपथ्यं तदेवाऽवस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम्। "उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत्। १।" इति वचनात्। यथा वलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः। एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम्। तथा च वैद्याः "कालाऽविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम्। ऋतेऽनिलश्रमक्रोध–शोककामकृतज्वरान्। १।" एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो यश्च तत्रैवाऽवस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः। इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गाऽपवादयोरिति।

इसी प्रकार आयुर्वेद (वैद्यक शास्त्रों) में भी जिस ही एक रोगमें किसी अवस्थामें कोई वस्तु अपथ्य है; उसी रोगमें दूसरी अवस्थामें वही वस्तु पथ्य है। क्योंकि—"देशकालसंबंधी रोगोंमें वह अवस्था उत्पन्न होती है कि, जिसमें न करने योग्य कार्य तो करने योग्य हो जाता है और करने योग्य कार्य छोड़ दिया जाता है। १।" ऐसा वैद्यकशास्त्रोंका कथन है। जैसे—यदि ज्वररोगी वलआदिका धारक हो तो उसको लंघन कराया जाता है और यदि ज्वररोगी क्षीणवीर्य हो तो उसको लंघन न कराके प्रत्युत भोजन कराया जाता है। इसीप्रकार किसी देश आदिकी अपेक्षासे ज्वररोगीको भी दहीका पान कराना आदि समझ लेना चाहिये अर्थात् किसी देशकी अपेक्षासे ज्वररोगीको दधिपानादि अपथ्य है और दूसरे देशकी अपेक्षा ज्वर रोगीके लिये वेही दधिपानादि पथ्य हैं। सो ही वैद्य लोग कहते हैं कि—" वात, श्रम, क्रोध, शोक और काम, इनसे उत्पन्न हुए जो ज्वर हैं उनको छोड़कर अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुए ज्वरोंमें कालका अविरोधी अर्थात् ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओंके अनुकूल ऐसा जो लंघन है; वह हितकारी (पथ्य) कहा गया है।" और इसप्रकारसे जो जिस रोगमें पहले अपथ्यका त्याग है और उसी रोगमें दूसरी अवस्था होनेपर जो उस अपथ्यका ग्रहण है; वह दोनों ही अवस्थाओंमें उसी रोगकी शांतिके

अर्थ है । और इस उक्त प्रकारसे उत्सर्ग और अपवाद इन दोनोंका एक विषय सिद्ध होगया । भावार्थ—शास्त्रोंमें जिस कार्यके लिये उत्सर्ग है; उसीके लिये अपवाद भी है, यह जो हम (जैनी) कहते हैं सो उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुका।

भवतां चोत्सर्गोऽन्यार्थः, अपवादश्चान्यार्थः । "न हिंस्यात्सर्वभूतानि ।" इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिषेधार्थः। अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः । अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते । तुल्यबलयोर्विरोध इति न्यायात् । भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधनेऽतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यं वैदिकहिंसा-विधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति । तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात् । तमन्तरेणापि च प्रकारा-न्तरैरपि तत्सिद्धिभावात् । गत्यन्तराऽभावे ह्यपवादपक्षकक्षीकारः ।

और तुम्हारे मतमें तो उत्सर्ग दूसरे प्रयोजनके लिये है तथा अपवाद दूसरे कार्यके लिये है । जैसे–'सब जीवोंकी हिंसा न करनी चाहिये' यह उत्सर्ग तो नरक आदि दुर्गतियोंमें न जानेके अर्थ है और वेदोक्त हिंसा करने रूप जो अपवाद है; यह देवता, अतिथि और पितृजनोंकी प्रीतिको सिद्ध करनेके लिये है । और इसप्रकार जब उत्सर्ग तथा अपवादके परस्पर निरपेक्षपना रहा तब अपवादसे उत्सर्गका बाध कैसे हो ? क्योंकि–'दो समान बलवालोंका विरोध रहता है अर्थात् दो बराबरके हों तो उनमें कोई किसीसे नहीं हटता है' ऐसा न्याय है । यदि उत्सर्ग तथा अपवादको भिन्न २ प्रयोजनकी साधकता होनेपर भी अपवादसे उत्सर्गका बाध मानोगे तो अतिप्रसंग होगा । 'स्वर्गका कारण होनेसे वेदोक्त हिंसाविधान भी दुर्गतिका नाश करनेके लिये ही है, इस कारण उत्सर्ग तथा अपवादके भिन्नार्थता नहीं है' यह भी तुमको न कहना चाहिये । क्योंकि उस वेदोक्त हिंसा विधिकी स्वर्गकी कारणताका पूर्वोक्त प्रकारसे खंडन कर चुके हैं । और उस वेदोक्त हिंसा करनेके विना जो अन्य २ प्रकार हैं; उनसे भी स्वर्गकी सिद्धि होती है । और जब दूसरा कोई उपाय न हो तभी अपवाद पक्षका स्वीकार होता है ।

नच वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे किंतु भवदाप्ता अपि । यदाह व्यासमहर्षिः–"पूजया विपुलं राज्य–मग्निकार्येण संपदः । तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ।१।" अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागा-दिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं वदन्नाचार्यस्तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात्कदर्थितवानेव । तथा च स एव भावाग्निहोत्रं ज्ञानपालीत्यादिश्लोकैः स्थापितवान् ।

और हम जैनी ही वेदोक्त यज्ञविधानको सुगतिका कारण नहीं मानते हैं ऐसा नहीं है किंतु तुम्हारे आप्त (यथार्थवक्ता) भी यज्ञविधानको सुगतिका कारण नहीं कहते हैं। सो ही व्यास महर्षिने कहा है कि–'पूजाके करनेसे वडा राज्य मिलता है. अग्निकार्य (वेदोक्त यज्ञोंके विधान) से संपदाओंकी प्राप्ति होती है; तप पापोंसे शुद्ध (रहित) होनेके अर्थ है और ज्ञान तथा ध्यान ये दोनों मुक्तिके दाता हैं। १।' इस श्लोकमें 'अग्निकार्य' इस शब्दसे कहे जाने योग्य जो याग आदि विधान है; उसको अन्य २ उपायोंसे भी प्राप्त होने योग्य संपदाओंका ही कारण कहकर व्यासजीने अर्थतः (वस्तुतः) वेदोक्त यज्ञविधानके सुगतिकी कारणताका खंडन कर ही दिया। और यही व्यासमहर्षि पहले दिये हुए 'ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते' इत्यादि श्लोकोंसे भावाग्निहोत्र (भावयज्ञ) को स्थापित कर चुके हैं।

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति। स्वपुत्रेत्यादि। परेषां भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं चेष्टितं स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि निजसुतनिपातनेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम्। यथा किल कश्चिद-विपश्चित्पुरुषः परुषाशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते। न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति। एवं वेदविहितहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धावपि हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्येत। अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति। यथा तस्य दुराशयस्याऽसदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव न पुनस्तत्सिद्धिः। एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवतादिपरितोषणे मनोराज्यमेव। न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्रादिदिवौकसां च तृप्तिः। प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्। इति काव्यार्थः॥ ११॥

इस प्रकार वेदोक्त हिंसाविधिका खंडन हो चुकनेपर स्तुतिके कर्त्ता आचार्य महाराज **'स्वपुत्रघातादित्यादि'** उत्तरार्धद्वारा उन मीमांसक वादियोंकी चेष्टाको उपमासे दूषित करते हैं। **"परेषाम्"** आप करके रचे हुए वचनोंसे पराङ्मुख अर्थात् आपकी आज्ञाको न माननेवाले उन वादियोंकी **"स्फुरितम्"** चेष्टा जो है सो **"स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि"** अपने पुत्रको मारकर राज्यको प्राप्त करनेके मनोरथके समान है। **भावार्थ**—जैसे कोई मूर्खपुरुष कठोरस्वभावपनेसे अपने पुत्रको मारकर राज्यलक्ष्मीकी प्राप्तिके अर्थ इच्छा करता है और उस राज्यके मिल जानेपर भी उस पुरुषके पुत्रके मारनेसे उत्पन्न हुआ जो पाप-

रूपी कलंकका पंक (कर्दम) है यह कहीं नहीं जाता है अर्थात् राज्यमिलनेपर भी वह पुरुष पुत्रके मारनेरूप कलंकसे दूषित रहता है उसी प्रकार वेदोक्त हिंसाके करनेसे देवता आदिकी प्रीतिके सिद्ध हो जानेपर भी जीवोंकी हिंसासे उत्पन्न हुआ पाप नष्ट नहीं होता है अर्थात् यज्ञकर्ता पापका भागी रहता ही है । 'नृपतिस्त्वलिप्सा' इत्यादि वाक्यमें जो आचार्यने लिप्साशब्दका प्रयोग किया है, उससे आचार्य यह विदित करते हैं कि-जैसे कोई दूसरा न कर सके ऐसे उस पुत्रको मारनेरूप खोटे कर्मसे उत्तम कर्मोंका मूल नाश करनेवाले उस महानिंद्य परिणामोंके धारक पापीपुरुषके राज्यको प्राप्त करनेमें केवल इच्छा ही है और उस राज्यकी प्राप्ति नहीं है, उसी प्रकार आगामीकालमें होनेवाली इष्टसिद्धिके लिये वेदोक्त हिंसाको करते हुए, उन कुवादियोंके भी देवताआदिको प्रसन्न करनेमें मनका राज्य ही है । उससे उन कुवादियोंके उत्तमजनोंद्वारा पूज्यपना भी नहीं होता है और इन्द्रादि देवोंकी तृप्ति भी सिद्ध नहीं होती है । क्योंकि उन कुवादियोंका यह मत पूर्वोक्त प्रकारसे खंडित हो चुका है । इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ११ ॥

सांप्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानामेकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

अब 'ज्ञान सदा परोक्ष ही है अर्थात् ज्ञान अपना प्रत्यक्ष आप नहीं कर सकता है दूसरे ज्ञानसे ही ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है' ऐसा कहनेवाले जो मीमांसकोंके भेदोंमें भट्टमतानुयायी हैं उनके मतका और 'एक आत्मामें मिला हुआ जो ज्ञान है उस ज्ञानसे अन्य जो ज्ञान है, उससे ज्ञानका निश्चय होता है' ऐसा माननेवाले जो योगमतावलम्बी हैं, उनके मतका खंडन करते हुए आचार्य इस निम्नलिखित काव्यका कथन करते हैं —

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

सूत्रभावार्थः—ज्ञान जो है वह निज और पर पदार्थके जाननेमें समर्थ ही प्रतिभासता है । जो ऐसा न हो तो पदार्थकी कथाको भी कौन कहे । तो भी हे नाथ, अन्यमतवालोंने पूर्वपक्षवादियोंके भयसे ज्ञानको अपने ज्ञानसे रहित मान लिया है ॥ १२ ॥

बोधो ज्ञानं स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते स्वस्यात्मस्वरूपस्यार्थस्य च योऽवबोधः परिच्छेदस्तत्र क्षम एव समर्थ एव प्रतिभासते । इत्ययोगव्यवच्छेदः । प्रकाशत इति क्रियाऽवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रकाशानां तु स्वार्थप्रकाशकत्वेन बोधस्यापि तत्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह । नार्थकथान्यथात्विति । अन्यथेति अर्थप्रकाशनेऽविवादाज्ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वाऽनभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् । अर्थकथा पदार्थसंबन्धिनी वार्त्ता सदसद्रूपात्मकं स्वरूपमिति यावत् । (तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च स चार्थकथया सह योजित एव) यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते तदा तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था ततो ज्ञानं तावत्स्वाववोधव्यग्रतामग्नम् । अर्थस्तु जडतया स्वरूपज्ञापनाऽसमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत् ।

व्याख्यार्थः—"बोधः" ज्ञान जो है वह "स्वार्थावबोधक्षमः" अपने और पदार्थके जाननेमें समर्थ "एव" ही "प्रकाशते" प्रतिभासता है । [इस प्रकार यहां अयोगका व्यवच्छेद है] 'प्रकाशते' इस क्रियापदका प्रयोग करनेसे ज्ञानके प्रकाशरूपता सिद्ध होती है; अतः जैसे अन्य सब प्रदीप आदि प्रकाश अपने और पदार्थके प्रकाशक है उसीप्रकार ज्ञान भी निजस्वरूप तथा पदार्थ इन दोनोंका प्रकाशक सिद्ध होता है । विपर्ययमें अर्थात् ज्ञानको निजका और पदार्थका प्रकाशक न माननेपर आचार्य 'नार्थकथान्यथा तु' इस वाक्यद्वारा दोपका कथन करते है । "अन्यथा" ज्ञानको अर्थका प्रकाशक माननेमें तो किसीको विवाद नहीं है अर्थात् सभी वादी ज्ञानको पदार्थका प्रकाशक मानते है; इसकारण शेप जो ज्ञानका स्वप्रकाशकपना है; उसको यदि न स्वीकार किया जावे तो "अर्थकथा एव" पदार्थसंबन्धी वार्त्ता अर्थात् पदार्थ है वा नहीं है; इत्यादि प्रकारका कथन ही पदार्थके विपयमें न होवे । 'नार्थकथान्यथा तु' यहां पर जो 'तु' शब्द है उसके निश्चय और भेदरूप दो अर्थ होते है; उनमेंसे यहां निश्चय अर्थको ग्रहण करके 'तु' के पर्यायी 'एव' को अर्थकथाके साथ लगा दिया गया है ।] भावार्थ—यहां पर यह है कि,—यदि ज्ञानको स्वसंविदित (अपनेद्वारा ही अपने स्वरूपको जाननेवाला अर्थात् स्वप्रकाशक) न माना जावेगा तो वह ज्ञान अपने स्वरूपको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेगा और वह दूसरा ज्ञान भी अपने स्वरूपको विदित करनेके लिये तीसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेगा तब अनवस्था दोप हो जावेगा । अतः ज्ञान तो अपने स्वरूपके

जाननेकी चिंतामें डूब जावेगा और पदार्थ स्वयं जडरूप है, इसकारण अपने स्वरूपको विदित नहीं करसकता है इसकारण पदार्थकी कथाको भी कौन कहेगा।

तथाप्येवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि परे तीर्थान्तरीयाः ज्ञानं कर्मतापन्नमनात्मनिष्ठं न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठं अस्वसंविदितमित्यर्थः प्रपेदिरे प्रपन्नाः। कुत इत्याह।–परेभ्यो भयतः। परे पूर्वपक्षवादिनस्तेभ्यः सकाशात् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसम्भावनासम्भवं यद्भयं तस्मात्तदाश्रित्येत्यर्थः।

'तथापि' इस पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञानके स्वसंविदितपना युक्तिद्वारा सिद्ध होता है तो भी 'परे' अन्यमतावलम्बी पुरुष 'ज्ञानम्' ज्ञानको ['ज्ञानम्' यह 'प्रपेदिरे' इस क्रियाका कर्म है।] 'अनात्मनिष्ठम्' नहीं है अपना निश्चय जिसके ऐसा अर्थात् अस्वसंविदित (निजस्वरूपका अप्रकाशक) "प्रपेदिरे" मानते हैं। अब वादियोंने ज्ञानको अस्वसंविदित क्यों माना है सो कहते हैं। "परेभ्य" पर जो पूर्वपक्षके कहने वाले हैं उनसे "भयतः" ज्ञानके स्वसंविदितपना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि–अपनी आत्मामें क्रियाका विरोध है, इस उपालम्भकी सम्भावनासे उत्पन्न हुए भयको ग्रहण करके ही वादियोंने ज्ञानको अस्वप्रकाशक मान लिया है। भावार्थ—'यदि भट्टमतानुयायी ज्ञानको स्वप्रकाशक (अपने प्रकाशको उत्पन्न करनेवाला) मान लें तो उनको निज आत्मामें क्रिया अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि, निज आत्मामें क्रिया माने विना ज्ञान स्वप्रकाशक कदापि नहीं होसकता है। और ऐसा माननेपर वैशेषिक आदि मतवाले उनको कहेंगे कि–ज्ञान आत्माका विशेषगुण है और 'गुणादि-र्निर्गुणक्रियः' इस वचनसे गुण क्रियारहित माना गया है, अतः तुम ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मान सकते हो' इस प्रकार वैशे-षिकोंसे डरकर ही भट्टोंने ज्ञानको अस्वप्रकाशक मान लिया है।

इत्यक्षरगमनिका विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते। भट्टास्तावदिदं वदन्ति। यज् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुर्न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमा-

१ स्वप्रकाशकत्वं च स्वप्रकाशजनकत्वं तच्च स्वात्मनि क्रियामन्तरा नितरामसम्भवि 'गुणादिर्निर्गुणक्रियः' इति वचनात्। ज्ञानं चात्मनो विशेषगुणः। इति वैशेषिकोपालम्भभयादिति तात्पर्यम्।

हितव्यापारा। ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति। तदेतन्न सम्यक्। यतः किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा। यद्युत्पत्तिः सा विरुध्यतां, न हि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे। अथ ज्ञप्तिर्नियमात्मनि विरुद्धा तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात्। प्रकाशात्मनैव प्रदीपालोकस्य। अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशको ऽस्तु आत्मानमप्यतावेन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्याय इति चेत् तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद्वाऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम्। प्रथमे प्रत्यक्षबाधो द्वितीये ऽपि सैवानवस्थापत्तिश्च।

इस प्रकार अक्षरोंका अर्थ करके अव विस्तारपूर्वक भावार्थका कथन करते हैं। प्रथम ही भट्ट यह कहते है कि–'ज्ञान स्वसंविदित नहीं होता है; क्योंकि; निज आत्मामें क्रियाका विरोध है अर्थात् निजस्वरूपमें क्रिया नहीं होती है। दृष्टान्त–जैसे अच्छे प्रकारसे शिक्षाको प्राप्त हुआ भी नटका शिष्य अपने कंधेपर चढ़नेके लिये चतुर नही है अर्थात् अपने कंधेपर नही चढ़ सकता है और वहुत तीक्ष्ण (तीखी) भी तलवारकी धार अपने छेदनेके लिये व्यापारको नही धारण करती है अर्थात् आप आपको नहीं काटती है; इसीप्रकार ज्ञान भी आप आपको नही जानता है; इसकारण ज्ञान परोक्ष (आप अपने प्रत्यक्षको न करनेवाला) ही है; सो यह भट्टोंका कहना ठीक नहीं है; क्योंकि, हम पूछते हैं कि; ज्ञानकी निज आत्मामें उत्पत्ति विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान निजस्वरूपमें उत्पन्न नही होता है ? अथवा ज्ञानकी निज आत्मामें ज्ञप्ति विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान निजस्वरूपको जानता नहीं है ? यदि कहो कि–ज्ञानकी निज आत्मामें उत्पत्ति विरुद्ध है; तो वह विरुद्ध रहो; क्योंकि, हम (जैनी) भी निज आत्मामें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं। यदि कहो कि–ज्ञानकी निजआत्मामें ज्ञप्ति विरुद्ध है; तो यह ज्ञप्ति ज्ञानके निजस्वरूपमें विरोध नहीं करती है क्योंकि; जैसे अपने कारणोंसे प्रदीपका प्रकाश प्रकाशरूप ही उत्पन्न होता है; उसीप्रकार ज्ञान भी अपने कारणोंसे ज्ञप्तिरूप (जाननेरूप) ही उत्पन्न होता है। अव यदि ऐसा कहो कि; प्रदीपका प्रकाश प्रकाशरूप उत्पन्न हुआ है; अतः वह पर (घट पट आदि) का प्रकाशक रहो, प्रकाशरूप उत्पन्न होनेसे ही वह आपको भी प्रकाशता है; इस माननेमें कौनसा न्याय है ? तो हम पूछते हैं कि; क्या वह वेचारा प्रदीपका प्रकाश स्वयं अप्रकाशित ही रहेगा ? वा कोई दूसरा प्रकाश इस प्रदीपके प्रकाशका प्रकाशक होगा ? यदि कहो कि;-प्रदीपका प्रकाश स्वयं अप्रकाशित ही रहेगा; तो इस कथनमें प्रत्यक्षसे वाधा आती है। भावार्थ—प्रदीपका प्रकाश जैसे घट आदि पदार्थोंके स्वरूपका प्रकाशक है; उसी प्रकार अपने

सम्पका भी प्रकाशक है, यह प्रत्यक्षमें देखा जाता है इसकारण प्रदीपप्रकाशको अप्रकाशित माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। यदि कहो कि एक प्रदीपके प्रकाशको किसी दूसरे प्रदीपका प्रकाश प्रकाशित करता है, तो इस कथनमें भी वही प्रत्यक्षसे बाधा आती है, क्योंकि, जहां एक ही प्रदीप प्रकाशित हो रहा है, उस स्थानमें उसको प्रकाशित करनेवाला कोई दूसरा प्रदीप देखनेमें नहीं आता है और एक प्रदीपके प्रकाशको दूसरे प्रदीपका प्रकाश और दूसरे प्रदीपके प्रकाशको तीसरे प्रदीपका प्रकाश प्रकाशित करेगा इत्यादिरूपसे अनवस्था दोषकी भी प्राप्ति होती है।

अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया प्रकासीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः। प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात्स्वयंप्रकाशत एवेति चेत्-चिरंजीव०। न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः, ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य प्रकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयापि तज्ज्ञाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव।

अब यदि ऐसा कहो कि—यह प्रदीपप्रकाश आपको अपेक्षित करके कर्मरूपसे नहीं प्रकाशित होता है। भावार्थ—एक पदार्थमें एक ही क्रियाद्वारा निरूपण किये हुए कर्तृत्व और कर्मत्वरूप दोनो धर्म नहीं रह सकते हैं इस कारण जो प्रदीप प्रकाशने रूप क्रियाका कर्ता है; वही प्रदीप प्रकाशनेरूप क्रियाका कर्म नहीं हो सकता है, अतः हम प्रदीपको निजका प्रकाशक नहीं मानते हैं, अर्थात् प्रदीपप्रकाश अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है; और प्रकाशरूपतासे उत्पन्न हुआ है, इसकारण स्वयं प्रकाशित होता ही है; तो चिरंजीव, हम भी कर्मरूपतासे ही प्रतिभासते हुए ज्ञानको स्वसंविदित (स्वप्रकाशक) नहीं कहते हैं अर्थात् जैसे तुम प्रकाशरूपतासे उत्पन्न हुए प्रदीपप्रकाशको स्वतः प्रकाशित मानते हो उसीप्रकार हम भी ज्ञप्तिरूपसे उत्पन्न हुए ज्ञानको स्वसंविदित मानते हैं, क्योंकि, 'ज्ञान स्वयं प्रतिभासता है' इत्यादि प्रयोगोंमें कर्मरहित ज्ञान ही प्रतिभासता है। और जैसे हमारे पक्षमें 'ज्ञान अपने आपको जानता है' इस वाक्यमें कर्मरूपतासे भी ज्ञानका भान होता है, उसीप्रकार तुम्हारे पक्षमें प्रदीप अपने आपको प्रकाशता है, इस वाक्यमें प्रदीप भी कर्मरूपतासे जाननेमें आता ही है।

---

१ एकत्र पदार्थे एकक्रियानिरूपितकर्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधादित्यत्र योजनीयम्। २ 'ज्ञानं स्वं जानामीति' वाक्यात् ज्ञानविषयकज्ञानपागदमिति माप्यबोधतः ज्ञानस्यापि कर्मतया भानं भवतीति भावः।

यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः, सोऽयुक्तः अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः । घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवज्ज्ञप्तेरप्यत्रभासमानत्वात् । न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। न च ज्ञानान्तरादुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् । उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थोपलम्भात्तस्योपलम्भे ऽन्योन्याश्रयदोषः[1] ।

और जो तुमने 'अपनी आत्मामें क्रियाका विरोध है' यह दोष ज्ञानके स्वसंविदित माननेमें उत्पन्न किया है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि, अनुभवसे सिद्ध पदार्थमें विरोधकी प्राप्ति नही होती है; कारण कि 'मै घटको जानता हूं' इत्यादि प्रयोगमें जैसे कर्त्ता और कर्मका अनुभव होता है; उसीप्रकार ज्ञप्तिका भी भान होता है । और परोक्ष ज्ञानके पदार्थका जानना सिद्ध नही होता है अर्थात् ज्ञानको अस्वप्रकाशक माननेपर ज्ञान परोक्ष हो जावेगा और तब वह परोक्षज्ञान पदार्थको जान नहीं सकता है । यदि कहो कि; उस परोक्ष ज्ञानका ज्ञान दूसरे ज्ञानसे हो सकता है । सो ठीक नहीं । क्योंकि वह दूसरा ज्ञान भी अज्ञात (नहीं जाना हुआ) अर्थात् परोक्ष है; इसकारण प्रस्तुत जो पहला ज्ञान है, उसका प्रत्यक्ष नही कर सकता है । और यदि यह कहोगे कि; उस दूसरे ज्ञानके ज्ञानको तीसरा ज्ञान कर सकता है तो ऐसा माननेपर अनवस्था आती है । यदि कहो कि; पदार्थके ज्ञानसे उस ज्ञानका ज्ञान होगा तो ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रयदोष प्राप्त होगा अर्थात् 'ज्ञानका ज्ञान होनेसे तो अर्थका ज्ञान होगा और अर्थका ज्ञान होनेसे ज्ञानका ज्ञान होगा' इस प्रकार ज्ञान और अर्थ ये दोनों ही अपने ज्ञानके लिये परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाको धारण करेंगे ।

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञानं न स्यात् इत्यर्थापत्त्या[2] तदुपलम्भ इति चेत् न । तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् । अर्थापत्त्यन्तरात्तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेस्तदवस्थः परिभवः । तस्मादर्थोन्मुखतयैव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात्स्वसंविदितत्वम् ।

---

१ परस्परसापेक्षत्वमन्योन्याश्रयत्वम् । २ 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र यथा दिवसाधिकरणकभोजनकर्तृत्वाभावविशिष्टदेवदत्तस्य रात्रिभोजनमन्तरा पीनत्वं नोपपद्यत इति पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनं कल्प्यते। तथैवात्र घटज्ञानमन्तरा घटप्राकट्यं नोपपद्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानस्योपलम्भः (ज्ञानं) कल्प्यते ।

यदि ऐसा कहो कि,—जो ज्ञान न होवे, तो पदार्थोंका प्रकाश न होवे; इस अर्थापत्तिसे उस ज्ञानका ज्ञान हो जाता है। भावार्थ—जैसे 'देवदत्त मोटा है और दिनमें भोजन नहीं करता है' इस स्थलमें यदि देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता है तो मोटा कैसे हो रहा है? इस प्रश्नके उत्तरमें अर्थापत्तिसे कहना पड़ता है कि,—देवदत्त रात्रिमें भोजन करता है। क्योंकि, यदि ऐसा न कहें तो देवदत्तके मोटापना सिद्ध न होवे, इसी प्रकार यहां भी घटपदार्थके ज्ञानके विना घटका प्रकाश नहीं हो सकता है और घटका प्रकाश होता ही है, इस कारण घटका प्रकाश सिद्ध करनेके लिये अर्थापत्तिसे घटज्ञानका ज्ञान हो जाता है। *सो यह कहना भी ठीक नहीं है।* क्योंकि, जैसे *ज्ञान ज्ञापक* (*जनानेवाला*) है, उसी प्रकार अर्थापत्ति भी ज्ञापक है अतः स्वयं अज्ञात (नहीं जानी हुई) यह अर्थापत्ति भी ज्ञानको नहीं जना सकती है। और यदि दूसरी अर्थापत्तिसे उस अर्थापत्तिका ज्ञान मानोगे तो अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष आवेगा; इसकारण दूसरे ज्ञानको पहले ज्ञानका प्रकाशक माननेमें जो तुमको दोष आया था, वही यहां भी आगया। अतः सिद्ध हुआ कि—जैसे ज्ञान अर्थोन्मुखतासे प्रतिभासता है अर्थात् अर्थका ज्ञान करता है, उसी प्रकार स्वोन्मुखतासे भी ज्ञान प्रतिभासता है अर्थात् ज्ञान अपने ज्ञानको भी आप ही करता है। और ऐसा सिद्ध होनेसे ज्ञानके स्वसंविदितपना सिद्ध हो गया।

नन्वनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः[1]। प्रयोगस्तु ज्ञानमनुभवरूपमप्यनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वाद् घटवत्। अनुभाव्यं च भवद्भिरिष्यते ज्ञानं, स्वसंवेद्यत्वात्। नैवम्। ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेवानुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात्। न चानुभूतेरनुभाव्यत्वे दोषोऽर्थापेक्षयानुभूतित्वात्स्वापेक्षया चानुभाव्यत्वात्। स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववद्विरोधाभावात्।

शंका—यदि आप अनुभूति (ज्ञप्ति) को अर्थात् जाननेरूप क्रियाको अनुभाव्य (अनुभव करने योग्य) अर्थात् ज्ञेय (जानने योग्य) मानोगे तो घटादिके समान ज्ञानके भी अनुभूतिसे रहितताका प्रसंग होगा अर्थात् जैसे घटादि पदार्थ अनुभाव्य होनेसे अनुभूतिरूप नहीं हैं; उसीप्रकार ज्ञान भी अनुभाव्य (ज्ञेय) होनेसे अनुभूति (ज्ञप्ति) स्वरूप न रहेगा। इस विषयमें अनुमानका प्रयोग इस प्रकार है कि,—ज्ञान अनुभवरूप है तो भी अनुभूति नहीं है, अनुभाव्य होनेसे, घटके समान। और

---

1 यथा घटादेरनुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वं नास्ति तथा अनुभूतेरप्यनुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसङ्गात्। अतोऽनुभूतेरनुभाव्यत्वं न स्वीकार्यमिति भावः।

आप ज्ञानको अनुभाव्य स्वीकार करते ही है; क्योंकि, आपके मतमें ज्ञान स्वसंविदित है। **समाधान**—यह तुम्हारा कथन ठीक नही है। क्योंकि; जैसे ज्ञाता (जाननेवाले) को ज्ञातृतासे अर्थात् मैं जाननेवाला हूं इसरूपसे अनुभव होता है; उसीप्रकार अनुभूतिके अनुभूतिपनेसे ही अनुभव होता है, और अनुभूतिको अनुभाव्यता दोप नहीं है अर्थात् अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें जो जो तुमने दोप दिया है, वह नहीं हो सकता है, क्योंकि; वह अनुभूति अर्थकी अपेक्षासे तो अनुभूति है और अपनी अपेक्षासे अनुभाव्य है; इसकारण जैसे एक ही पुरुप अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्रत्व और अपने पुत्रकी अपेक्षासे पितृत्व धर्मको अविरोधतासे धारण करता है अर्थात् भिन्न २ अपेक्षासे पुत्रत्व और पितृत्वरूप दोनों धर्मोको धारण करनेसे उस पुरुषमें कोई विरोध उत्पन्न नही होता है, इसी प्रकार अनुभूतिको भिन्न २ अपेक्षासे अनुभूतित्व और अनुभाव्यत्व धर्मको धारण करनेवाली माननेमें कोई विरोध (दोप) नहीं है।

अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः। तथा हि–ज्ञानं स्वयं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति प्रकाशकत्वात्प्रदीपवत्। संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात्प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत् न। अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः।

और अनुमानसे भी ज्ञानके स्वसंवेदनता सिद्ध होती है। सो ही अनुमानका प्रयोग दिखाते हैं कि;—ज्ञान जो है वह स्वयं (अपनेको) प्रकाशता हुआ ही अर्थको प्रकाशित करता है; प्रकाशक होनेसे, प्रदीपके समान अर्थात् जैसे प्रकाशक होनेसे प्रदीप आपके और पदार्थके दोनोंके स्वरूपको प्रकट करता है; उसीप्रकार ज्ञान भी प्रकाशक है अतः अपने और पदार्थके दोनोंके स्वरूपको जानता है। यदि कहो कि; ज्ञान प्रकाश्य (प्रकशित होने योग्य) है अतः ज्ञान प्रकाशक (प्रकाश करनेवाला) सिद्ध नहीं होता है सो नहीं, क्योंकि; ज्ञान जो है वह उत्पन्न होते ही अज्ञानके नाश आदिको करता है; इस कारण ज्ञानके प्रकाशकपना सिद्ध होता है।

ननु नेत्रादयः प्रकाशका अपि स्वं न प्रकाशयन्तीति प्रकाशकत्वहेतोरनैकान्तिकतेति चेत्, न नेत्रादिभिरनैकान्तिकता। तेषां लब्ध्युपयोगलक्षणभावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा अर्थप्रतीतित्वात्। यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः। यथा घटः।

१ ज्ञानं स्वप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इति तात्पर्यम्।

यदि ऐसा कहो कि,—नेत्र आदि प्रकाशक हैं तो भी निजका प्रकाश नहीं करते हैं अर्थात् नेत्र दूसरे पदार्थोंको तो प्रकट करता है, परंतु स्वयं अप्रकट रहता है, इस कारण प्रकृत अनुमानमें जो आपने प्रकाशकत्व हेतु दिया है, वह अनैकान्तिक है अर्थात् 'यह प्रकाशकत्व हेतु ज्ञान आदिमें तो स्वप्रकाशकताको सिद्ध करता है और नेत्र आदिमें स्वप्रकाशकताको सिद्ध नहीं करता है, इसकारण व्यभिचारसहित है' सो उत्तर यह है कि,—इस अनुमानमें प्रकाशकत्व हेतुके नेत्र आदिसे अनैकान्तिकता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि; लब्धि और उपयोगरूप जो भाव इन्द्रियें हैं, उन भाव इन्द्रियोंरूप जो नेत्र आदि हैं, उनके ही प्रकाशकपना है और जो भावइन्द्रियरूप नेत्र आदि हैं; वे स्वसंवेदन (स्वप्रकाशक) रूप हैं ही। भावार्थ—हमारे (जैनियोंके) मतमें द्रव्य और भावरूप भेदोंसे इन्द्रियें दो प्रकारकी हैं, इनमें द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकारकी है एक निर्वृत्तिरूप और दूसरी उपकरणरूप, शरीरमें जो नेत्र आदिके आकारोंकी रचना है, वह निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय है, और (नेत्रादिकी) रक्षा करनेके लिये जो नेत्रादिपर डोला पापणी आदि है वह उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय कहलाती है। यह द्रव्येन्द्रिय जडरूप है। और लब्धि तथा उपयोग, इन भेदोंसे भाव इन्द्रिय भी दो प्रकारकी है, इनमें नेत्र आदिमें स्थित आत्मप्रदेशोंमें जो देखनेकी शक्तिकी प्रकटता है सो लब्धिरूप भावेन्द्रिय है और जो देखने आदिकी तरफ आत्माका ध्यान होता है; वह उपयोगरूप भावेन्द्रिय है। यह भावेन्द्रिय चेतनरूप है, और जैसे पदार्थको जानती है उसीप्रकार अपने स्वरूपको भी जानती है। इसकारण तुम भावेन्द्रियरूप नेत्र आदिको अप्रकाशक कहकर उससे हमारे प्रकाशकत्व हेतुमें अनैकान्तिकता सिद्ध नहीं कर सकते हो। और ज्ञान जो है; वह स्वप्रकाशक है, पदार्थको जाननेवाला होनेसे। जो स्वप्रकाशक नहीं है, वह पदार्थका ज्ञाता भी नहीं है। जैसे कि-घट। भावार्थ—अर्थका प्रकाशक होनेसे ज्ञान स्वप्रकाशक है, जो अर्थका प्रकाशक नहीं है, वह स्वप्रकाशक भी नहीं है, जैसे कि, घट अर्थका प्रकाशक नहीं है, इसलिये स्वप्रकाशक भी नहीं है। इस अनुमानके प्रयोगसे भी ज्ञानके स्वसंवेदनता सिद्ध होती है।

तदेवं सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे "संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं तस्मादर्थापत्तिस्तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलम्भः" इत्येवंरूपा त्रिपुटीप्रत्यक्षकल्पना भट्टानां प्रयासफलैव।

इस प्रकारसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणद्वारा ज्ञानके स्वसंवेदनपना सिद्ध होता है तो भी भट्टमतानुयायियोंने जो 'सत्संप्रयोग होनेपर (पदार्थका इन्द्रियोंके साथ संबंध होनेपर) इन्द्रियबुद्धिजन्मरूप लक्षणका धारक (इन्द्रियोंमें जो बुद्धि उत्पन्न होती

है उसरूप) ज्ञान होता है, उस ज्ञानसे अर्थका प्रकाश होता है; पदार्थके प्रकाशसे अर्थापत्ति होती है और अर्थापत्तिसे प्रवर्त्तक (पदार्थको प्रकाशित करनेवाले) ज्ञानका ज्ञान होता है' इस प्रकारसे त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना की है; अर्थात् तीन पुट (चकर) लगाकर ज्ञानका प्रत्यक्ष माना है वह केवल परिश्रमरूप फलको ही धारण करती है। भावार्थ—भट्टोंने ज्ञानको स्वसंवेदन न मानकर जो इतना वाग्जाल फैलाया है; उससे लाभके बदले परिश्रमकी वृद्धिरूप हानि ही होती है।

यौगास्त्वाहुः। ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम् ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्। घटवत्। समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेताऽनन्तरोद्भविष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते न पुनः स्वेन। नचैवमनवस्था। अर्थावसायिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति।

और यौग (नैयायिकमतावलम्बी पुरुष) यह कहते है कि,—'ज्ञान अपनेसे भिन्न जो कोई दूसरा है; उससे प्रकाशित होता है, ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय (प्रमाणका विषय) होनेसे घटके समान। भावार्थ—जैसे घट पदार्थ ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न है और प्रमेय है उसीप्रकार संसारी जीवोंका ज्ञान भी ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न तथा प्रमेय है अतः जैसे घटका ज्ञान घटसे भिन्न जो ज्ञान है; उससे होता है; उसीप्रकार ज्ञानका ज्ञान भी दूसरेसे होता है अर्थात् जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उसी आत्मामें समवायसंबंधसे रहनेवाला तथा ज्ञानकी उत्पत्तिके पश्चात् ही उत्पन्न होनेवाला ऐसा जो मानस प्रत्यक्ष है उसीके द्वारा जाना जाता है और अपने द्वारा अपना ज्ञान नहीं करता है। और इस हमारे मतमें अनवस्था दोष नहीं होता है। क्योंकि; प्रमाता (ज्ञानको करनेवाला) जो है, वह पदार्थका निश्चय करानेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कृतार्थ (संतुष्ट) हो जाता है। और जब प्रमाताके पदार्थके ज्ञानकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) होती है; तो उस जिज्ञासामें भी ज्ञान उत्पन्न होता ही है।'

तदयुक्तं पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथा हि–विवादास्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं ज्ञानत्वात्। ईश्वरज्ञानवत्। न चायं वाद्यप्रतीतो दृष्टान्तः पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः।

सो यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि; ज्ञानको अस्वसंविदित माननेरूप जो पक्ष है, वह प्रत्यनुमानसे बाधित है; इसकारण हेतु कालात्ययापदिष्ट है। उस प्रत्यनुमानका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे है।—"विवादका स्थानभूत जो ज्ञान है; वह स्वसंविदित है; ज्ञान होनेसे ईश्वरके ज्ञानके समान अर्थात् जैसे ईश्वरका ज्ञान स्वप्रकाशक है; उसीप्रकार अन्यजीवोंका ज्ञान भी स्वप्रकाशक है, क्योंकि; ईश्वरज्ञानके समान यह भी ज्ञान है" और इस दृष्टान्तको वादी (जैनी) नहीं मानते हैं अर्थात् जैनी ईश्वरको नहीं मानते हैं और जब ईश्वरको नहीं मानते हैं तो यहाँपर ईश्वरके ज्ञानका दृष्टान्त देकर उसके द्वारा हमारा खंडन कैसे कर सकते हैं यह न कहना चाहिये, क्योंकि जैनियोंने भी किसी २ पुरुषविशेषको ईश्वररूप स्वीकार किया है, इसकारण जैनियोंके ईश्वरका ज्ञान प्रसिद्ध ही है।

व्यर्थविशेष्यश्चात्र तव हेतुः समर्थविशेषणोपादानेनैव साध्यसिद्धेरभिसिद्धेः धूमवत्त्वे सति द्रव्यत्वादितिवत् ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्येतावतैव गतत्वात्। न हीश्वरज्ञानादन्यत्स्वसंविदितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति क्रियेत, भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात्।

और इस प्रकृत अनुमानमें जो तुमने हेतु दिया है; वह व्यर्थविशेष्यका धारक है, क्योंकि, समर्थविशेषणको ग्रहण करनेसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। भावार्थ—जैसे पर्वत अग्निका धारक है धूमवान् होकर द्रव्यत्व होनेसे, इस अनुमानमें धूमवान् होनेसे इस समर्थ विशेषणके देनेसे ही पर्वतमें अग्निकी सिद्धि हो जाती है अत द्रव्यत्वरूप जो हेतुका विशेष्य है; वह व्यर्थ है, उसीप्रकार ज्ञान किसी दूसरेसे प्रकाशित होता है ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेयत्व होनेसे, इस अनुमानमें ईश्वरज्ञानसे भिन्न होनेसे, इस समर्थ विशेषणके देनेसे ही ज्ञानके परप्रकाशकता सिद्ध हो जाती है, इस कारण तुमने जो हेतुका प्रमेयत्वरूप विशेष्य दिया है; वह व्यर्थ (निष्प्रयोजन) है क्योंकि, ईश्वरके ज्ञानके सिवाय अन्य कोई दूसरा ज्ञान स्वसंविदित अथवा अप्रमेय नहीं है कि; जिसको दूर करनेके लिये तुम प्रकृतअनुमानमें प्रमेयत्व होनेसे, ऐसा कथन करो, कारण कि तुम्हारे मतमें ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न जितने ज्ञान हैं, वे सभी प्रमेयत्वको धारण करते हैं।

अप्रयोजकश्चायं हेतुः सोपाधित्वात्। साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलूपाधिरभिधीयते। तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत्। उपाधिश्चात्र जडत्वम्। तथाहि—ईश्वरज्ञानाऽन्यत्वे प्रमेयत्वे च

सत्यपि यदेव जडस्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते। स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणम्। न च ज्ञानं जडस्वरूपम्। अतः साधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य। साध्येन समव्याप्तिकत्वं चास्य स्पष्टमेव। जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य कचिदप्यदर्शनात्। इति।

और जो तुमने अनुमानके प्रयोगमें 'ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय है' ऐसा हेतु दिया है; वह अप्रयोजक है; क्योंकि, यह हेतु उपाधिसहित है। भावार्थ—जो साधनमें तो अव्यापक हो और साध्यके साथ व्याप्त रहे उसको उपाधि कहते हैं; जैसे "**गर्भस्थः श्यामो मैत्रतनयत्वात्, इतरतत्पुत्रवत्**" अर्थात् गर्भमें स्थित जो पुत्र है वह श्याम (काला) है क्योंकि मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्यपुत्रोंके समान अर्थात् जैसे मैत्रके अन्य पुत्र काले हैं; उसीप्रकार मैत्रका गर्भस्थ पुत्र भी काला है। इस अनुमानके प्रयोगमें शाक आदिके आहारका परिणाम जो है; वह उपाधि है अर्थात् गर्भस्थ मैत्रपुत्रकी श्यामताको सिद्ध करनेमें मैत्रके अन्य पुत्र कारण नहीं हैं; क्योंकि; जो मैत्रके पुत्र नहीं हैं; उनमें भी श्यामता देखी जाती है। इसकारण गर्भस्थकी श्यामताका कारण शाकादिके आहारका परिणाम है अर्थात् उस गर्भस्थ पुत्रकी माता शाक आदिका भक्षण अधिक करेगी तो वह पुत्र श्याम होगा। और यह शाकादिके आहारका परिणाम उपाधि है; क्योंकि, साधन (हेतु) रूप जो मैत्रके अन्य पुत्र हैं; उनमें तो नहीं रहता है और श्यामतारूप जो साध्य है; उसमें रहता है; उसी प्रकार जो इस प्रकृत अनुमानमें भी जडत्व उपाधि है सो ही दिखलाते है—ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न तथा प्रमेय होनेपर भी जो जडरूप स्तंभ आदि पदार्थ है वेही अपनेसे भिन्न ऐसे किसी परपदार्थसे प्रकाशित होते हैं, क्योंकि; जो अपने प्रकाशित होनेके लिये परपदार्थका मुख देखना अर्थात् परपदार्थकी अपेक्षा (जरूरत) रखना है; वही जडका लक्षण है। और ज्ञान जडरूप नहीं है; इस कारण यह जडत्व ईश्वरज्ञानसे भिन्न और प्रमेय ऐसे ज्ञानरूप साधनमें नहीं रहता है। और यह जडत्व स्वान्यप्रकाशकतारूप साध्यके साथ व्याप्तिको धारण करता है; यह स्पष्ट ही है। क्योंकि; जडत्वको छोड़कर स्वप्रकाशकताका अभाव और स्वप्रकाशताके अभावको छोड़कर जडत्व ये दोनों कहीं भी नहीं देखे जाते हैं अर्थात् जो जड़ है; वही अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थ द्वारा प्रकाशित होता है और जो पदार्थ परसे प्रकाशित होता है वही जड़ है। भावार्थ—जैसे शाक आदिके आहारका परिणाम मैत्रपुत्ररूपी साधनमें न रहकर श्यामतारूपी साध्यके साथ व्याप्तिको धारण

करनेसे उपाधि है; उसीप्रकार जड़त्व जो है वह ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न प्रमेयरूपी साधनमें न रहकर परप्रकाशकतारूपी साध्यके साथ व्याप्तिके धारण करनेसे उपाधि है।

यच्चोक्तं "समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम्" इत्यादि। तदप्यसत्यम्। इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरुत्पद्यमानयोः क्रमानुपलक्षणत्वात् इति। आशूत्पादात् क्रमानुपलक्षणमुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् इति चेन्न। जिज्ञासाव्यवहितस्यार्थज्ञानस्योत्पादप्रतिपादनात्। न च ज्ञानानां जिज्ञासासमुत्पाद्यत्वं घटते। अजिज्ञासितेष्वपि योग्यदेशेषु विषयेषु तदुत्पादप्रतीतेन। न चार्थज्ञानमयोग्यदेशम्। आत्मसमवेतस्यास्य समुत्पादात्। इति जिज्ञासामन्तरेणैवार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। अथोत्पद्यतां नामेदं को दोषः, इति चेत् नन्वेवमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्यपरज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। तत्रापि चैवमेवायम्। इत्यपरापरज्ञानोत्पादपरम्परायामेवात्मनो व्यापारान्न विषयान्तरसंचारः स्यादिति। तस्माद्यज्ज्ञानं तदात्मबोधं प्रत्यनपेक्षितज्ञानान्तरव्यापारम्। यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात्प्राग्भाविगोचरान्तरग्राहिधारावाहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्। ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानम्। इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरज्ञेयतां युक्तिं सहते। इति काव्यार्थः॥ १२॥

और जो तुमने यह कहा है कि, उत्पन्न हुए ज्ञानका ज्ञान उसी आत्मामें मिले हुए और उस ज्ञानके पश्चात् उत्पन्न हुए मानस प्रत्यक्षद्वारा होता है, सो भी असत्य है। क्योंकि– इसप्रकारसे उत्पन्न होते हुए पदार्थके ज्ञानमें और पदार्थज्ञानके ज्ञानमें क्रम नहीं देखा जाता है, अर्थात् यह पदार्थका ज्ञान तो पहले उत्पन्न हुआ और यह पदार्थके ज्ञानका ज्ञान पीछे उत्पन्न हुआ इस प्रकारका क्रम नहीं देखा जाता है।

यदि कहोकि,–जैसे सौ १०० कमलोंके पत्रोंके समुदायको सूईसे बींधा जावे तो उसमें क्रम नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि, वे शीघ्रतासे भेदे गये हैं, इसीप्रकार पदार्थज्ञान और पदार्थज्ञानका ज्ञान ये दोनों शीघ्र उत्पन्न होते हैं, अत इनमें क्रम नहीं देखा जाता है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि तुमने जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा)से अव्यवहित अर्थात् जिज्ञासाके साथ ही जिज्ञासासे ही अर्थज्ञानकी उत्पत्ति होती है; ऐसा प्रतिपादन किया है। और ज्ञान जो हैं वे जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) से उत्पन्न होते हैं यह भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, जो अजिज्ञासित ऐसे योग्यदेशस्थ विषय हैं अर्थात् जो इन्द्रियोंके विषय जानने योग्य स्थानोंमें विद्यमान हैं, उन विषयों-

को जाननेकी इच्छा किये विना भी उन विषयोंका ज्ञान उत्पन्न होनेकी प्रतीति होती है। और पदार्थका ज्ञान अयोग्यदेश नहीं है अर्थात् जानने योग्य स्थलमें विद्यमान नहीं है ऐसा नहीं है, क्योंकि; यह आत्मामें समवेत (समवाय संबंधसे संबद्ध हुआ) उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होता है।

यदि कहोकि,—जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानमें ज्ञान उत्पन्न होजाओ क्या दोष है, तो यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा माननेपर उस अर्थज्ञानके ज्ञानमें दूसरे ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा और उसमें भी इसीप्रकार फिर दूसरे ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा और इसप्रकार दूसरे दूसरे ज्ञानोंकी उत्पत्तिकी परंपरामें ही अपना व्यापार होनेसे ज्ञानका दूसरे विषयोंमें संचार नहीं होगा। इस कारण जो ज्ञान है वह अपना ज्ञान होनेके लिये किसी दूसरे ज्ञानके व्यापारकी अपेक्षा नहीं करता है। जैसे कि— एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे पहले होनेवाले विषयान्तरको ग्रहण करनेवाले धारावाही ज्ञानके प्रबंधका अन्तिम ज्ञान अपने ज्ञानके लिये किसी दूसरे ज्ञानके व्यापारकी अपेक्षा नहीं करता है। और यहां विवादापन्न जो ज्ञान है; वह रूप आदिका ज्ञान है। **भावार्थ**—जैसे घटका ज्ञान होनेके पश्चात् पटका ज्ञान किया जावे तो जबतक पटका निश्चय न हो तबतक **'पटोऽयं पटोऽयम्'** अर्थात् यह पट है यह पट है इत्यादि रूप जो धारावाही ज्ञान है; उस धारावाही ज्ञानके प्रबंधका जो पटका निश्चय करानेवाला अंतिम ज्ञान है; वह अपने ज्ञानके लिये दूसरे ज्ञानकी सहायता नहीं चाहता है; इसी प्रकार जो ज्ञान है; वह अपने ज्ञानके लिये किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता है। इस उक्त प्रकारसे सिद्ध हुआ कि,— नैयायिकमतवाले जो ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे अर्थात् मानसप्रत्यक्षसे ज्ञेय (जानने योग्य) मानते हैं सो युक्तिको सहन नहीं करता है अर्थात् मिथ्या है। इसप्रकार काव्यका अर्थ है। १२।

अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याऽपरपर्यायमायावशात्प्रतिभासमानत्वेन विश्वत्रयवर्त्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते। तन्मतमुपहसन्नाह।—

अब जो ब्रह्माद्वैतवादी (एक आत्माको ही पदार्थरूप कहनेवाले) अर्थात् वेदान्ती अविद्या है दूसरा नाम जिसका ऐसी मायाके वशसे प्रतिभासमान होनेसे तीन लोकमें विद्यमान पदार्थोंके समूहको अपारमार्थिक सिद्ध करते हैं अर्थात् तत्त्वरूप नहीं मानते हैं; उनके मतका हास्य करते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं।—

माया सती चेद्द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥ १३ ॥

सूत्रभावार्थ—हे भगवन् ! यदि वेदान्ती मायाको सत्रूप मानें तब तो दो तत्त्व सिद्ध होजावें । अर्थात् एक तो उनका माना हुआ आत्मब्रह्मतत्त्व है ही और दूसरा सत्रूप माननेसे मायारूप तत्त्व भी सिद्ध होजावे । और यदि वे मायाको असत्रूप मानें तो आश्चर्य है कि, यह तीनलोकवर्ती पदार्थोंका समूहरूपी प्रपंच कैसे दृष्टिगोचर होता है । और यदि वे वेदान्ती यह कहें कि, यह माया भी है और अर्थक्रियामें समर्थ पदार्थोंको दिखलानेमें भी समर्थ है तो क्या आपसे पर (आपकी आज्ञाके बहिर्भूत) उन वेदान्तियोंके माता भी है और वंध्या भी है ॥ १३ ॥

व्याख्या । तैर्वादिभिस्तात्त्विकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया अविद्या प्रपञ्चहेतुः परिकल्पिता सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गतिः । सती सद्रूपा चेत् तदा द्वयतत्त्वसिद्धिर्द्वावयवौ यस्य तद् द्वयं तथाविधं यत्तत्त्वं परमार्थस्तस्य सिद्धिः । अयमर्थः एकं तावत्त्वदभिमतं तात्त्विकमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा सद्रूपतयाङ्गीक्रियमाणत्वात् । तथा चाद्वैतवादस्य मूले निहितः कुठारः । अथेति पक्षान्तरद्योतने । यदि असती गगनाम्भोजवदवस्तुरूपा सा माया ततो हन्तेत्युपदर्शने आश्चर्ये वा, कुतः प्रपञ्चः अयं त्रिभुवनोदरविवरविवर्त्तिपदार्थसार्थरूपप्रपञ्चः कुतो न कुतोऽपि सम्भवतीत्यर्थः । मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युपगमात्, अवस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वोपाख्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणैतादृशविवर्तजननेऽसमर्थत्वात् । किलेन्द्रजालादौ मृगतृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम्, अत्र तु तदुपलम्भात्कथं मायाव्यपदेशः श्रद्धीयताम् ।

व्याख्यार्थः—उन वेदांतवादियोंने तत्त्वस्वरूप आत्मब्रह्मसे जुदी ऐसी जिस माया (अविद्या) को प्रपंचकी कारणभूत माना है, वह माया या तो सत्रूप होवे और या असत्रूप होवे; ये दोही विकल्प हैं । “ सती चेत् ” यदि वादी मायाको सत्रूप कहे; तब तो “ द्वयतत्त्वसिद्धिः ” जिसके दो अवयव होवें उसको द्वय कहते हैं, द्वय (दो अवयवोंका धारक) ऐसा जो तत्त्व अर्थात् परमार्थ है, उसकी सिद्धि होगी अर्थात् पहले एक तो उनका माना हुआ तत्त्वरूप आत्मब्रह्म है ही और

अर्थक्रियामें समर्थ पदार्थोंको दिखलानेमें समर्थ स्वीकार करनेपर उन वेदान्तवादियोंको भी अपने वचनसे विरोध आता है, यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार काव्यका संक्षेपसे अर्थ है॥

व्यासार्थस्त्वयम्। ते वादिन इदं प्रणिगदन्ति तात्त्विकमात्मब्रह्मैवास्ति। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्च न। आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन॥ १॥" इति न्यायात्। अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्। यदेवं तदेवम्। यथा शुक्तिशकले कलधौतम्। तथा चायं तस्मात्तथा।

विस्तारसे तो काव्यका अर्थ यह है—वे वेदान्तवादी यह कहते हैं कि "जो आत्मब्रह्म है वही तात्त्विक अर्थात् वस्तु तथा परमार्थरूप है। क्योंकि—" यह सब ब्रह्मरूप है, इसमें नानाप्रकारका कुछ भी नहीं है। उसके आराम (प्रपंच) को सब देखते हैं परंतु उस ब्रह्मको कोई भी नहीं देखता है" इत्यादि आगमके वचन हैं। और यह (देखनेमें आता हुआ) प्रपंच मिथ्यारूप है; क्योंकि प्रतीयमान है अर्थात् इसकी प्रतीति होती है। जो प्रतीत होता है, वह मिथ्यारूप होता है। जैसे सीपके टुकड़ेमें चांदी प्रतीत होती है; इसकारण सीपके टुकड़ेमें चांदी मिथ्यारूप है। उसीप्रकार यह प्रपंच भी है, इसप्रकारण मिथ्यारूप है।

तदेतद्वार्त्तम्। तथा हि मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम्। किमत्यन्तासत्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम्। प्रथमपक्षेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गः। द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः। तृतीये तु किमिदम् अनिर्वाच्यत्वम्। निःस्वभावत्वं चेत् निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः। भावप्रतिषेधेऽसत्ख्यातिरभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति।

सो यह वेदान्तियोंका कहना असत्य है। अब वेदांतियोंका कथन असत्य क्यों है सो ही दिखलाते हैं।—उन वेदान्तवादियोंने मिथ्यारूपत्वको कैसा कहना चाहा है अर्थात् क्या जो अत्यंत असत्रूप है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं, अथवा अन्य पदार्थकी अन्य आकारतासे जो प्रतीति होती है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं। वा जो अनिर्वाच्य (कहने योग्य नहीं) है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं। प्रथम पक्षमें अर्थात् यदि वे अत्यंत असत् (अविद्यमान) रूप पदार्थको मिथ्यारूप कहें तब तो उनको असत् ख्यातिका प्रसंग होगा अर्थात् असत् पदार्थको मिथ्यारूप कहनेसे उनको असत्पदार्थके कथन करनेका दोष आवेगा। और दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि वे अन्यपदार्थकी अन्य आकारसे जो प्रतीति होती है अर्थात् रज्जुमें जो सर्पका ज्ञान होता

है, उसको मिथ्यारूप कहेंगे, तो उनको विपरीत ख्याति स्वीकार करनी पड़ेगी और अनिर्वाच्यरूप तीसरे पक्षमें अर्थात् यदि वे जो कहने योग्य नहीं है; उसको मिथ्यारूप कहें तो हम प्रश्न करते हैं कि—यह अनिर्वाच्य क्या है? यदि वे उत्तर देवें कि जो निःस्वभावता (स्वभावरहितपना) है वह अनिर्वाच्य है तो निःस्वभाव इस शब्दमें "निस्" इस अव्ययका प्रतिषेधरूप अर्थ करनेपर और स्वभाव शब्दके जो भाव, और अभावरूप दो अर्थ हैं; उनमेंसे किसी एक अर्थको स्वीकार करनेपर उनको असत्-ख्याति और सत्ख्यातिको स्वीकार करनेका प्रसंग होगा। भावार्थ— स्वभाव दो प्रकारका है एक भावरूप और दूसरा अभावरूप, इसलिये उन वादियोंके निःस्वभाव इस शब्दसे भावका निराकरण करनेपर असत्ख्यातिको और अभावका निराकरण करनेपर सत्ख्यातिको स्वीकार करना पड़ेगा और यह उनको अभीष्ट नहीं है।

प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत् अत्र विरोधः। न प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत्कथं धर्मितयोपात्तः। कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम्। तयोपादाने वा कथं न प्रतीयते। यथा प्रतीयते न तथेति चेत्तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात्। किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता। घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति। घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात्। इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्दवाच्यत्वात्।

यदि वादी यह कहें कि हम 'निस्' का प्रतिषेधरूप अर्थ करके स्वभाव शब्दसे भाव–अभावका ग्रहण नहीं करते हैं किन्तु जो प्रतीतिके अगोचर है उसको निःस्वभाव कहते हैं, सो ऐसा माननेपर उनको इस प्रकृत अनुमानके प्रयोगमें विरोध आता है। क्योंकि, जब प्रपंच है ही नहीं और उसकी प्रतीति ही नहीं होती है तब 'प्रपंच मिथ्यारूप है, प्रतीयमान होनेसे' इस अनुमानमें उन्होंने प्रपंचको धर्मीरूपपनेसे कैसे ग्रहण किया है? और प्रतीयमानत्वको हेतुरूपतासे कैसे ग्रहण किया है?। और जो उन्होंने प्रपचको धर्मीरूपसे तथा प्रतीयमानत्वको हेतुरूपसे ग्रहणकर लिया है तो फिर प्रपंच कैसे प्रतीत नहीं होता है? अर्थात् प्रपंचके प्रतीतिगोचरता सिद्ध होती ही है। यदि वादी कहें कि— प्रपंच जिसप्रकारसे प्रतीत होता है उस प्रकारसे वास्तवमें नहीं है इसलिये हम उसको प्रतीतिके अगोचर कहते हैं तो ऐसा कहनेपर उनको विपरीत ख्याति स्वीकार करनी पड़ेगी। और यह भी विशेष है कि,— यह जो प्रपंचकी अनिर्वाच्यता है; वह प्रत्यक्षसे बाधित है। क्योंकि, 'यह घट है' इस आकारका धारक जो प्रत्यक्ष है वह

प्रपंचकी सत्यताको ही निश्चय कराता है। कारण कि; 'यह घट है' इस आकारका जो प्रत्यक्ष है वह घट आदि प्रतिनियत (खास मुकर्रर किये हुए) पदार्थोंके ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है और एक दूसरेसे भिन्न हुए ऐसे पदार्थ ही प्रपंच इस शब्दसे वाच्य (कहे जाने योग्य) हैं। भावार्थ—प्रत्येक भिन्न २ पदार्थको तुमने प्रपंच माना है; और प्रत्यक्ष भी घट आदि पदार्थको दूसरे पदार्थोंसे भिन्न करके ही जनाता है।

अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्षं हि–इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति। नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति। " आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥ १ ॥" इति वचनात्। इति चेत्–न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति। नान्यथा। केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्। मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत्। तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम्।

यदि वादी कहें कि,– " विद्वानोंने प्रत्यक्षको विधायक (पदार्थके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला) कहा है और निषेधक (पदार्थके स्वरूपको निराकरण करनेवाला) नही कहा है; इस कारण उस प्रत्यक्षसे एकत्व आगमका अर्थात् केवल एक ब्रह्मको ही माननेवाले वेदान्तियोंके सिद्धान्तका बाध (खंडन) नही होता है ॥१॥ " इस वचनके अनुसार प्रत्यक्ष विधायक अर्थात् वस्तुके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला है; इस कारण वस्तुके स्वरूपका प्रतिषेध करनेमें उस प्रत्यक्षका सामर्थ्य कैसे हो सकता है? । सो यह उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; पटादि दूसरे पदार्थोंका निषेध किये विना उस एक घटादि पदार्थके स्वरूपका ज्ञान ही नही हो सकता है। क्योंकि, पीत (पीले) आदि वर्णोंसे भिन्न हुआ ऐसा जो नीलवर्ण है उसीका ' यह नील है ' इस प्रकार ग्रहण होता है। अन्य प्रकारसे नही। कारण कि; जैसे केवल भूतलका ग्रहण होनेसे उस भूतल (जमीन) में घटके अभावका ग्रहण हो जाता है उसी प्रकार केवल पदार्थके स्वरूपका जो ग्रहण है वही अन्य पदार्थोंके निषेधको ग्रहण करने रूप है। इस कारण जैसे उन वादियोंने प्रत्यक्षको विधायक माना है; उसी प्रकार उन्हें प्रत्यक्षको निषेधक भी स्वीकार करना चाहिये।

अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्यापीति। तथा च

द्वैतापत्तिः । ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तदमी यादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतीयन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्षः । इति ।

और भी विशेष वक्तव्य यह है कि,—यदि वे ' प्रत्यक्ष विधायक ही है ' ऐसा स्वीकार करें तो जैसे प्रत्यक्षसे विद्याका विधान होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष विद्याको ग्रहण करता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष अविद्याको भी क्यों नहीं ग्रहण करता है । और जो प्रत्यक्ष अविद्याको ग्रहण करेगा तो द्वैत (दो पने) की आपत्ति होगी अर्थात् विद्या और अविद्यारूप दो पदार्थोंके होनेसे उनके अद्वैतवादका खडन हो जावेगा और ऐसा होनेसे प्रपंच भी सुव्यवस्थित हो जावेगा अर्थात् मिथ्यारूप न रहेगा । इस कारण वे वेदान्ती अविद्याके निषेध पूर्वक सन्मात्रको प्रत्यक्षसे जानते हैं तो भी वह प्रत्यक्ष निषेधक नहीं है ऐसा कहते हुए उन्मत्त कैसे नहीं हैं' अर्थात् हैं ही । इस प्रकार उक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृत अनुमानके प्रयोगमें 'प्रपंच मिथ्यारूप है' यह जो पक्ष है वह प्रत्यक्षसे बाधित है ।

अनुमानबाधितश्च । प्रपञ्चो मिथ्या न भवति असद्विलक्षणत्वात् । आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या । अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् ।

और ' प्रपंच मिथ्यारूप है ' यह वेदान्तियोंका पक्ष अनुमान प्रमाणसे भी बाधित है । सो ही प्रत्यनुमानका प्रयोग है कि,—प्रपंच मिथ्या नहीं है क्योंकि, असत्से विलक्षण (भिन्न) अर्थात् सत् रूप है, आत्माके समान । भावार्थ—जैसे आत्मा असत्से विलक्षण है इस कारण मिथ्या नहीं है उसी प्रकार प्रपंच भी असत्से विलक्षण है, अतः मिथ्या नहीं है । और 'प्रपंच मिथ्यारूप है प्रतीयमान होनेसे ' यहांपर प्रतीयमानत्व रूप जो हेतु है वह ब्रह्मात्माके साथ व्यभिचारको धारण करता है । क्योंकि, ब्रह्मात्मा प्रतीत होता है परंतु मिथ्या नहीं है । और जो कदाचित् वेदान्ती प्रपंचको अप्रतीयमान कहें तो अप्रतीयमान (जाननेमें नहीं आते हुए) प्रपञ्चके विषयमें वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अर्थात् जो पदार्थ जाननेमें आता है, उसीके विषयमें कुछ कहा जा सकता है, न कि नहीं जाने हुए पदार्थके विषयमें । इस कारण प्रपंचके विषयमें उन वेदांतियोंको

तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताद्वैतस्यैव साधकम्। सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तदुक्तं "यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्" इति।

और जैसे प्रत्यक्षसे विधिकी प्रतीति होती है, उसीप्रकार परस्पर व्यावृत्तिका अर्थात् एक पदार्थकी दूसरे पदार्थके साथ आप-समें भिन्नताकी प्रतीति भी प्रत्यक्षसे ही होती है, इसकारण द्वैतकी सिद्धि होती है, ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि, निषेध करना यह प्रत्यक्षका विषय नहीं है। कारण कि, "विद्वानोंने प्रत्यक्षको विधायक माना है, निषेधक नहीं माना" इत्यादि आगमका वचन है। और जो घट-पट आदिके भेदको सिद्ध करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष है वह भी सत्ता-रूपसे परस्पर संबंधको प्राप्त हुए ही जो घट पट आदि पदार्थ है उनका प्रकाशक है; इसकारण सत्ताके अद्वैतको ही सिद्ध करने-वाला है। और जो सत्ता है, वह परमब्रह्मरूप है। सोही कहा है कि;– "जो अद्वैत (एकता) है वही ब्रह्मका रूप है"।

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथा हि विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः। प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः। तथाचोक्तम्। "प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद्भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥१॥" यच्चाभावाख्यं प्रमाणं तस्य प्रामाण्याभावान्न तत्प्रमाणम्। तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव। तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वं, यत्तु न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम्। यथा खरविषाणम्। प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम्। तस्माद्विधिरूपमेव।

और अनुमान प्रमाणसे भी उस एक परमब्रह्मका सद्भाव जाननेमें आता ही है। सोही अनुमानका प्रयोग दिखलाते हैं कि;– विधि ही तत्त्व है प्रमेय होनेसे। क्योंकि प्रमाणका विषयभूत जो पदार्थ है वह प्रमेय कहलाता है। और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान तथा अर्थापत्ति नामक जो पांच प्रमाण है वे सब भाव (अस्तित्व) को ग्रहण करके ही प्रवृत्त होते हैं। सो ही कहा है कि "जब भावांशको ग्रहण किया जाता है अर्थात् पदार्थकी सत्ताका ज्ञान करनेमें आता है तब प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणोंका अवतार होता है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी उत्पत्ति होती है; और जब पदार्थके अभावांश (अविद्यमानत्व) का ग्रहण करने-की इच्छा होती है; तब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी अनुत्पत्तिका व्यापार होता है अर्थात् अभावांशके ग्रहण करनेमें प्रत्यक्ष आदि

प्रमाण उत्पन्न नहीं होते हैं । १ । " और जो अभावनामक छठा प्रमाण है, उसको प्रमाणता नहीं है इस कारण यह अभाव नामक प्रमाण प्रमाण ही नहीं है । और जो प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणोंका विषय है, वह तो विधिरूप ही है और उस विधिसे ही प्रमेय व्याप्त है अर्थात् जो विधिरूप है वह सब प्रमेय है । इस कारण सिद्ध हुआ कि;– प्रमेयपनेसे विधि ही तत्त्व है और जो विधिरूप नहीं है; वह प्रमेय नहीं है । जैसे कि, गधेका सींग विधि (भाव) रूप नहीं है इस कारण प्रमेय भी नहीं है । तथा यह जो समस्त पदार्थोंका स्वरूप है सो प्रमेय है; इसकारण विधिरूप ही है ।

अतो वा तत्सिद्धिः । ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः । प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम् । यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थास्तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः ।

अथवा इस अनुमानसे उस अद्वैतकी सिद्धि होती है । ग्राम और आराम (बाग) आदि जो पदार्थ हैं, वे प्रतिभासके मध्यमें गर्भित हैं क्योंकि, प्रतिभासमान हैं । भावार्थ—ग्राम आदि सभी पदार्थ जाननेमें आते हैं अतः ज्ञानके अन्तर्गत हैं । सोही अनुमान है कि जो प्रतिभासता है (जाननेमें आता है) वह प्रतिभासके अन्तर्गत है जैसे कि—प्रतिभासका स्वरूप प्रतिभासता है इसकारण वह प्रतिभासान्तर्गत है । और ग्राम आराम आदि पदार्थ प्रतिभासते हैं अतः प्रतिभासान्तर्गत हैं ।

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते । "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादिः । श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्य इत्यादि वेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः । कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात् । उक्तं च–" सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥ १ ॥ " इति ।

आगम भी परमब्रह्मका ही प्रतिपादक मिलता है । क्योंकि " जो हुआ, जो होगा, जो मोक्षका स्वामी है, जो आहारसे अतिशय करके वृद्धिको प्राप्त होता है; जो चलता है, जो स्थिर है, जो दूर है, जो समीप है, जो सबके बीचमें है, जो सबके बाहर है, सो यह सब पुरुष ही है " इत्यादि । तथा " इस आत्माको सुनना चाहिये, ध्यानमें धारण करना चाहिये और मानना चाहिये"

इत्यादि जो वेदवाक्य हैं, उनसे भी परमब्रह्मकी सिद्धि होती है। और कृत्रिम (पुरुषप्रणीत) आगमने भी उसी परमब्रह्मका प्रतिपादन किया है। सो ही कहा है कि;—" यह सब ब्रह्म है, यहां नानारूपका धारक कोई नहीं है; उसके प्रपंचको सब देखते है, परंतु उसको कोई नहीं देखता है। १।"

प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्त्तत्वात्। तथा हि—सर्वे भावा ब्रह्मविवर्त्ताः सत्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद्यद्रूपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव। यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्त्ताः। सत्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु। इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणद्वारा वह परमब्रह्म ही सिद्ध होता है; इसकारण एक परमब्रह्म ही तत्त्व है, क्योंकि; सब भेद उसीके विवर्त्त पर्याय हैं अर्थात् ब्रह्मरूप है। सो ही अनुमानका प्रयोग है कि;— सब पदार्थ ब्रह्मके विवर्त्त हैं, क्योंकि सत्वरूपी एकरूपसे अन्वित (संबंधको प्राप्त) हैं। जो जिस रूपसे अन्वित होता है वह उसीरूप होता है। जैसे—घट, गागर, सकोरा, ढकना इत्यादि पदार्थ एक मृत्तिकारूपसे अन्वित हैं; इसकारण मृत्तिकाके विवर्त्त (पर्याय) हैं अर्थात् मृत्तिकारूप है। और जगत्के समस्त भेद (पदार्थ) सत्त्वरूपी एकरूपसे अन्वित हैं। इस पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थोंका ब्रह्मविवर्त्तित्व (ब्रह्मका पर्यायपना) सिद्ध हो चुका।

तदेतत्सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं न तु वाङ्मात्रेण। अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्। अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतं—लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते। तदसत् तन्मते लोकस्यैवासभ्मवात्। एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्वात्।

सो यह वेदांतियोंका उपर्युक्त सब कथन मदिराके रसका आस्वादन करके गद्गद हुए पुरुषके प्रलाप करनेके समान जान पड़ता है, क्योंकि; उक्त कथन हमारे विचारोंको नहीं सह सकता है। क्योंकि; समस्त ही पदार्थ जब प्रमाणद्वारा सिद्ध होजाते हैं तभी वे सिद्ध अर्थात् पदार्थरूप समझे जाते हैं और केवल उनका कथन करनेसे वे पदार्थ सिद्ध नहीं होते है। और अद्वैत मतमें तो प्रमाण ही नहीं है क्योंकि; यदि अद्वैतमतमें प्रमाणका अस्तित्व मान लिया जावे तो अद्वैतको सिद्ध करनेवाले प्रमाणरूप दूसरे पदार्थका

सद्भाव होनेसे अद्वैतमतमें द्वैतका प्रसंग होता है। यदि कदाचित् वादी कहें कि; हम लोकको प्रतीति करानेके लिये उस लोककी अपेक्षासे प्रमाणको भी मानते हैं; तो यह उनका कथन मिथ्या है। क्योंकि; उनके मतमें लोक ही नहीं है। कारण कि;—उन्होंने नित्य तथा निरंश ऐसे एक परम ब्रह्मको ही सत्‌रूप माना है।

अथास्तु यथाकथंचित्प्रमाणमपि। तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते। न तावत्प्रत्यक्षम्। तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्। आबालगोपालं तथैव प्रतिभासनात्। यच्च 'निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्' इत्युक्तं तदपि न सम्यक्। तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्। सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्।

अथवा चाहे जिस अपेक्षासे उनके मतमें प्रमाण भी रहो। परंतु प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम, इन तीनोंमेंसे वे कौनसे प्रमाणको उसका साधक मानते हैं। यदि वे प्रत्यक्षप्रमाणको उस एक पर ब्रह्मका साधक मानें, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि; वह प्रत्यक्ष तो समस्त पदार्थोंमें प्राप्त जो भेद है, उसीका प्रकाशक है। कारण कि; बालकसे लेकर गोपाल पर्यन्त पुरुषोंको वह प्रत्यक्ष भेदका प्रकाशक ही जान पड़ता है। और जो उन्होंने पहले कहा है कि;—'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उस पर ब्रह्मको विदित करनेवाला है' सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस निर्विकल्पक प्रत्यक्षका प्रमाणपना नहीं माना गया है। कारण कि व्यवसायात्मक (निश्चय करानेवाले) के ही समस्त प्रमाणतत्त्वके अविसंवादीपनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी रहिततासे प्रमाणता सिद्ध होती है। भावार्थ—जो प्रमाण पदार्थस्वरूपका निश्चयरूपसे ज्ञान कराता है वही प्रमाणभूत माना जाता है, अतः व्यवसायात्मक न होनेसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रमाणता नहीं है। और प्रमाणभूत जो सविकल्पक प्रत्यक्ष है उससे तो विधिरूप एक ही परमब्रह्मका स्वप्नमें भी प्रतिभास (ज्ञान) नहीं हो सकता है।

यदप्युक्तं "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्" इत्यादि। तदपि न पेशलम्। प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव प्रकाशनात्। एतच्च प्रागेव क्षुण्णम्। न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते।

येन यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभेत। विशेषनिरपेक्षसामान्यस्य खरविषाणावदप्रतिभासनात्। तदुक्तम्
"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥ १॥"

और जो उन्होंने "प्रत्यक्ष विधायक है, निषेधक नहीं है" इत्यादि आगम प्रमाणका कथन किया है; वह भी मनोहर नहीं है। क्योंकि; प्रत्यक्षद्वारा तो अनुवृत्त तथा व्यावृत्त आकारको धारण करनेवाले पदार्थका ज्ञान होता है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रत्यक्षसे गृहीत होता है; और इस विषयका खंडन पहले ही कर चुके हैं। क्योंकि; अनुस्यूत (दूसरेमें नहीं मिला हुआ) एक, अखंड, सत्तारूप और विशेषकी अपेक्षासे रहित ऐसा सामान्य नहीं प्रतिभासता है; जिससे कि जो अद्वैत है; वह ब्रह्मका रूप है इत्यादि उनका कहा हुआ सिद्धान्त शोभाको प्राप्त होवे। **भावार्थ—**अनुस्यूत, एक, अखंड, सत्तारूप और विशेष निरपेक्ष ऐसे सामान्यका प्रतिभास होवे तो जो अद्वैत है; वह ब्रह्मका रूप है ऐसा कहना ठीक हो सकता है; और सामान्य ऐसा है नहीं; इसकारण वादियोंका उक्त कथन मिथ्या है। क्योंकि; जो विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य है उसका गधेके सींगके समान प्रतिभास नहीं होता है, अर्थात् जैसे गधेके सींगका प्रतिभास नहीं होता है वैसे ही विशेषकी अपेक्षारहित सामान्यका प्रतिभास भी नहीं होता है। सो ही कहा है कि;—"विशेषकी अपेक्षारहित जो सामान्य है; वह गधेके सींगके समान असत्रूप है और सामान्यकी अपेक्षा न रखनेवाले जो विशेष हैं; वे भी गर्दभके सींगके समान असत् रूप ही हैं। १।" इसकारण सामान्य विशेषात्मक जो पदार्थ है; वही प्रमाणका विषय है। यह हमारा सिद्धान्त सिद्ध होगया और इसके सिद्ध होनेपर उन वादियोंके माने हुए एक परमब्रह्मके प्रमाणका विषयपना कहांसे हो सकता है अर्थात् एक परमब्रह्म प्रमाणका विषय नहीं हो सकता है।

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम्। यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्। तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम्। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम्। तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्। प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा। न तावत्स्वतो, घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः। परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते। इति।

और जो उन्होंने ' विधि ही तत्त्व है प्रमेय होनेसे ऐसा अनुमान कहा है, उसका भी इस उक्त कथनसे ही खंडन होगया;

क्योंकि, विधि ही तत्त्व है यह पक्ष प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है, अत हेतु कालात्ययापदिष्ट है। और जो उन्होंने परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये प्रतिभासमानत्वरूपी साधनको कहा है अर्थात् 'ग्राम आराम आदि पदार्थ प्रतिभासके अन्तर्गत हैं, प्रतिभासमान होनेसे' इस अनुमानमें प्रतिभासमानत्वको हेतु बनाया है, वह भी हेत्वाभास होनेके कारण प्रकृत साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि, समस्त पदार्थोंके जो प्रतिभासमानत्व है; वह स्वत (अपने आपहीसे) है ? अथवा पर पदार्थसे है ? अर्थात् पदार्थ स्वयं प्रतिभासते हैं अथवा परसे ? यदि वे कहें कि, पदार्थ स्वत प्रतिभासते हैं, सो तो ठीक नहीं, क्योंकि घट, पट, और मुकुट आदि पदार्थोंके स्वतः प्रतिभासमानता सिद्ध नहीं है। और यदि वे पदार्थोंके परसे प्रतिभासमानत्व कहें तो वह परसे प्रतिभासमानत्व पर पदार्थके बिना सिद्ध नहीं हो सकता है।

यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम् । तदप्यत्र स्थलेऽन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिषेधत्येव । न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किंचिदेतदपि । अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः ।

और जो समस्त भेदोंके परमब्रह्मविवर्तित्व कहा है, वह भी इस स्थलमें अन्वीयमान (संबंधको प्राप्त होते हुए) द्वयके साथ व्याप्तिको धारण करता है अर्थात् 'सब पदार्थ ब्रह्मविवर्त हैं सत्स्वरूप एकरूपसे संबद्ध होनेके कारण' इस अनुमानमें दोके बिना संबंध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि; जब भिन्न २ दो पदार्थ होते हैं तभी उनके परस्पर संबंध होता है। अत यह अनुमान एक परमब्रह्मही तत्त्व है इसरूप पुरुषाद्वैतको खंडित करता ही है। और घटआदि पदार्थोंके मध्यमें चैतन्यका अन्वय (ज्ञानका संबंध) भी नहीं है, क्योंकि, घटादि पदार्थोंमें मृत्तिका आदिका ही अन्वय देखा जाता है इसकारण अनुमानसे भी एकपरमब्रह्मात्मक तत्त्व सिद्ध नहीं होता है।

किञ्च पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्ना अभिन्ना वा । भेदे द्वैतसिद्धिरभेदे त्वेकरूपतापत्तिः । तत्कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः । तदुक्तम् " हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ॥ हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ १ "

इस विषयमें और भी विशेष प्रष्टव्य यह है कि;— अनुमानके उपायभूत जो पक्ष, हेतु और दृष्टान्त हैं; वे परस्पर भिन्न हैं वा अभिन्न है ? । यदि वादी कहें कि;—पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त परस्पर भिन्न हैं; तब तो द्वैत सिद्ध होता है और यदि कहें कि;—पक्ष, हेतु, दृष्टान्त परस्पर अभिन्न हैं तो इन सबके एक रूपताकी प्राप्ति होती है; और जब पक्ष-हेतु-दृष्टान्त परस्पर एकरूप होंगे तो इन पक्ष—हेतु—दृष्टान्तोंसे अनुमान अपने स्वरूपको कैसे प्राप्त होगा अर्थात् अनुमानकी उत्पत्ति ही न होगी । और यदि कहें कि; हेतुके विना भी साध्यकी सिद्धि होती है, तो आगमसे वा कहने मात्रसे ही द्वैतकी सिद्धि भी कैसे न होगी ? अर्थात् जैसे वे हेतुके विना पुरुषाद्वैतको मानते हैं; उसीप्रकार द्वैतको भी क्यों नहीं मानते हैं ? सो ही कहा है, कि;—" हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जावे तब तो हेतु और साध्य इन दोनोंका द्वैत सिद्ध होगा ? और यदि हेतुके विना ही अद्वैतको सिद्ध करें तो केवल वचनमात्रासे द्वैतकी सिद्धि क्यों न होगी । १ । " अथवा यदि यहां वाङ्मात्रशब्दसे आगम अर्थका ग्रहण किया जावे तो यह अर्थ होता है कि यदि हेतुके विना केवल आगमसे ही एक परमब्रह्मको सिद्ध करें तो एक तो परमब्रह्मतत्त्व है ही और दूसरा आगमतत्त्व हो जायगा, इसकारण आगमसे भी द्वैतकी सिद्धि होती है ।

" पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादेः, " सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात् । वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात् । तदुक्तम् । ' कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते । विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ १ ॥ " ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । इति काव्यार्थः ॥१३॥

और 'यह सब पुरुष ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि जो आगमप्रमाण है; उससे भी उस एक ही परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि; वह आगम भी द्वैतके विना नही हो सकता है, इसकारण अद्वैतको सिद्ध करनेके अर्थ उसको प्रमाणता नहीं हो सकती है । क्योंकि; उस आगममें भी वाच्यवाचकभावरूप (शब्द अर्थरूप) द्वैत ही देखा जाता है । सो ही कहा है कि— 'कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या और अविद्याका द्वय तथा बंध और मोक्षका द्वय ये सब विरुद्ध होते है ॥ १ ॥' **भावार्थ**— यदि अद्वैतहीको माना जावे तो पुण्य-पापरूपी कर्मोंका द्वैत न होगा, उसके न होनेपर उसका फलरूप सुख-दुःखरूपी द्वैत न होगा। उसके न होनेपर इसलोक तथा परलोकरूप द्वैत न होगा । यदि अविद्याके उदयसे पुण्य-पापादिका द्वैत मानें तो पुण्य-पापके

विना विद्या अविद्याका द्वैत न होगा और विद्या अविद्याके द्वैतके विना बंधमोक्षका द्वैत न होगा । अर्थात् आगमके न माननेपर सर्व व्यवस्था लुप्त हो जायगी इसकारण आगमसे भी उस एक परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती है । और जब ऐसा हुआ तो एकपरमब्रह्मरूप तत्त्वही प्रमाणका विषय न रहा, किन्तु अन्य पदार्थ भी प्रमाणके विषय हुए और इसप्रकारसे प्रपंच सुव्यवस्थित हो गया अर्थात् वेदान्ती जो एक परमब्रह्मको ही सत्‌रूप मानते थे और प्रपंचको मिथ्यारूप मानते थे उसका खंडन हुआ और जिस प्रकार ब्रह्म तत्त्व है, उसी प्रकार संसारके सभी पदार्थ तत्त्व हैं यह सिद्ध होगया, इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ १३ ॥

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरस्सरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाऽभावमाहः—

अब आचार्य अपने अभीष्ट ऐसे सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूपोंके धारक वाच्यवाचकभावका पहिले समर्थन करके तत्पश्चात् अन्यमतावलम्बियोंका माना हुआ जो केवल सामान्य तथा केवल विशेषके गोचर ऐसा वाच्य और वाचकभाव है, उसका खंडन करके उसके द्वारा उन अन्यमतियोंके उत्तमबुद्धिरूप संपदाका अभाव कहते हैं, अर्थात् वे वादी बुद्धिरहित हैं, यह सूचित करते हैं —

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥

मूलभाषार्थः—वाच्य (कहनेयोग्य पदार्थ) सामान्यकी अपेक्षासे एकस्वरूप है, तौभी विशेषकी अपेक्षासे अनेकरूप ही है । और वाचक (उन पदार्थोंको कहनेवाला शब्द) भी निश्चयकरके सामान्यकी अपेक्षासे एकरूप है और विशेषकी अपेक्षासे अनेकरूप ही है । इसकारण हे नाथ ! जो अन्यमतावलम्बी इस उक्त सिद्धांतके विरुद्ध वाच्यवाचकभावकी कल्पना करते हैं; उनके उत्तम बुद्धिका नाश हो रहा है ॥ १४ ॥

व्याख्या—वाच्यमभिधेयं चेतनमचेतनं च वस्तु (एवकारस्याप्यर्थत्वात्) सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेनाऽनेकमनेकरूपम् । अथवाऽनेकरूपमपि एकात्मकमन्योऽन्यसंवलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः । तथा

च वाचकमभिधायकं शब्दरूपं तदप्यवश्यं निश्चितं द्व्यात्मकं सामान्यविशेषोभयात्मकत्वादेकानेकात्मकमित्यर्थः। (उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम्। अवश्यमितिपदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकात्मकत्वं निश्चिन्वत्तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति)। अत उपदर्शितप्रकारादन्यथा सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण वाचकवाच्यक्लृप्तौ वाच्यवाचकभावकल्पनायामतावकानामत्वदीयानामन्ययूथ्यानां प्रतिभाप्रमादः प्रज्ञास्खलितमित्यक्षरार्थः। (अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्यार्च्यत्वज्ञापनार्थम्) तथा च शाब्दिकाः। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। १।" इति।

व्याख्यार्थः—"**वाच्यम्**" कथन करने योग्य चेतन तथा अचेतन पदार्थ "**एकात्मकम् अपि**" सामान्यरूपतासे एक स्वरूप है; तौभी "**अनेकम्**" व्यक्तियोंके भेदसे अनेक रूप है। ['**एकात्मकमेव**' यहाँपर जो एवकार है; वह अपिके अर्थमें है।] अथवा मूलमें अर्थात् "**अनेकमेकात्मकमेव**" यहांपर अनेक और एक ये दोनों शब्द परस्पर मिले हुए हैं; इस लिये वाच्य अनेक हैं; तौभी एकरूप हैं; ऐसा व्याख्यान किया जावे तो उसमें भी कोई दोष नहीं है। और "**वाचकम्**" पदार्थोंका कथन करनेवाला शब्दरूप वाचक "**अपि**" भी "**अवश्यम्**" निश्चय करके "**द्व्यात्मकम्**" सामान्य तथा विशेष; इन दोनों स्वरूपोंका धारक होनेसे एक और अनेकरूप है। [वाच्य और वाचक ये दोनों शब्द यद्यपि वाच्यलिङ्गके धारक हैं तथापि अव्यक्ततासे यहांपर नपुंसकलिङ्गका प्रयोग किया गया है। और मूलमें जो अवश्य यह पद दिया गया है; वह वाच्य और वाचक इन दोनोंमें ही एक तथा अनेकपनेका निश्चय कराता हुआ वाच्य और वाचकके उस एक तथा अनेकपनेके एकांतको दूर करता है।] "**अतः**" इस ऊपर दिखाये हुए प्रकारसे "**अन्यथा**" सामान्य और विशेषके एकांतरूप प्रकारसे "**वाचकवाच्यक्लृप्तौ**" वाचक और वाच्यभावकी कल्पना करनेमें "**अतावकानाम्**" हे जिनेंद्र! आपसे सम्बध न रखनेवालोंके अर्थात् अन्य मतावलम्बियोंके "**प्रतिभाप्रमादः**" बुद्धिका नाश है; इस प्रकार अक्षरोंका अर्थ है। "**वाचकवाच्यक्लृप्तौ**" यहांपर यद्यपि अल्पस्वरपनेसे वाच्यपदका पूर्वनिपात प्राप्त होता था तौभी जो पहिले वाच्यका ग्रहण न करके वाचकका ग्रहण किया गया है; वह इस बातको विदित करनेके लिये है कि; प्रायः अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके अधीन है; इसलिये वाचक अर्थात्

शब्द वाच्यकी अपेक्षा पूज्य है। सो ही वैयाकरण कहते हैं कि; "लोकमें ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है, जो शब्दके अनुगम (संबंध)के बिना होवे। सब ही ज्ञान शब्दके साथ जुड़ा हुआ ही मानो भासता है" ॥ १ ॥

भावार्थस्त्वेयम्। एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया अभ्युपगच्छन्ति। ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभदाऽद्वैतवादिनः सांख्याश्च। केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः। अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च।

भावार्थ सो इस प्रकार है। कि; एक मतवाले सामान्यरूपको ही वाच्यरूपतासे स्वीकार करते हैं। ये द्रव्यास्तिकनयका अनुसरण करनेवाले मीमांसकमतके एक भेदरूप अद्वैतवादी अर्थात् वेदांती, और सांख्यमतवाले हैं। और कितने ही वादी विशेषरूपको ही वाच्य कहते हैं और ये पर्यायास्तिकनयानुसारी सौगत (बौद्ध) हैं। और दूसरे वादी परस्परकी अपेक्षासे रहित तथा पदार्थसे भिन्नरूप जो सामान्य विशेष हैं; उन करके सहित ऐसे पदार्थको वाच्यरूपतासे निश्चित करते हैं। ये नैगमनयका अनुसरणकरनेवाले वैशेषिक तथा नैयायिक हैं।

एतच्च पक्षत्रयमपि किंचिच्चर्च्यते। तथाहि—संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति। सामान्यमेव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। तथा सर्वमेकमविशेषेणसदितिज्ञानाभिधानाऽनुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात्। तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः। किंच ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न वा?। नो चेन्निःस्वभावताप्रसङ्गः। स्वरूपस्यैवाऽभावात्। अस्ति चेत्तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः समानानां भावः सामान्यम्। विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव।

अब इन पूर्वोक्त तीनों ही पक्षोंका कुछ खण्डन करते हैं। सो ही दिखलाते हैं—संग्रहनयको धारण करनेवाले वादी अर्थात्

---

१ वस्त्वार्थतया द्रव्यपिकम्। २ नैगमनयाभ्युगामिनः। इति द्वितीयपुस्तकपाठः। ३ सर्वपदार्थेषु सदितिज्ञानाभिधाने तयोरनुवृत्तिरेव यल्लिङ्गं तेनाऽनुमिता सत्ता यस्य तत्तथा॥

क्योंकि उस सामन्यसे भिन्नरूप ऐसे विशेष नहीं देखे जाते हैं । तथा
वेदांती और सांख्य कहते हैं कि; सामान्य ही तत्त्व है; क्योंकि उस सामन्यसे भिन्नरूप लिङ्ग है उसके द्वारा उसकी सत्ताका अनुमान
सब एक है; क्योंकि विशेषरहितपनेसे सत् इसप्रकारके ज्ञाननामक जो अनुवृत्तिरूप ऐसे धर्म्म, अधर्म्म, आकाश, काल, पुद्गल, और
किया जाता है। तथा द्रव्यत्व ही तत्त्व है; क्योंकि उस द्रव्यत्वसे भिन्न पदार्थरूप ऐसे एक दूसरेकी परस्पर व्यावृत्ति करनेरूप
जीव द्रव्य नहीं देखे जाते हैं । और भी विशेष यह है कि; जो सामान्यसे भिन्न ऐसे एक दूसरेकी परस्पर व्यावृत्ति करनेरूप
विशेषोंकी कल्पना की जाती है; उन विशेषोंमें विशेषत्व धर्म्म रहता है वा नहीं रहता है? । यदि इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जावे
कि; विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता है । तो विशेषोंके स्वभावरहितताका प्रसंग होता है । क्योंकि उन विशेषोंमें विशेषत्वरूप निज-
स्वरूपका ही अभाव है । यदि कहा जावे कि; विशेषोंमें विशेषत्व है तो वह विशेषत्व ही सामान्य है । क्योंकि समानोंका जो
भाव है; वही सामान्य कहलाता है और विशेषरूपतासे उन सब सामान्योंके समानरूपतासे प्रतीति सिद्ध ही है ।

अपि च विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम् । व्यावृत्तिप्रत्यय एव च विचार्यमाणो न घटते । व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः । विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते ? । न च स्वरूपसत्वादन्यत्तत्र किमपि येन तन्निषेधः प्रवर्तते । तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्त्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्त्तनीयाः । ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्त्तयितुं शक्याः । ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात् । न चैतत्प्रातीतिकं यौक्तिकं वा । व्यावृत्तिस्तु निषेधः । स चाऽभावरूपत्वात्तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत् ।

और विशेषोंका व्यावृत्ति प्रत्ययका हेतुरूप लक्षण है । और जब विचार करते हैं तो विशेषोंमें व्यावृत्ति प्रत्यय ही सिद्ध नहीं
होता है । क्योंकि; किसी विवक्षित पदार्थमें अन्यपदार्थका जो निषेध है; उसको व्यावृत्ति कहते है । और निजस्वरूपके स्थापन
(सिद्ध करने) मात्रमें ही समाप्त हो जानेवाला विवक्षित पदार्थ अन्य पदार्थोंके निषेध करनेमें कैसे प्रवृत्ति कर सकता है? । और
स्वरूपसत्वके अर्थात् निजरूपमें विद्यमानताके सिवाय उस पदार्थमें अन्य कुछ भी नहीं है; जिससे कि, अन्यपदार्थके निषेधकी
प्रवृत्ति होवे । और उसमें यदि व्यावृत्ति की जावे; तो उस पदार्थके निजस्वरूपसे भिन्न ऐसे जो तीनलोकमें रहनेवाले भूत,
भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी पदार्थ वे उस पदार्थसे भिन्न करने योग्य होवेंगे । और नहीं जाना गया है स्वरूप

जिनका ऐसे वे पदार्थ उस पदार्थके निज स्वरूपसे भिन्न नहीं किये जा सक्ते हैं। और फिर इसलिये एक पदार्थका विशेष स्वरूप जाननेपर सब पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान होजानेसे प्रमाता (जाननेवाले) के सर्वज्ञपना सिद्ध होने लगेगा। और यह अर्थात् एक विशेषके जाननेसे सर्वज्ञताका होना प्रतीति करनेयोग्य अथवा युक्तिसंगत नहीं है। व्यावृत्तिका अर्थ निषेध है। और यह निषेध अभावरूप होनेसे तुच्छ है; इस कारण जैसे आकाशका पुष्प अभावरूप होनेसे प्रतीतिके गोचर नहीं होता है, उसी प्रकार यह व्यावृत्ति भी प्रतीतिके विषयपनेको कैसे प्राप्त हो सक्ती है ? ।

तथा येभ्यो व्यावृत्तिस्ते सद्रूपा असद्रूपा वा ? असद्रूपाश्चेत्तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः ? सद्रूपाश्चेत्सामान्यमेव। या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेका अनेका वा ? अनेका चेत्तस्या अपि विशेषत्वापत्तिरनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद्विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्; तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वादनवस्थापाताच्च। एका चेत्सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यादनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाऽव्यभिचारात्। किं चामी विशेषाः सामान्याद्भिन्ना अभिन्ना वा ? भिन्नाश्चेन्मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत्तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः।

तथा जिन पदार्थोंसे व्यावृत्ति की जाती है वे पदार्थ सत्स्वरूप हैं वा असत्स्वरूप हैं ? यदि कहो कि, वे पदार्थ असत्स्वरूप हैं तो अभावरूप गधेके सींगसे भी व्यावृत्ति क्यों नहीं होती है ? यदि कहो कि, वे पदार्थ सत्स्वरूप हैं, तो वे पदार्थ सामान्यरूप ही हुए। और विशेष पदार्थ जिस व्यावृत्तिको करते हैं, वह व्यावृत्ति सब विशेष व्यक्तियोंमें एक ही है ? अथवा अनेक है ? यदि कहो कि, अनेक है, तो वह व्यावृत्ति भी विशेषरूप ही हुई। क्योंकि, विशेषोंके अनेकरूपपना ही एक जीवित है अर्थात् अनेकरूपता ही विशेषोंका स्वरूप है। और तब उस व्यावृत्तिकी भी विशेषरूपताके सिवाय अन्यप्रकार सिद्धि न होनेसे अर्थात् व्यावृत्ति विशेषरूपा सिद्ध होनेसे व्यावृत्तिसे भी अन्य व्यावृत्ति होनी चाहिये। और यदि व्यावृत्तिकी भी व्यावृत्ति हो तो विशेषोंका अभाव ही होजायगा। क्योंकि; विशेषस्वरूप जो व्यावृत्ति है उसका प्रतिषेध ही विशेषोंका अभाव है। और अनवस्था दोषकी भी प्राप्ति होती है। यदि कहो कि व्यावृत्ति एक है तो दूसरे नाममात्रसे तुमने सामान्यको ही स्वीकार किया। क्योंकि, अनुवृत्तिप्रत्ययरूप जो सामान्यका लक्षण है वह यहां घट जाता है, व्यभिचार नहीं है। यहांपर और भी विशेष कथन यह है कि, ये विशेष सामान्यसे भिन्न हैं ? कि अभिन्न हैं ? यदि कहो

कि भिन्न हैं तो मेंडकके जटाभारके समान है। यदि कहो कि अभिन्न हैं तो जैसे सामान्यसे अभिन्न होनेके कारण सामान्यका स्वरूप सामान्यरूप है उसी प्रकार वे विशेष भी सामान्यरूप ही होंगे। इस प्रकार सामान्यका एकांतविषयक वाद है।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते।–विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः; ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याऽप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायाऽन्यत्किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते; तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति। "एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु। साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः। १।" एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्।

अब पर्यायास्तिक नयके अनुयायी बौद्ध कहते हैं कि, भिन्न और क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले जो विशेष हैं वे ही परमार्थरूप हैं। क्योंकि; उन विशेषोंसे भिन्नरूप किसी सामान्यकी प्रतीति नहीं होती है। कारण कि गौआदि व्यक्तियोंका जिस समय अनुभव होता है उस समय वर्ण (रंग) तथा संस्थानस्वरूप जो व्यक्तिका आकार है, उसको छोड़कर अन्य कुछ भी एक तथा सब व्यक्तियोंमें चले आते हुए पदार्थका अर्थात् सामान्यका प्रत्यक्षमें प्रतिभास नहीं होता है; क्योंकि ऐसे किसी पदार्थका अनुभव ही नहीं होता है। सो ही विद्वानोंने कहा है कि "प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रकटरूपसे दीखती हुई इन पांचों अंगुलियोंमें जो साधारण रूपको अर्थात् सामान्यको देखता है वह पुरुष अपने मस्तकपर सींगको देखता है।" और एक आकारके विचारकी प्रतीति तो अपने कारणोंसे उत्पन्न हुई है शक्ति जिनमें ऐसी व्यक्तियोंसे ही उत्पन्न होती है। इस कारण उस अनुवृत्तिप्रत्ययसे जो सामान्यको सिद्ध किया जाता है वह न्यायसंगत नही है।

किं च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकमनेकं वा? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा? सर्वगतं चेत्किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते?। सर्वगतैकत्वाऽभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि; अविशेषात्?। असर्वगतं चेद्विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च।

और भी अधिक वक्तव्य यह है, कि जो यह सामान्य कल्पित किया जाता है, वह सामान्य एकरूप है? अथवा अनेकरूप है? यदि कहो कि एक है तो भी प्रश्न होता है कि वह सामान्य सर्वगत है वा असर्वगत हैं? यदि कहो कि सर्वगत है तो वह

व्यक्तियोंके व्यवधानमें क्यों नहीं मिलता है? और सामान्यको सर्वगत तथा एक माननेपर जैसे गोत्व(गौओंमें रहनेवाला)सामान्य सम्पूर्ण गोव्यक्तियोंमें व्यापकर रहता है, उसी प्रकार घट पट आदि व्यक्तियोंको भी क्यों नहीं ग्रहण करता है। क्योंकि, अविशेष हैं अर्थात् वह सामान्य सर्वगत तथा एक है इस कारण उसके समक्षमें जैसी गौ है उसी प्रकार अन्य व्यक्तियें भी हैं। यदि कहो कि, वह सामान्य एक तथा असर्वगत है तो उस सामान्य विशेषरूप ठहरता है और तुम्हारे मतका भी खंडन होता है।

अथाऽनेकं गोत्वाऽश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्ते तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः; अन्योऽन्यं व्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते। न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते; तस्य निष्क्रियत्वात्; वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा?। भिन्नं चेदवस्तु; विशेषविश्लेषेणाऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्। अभिन्नं चेद्विशेषा एव तत्स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः।

यदि कहो कि गोत्व अश्वत्व (घोडापना) घटत्व पटत्व आदि भेदोंसे भिन्न होनेके कारण वह सामान्य अनेकरूप है तो तुमने परस्परकी व्यावृत्ति करनेमें कारण ऐसे विशेष ही स्वीकार किये। क्योंकि; जो गोत्व है वह अश्वपनेरूप नहीं हो सकता है। तथा पदार्थका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। और वह अर्थक्रियाकारीपना विशेषोंमें ही प्रकटरूपसे प्रतीत होता है। कारण कि, सामान्यसे कोई भी अर्थक्रिया नहीं कीजाती है। क्योंकि; वह क्रियारहित है। और वाहना, दूध दोहना इत्यादिरूप जो अर्थक्रिया हैं उनमें विशेषोंका ही उपयोग होता है। तथा यह सामान्य विशेषोंसे भिन्न है? वा अभिन्न है? यदि कहो कि भिन्न है तो तुम्हारा माना हुआ सामान्य कोई पदार्थ ही नहीं है। क्योंकि; विशेषसे भिन्न होनेके कारण इसमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव है। यदि कहो कि अभिन्न है तो विशेषोंके स्वरूपके समान वह सामान्य भी विशेष ही हुआ। विशेषोंको ही सर्वथा माननेवालोंका इस प्रकार कहना है॥

नैगमनयाऽनुगामिनस्त्वाहुः।—स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ; तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात्। तथाहि। सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ; विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्। यावेवं तावेवं यथा पाथःपावकौ। तथा चैतौ। तस्मात्तथा। सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम्। तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः। ततः कथमेषामैक्यं युक्तम्?

नैगमनयका अनुसरण करनेवाले ऐसे जो वैशेपिक और नैयायिक हैं वे कहते हैं कि, सामान्य तथा विशेप ये दोनो स्वतंत्र (स्वाधीन अर्थात् परस्पर निरपेक्ष) हैं। क्योंकि, प्रमाणद्वारा ऐसे ही प्रतीत होते हैं। सो ही दिखलाते हैं। सामान्य और विशेप ये दोनों अत्यंत भिन्न है। क्योंकि; विरुद्ध धर्मका धारण करनेवाले हैं। जो विरुद्ध धर्मके धारक होते हैं वे एक दूसरेसे अत्यंत भिन्न होते हैं। जैसे कि जल और अग्नि। ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मके धारक होनेसे अत्यंत भिन्न हैं। उसी प्रकार ये दोनों सामान्य विशेप भी विरुद्ध धर्मके धारक है इस कारण अत्यंत भिन्न हैं। क्योंकि गोत्व (गौपना) आदि जो सामान्य है वह तो सर्वव्यापी है और गौव्यक्तिमें प्राप्त जो कर्बुरवर्ण तथा चित्रवर्ण आदि रूपविशेप हैं, वे सामान्यसे विपरीत अर्थात् असर्वगत हैं। इस कारण सामान्य और विशेप इन दोनोंकी एकता कैसे ठीक हो सकती है? अर्थात् सामान्य और विशेप ये दोनों एक नहीं हैं।

न सामान्यात्पृथग्विशेपस्योपलम्भ इति चेत् कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम्? सामान्यव्याप्तस्येति चेन्न तर्हि स विशेपोपलंभः; सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात्। ततश्च तेन वोधेन विविक्तविशेपग्रहणाऽभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत्प्रमाता। न चैतदस्ति; विशेपाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद्विशेषमभिलपता तत्र च व्यवहारं प्रवर्त्तयता तद्ग्राहको वोधो विविक्तोभ्युपगन्तव्यः।

यदि कहो कि, सामान्यसे जुदा विशेप कहीं नहीं मिलता है, तो उस विशेपकी प्राप्ति किस प्रकारसे हो सकती है सो बताना चाहिये। यदि कहो कि, सामान्यके साथ मिले हुए विशेपकी प्राप्ति होती है; तो वह विशेपकी प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि; उसके द्वारा सामान्यका भी ग्रहण होता है। और इस कारण उस ज्ञानद्वारा सामान्यसे भिन्न शुद्ध विशेपका ग्रहण न होनेसे प्रमाता (ज्ञान करनेवाला) उस विशेपके कहनेवाली ध्वनि (शब्द) को और उस शब्दसे साध्य ऐसे व्यवहारको नहीं प्रवर्त्तावे। परंतु ऐसा है नहीं। क्योंकि; विशेपके वाचक शब्द की तथा विशेपजन्य व्यवहारकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इस कारण विशेपको चाहनेवाले और उसमें व्यवहारके प्रवर्त्तावनेवाले पुरुपको उस विशेपका ग्रहण करनेवाला भिन्न ज्ञान स्वीकार करना चाहिये।

एवं सामान्यस्थाने विशेपशब्दं विशेपस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको वोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात्स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेपात्मकत्वं वस्तुनो घटते। इति स्वतन्त्रसामान्यविशेपवादः।

इस प्रकार सामान्यके स्थानमें विशेषशब्दका और विशेषके स्थानमें सामान्यशब्दका प्रयोग करनेवाले पुरुषको सामान्यमें भी उसको ग्रहण करनेवाला शुद्ध ज्ञान स्वीकार करना चाहिये। इस कारण निज निजको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें जुदे जुदे प्रतिभासित होनेसे सामान्य और विशेष ये दोनों ही परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं। और इस कारण पदार्थका सामान्यविशेषात्मकपना सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार स्वतंत्र सामान्य तथा विशेषका मंडनरूप कथन है।

तदेतत्पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदं, प्रमाणबाधितत्वात् सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव च वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चाऽनेकान्तवादे एवाऽविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथा हि। यथा गौरित्युक्ते खुरककुत्सास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तुस्वरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते।

ये ये तीनों ही पक्ष विचारनेपर नहीं ठहरते हैं। क्योंकि, प्रमाणसे बाधित हैं। कारण कि, सामान्य तथा विशेष इन दोनोंस्वरूप जो पदार्थ है, उसीका निर्दोषरूपसे अनुभव होता है। क्योंकि, वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। और परीक्षकों को वह लक्षण अनेकांतवाद (जैनमत) में ही परिपूर्णरूपसे दीखता है। सो ही दिखलाते हैं कि, जैसे गौ ऐसा कहनेपर खुर थूवा गलकम्बल पूंछ और सींग आदि अवयवों (शरीरके भागों) सहित ऐसा गौका स्वरूप समस्त गोव्यक्तियोंमें रहनेवाला प्रतीत होता है उसी प्रकार भैंस आदि पशुओंसे भिन्नता भी प्रतीत होती है।

यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषणोच्चारणेऽपि अर्थात्प्रकरणाद्वा गोत्वमनुवर्त्तते। अपि च शबलत्वमपि नानारूपं, तथा दर्शनात्। ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते। तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम्। न हि कश्चित्कदाचित्केनचित्सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते। विशेषा वा तद्विनाकृताः। केवलं दुर्णयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्याऽन्यतरद्व्यवस्थापयन्ति बालिशाः। सोऽयमन्धगजन्यायः।

और भी—यह गौ शबल (काबुरी) है ऐसा जहां कहते हैं वहां भी जैसे विशेषका प्रतिभास होता है उसी प्रकार गोत्व

सामान्यका भी प्रतिभास स्पष्ट रीतिसे होता ही है। और यदि शबल ऐसे केवल विशेषणकाही उच्चारण किया जाय तो भी वहां अर्थसे वा प्रकरणसे गोत्व सामान्यकी अनुवृत्ति होती ही है। और विशेष कहना यह है कि—शबलपना भी अनेक प्रकारका देखा जाता है। इस कारण शबल है, ऐसा मुखसे कहनेपर समस्त शबलत्व सामान्यको ग्रहण करके विवक्षित गो व्यक्तिमें प्राप्त हुआ ही शबलपना सिद्ध किया जाता है। सो इस प्रकार बालकसे लेकर गोपालपर्यंत प्रतीतिद्वारा प्रसिद्ध ऐसे भी पदार्थके सामान्यविशेषात्मक स्वरूपमें परस्पर स्वतंत्र सामान्य विशेषका कथन करना प्रलापमात्र ही है। क्योंकि; विशेषके विना किये हुए सामान्यका अथवा सामान्यके विना किए हुए विशेषोंका किसी स्थलमें और किसी समयमें किसीने भी अनुभव नहीं किया है। केवल एकांत पक्षरूपी दुर्नयकी वासनाको प्राप्त हुई अर्थात् एकांतपक्षकी धारक बुद्धिके व्यामोहवश होकर मूर्ख जन एकको छिपाकर दूसरेका स्थापन करते हैं। परंतु यह अंधगजन्याय है। भावार्थ—जैसे जन्मांध पुरुप हाथीके एक एक अवयवको ग्रहण करके हाथीका स्वरूप जुदे जुदे प्रकारसे सिद्ध करते हैं; उसी प्रकार एकांतपक्षसे अंधी हुई बुद्धिके धारक पुरुप भी सामान्य विशेष इन दोनोंमेंसे एकको छिपाकर दूसरेको सिद्ध करते हैं।

येपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः।

और जो उन एकान्त पक्षोंके माननेमें संभवते दोप दिखाये थे वे भी अनेकान्तवादरूपी प्रचण्ड मूसलके प्रहारकर जर्जरित होनेसे श्वास भी नहीं लेसकते हैं। अर्थात् अनेकांतवादसे खंडित होजानेके कारण निष्फल हैं।

स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः।—सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथंचिदभिन्नं; कथंचित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति; तेन समानो गौरयं सोनेन समान इति प्रतीतेः। न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातः। यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति; न च तेषां गुणरूपताव्याघातः। कथंचिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव; पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात्।

अब सामान्य तथा विशेष पदार्थोंको सर्वथा स्वतन्त्र माननेवालोंका निराकरण इस प्रकार करना चाहिये।—सामान्य भी कथंचि-

विशेषरूप ही होनेके कारण व्यक्तिसे किसी प्रकार (कथंचित) अभिन्न ही है। जैसे विशेष परिणाम। क्योंकि, जैसे दीखती हुई कोई वस्तु, अन्य वस्तुओंसे विशेषरूप भिन्न भिन्न दीखनेसे मतिविशेषाकाररूप प्रतिभासती है तैसे ही समान परिणामस्वरूप सामान्य धर्मके दीखनेसे यह उसके समान है इस प्रकार भी वह प्रतिभासित होती है। क्योंकि, यह गौ उसके समान है अथवा यह इसके समान है ऐसी प्रतीति सर्वजनोंमें प्रसिद्ध है। और यह सामान्यरूप वस्तुके स्वरूपसे अभिन्न है इतने मात्रसे वस्तुमें सामान्यपनेका अभाव हो जाय ऐसा नहीं है। क्योंकि, रूपादिक भी वस्तुसे अभिन्न हैं परंतु इसलिये रूपादिकोंमें गुणपना न रहै ऐसा नहीं है। व्यक्ति तथा सामान्यके नामादिक भिन्न भिन्न होनेकी अपेक्षा व्यक्ति तथा सामान्यमें कथंचित् भेद भी है परंतु ऐसा भेद रूपादिक तथा व्यक्तिमें भी है ही।

विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात्पृथग्भवितुमर्हन्ति; यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्। न च तस्य तत्सिद्धं; प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्; सामान्यस्य विशेषाणां च कथंचित्परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात्। विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते। सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकेण तेषामप्येकरूपता इति।

अनेकांतवादके कथनानुसार विशेष भी सामान्यसे जुदे नही रह सकते हैं। क्योंकि, यदि सामान्य सर्वगत सिद्ध हो तो विशेष पदार्थ सर्वगत न होनेसे सामान्यकी अपेक्षा विरुद्धधर्मवाले माने जाय, परंतु सामान्यमें सर्वगतपना ही सिद्ध नही है। सामान्यमें सर्वगतपनेका निराकरण पहले ही युक्तिपूर्वक कर चुके हैं। यहां भी कुछ कहते हैं। सामान्य तथा विशेषोंमें कथंचित् अभेद सिद्ध होनेसे कथंचित् एकपना तथा कथंचित् अनेकपना भी सिद्ध होता है। सामान्य स्वयं समानपनेसे एकरूप होनेपर भी विशेषरूपोंसे अभिन्न होनेके कारण अनेकरूप भी माना जाता है। ऐसे ही विशेषाकार स्वयं भिन्न भिन्न होनेपर भी सामान्यसे अभिन्न होनेके कारण एकरूप भी है।

एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात्सर्वत्र विज्ञेयं; प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् कथंचित्प्रतिव्यक्ति भेदात्। एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद्विवक्षितं तदाऽस्मत्कक्षाप्रवेशः; कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथंचिद्भेदाविनाभूतत्वात्। पाथःपावकदृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः; तयोरपि कथंचिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात्।

पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीतमिति। तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते? इति। ततः सुष्ठूक्तं "वाच्यमेकमनेकरूपम्" इति।

सामान्यमें एकता सदा संग्रहनयकी अपेक्षासे ही सर्वत्र जाननी चाहिये। क्योंकि; प्रमाणात्मक ज्ञानकी अपेक्षा तो प्रत्येक व्यक्तिमें जैसे विसदृश परिणाम भिन्न भिन्न हैं तैसे उस समान परिणाममय सामान्यमें भी प्रतिव्यक्ति कथंचित् भेद ही है। इस प्रकार सामान्य तथा विशेषमें सर्वथा विरुद्धधर्मपनेका निराकरण होता है। यदि कथंचित् विरुद्धधर्मपना इष्ट हो तो हमारा मानना भी यही है। क्योंकि; कथंचित् विरुद्ध धर्म तभी हो सकता है जब भेद भी कथंचित् ही हो, न कि सर्वथा भेद माननेपर। जल तथा अग्निका दृष्टान्त भी परस्परका भेद सर्वथा सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योकि; जल तथा अग्निमें भी विरुद्धधर्मपना तथा भेद कथंचित् ही माना गया है। जैसे जलपने तथा अग्निपनेसे ही जल तथा अग्निमें विरुद्ध धर्म तथा भेद है; द्रव्यत्वादिक धर्मोंकी अपेक्षा भेद नही है। इस प्रकार वस्तुका पूर्ण स्वरूप सामान्यविशेषात्मक क्यों न माना जाय? इसलिये यह ठीक कहा है कि "**वाच्यमेकमनेकरूपम्।**" अर्थात् वस्तु एकरूप भी है तथा अनेकरूप भी है।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् (सामान्यविशेषात्मकम्)। सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायिशब्दत्वमेकम्। शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद्व्यक्तमेव। तथा हि। पौद्गलिकः शब्दः; इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत्।

इसी प्रकार वस्तुका वाचक शब्द भी एक तथा अनेकरूप अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है। वाचकपनेसे सर्व व्यक्तियोंमें अनुयायी अर्थात् रहनेवाला होनेसे तो एकरूप है और शंखका शब्द, शारङ्गीका शब्द, तीव्र शब्द, मंद शब्द, उदात्त शब्द, अनुदात्त शब्द तथा स्वरित शब्द इत्यादि अंतर्गत भेदोंकी अपेक्षा अनेकरूप भी है। पुद्गलकी पर्यायरूप होनेसे सामान्यविशेषात्मकपना भी शब्दमें स्पष्ट है। अब पुद्गलपना कैसे है यह दिखाते हैं। इंद्रियोंके गोचर होनेसे जैसे रूपरसादिक पुद्गलके अवस्थाविशेष हैं तैसे शब्द भी पुद्गलका अवस्थाविशेष है।

यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात् पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः। तथा हि।

शब्दमें पुद्गलपनेका खण्डन करनेके अभिप्रायसे यौगमतवालोंने पांच हेतु दिखाये हैं। (१) शब्द पुद्गलमयी नहीं है। क्योंकि; स्पर्शगुणरहित है। (२) शब्द पुद्गलमयी नहीं है। क्योंकि, अत्यत सघन पदार्थोंमेंसे भी प्रवेश करते तथा निकलते हुए रुकता नहीं है। (३) शब्द पुद्गलरूप नहीं है। क्योंकि, शब्दरूप पर्यायके पूर्वोत्तर पर्यायरूप अवयव नहीं दीखते हैं (४)। शब्द पौद्गलिक नहीं है। क्योंकि, अन्य छोटे छोटे मूर्तिक द्रव्योंको कपा नहीं सकता है। (५) शब्द पुद्गलका विकार नहीं है। क्योंकि, शब्द आकाशका गुण है। जो पौद्गलिक होता है वह स्पर्शसहित होता है, अति सघन वस्तुमें प्रवेश नहीं कर सकता है तथा उसमेंसे निकल भी नहीं सकता है, आगे पीछेकी अवस्थाके अवयव भी उसके दीखते हैं, अन्य छोटे छोटे मूर्तिक द्रव्योंको वह कपाता भी है और जो पुद्गलमयी होता है वह आकाशका गुण नहीं होता है। यौगमतवालोंके ये पांचो ही हेतु हेत्वाभास[1] हैं। किस प्रकार हेत्वाभास हैं सो दिखाते हैं।

शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम्। तत्र च स्पर्शो निर्णीयते एव। यथा-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुघातप्रतिघातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात् तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्। इत्यसिद्धः प्रथमः। द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः। वर्तमानजात्यकस्तूरिकादि गन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम्।

शब्दरूप पर्यायका उपादान कारण भाषावर्गणारूप[2] पुद्गल है; आकाश नहीं है। और उसमें स्पर्शका निर्णय भी होता ही है। कैसे? शब्दका आश्रय (उपादान कारण) स्पर्शसहित ही है। क्योंकि; यदि वायु अनुकूल (मुखके आगेसे मुखकी तरफ आनेवाला) हो तथा सुननेवाला प्राणी जहां शब्द होता हो उससे दूर हो तो भी शब्द सुनाई पड़ता है नहीं तो (वायु प्रतिकूल होनेपर सुननेवाला शब्दकी उत्पत्तिके स्थानके पास हो तो भी) नहीं। जैसे-यदि वायु अनुकूल (आगेसे आनेवाला) हो तो सूंघनेवाला प्राणी गन्धके स्थानसे दूर रहे तो भी वह गन्ध आनी आती है नहीं तो नहीं (इसलिये जैसे गन्धद्रव्य पौद्गलिक है तैसे शब्द भी पौद्गलिक ही होना चाहिये)। इस प्रकार यौगमतवालेका प्रथम हेतु असिद्ध हुआ। दूसरा हेतु भी गन्धद्रव्यसे ही

---

१ जो हेतु साध्य सिद्ध करनेके अभिप्रायसे बोला जाता है वह यदि झूठा (सदोष) हो तो उसको हेत्वाभास कहते हैं। २ पुद्गलके एकसे परमाणुओंके समूहको वर्गणा कहते हैं। पुद्गलकी वर्गणा सर्व बाईस हैं। इन्हींमेंसे एकका नाम भाषावर्गणा है। जिससे शब्द बनसके उसको भाषावर्गणा कहते हैं।

व्यभिचारी होनेसे अनैकान्तिकनामक हेत्वाभास है । अर्थात्—जैसे गन्धद्रव्य अत्यंत सघन पदार्थोंमें प्रवेशकरते तथा उनमेंसे निकलते हुए नही रुकनेपर भी पौद्गलिक है तैसे ही शब्दके भी अत्यंत सघन पदार्थमें प्रवेश करते तथा निकलते हुए नहीं रुकनेसे पौद्गलिकपनेमें बाधा नहीं आसकती है । क्योंकि; उत्तम कस्तूरीआदिक गन्धद्रव्य किवाड़आदिक बंद करदेनेपर भी बाहरसे भीतर घुस जाता है तथा भीतरसे निकल भी आता है परंतु पौद्गलिक ही है; अपौद्गलिक नहीं है ।

अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवान्नातिनिविडत्वम् । अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ । कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः । इति चेत्तर्हि शब्देप्येतत्समानम् । इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु विद्युल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोपि तथैव; गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते । पञ्चमः पुनरसिद्धः । तथा हि । न गगनगुणः शब्दः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात्सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति ।

यदि कहो कि " किवाड आदिकोंमें छोटे छोटे छिद्र रहनेसे अत्यंत सघनता नहीं है इसलिये उनमें प्रवेशकरना तथा निकलना होसकता है । यदि ऐसा न हो तो किवाड़ खुले रहनेपर जैसा गन्ध निकलता है तैसा बंद होनेपर भी क्यों नही? और जो सर्वथा छिद्ररहित हो उसमें न तो प्रवेश ही करसकता है और न निकल ही सकता है " तो हम भी शब्दमें ऐसा ही स्वभाव मानते हैं । अर्थात् जिसमें सूक्ष्म छिद्र हों उसीमें शब्दका घुसना निकलना होसकता है; अन्यत्र नहीं । इस प्रकार दूसरा हेतु भी असिद्ध हुआ । यद्यपि उल्कापात अथवा विजलीआदिकोंके भी पहले पीछेके अवयव जिनसे वह बने या नाश होनेके अनन्तर जो रहै, नहीं दीखते है परंतु तो भी ये सब पौद्गलिक ही हैं । इसलिये तीसरा हेतु सदोष (अनैकांतिक) है । चौथा भी इसी प्रकार सदोष (अनैकांतिक या व्यभिचारी) है । क्योंकि; अनेक प्रकारके गन्धद्रव्य या सूक्ष्म (वारीक) धूली अथवा धूमादिक भी मूर्तिक द्रव्यकी प्रेरणा नहीं करते हैं इसलिये यहां चौथा हेतु तो विद्यमान है परंतु पुद्गलपनेका अभावरूप

१–२ जिस साध्यके साधनेकेलिये जो हेतु बोला जाय वह हेतु यदि उस साध्यके स्थानसे अन्यत्र भी रहै तो वह हेतु व्यभिचारी अथवा अनैकान्तिक कहा जाता है । यह हेत्वाभासका एक भेद है ।

साध्य नहीं है इसलिये साध्यके अभावमें भी हेतु रहनेसे व्यभिचार अथवा अनेकान्तनामक दोष आता है। क्योंकि, गन्धद्रव्य भी नासिकामें घुसते अथवा निकलते पासकी मूंछोको कंपाता नहीं है। पांचवा हेतु असिद्ध है। कैसे सो कहते हैं। हमलोगोंके भी गोचर होनेसे शब्द आकाशका गुण नहीं होसकता है। जो पौद्गलिक होता है वही हमलोगोंकी इन्द्रियोंके गोचर होसकता है। जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। इस प्रकार शब्द पौद्गलिक सिद्ध होनेसे सामान्यविशेषात्मक है।

न च वाच्यम् " आत्मन्यपौद्गलिकेपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयते " इति; यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवद्लोलीभावमापन्नस्य कथंचित्पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति। यद्यपि स्याद्वादवादिना पौद्गलिकमपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मत्वमर्वाग्दृशां न तथा प्रतीतिविषयमायाति। पौद्गलिकेषु पुनस्तत्साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वं सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति।

" यदि पुद्गलमें ही सामान्यविशेषात्मकपना है तो पुद्गलरूप न होनेपर भी आत्मामें सामान्यविशेषात्मकपना क्यों निर्विवाद झलकता है"' यह प्रश्न करना ठीक नहीं है। क्योंकि; जैसे अग्निसे तपाने तथा घनोसे कूटनेपर अनेक सूइयोंका समूह एक पिंडरूप होजाता है वैसे संसारी आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें योग, कषायोंके वश प्रत्येक समयमें जो अनंतानंत कर्मपरमाणु बंधको प्राप्त होते हैं उनके साथ एकपना होनेसे वह आत्मा भी कथंचित् पौद्गलिक ही गिना जाता है। यद्यपि स्याद्वादी पौद्गलिक पृथ्वी जलादिक तथा अपौद्गलिक धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन दोनो ही प्रकारके द्रव्योंको सामान्यविशेषात्मक मानते हैं तो भी अल्पज्ञानी जीव अपौद्गलिक पदार्थोंमें सामान्यविशेषात्मकपना भलेप्रकार नहीं समझ सकते हैं। पौद्गलिक पदार्थोंमें तो यदि सामान्यविशेषका विचार किया जाय तो भलेप्रकार समझ सकते हैं। इसलिये शब्दको सामान्यविशेषात्मक सिद्ध करनेके अभिप्रायसे ही शब्दमें पुद्गलपना विना प्रकर्ण भी सिद्ध किया है।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसमतः शब्दैकत्वैकान्तोऽनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा

---

१ जो हेतु दूसरे अनुमानसे बाधित होसके वह असिद्ध है।

प्रतिक्षेप्यः। अथ वा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वं; शब्दार्थयोः कथंचित्तादात्म्याभ्युपगमात्। यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः।—

यहांपर शब्दको नित्य कहनेवालोकर माने गये शब्दके सर्वथा एकपनेका तथा शब्दको अनित्य माननेवालोकर माने हुए शब्दके सर्वथा अनेकपनेका निराकरण प्रथम दिखाये हुए ढंगसे करना चाहिये।

अथवा वाच्यरूप घटादिक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक सिद्ध होनेसे ही उन पदार्थोंके वाचक शब्दोंमें भी सामान्यविशेषात्मकपना सिद्ध हो सकता है। क्योंकि; शब्द तथा अर्थका संबन्ध कथंचित् तादात्म्यरूप माना गया है। यही वात पूज्य भद्रबाहु स्वामीने कही है।—

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च। खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्हि जम्हा दु वयणसवणाणं। णवि छेउ णावि दाहो ण पूरणं तेण भिण्णं तु॥ जम्हा उ मोयगुच्चारणम्हि तत्थेव पच्चओ होइ। ण य होइ स अण्णत्थे तेण अभिण्णं तदत्थाउ॥

छाया-अभिधानम् अभिधेयाद् भवति भिन्नम् अभिन्नं च। क्षुरअग्निमोदकोच्चारणे यस्मात् तु वचनश्रवणानाम्। नापि छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु। यस्मात्तु मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति। न च भवति स अन्यार्थे तेन अभिन्नं तदर्थात्॥

अभिधान (वाचक=शब्द) अभिधेय (वाच्य=पदार्थ) से भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है। बोलनेवालोंके मुख तथा सुननेवालोंके कान "छुरा" शब्दसे छिदते नहीं हैं, "अग्नि" शब्दसे जलते नही हैं, "मोदक" (लड्डू) शब्दसे पूरित नहीं हो जाते हैं इसलिये तो पदार्थसे शब्द भिन्न है। और जिस मोदकादिक अर्थके कहनेवाला शब्द वोला जाता है उस शब्दसे उसी पदार्थका ज्ञान होता है अन्यका नहीं इसलिये अर्थसे शब्द अभिन्न भी है।

एतेन "विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः। कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि" इति प्रत्युक्तम्। शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति। स च तत्तथा प्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्तो नान्यथा अतिप्रसङ्गात्, घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति।

इस कथनसे " शब्दकी विकल्पसे उत्पत्ति है तथा विकल्पकी शब्दसे। इस प्रकार शब्द तथा अर्थमें प्रत्येक कार्यकारणरूप

तो है परंतु शब्द अपने वाच्य अर्थका स्पर्शमात्र भी नहीं करते हैं।" यह कथन भी खण्डित होता है, क्योंकि, "पदार्थ, शब्द (उस पदार्थका वाचक) तथा ज्ञान ये तीनो ही समानसंज्ञावाले होते हैं" ऐसा पूर्वाचार्योंका वचन है। शब्दका यही तत्त्व (प्रयोजन=शब्दपना) है कि अपने वाच्य अर्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करै। और यह (शब्द) अपने वाच्यका यथार्थपनेसे प्रतिपादन करता हुआ अपने वाच्यस्वरूपमय होकर ही प्रतिपादन करसकता है, अन्य प्रकार नहीं। यदि अन्यथा प्रकार भी करसके तो अमुक शब्दका यही अर्थ है ऐसा कोई निश्चायक न होनेसे "घट" शब्दसे "पट" पदार्थका भी ज्ञान क्यों न हो? (क्योंकि ऐसा होनेपर इस दोषका कोई व्यावर्तक नहीं है)।

अथ वा भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते। वाच्यं वस्तु घटादिकमेकात्मकमेव (एकरूपमपि) सदनेकम् (अनेकस्वरूपम्)। अयमर्थः।—प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति। तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्था विजातीयाश्च पटादयः। तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम्। पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते; अन्यथा प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः।

अथवा इस समग्र काव्यका व्याख्यान दूसरे प्रकारसे करते हैं। वाच्य अर्थात् घटादिक पदार्थ एकात्मक भी अर्थात् एकरूप होकर भी अनेक सत्तावाले अर्थात् अनेकरूप हैं। इसका यह (नीचे लिखे अनुसार) अभिप्राय है कि प्रमाता (निश्चयकर्ता) लक्षणसे प्रमेयका स्वरूप निश्चित करता है। और यह निश्चय सजातीय तथा विजातीय वस्तुओंका निराकरण (व्यावृत्ति) करनेपर ही होसकता है। जैसे मट्टीसे बने हुए पदार्थ घड़ेके समानजातीय हैं और वस्त्रादिक विजातीय हैं। इन सबको जुदे करनेका नाम ही उस पदार्थका लक्षण है। स्थूल तथा मोटे पेटवाला शंखसमान ग्रीवावाला जल धरने तथा लाने आदिक प्रयोजनमें समर्थ जो कोई वस्तु उसको घड़ा कहते हैं। इस घड़ामें इसके सजातीय मट्टीके पदार्थ तथा विजातीय वस्त्रादिक पदार्थोंके स्वरूपका कल्पनामात्रसे आरोपण कर निराकरण किया जाता है। यदि घड़ासे भिन्न सजातीय तथा विजातीय वस्तुओंका निराकरण न किया जाय तो प्रत्येक पदार्थकी "यह यही है अन्य नहीं" ऐसी नियमित व्यवस्था ही न होसके।

1=एकरूपमेव इति पाठान्तरम्।

सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम् । एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् । तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात्पररूपेण चासत्त्वाद्भावाभावात्मकं वस्तु । यदाह " सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च" । अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः " । ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं; सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोप्येवमेव व्यवस्थितः " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ (संस्कृतच्छाया-य एकं जानाति स सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति स एकं जानाति) ॥ " तथा- " एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः" ॥

सभी पदार्थोंका स्वरूप भावाभावात्मक है। यदि किसी पदार्थका स्वरूप सदा भावात्मक ही मानलिया जाय तो वस्तु संपूर्ण जगत्स्वरूप होजाय । यदि सर्वथा अभावरूप ही माना जाय तो वस्तुका कोई स्वरूप ही न ठहरे । इसलिये निज स्वरूपकी अपेक्षा भावात्मक तथा अन्य रूपकी अपेक्षा अभावात्मक संभव होनेसे वस्तुका पूर्ण स्वरूप भावाभावात्मक ही संभवता है। यही कहा भी है "सभी वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत्रूप हैं तथा अन्य स्वरूपकी अपेक्षा नास्तिरूप है। यदि ऐसा न हो-अर्थात् यदि सर्वथा भावस्वभाव ही माना जाय तो एक वस्तुकी उपस्थितिमें सभी वस्तुओंकी सत्ता (मोजूदगी) उपस्थित होनेलगे तथा (यदि अभावस्वरूप ही माना जाय तो) निज स्वरूपका भी अभाव हो जाय। " इस प्रकार एक घड़ामें उस घड़ाके अतिरिक्त सभी पदार्थ अभावरूपमे रहनेसे यह सिद्ध हुआ कि एक भी घड़ा अनेकस्वरूप है । ऐसा सिद्ध होनेसे यह भी सिद्ध होता है कि जहां एक पदार्थका ज्ञान हो वहां सभी पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो किसी भी इष्ट पदार्थका स्वरूप तो यही है कि अपने सिवाय अन्य सभीका निषेध करै । सो यह स्वरूप विना अन्य सर्व पदार्थोंके जाने कैसे जाना जासकता है? आगममें भी यही कहा है " जो एक वस्तु जानलेता है वह सभी जानलेता है । जो सर्व जानता है वही एक भी जानता है ॥" तथा दूसरा प्रमाण-" जिसने एक पदार्थ पूर्णतया देखा है उसने सभी पदार्थ पूर्णतया देखे हैं। जिसने सर्व पदार्थ पूर्णतया देखे हैं एक पदार्थ भी पूर्णतया उसीने देखा है ।

ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथा हि । यथा घटस्य स्वरूपादिना

सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनापि स्यात् तथा च सति स्वरूपादित्वपररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत्? परासत्त्वेन तु प्रतिनियततोऽसौ सिध्यति। अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेदहो वैदग्धी! न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति। विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात्।

अब जो बौद्धलोग पदार्थमें परकी अपेक्षा असत्त्व (अभाव) नहीं मानते हैं उनके मतमें पटादि पदार्थ सर्वजगन्मय होने लगेंगे। कैसे सो कहते हैं।—जैसे घट स्वरूपादिकी अपेक्षासे सत् है तैसे यदि पररूपादिकी अपेक्षा भी सत् ही हो तो स्वरूपादिकी अपेक्षा सत् होनेके समान पररूपादिकी अपेक्षा भी सत् माननेमें सर्वात्मकपना क्यों न हो? अन्यकी अपेक्षा असत् माननेपर तो ऐसा सिद्ध होसकता है कि यह यही है अन्य नहीं। "घटादिकमें अन्य पदार्थोंका असत्त्व न हो ऐसा नहीं है किंतु अपनी सत्ता ही परकी असत्ता है" यदि बौद्धोंका ऐसा कहना हो तो धन्य है बौद्धोंकी बुद्धिमत्ता! क्योंकि जो सत्त्व वही असत्त्व कैसे हो सकता है? क्योंकि, विधि तथा प्रतिषेध, ये परस्पर विरोधी दो धर्म जिनमें हों उनमें एकता कैसी?

अथ युष्मत्पक्षेऽप्ययं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेदहो वाचाटता देवानां प्रियस्य। न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं तेनैवासत्त्वं येनैव चासत्त्वं तेनैव सत्त्वमभ्युपेम किं तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः?

बौद्ध जैनोंसे कहते हैं कि "तुम्हारे माननेमें भी यह विरोध है ही" परंतु यह कहना बौद्धोंकी बड़ी धृष्टता है। हम जिस प्रकारसे सत्स्वरूप मानते हैं उसी प्रकारसे असत्स्वरूप भी मानते हों ऐसा नहीं है तथा जिस अपेक्षासे पदार्थका स्वरूप असत् मानते हैं उसी अपेक्षासे सत् भी मानते हों ऐसा भी नहीं है। किंतु अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तो प्रत्येक पदार्थको सत् मानते हैं तथा अपनेसे भिन्न पदार्थोंके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षासे उसी एक पदार्थको असत् भी मानते हैं। अब कहिये! विरोध कहां है?

सौगतास्तु प्रगल्भन्ते "सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया" इति तदसत्। यदा हि पटाद्यभावरूपो घटो न भवति तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च पटाभावाद्भिन्नत्वाद्घटस्य घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद्भिन्नत्वादेव। इत्यलं विस्तरेण।

यौगमतवाले ऐसा कहते हैं कि अभावको पदार्थसे सर्वथा जुदा माननेसे ही यदि प्रत्येक पदार्थकी जुदाई सिद्ध होती है तो उस पदार्थको ही असत्‌रूप कल्पना करनेसे क्या प्रयोजन है? परंतु यह कहना सर्वथा दूषित है। क्योंकि; जब प्रत्येक पदार्थका अभाव तो जुदा और पदार्थ जुदा ही है इसलिये कोई भी पदार्थ अपनेसे भिन्न वस्तुओंके अभावरूप तो है ही नहीं तो फिर घड़ा भी वस्त्रादिक अन्य वस्तुरूप हो जाना चाहिये। और जैसे घटाभावसे घट भिन्न है इसलिये घट घटस्वरूप है तैसे वस्त्रादिक भी घटाभावसे भिन्न हैं इसलिये वे भी घटस्वरूप क्यों न हों? भावार्थ—योगमतमें प्रत्येक पदार्थकी स्थिति उसके अभावसे जुदे होनेकी अपेक्षा मानी है। जैसे घड़ाका अभाव एक जुदा पदार्थ है। वह जहां नहीं होता है वहां ही घड़ा है ऐसा निश्चय यौगमतमें माना गया है। परंतु इसमें दोष इस प्रकार आता है कि वस्त्रादिक पदार्थ भी घड़ाके अभावरूप नहीं है इसलिये वस्त्रादिक भी घड़ाके अभावसे भिन्न होनेसे घड़ारूप क्यों नहीं होजाते हैं? क्योंकि; वस्त्रादिकोंमें ऐसा कोई भी प्रबल रोकनेवाला धर्म नहीं है जो घड़ारूप होनेसे रोक सके। हमारे यहां तो घड़ाके अतिरिक्त सभी पदार्थोंके अभावस्वरूप उस घड़ाको माना है। इसलिये हमारे यहां तो वह घड़ा जब वस्त्रादिकोंके अभावस्वरूप है तो वस्त्रादिस्वरूप कैसे हो सकता है? क्योंकि; जो जिसके अभावस्वरूप है वह उसके आकाररूप नहीं हो सकता है। इतना खण्डन ही बस है।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्व्यात्मकम्। एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः; अर्थोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाभावात्मकत्वादथ वा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते? भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति; संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशेऽश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः।

इसी प्रकार पदार्थोंके अर्थका कहनेवाला शब्द भी दोनो प्रकार है। अर्थात्—कथंचित् एकस्वरूप है, कथंचित् अनेकस्वरूप है। क्योंकि; जैसे पदार्थ भावाभावात्मक सिद्ध किया है तैसे ही शब्द भी भावाभावात्मक है। अथवा एक विषयका वाचक भी शब्द अनेक विषयका वाचक होसकता है इसलिये भी शब्द भावाभावात्मक है। जैसे एक घड़ा संकेतके वशसे स्थूल तथा लंबे

देखाने घटनामक पदार्थको जैसे वाचकपनेसे कहता है तैसे ही यदि किसी देश कालमें किसी दूसरे पदार्थमें इसका संकेत निश्चित किया जाय तो कौन रोकता है? योगीजन शरीरको ही घड़ा कहते हैं। क्योंकि; जो शब्दके संकेत होते हैं वे पुरुषोंकी इच्छापर निर्भर होनेसे एकरूप ही निश्चित नहीं हैं। अर्थात्–पुरुष जैसा चाहते हैं वैसा ही शब्दका अर्थ करने लगते हैं। जैसे चौर शब्दका अर्थ अन्य स्थानोंमें तो चोर ही है परंतु दक्षिण देशमें चौर शब्दका अर्थ ओदन है। और भी–जैसे कुमार शब्दका अर्थ पूर्व देशमें आश्विन मास है। इसी प्रकार कर्कटी शब्दका अर्थ भी किसी देशमें ककड़ी होता है, किसी देशमें योनि होता है। इत्यादि एक एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं।

कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहननादिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात्। शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी, त्रिपुरार्णवे चालिशब्देन मदिराभिधानं च, मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्। इत्यादि। न चैवं संकेतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं; स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति।

तथा कालकी अपेक्षा जैसे जैन आम्नायके प्रायश्चित्तग्रन्थोंमेंसे जीतकल्प व्यवहार नामक ग्रन्थके अनुसार प्राचीन कालमें तो, जब कि धृति, श्रद्धा, संहनन (बल) आदिक विशेष थे " षड्गुरु " शब्दका अर्थ एकसो अस्सी उपवास समझा जाता था, परंतु अब उसी " षड्गुरु" शब्दका अर्थ तीन उपवास समझा जाता है। शास्त्रोंकी अपेक्षा पुराणोंमें " द्वादशी " शब्दका अर्थ एकादशी तथा त्रिपुरार्णव ग्रन्थमें "अलि" शब्दका अर्थ मदिरा तथा अभिषिक्त अन्न होता है। ऐसे ही " मैथुन " शब्दसे मधु तथा घी समझा जाता है। इत्यादि अनेक प्रकार पुरुषकी इच्छानुसार संकेत बदल जाते हैं। परंतु ऐसा भी नहीं है कि शब्द तो कुछ भी कार्य करता नहीं हो, केवल संकेत ही अर्थके जतानेवाला हो। क्योंकि; अर्थ तो शब्दका ही होता है; संकेत तो केवल देशकालादिकके अनुसार अर्थ प्रकाश करनेमें सहायकमात्र है। प्रत्येक शब्द सभी अर्थोंको जता सकता है परंतु जिस देशकालादिकमें जिस अर्थके जतानेमें संकेत सहकारी होता है उस देशकालादिकमें उसी अर्थको शब्द जताता है।

तथा च निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।" अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्। अतोन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्योक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद्व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः -सामान्यविशेषात्मकस्य भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति। अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानां वादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते।

ऐसा ही बड़े बड़े दुर्जय परवादियोंको जीतनेवाले श्रीदेवसूरि आचार्यने कहा है "स्वभावसे ही उत्पन्न हुई सामर्थ्य तथा संकेतके वश होकर शब्द अर्थका बोध कराता है अर्थात् अर्थबोधका कारण है। शब्दमें सामर्थ्य किस प्रकारकी तथा कोन कोनसी होती है इस विषयका प्रतिपादन अन्य ग्रन्थोंसे समझ लैना चाहिये। इस प्रकार पहिले आधे श्लोकका यह अर्थ है। अतोऽन्यथा इत्यादि उत्तरार्द्धका अर्थ तो पहिले ही कहचुके है। पदार्थको सर्वथा सत्‌रूप अथवा असत्‌रूप माननेमें तथा शब्दको अपना अपना निश्चित अर्थ जतानेमें वादियोंका कहना अनेक प्रकार दूषित होनेसे कार्यकारी नहीं है इस बातको प्रथम ही लिखचुके है इसलिये उन वादियोंकी बुद्धि उन्मादसहित समझनी चाहिये। इस संपूर्ण कारिकाका संक्षेपसे अर्थ इस प्रकार है कि सामान्यविशेषस्वरूप तथा भावअभावस्वरूप शब्द ही सामान्यविशेषस्वरूप तथा भावअभावस्वरूप वस्तुका वाचक हो सकता है। जो वादी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे ही शब्दार्थमें वाच्यवाचकपनेकी व्यवस्था ठहराते हैं उनका कहना किंचित् भी युक्तिपूर्वक नही है किंतु उनकी बुद्धि ही प्रमादको प्राप्त होरही है जो पूरा विचार नहीं करसकते हैं।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेदेते ब्रूमः। अपोह एव शब्दार्थ इत्येके "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोच्यते" इति वचनात्। अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित्प्रतिपन्नस्यैकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः। विधिवादिनस्तु विधिरेव वाक्यार्थोऽप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात्तस्येत्याचक्षते। विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः। तथा हि। वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्तकत्वाद्विधिरित्येके। तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो

विधिरित्यन्ये । नियोग इत्यपरे । प्रैषादय इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनामात्रमित्यन्ये । एवं फलवदभिलापक-र्मादयोपि वाच्याः । एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयमिति । इति काव्यार्थः ।

परवादीलोग किस किस प्रकारसे शब्दार्थमें वाच्यवाचकपनेकी व्यवस्था करते हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं ।—कोई ऐसा मानते हैं कि सर्व शब्दोंका अर्थ अपोह [इतरनिषेध] ही है । "शब्द तथा लिङ्गसे अपोह कहा जाता है, न कि वस्तुके प्रवर्तनसे" ऐसा वचन भी है । किसीका कहना है कि वस्तुका केवल सामान्य स्वरूप ही शब्दका अर्थ है । क्योंकि, सामान्य स्वरूप किसी एक स्थानमें निश्चित होनेपर दूसरे स्थानोंमें भी सुगमतासे शब्दद्वारा प्रतीतिगोचर होसकता है । क्योंकि; सभी स्थानोंमें उसका दिखाव समान है । शब्दका अर्थ प्रत्येक पदार्थोंका विशेष विशेष आकार नहीं होसकता है । क्योंकि; विशेष आकार अनंतो हैं इसलिये सबकी एक साथ प्रतीति न होनेसे शब्दके गोचर ही नहीं होसकते हैं । वेदोंमें कही हुई विधिको माननेवाले कहते हैं कि कर्मोंमें नहीं प्रवर्तते हुए मनुष्योंको प्रवर्तानेवाली होनेसे विधि ही वाक्यका अर्थ है । इस विधिको भी अनेक वादी अनेक प्रकारसे मानते हैं । सोई दिखाते हैं । कोई वादी वाक्यरूप शब्दको ही कर्मोंमें प्रवर्तन करानेवाला होनेसे विधिरूप मानते हैं । कोई मानत हैं कि वाक्यसे उत्पन्न हुआ व्यापार ही विधि है । इस व्यापारका दूसरा नाम भावना भी है । कोई मानते हैं कि नियोग ही विधि है । कोई प्रैषादिक[प्रेरणादिक]को ही विधि मानते हैं । किसीका मानना है कि तिरस्कारपूर्वक प्रेरणा करनेका नाम ही विधि है । इसी प्रकार इस विधिका फल तथा अभिलापा तथा कर्मादिक भी प्रत्येकने जुदे जुदे माने हैं । न्यायकुमुदचन्द्रनामक ग्रन्थमें इन सबोंका निरूपणपूर्वक खण्डन लिखा है सो उसमेंसे समझ लेना चाहिये । इस प्रकार इस कारिकाका अर्थ पूर्ण हुआ ।

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वाना विरोधावरुद्धत्वं ख्यापयन् तद्बालिशताविलसितानामपरिमितत्वं दर्शयति ।

अब जो सांख्यमतीने प्रकृतिपुरुषादिक पचीस तत्त्व माने हैं उनमें परस्पर विरोध दिखाते हुए यह भी दिखाते हैं कि उसने अपनी मूर्खतासे कितनी कितनी खोटी कल्पना की हैं ।

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥

मूलार्थ—चेतना तो पदार्थको स्वयं जानती नहीं है तथा बुद्धि स्वयं जड़स्वरूप है। आकाश शब्दसे उत्पन्न है। गन्धसे पृथिवी उत्पन्न है। रससे जल, रूपसे अग्नि तथा स्पर्शसे वायु उत्पन्न है। जीव न बँधता है और न मुक्त होता है। इस प्रकार मूर्खोंने विरोधसे भरा हुआ क्या क्या नहीं लिखा है।

व्याख्या—चित्—चेतनशक्तिरात्मस्वरूपभूता, अर्थशून्या—विषयपरिच्छेदविरहिता; अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वादित्येका कल्पना। बुद्धिश्च महत्तत्त्वाख्या जडा—अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया। अम्बरादि—व्योमप्रभृति भूतपञ्चकं शब्दादितन्मात्रजं, शब्दादीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि तेभ्यो जातमुत्पन्नं शब्दादितन्मात्रजमिति तृतीया। अत्र "च" शब्दो गम्यः। पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्यात्मनो न बन्धमोक्षौ; किंतु प्रकृतेरेव। तथा च कापिलाः "तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।" तत्र बन्धः प्राकृतिकादिः। मोक्षः पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः। इति चतुर्थी। इति शब्दस्य प्रकारार्थत्वादेवं प्रकारमन्यदपि विरोधीति विरुद्धं पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्रातं जडैः—मूर्खैस्तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः कियन्न ग्रथितं—कियन्न स्वशास्त्रेपूपनिबद्धम्। कियदित्यसूयागर्भं; तत्प्ररूपितविरुद्धार्थानामानन्त्येनेयत्तानवधारणात्। इति संक्षेपार्थः।

व्याख्यार्थ—"चित्" अर्थात् आत्मस्वरूपमय चेतनशक्ति "अर्थशून्या" अर्थात् किसी पदार्थको जान नहीं सकती है। क्योंकि; पदार्थका जो निश्चय होता है वह बुद्धिके संबन्धसे होता है। यह प्रथम कल्पना है। महत्तत्त्व है नाम जिसका ऐसी जो "बुद्धिः" बुद्धि है वह स्वयं "जडा" जडस्वरूप है अर्थात् स्वयं ज्ञानरूप नही है; चेतनाका जाननेमें केवल सहाय करती है। यह द्वितीय कल्पना है। "अम्बरादि" आकाश आदिक पांच भूततत्त्व "शब्दादितन्मात्रजम्" अर्थात् सूक्ष्मभूतरूप शब्दादि पांच तन्मात्राओंसे जात नाम उत्पन्न हैं। यह तीसरी कल्पना है। इस श्लोकके वाक्यमें "और" इस अर्थका वाचक एक "च"[1] शब्द ऊपरसे लगाकर अर्थ करना चाहिये। और "पुरुषस्य" अर्थात् जो प्रकृति तथा विकृतिमय पदार्थोंसे

1 इसके लगानेसे ऊपरका संबन्ध ठीक होता है। अर्थात् " और आकाशादिक पांच भूततत्त्व शब्दादि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न हैं " यह अर्थ संबंधसहित होसकता है। च शब्द यदि न लगाया जाय तो " और " ऐसा दो वाक्योंको जोड़ना कैसे बनसकेगा?

भिन्न है ऐसे आत्माका " न बन्धमोक्षौ " न बंध है और न मोक्ष । किंतु जितना बंध मोक्ष है वह सब प्रकृतिका ही है । सांख्यमतके प्रवर्तक कपिलगुरुके अनुयायी जनोने भी ऐसा ही कहा है "इसलिये न तो कोई जीव बँधता है, न छूटता है और न संसारमें परिभ्रमण करता है। जो परिभ्रमण करता है, छूटता है तथा बँधता है वह अनेकोंका आश्रयरूप प्रकृति है"। यहां बन्ध प्राकृतिक आदि समझना चाहिये। और प्रकृति आदिक पचीस तत्त्वोंके ज्ञानपूर्वक अपवर्ग अर्थात् अनन्त सुखको मोक्ष समझना चाहिये। यह चौथी कल्पना है। श्लोकमें " इति " शब्द जो पड़ा है उसका अर्थ और भी अनेक प्रकारके भेदोंको ग्रहण करना है। इसलिये यह समझना चाहिये कि इस प्रकारकी अन्य भी " विरोधि " अर्थात् परस्पर विरुद्ध ऐसी कल्पनाएं इन "जडै" मूर्खोंने " कियत् ग्रथितं " कितनी कितनी नहीं गूथी हैं? अर्थात् अनेक प्रकार लिखी हैं। यहांपर यथार्थ तत्त्वार्थके बोधसे रहित ऐसे कपिलमतानुयायी ही "जड" शब्दका अर्थ है। इन कपिलमतवालोंने अपने शास्त्रोंमें इसी प्रकारकी अनेक खोटी कल्पनाएं की हैं। "कियत्" शब्द जो श्लोकमें पड़ा है उससे तिरस्कार सूचित होता है। " कियत् " शब्दका अर्थ अनिश्चित बहुतसा है। उनके प्ररूपे हुए परस्पर विरुद्ध अर्थ भी अनतो हैं इसलिये इस प्रकरणमें निश्चित संख्या न लिखकर " कियत् " शब्द रक्खा है। श्लोकका यह अर्थ संक्षेपसे कहा।

व्यासार्थस्त्वयम्। सांख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुतत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम्। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपाधिसाध्यं दुःखं द्वेधा आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्। अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसंबन्धोऽभिघातः ।

अब इसका अर्थ विस्तारसे लिखते हैं। तीन प्रकारके दुःखोंसे दुःखित हुआ जीव इन दुःखोंके नाश करनेकी इच्छासे नाशके उपायभूत पदार्थोंको तलाशता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ऐसे तीन प्रकारके दुःख हैं। इनमेंसे आध्यात्मिक दुःख दोप्रकार हैं, पहिले शारीरिक तथा दूसरे मानसिक। शारीरिक दुःख तो बात, पित्त, कफके बिगड़नेसे (विषम होनेसे)

होते हैं। और मानसिक दुःख काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्याके उत्पन्न होनेसे तथा विषयभोगोंके न मिलनेसे होते हैं। ये सर्व दुःख अंतरंग कारणरूप मनके चिन्तवनमात्रसे होते हैं इसलिये इनको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। बाह्य कारणोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले दुःख दोप्रकार हैं पहिले आधिभौतिक तथा दूसरे आधिदैविक। इनमेंसे आधिभौतिक तो वे दुःख हैं जिनकी उत्पत्ति मनुष्य, पशु, पक्षिओंसे तथा स्थावर पदार्थोंसे हो। आधिदैविक वे हैं जो यक्ष, राक्षस, नवग्रह देवता आदिकोंके कोपादिकसे उत्पन्न हों। ये तीनो प्रकारके दुःख बुद्धिमें रजोधर्मसे उत्पन्न होते हैं। जब इन दुःखोंका चेतना शक्तिके साथ अनिच्छितरूपसे संबंध होता है तब चेतना शक्तिका अभिघात माना जाता है।

तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। तद्यथा। अव्यक्तमेकम्। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम्। पुरुषश्च चिद्रूप इति। तथा चेश्वरकृष्णः "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम्। तच्चानादिमध्यान्तमनवयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम्। प्रधानाद्बुद्धिर्महदित्यपरपर्यायोत्पद्यते। योयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिरेवमेतन्नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः। तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि। अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि।

तत्त्व पचीस हैं। इनमेंसे एक तो अव्यक्तनामक है। दूसरा महान्, तीसरा अहंकार, पांच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रिय, पांच महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) ये तेईस व्यक्तरूप हैं। पचीसवां चेतनास्वरूप पुरुष है। ईश्वरकृष्णनामक एक ग्रन्थकारने भी कहा है "सबका मूल कारण प्रकृति है और वह स्वयं किसीका विकाररूप अर्थात् किसीसे उत्पन्न हुई नहीं है। महदादिक सात तत्त्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुए प्रकृतिके विकाररूप हैं। ग्यारह इन्द्रिय तथा पांच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकाररूप ही हैं। पचीसवां पुरुषतत्त्व न तो प्रकृति ही है और न विकृतिरूप"॥ सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी साम्यरूप (अनेक विकारोंसे रहित) अवस्थाका नाम प्रकृति है। जब इनमें विकार होता है तब सत्त्वगुण तो प्रीतिरूप होता है, रजोगुण अप्रीतिरूप होता है और तमोगुण विषादमय होता है। सत्त्वगुणमें लाघवरूप तथा रजोगुणमें उपष्टम्भरूप तथा

तमोगुणमें गौरवरूप धर्म रहते हैं। ये तीनो ही गुण एक दूसरेके उपकारी हैं। जो अव्यक्तनामक प्रथम तत्त्व है उसीका दूसरा नाम प्रधान है। इस प्रधानका न तो आदि (उत्पत्ति) है, न मध्यअवस्था है और न अंतावस्था (नाश) है। यह अवयवरहित अखंड एकरूप है; साधारण है, शब्द स्पर्श रूप गंध रहित है; अविनाशी है। इस प्रधानसे महान् है दूसरा नाम जिसका ऐसा बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है। जो इस अमुक वस्तुका निश्चयरूप ज्ञान हुआ है यह ऐसा ही है; अन्यथा नहीं है ऐसे ज्ञान-रूप परिणामको बुद्धि कहते हैं। जैसे यह गौ ही है, घोड़ा नहीं है। अथवा जैसे यह ठूठ ही है, पुरुष नहीं है। इस बुद्धिके आठ आकार हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये चार तो सात्त्विक (सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए) आकार हैं और अधर्मादिक चार इनसे उलटे तामसरूप (तमोगुणसे उत्पन्न हुए) आकार हैं।

बुद्धेरहङ्कारः। स चाभिमानात्मकः—अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं स्वामी, अहमीश्वरः, असौ मया हतः, ससत्त्वोऽहममुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः। तस्मात् पञ्च तन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषाणि सूक्ष्म-पर्यायवाच्यानि। शब्दतन्मात्राद्धि शब्द एवोपलभ्यते न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जादिभेदाः। षड्-जादयः शब्दविशेषास्तूपलभ्यन्ते। एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति। तत एव चाहङ्कारादेकादशे-न्द्रियाणि च। तत्र चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, त्वगिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्च कर्मे-न्द्रियाणि। एकादशं मन इति।

बुद्धिसे अहंकार उपजता है। मैं शब्द सुनता हूं, मैं स्पर्श करता हूं, मैं रूप देखता हूं; मैं गन्ध सूँघता हूं, मैं रस चाखता हूं; मैं स्वामी हूं, मैं ईश्वर हूं, यह मैने मारा है, मैं बलाढ्य हूं, मैं इसको मारूंगा इत्यादि रागद्वेषादिरूप अभिमानका ही नाम अहंकार है। इस अहंकारसे शब्दतन्मात्रा आदिक पांच तन्मात्रा उपजती हैं। ये पांचों तन्मात्रा सामान्यरूप और सूक्ष्म पर्यायरूप हैं। शब्द तन्मात्रासे केवल शब्दका ही ज्ञान होता है, उसके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कंपित तथा तंत्री आदिकोंके विशेष स्वरूप नहीं जानपड़ते हैं। यह तंत्रीकी ध्वनि है तथा यह तीव्र शब्द है इत्यादि विशेष स्वरूप तो विशेष शब्दोंसे जानपड़ते हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओंसे भी सामान्य ही स्पर्श, रूप, रस, गंध उत्पन्न होते हैं। विशेष स्पर्शादि तो पीछेसे विशेष स्पर्शादिकोंसे उपजते हैं। जिस अहंकारसे पांच तन्मात्रा उपजती हैं उसीसे ग्यारह इंद्रिय भी उपजती हैं। इन ग्यारहमेंसे चक्षु,

कान, नांक, जिह्वा, स्पर्शन ये पांच तो ज्ञानेन्द्रिय हैं। वचन, हाथ, पाँव, गुदा (विष्टा निकलनेका द्वार) और लिङ्ग (मूतनेका द्वार) ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। ग्यारहवां मन इंद्रिय है।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्च महाभूतानि उत्पद्यन्ते। शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते इति। पुरुषस्त्वमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियोऽकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने इति।

पांच तन्मात्राओंसे पांच महाभूत उपजते हैं। शब्दतन्मात्रासे शब्दगुणवाला आकाश उपजता है। शब्द स्पर्श तन्मात्राओंसे मिलकर शब्द तथा स्पर्शगुणवाला वायु उपजता है। शब्द, स्पर्श, रूप इन तीन तन्मात्राओंसे मिलकर शब्द, स्पर्श, रूप गुणवाला अग्नितत्त्व उत्पन्न होता है। जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चार गुण पाये जाते हे ऐसा जलतत्त्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस इन चार तन्मात्राओंसे मिलकर उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच गुणोंवाली पृथिवी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच तन्मात्राओंसे मिलकर उत्पन्न होती है। पचीसवां पुरुषतत्व अमूर्तिक है; चेतना गुण सहित है; सुख दुःखोंका भोगनेवाला है; नित्य (अविनाशी) है; सर्वगत है; क्रियारहित है; बुरे भले कर्मोंका कर्ता स्वयं नही है; स्वयं निर्गुण है; सूक्ष्म है तथा आत्मस्वरूप है। कपिल(सांख्य)दर्शनमें ऐसा पचीस तत्वोंका स्वरूप निरूपण किया है।

अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या; यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो विषया बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति। बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते। ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः। आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते। आह च पतञ्जलिः "शुद्धोपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति। तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" इति। मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः। तथा च वाचस्पतिः "सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति। ततश्च प्रवर्तते इति लोकतः सिद्धम्। तत्र कर्तव्यमिति योयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापार" इति।

अंधे और पंगे (लंगड़े) के समान प्रकृति और पुरुषका संयोग है । चेतनाशक्ति स्वयं विषयका निश्चय नहीं कर सकती है । क्योंकि, सुखदु खादिरूप विषय नालीके समान इंद्रियद्वारा बुद्धिमें जाकर झलकते हैं । अर्थात् इंद्रियोंके मार्गसे दर्पणके सदृश निर्मल बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होते हैं । बुद्धिका आकार दोनो ही बाजूसे (पीछे आगेसे) दर्पणके समान है । अर्थात् बुद्धि दर्पणके सदृश निर्मल है । इसीलिये उस बुद्धिमें चैतन्यशक्ति प्रतिबिम्बित होती है (प्रकाशती है) । चेतनाशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे इंद्रियोंद्वारा बुद्धिमें प्रतिभासते हुए सुखदुखा दि विषयोंका यह भ्रम होने लगता है कि, सुखदु खादिक चेतनामें झलकते हैं । यह भ्रम होनेसे ही पुरुष (आत्मा) आपेको सुखी दु खी मानने लगता है और आपेको बुद्धिसे अभिन्न समझता है । पतञ्जलिने भी कहा है कि "पुरुष यद्यपि स्वयं तो शुद्ध है परंतु बुद्धिके प्रतिबिम्बको चेतनाके द्वारा देखता है । और यद्यपि उससे भिन्न है तो भी उसको देखता हुआ आपेको उससे अभिन्न समझता है ।" यथार्थमें तो वह ज्ञान बुद्धिका ही है । वाचस्पतिने भी यही कहा है "लोकके कार्योंमें प्रवर्तनेवाले सभी मनुष्य विचारपूर्वक यह मानने लगते हैं कि इसमें हमारा अधिकार है; और ऐसा समझकर ही ऐसा निश्चय भी करलेते हैं कि यह हमको करना चाहिये । निश्चय करनेके अनंतर प्रवर्तने लगते हैं । यह परिपाटी लोगोंकि अनुभवसे सिद्ध है" । यहांपर "करना चाहिये" ऐसा जो बुद्धिका निश्चय है वह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है । अर्थात् "ऐसा" यह निश्चय बुद्धिमें ही होता है, अन्यमें नही । परंतु करना चाहिये ऐसा जो बुद्धिका निश्चय है यह होता तभी है जब चेतनाका प्रतिबिंब बुद्धिमें पड़ता है । और उसके अनंतर चेतनाका प्रतिबिंबद्वारा संबंध होनेसे बुद्धिमें चेतनाधर्मका भ्रम होने लगता है ।

चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवाभासते । वादमहार्णवोप्याह "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः" इति । तथा चासुरिः "विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोम्भसि । १ ।" विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे "पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा । १ ।"

बुद्धि स्वयं अचेतन होकर भी चेतनाशक्तिका संबंध होनेसे ऐसी जान पड़ती है जैसे चैतन्यशक्तिसहित हो । वादमहार्णवने भी इस विषयमें ऐसा कहा है कि "दर्पणके समान इस बुद्धिमें अर्थ प्रतिबिंबित होता हुआ आत्मरूपी दूसरे दर्पणमें प्रतिबिंबित

होने लगता है। अर्थात् जो प्रतिबिम्ब बुद्धिमें पड़ता है उस प्रतिबिंबका प्रतिबिंब पीछेसे पुरुषरूपी दर्पणमें पड़ने लगता है। इस बुद्धिके प्रतिबिंबका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है; इसीसे पुरुष भोक्ता कहाता है। अन्य कुछ भी भोगरूप विकार पुरुषमें नहीं होता है"। यही आसुरिने कहा है कि "बुद्धिमें भिन्न रहनेवाले पदार्थोंका प्रतिबिंब पड़नेपर आत्मामें भोक्तापना कहा जाता है। दर्पणके समान निर्मल पुरुषमें यह भोग केवल प्रतिबिंब पड़नेमात्र है। जैसे निर्मल जलमें पड़ा हुआ चन्द्रमाका प्रतिबिंब जलका ही विकार समझा जाता है"। इस भोगके विषयमें विंध्यवासीनामक ग्रन्थकार ऐसा कहता है कि "यह आत्मा स्वयं अविकारी होते हुए भी समीपमें रहनेवाले अचेतन मनको अपने समान चेतन बना देता है जैसे समीपमें लगाया हुआ रंग सफेद स्फटिकको रंगीनसा बना देता है (यह विकार यद्यपि निजी नहीं है तो भी जो निजीसा मालुम पड़ना है वही आत्माका भोग है)।"

न च वक्तव्यं पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी; कथमस्य मोक्षः? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माशयानां च बन्धनसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसंभवात्। अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा संसारोस्ति; निष्क्रियत्वादिति। यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात् तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे संबन्ध इति।

"यदि पुरुष स्वयं निर्गुण तथा निर्विकार (अपरिणामी) है तो इसका मोक्ष कैसे? क्योंकि मुच धातुका अर्थ बंधनका छूटना है (इसी धातुसे मोक्ष शब्द बनता है)। और आत्मामें जब वासना क्लेश कर्मोंके संबंधसे होनेवाले नानाप्रकारके बंधन ही संभव नही हैं तो मोक्ष किसका? इसीलिये जिसका दूसरा नाम प्रेत्यभाव या परलोक है ऐसा जो संसार वह भी इस आत्माका नही है। क्योंकि; संसार नाम परिभ्रमणका है सो क्रियारहित इस आत्मामें परिभ्रमण कैसे हो सकता है?" यह शंका नहीं हो सकती है। क्योंकि; प्रकृति ही नानापुरुषोंके आश्रय रहकर बंधती है और फिर संसारमें परिभ्रमण करती है और फिर वह प्रकृति ही भ्रम दूर होनेपर मुक्त होती है; न कि पुरुष। परंतु प्रकृतिकी बंधन, संसार तथा मोक्षरूप अवस्था आत्मासे संबंध रहनेके कारण आत्मामें आरोपित की जाती हैं। जैसे जय अथवा पराजय सेनाका होता है परंतु वह जय, पराजय उस सेनाके स्वामीका समझा जाता है। क्योंकि; खजानेआदिकका जय होनेपर लाभ अथवा पराजय होनेपर हानि इत्यादि जयपराजयका हानि-

लाभरूप फल स्वामीको ही होता है। इसी प्रकार यद्यपि भोग तथा मोक्ष हैं प्रकृतिके ही तो भी यह भेदभाव न होनेके कारण पुरुषके ही माने जाते हैं। (यह सांख्यमतका सारांश है)।

तदेतदखिलमालजालम्। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चेति परस्परविरुद्धं वचः। चिति संज्ञाने, चेतनं चित्यते वाऽनयेति चित्। सा चेत्स्वपरपरिच्छेदात्मिका नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात् घटवत्। न चा-मूर्तायाश्चिच्छक्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बोदयो युक्तः, तस्य मूर्तधर्मत्वात्। न च तथा परिणाममन्तरेण प्रतिसङ्क्रमोपि युक्तः कथंचित्सक्रियात्मकताव्यतिरेकेण प्रकृत्युपधानेप्यन्यथात्वानुपपत्तेः, अप्रच्युतप्राचीनरूपस्य च सुखदुःखादि-भोगव्यपदेशानर्हत्वात्। तत्प्रच्यवे च प्राक्तनरूपत्यागेनोत्तररूपाध्यासिततया सक्रियत्वापत्तिः, स्फटिकादावपि तथा परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्। अन्यथा कथमन्धोपलादौ न प्रतिबिम्बः? तथा परिणामाभ्युपगमे च बलादायातं चिच्छक्तेः कर्तृत्वं साक्षाद्भोक्तृत्वं च।

(अब सांख्यमतका खण्डन करते हैं)। सांख्यमतीकी ये कल्पना केवल जाल है। कैसे? चेतना शक्ति है तो भी विषयोंके ज्ञानसे शून्य है ये दोनों वचन परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि, ज्ञान कराना अथवा चेताना है अर्थ जिसका ऐसे "चिति" धातुसे चेताना-मात्र अथवा जिससे चेतना हो ऐसे अर्थमें चेतना अथवा चित् शब्द सिद्ध होता है। ऐसी यह चेतना यदि अपना तथा पर-का ज्ञान करानेवाली न मानी जाय तो घटादिके समान ही यह भी चेतनाशक्ति नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा (क्योंकि चेतना शब्दका अर्थ यही सिद्ध होता है कि अपना तथा परका ज्ञान करावे)। और अमूर्तिक चेतनाशक्तिका जो बुद्धिमें प्रति बिंब पड़ना कहा सो भी योग्य नहीं है। क्योंकि; प्रतिबिंब किसी मूर्तिक पदार्थका ही पड़सकता है, अमूर्तिकका प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नहीं है। मूर्तिक पदार्थके सिवाय अमूर्तिक चेतनाका बुद्धिमें परिवर्तन होना भी संभव नहीं है। क्योंकि; कुछ नकुछ क्रिया उत्पन्न हुए विना प्रकृतिका भी परिवर्तन (पलटना=फेरफार) संभव नहीं है। यह भी क्योंकि, सुखदु खादिकी उत्पत्ति तभी कही जासकती है जब पूर्वमें वे सुखादिक नहीं थे ऐसा माना जाय। क्योंकि, सुखादिकी उत्पत्ति पूर्वकी एक अवस्थाको छोड़कर नवीन अवस्थाका उत्पन्न होना है। इसलिये यह नवीन उत्पत्ति तवतक कैसे संभव होगी जवतक पूर्व स्वरूपका त्याग न किया जायगा? और यदि पूर्व अवस्थाका छूटना माना जाय तो पूर्व अवस्थाका छूटना तथा आगेकी नवीन अवस्थाका उपजना इसीका

नाम क्रिया है। परंतु यह क्रिया मानना सांख्यमतके विरुद्ध है। क्योंकि; सांख्यमती प्रकृतिको निष्क्रिय मानता है। और जो स्फटिकादिकका दृष्टान्त भी इस विषयमें लिखा कि जैसे स्फटिक स्वयं क्रियारहित होनेपर भी लाल पुष्पादिक उपाधिका संबंध होनेसे स्फटिकमें रंग अपूर्व दीखता है परंतु वह यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि; स्फटिकादिकमें लालपुष्पादिकका प्रतिविंब तभी पड़सकता है जव थोड़ी बहुत क्रिया मानी जाय। यदि पर्यायपलटनके विना भी स्फटिकादिमें प्रतिविंव पड़ता हो तो प्रत्येक साधारण पत्थरोंमें भी क्यों न पड़े? और कोई दूसरा उत्तर न होनेसे ऐसी क्रिया यदि चेतनामें मान ही लीजाय तो न चाहते हुए भी चेतनाशक्तिमें कर्तापना तथा भोक्तापना आ उपस्थित होता है।

अथापरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवतीति पतञ्जलिवचनादौपचारिक एवायं प्रतिसंक्रम इति चेत्तर्हि "उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी" इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम्। तथा च प्रतिप्राणि प्रतीतं सुखदुःखादिसंवेदनं निराश्रयमेव स्यात्। न चेदं बुद्धेरुपपन्नं; तस्या जडत्वेनाभ्युपगमात्। अत एव "जडा च बुद्धिः" इत्यपि विरुद्धम्। न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति।

सांख्यमती कहता है कि "भोक्ता जो पुरुष उसकी चेतना शक्तिमें न तो परिणमन (पलटन) होता है और न विषयकी तरफ संक्रमण (गमन)। वह चेतना केवल विषयके परिणमनका तथा बुद्धिके प्रति संक्रमण होनेका अनुभव करती है" ऐसा पतंजलिने कहा है। इस पतंजलिके वचनसे चेतनाका संक्रमण केवल उपचारसे ही सिद्ध होसकता है। यह सांख्यमतीका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; यदि इस चेतनाके परिवर्तनका होना उपचारसे ही माना जाय तो "यथार्थ तत्त्वोंके निर्णयमें उपचारसे वस्तुका स्वरूप मानना निष्प्रयोजन है (इसलिये न मानना चाहिये)" इस वचनके अनुसार यह उपचारसे माना हुआ चेतनाका परिवर्तन बुद्धिमानोंको ग्राह्य न होगा। और जव यह मानना झूठा ठहरा तो प्रत्येक प्राणीमें होनेवाला सुखदु:खका ज्ञान भी निराधार ही हुआ समझना चाहिये। कदाचित् कहो कि सुखदुःखका ज्ञान तो बुद्धिमें उपज सकता है परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; बुद्धि तो सांख्यमतीने जड़ मानी है। इन अनेक दोषोंके कारण ही बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि; बुद्धि भी यदि जड़रूप मानी जाय तो उसमें विषयोंका निश्चय होना सिद्ध न होसकेगा।

ननूक्तमचेतनापि बुद्धिश्चिच्छक्तिसान्निध्याच्चेतनायतीवावभासते इति । सत्यमुक्तम् । अयुक्तं तूक्तम् । न हि चैतन्यवति पुरुषादौ प्रतिसंक्रान्ते दर्पणस्य चैतन्यापत्तिः, चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किं चाचेतनापि चेतनायतीव प्रतिभासते इति इवशब्देनारोपो ध्वन्यते । न चारोपोऽर्थक्रियासमर्थः । न खल्वतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्निसाध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुमीश्वरः । इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्यवसायो घटते, न जडरूपाया बुद्धेरिति । अत एव धर्माद्यष्टरूपतापि तस्या वाङ्मात्रमेव धर्मादीनामात्मधर्मत्वात् । अत एव चाहङ्कारो न बुद्धिजन्यो युज्यते; तस्याभिमानात्मकत्वेनात्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात् । अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम् ।

शङ्का।—यह तो हम प्रथम ही कह चुके हैं कि "बुद्धि अचेतन है तो भी चेतनाके पास होनेसे चेतनाशक्तिसहितसी भासती है ।" उत्तर।— यह बात आपने कही तो अवश्य है परंतु यह कहना अनुचित है। चेतनपुरुषके प्रतिबिंब पड़नेसे दर्पण कुछ चेतन नहीं हो सकता है । जो चेतन अथवा अचेतन है वह वैसा ही रहैगा । चेतनों तथा अचेतनोंका स्वभाव अनादि तथा अविनाशी है । इन स्वभावोंका परिवर्तन अर्थात् चेतनको किसी प्रकार अचेतन अथवा अचेतनको चेतन कर देना ईंद्रकी सामर्थ्यके भी अगोचर है । और भी एक दूसरा दोष यह है कि "अचेतनरूप बुद्धि चेतनासहितसी प्रतिभासती है" इस वाक्यमें चेतनासहितसी ऐसी समानपनेकी कल्पना मात्र है परंतु जो जो प्रयोजन असली वस्तुसे सधता है वह वह प्रयोजन कल्पित माने हुए वस्तुसे नहीं सध सकता है । इसीलिये कल्पनामात्रके माननेसे भी प्रयोजन क्या ? किसी बालकमें अत्यंत क्रोधाग्नि देखकर उसका यदि अग्नि नाम ही रख दिया जाय तो भी क्या उसके संपर्कसे कोई जल सकता है ? जो जलाना पकानाआदि कार्य मुख्य अग्निसे हो सकते हैं वे कार्य नाममात्रकी नकली अग्निसे कदापि नहीं हो सकते हैं । इसी प्रकार जो खास चेतना शक्तिसे विषयोंका ज्ञान होने योग्य है वह क्या संयपके वश चेतना ऐसे नकली नाममात्रको धारण करनेवाली बुद्धिसे हो सकता है ? कदापि नहीं । इसी प्रकार बुद्धिमें धर्मादिक आठ भेद मानना भी संभव नहीं है । क्योंकि; धर्मादिक जो हैं सो आत्माके ही स्वभाव हैं । इसी प्रकार अहंकारका भी अचेतन बुद्धिसे उत्पन्न होना असंभव है । क्योंकि, अभिमानका नाम अहंकार है और वह अभिमान अथवा अहंकार चैतन्यसे मिला हुआ है इसलिये चेतनरूप आत्मासे ही उत्पन्न हो सकता है । चेतनरूप पदार्थकी

उत्पत्ति जड़ वस्तुसे होना संभव नही है। आकाशादिकका शब्दादिक पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना तो सर्वथा ही प्रतीतिबाधित है। इसलिये इसका अधिक विचार क्या लिखें?

अपि च सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते । अयं च शब्दतन्मात्रात्तस्याप्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च धुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति । न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति शब्दगुणमाकाशमित्यादि वाङ्मात्रम् । वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात् ; परप्रतिपादनग्रहणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितरावयवैरपि साध्यत्वोपलब्धेः। तथापि तत्कल्पने इन्द्रियसंख्या न व्यवतिष्ठते अन्याङ्गोपाङ्गादीनामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् ।

और भी दूसरा दोष यह है कि सर्व वादियोने आकाशको निर्विवाद नित्य माना है और यह (सांख्यमती) शब्दतन्मात्रासे उसकी उत्पत्ति भी मानता हुआ सर्वथा नित्यमाननेवालोमें सबके आगे अपना आसन जमाता है। ऐसा भी सांख्य क्या असंगत भाषी नही है? और भी तीसरा दोष यह है कि जो किसी वस्तुका पर्याय पलटानेमें कारण होता है वही स्वयं उस पलटे हुए पर्यायका गुण नही हो सकता है। इसलिये आकाशको शब्दसे ही उत्पन्न कहकर शब्दगुणवाला मानना तथा ऐसे ही और भी कथन कहनेमात्र ही हैं। वचन, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंगको (पुरुषचिह्नको) इन्द्रिय मानना भी सर्वथा अयोग्य है । क्योंकि; इंद्रिय वही होसकता है जिसके द्वारा ऐसा कार्य हो जो अन्यसे न होसकै। वचनसे दूसरोंको समझाना, हाथसे किसी वस्तुको उठाना, पैरोंसे चलना, गुदाके द्वारा विष्टाका त्यागना तथा पुरुषचिह्नसे मूंतना इत्यादि कार्य जो वचनादि इंद्रियोंसे किये जाते है वे तो अन्य प्रकार भी किये जा सकते हैं। यदि तो भी इनको इंद्रिय माना जाय तो इंद्रिय ग्यारह ही हैं ऐसा नियम ही न होसकै। क्योंकि; ऐसे और भी बहुतसे शरीरके अवयव है जो हाथ पैर आदिके समान इंद्रिय मानेजासकते है।

यच्चोक्तं "नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च; न पुरुषस्य" इति तदप्यसारम्; अनादिभवपरम्परानुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेको ग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न बन्धस्तदा को नामान्यो बन्धः स्यात्? प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तमिति च प्रतिपद्यमानेनायुष्मता संज्ञान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं; तस्यैवंस्वरूपत्वादचेतनत्वाच्च ।

और जो यह कहा कि "अनेक पुरुषोंके आश्रय रहनेवाली प्रकृतिका ही बंधमोक्ष तथा संसारमें परिभ्रमण होता है, पुरुषका नहीं" वह सब असत्य है। क्योंकि, अनादिकालकी संसारपरिपाटीसे साथ बंधी हुई प्रकृतिमें जो पुरुषका ऐसा गाढ ममत्वरूप प्रबल मिथ्याज्ञान जिसकी जुदाई आजपर्यंत न हुई वह भी यदि जीवका बंधन नहीं है तो और कोनसा बंधन है? भावार्थ— बंधन वही होता है जिसके होनेसे परतंत्रता रहे। इसलिये यहांपर भी पुरुषका प्रकृतिके साथ ऐसा ममत्वरूप मिथ्याज्ञान ही बंधन होना चाहिये। क्योंकि; इस प्रकृतिके साथ एकताका जबतक ज्ञान है तभीतक जीव संसारमें है। जब यह ज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् पुरुष प्रकृतिसे अपनेको जुदा समझने लगता है तभी संसारसे छूटकर मुक्त हुआ समझाजाता है। यही सांख्यका भी मंतव्य है। इस कथनसे यही सिद्ध होता है प्रकृति तो कर्मरूप है और उसमें जो एकताका ज्ञान रहना वही पुरुषका बंधन है। इसलिये पुरुष ही जबतक प्रकृतिमें एकताका मिथ्याज्ञान है तबतक बंधा है और संसारमें परिभ्रमण करता है और जब यह मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तभी इसकी मुक्ति हो जाती है। बंध, मोक्ष तथा संसाररूप अवस्था पुरुषकी न मानकर जो प्रकृतिकी ही मानना है वह सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि, प्रकृति तो कर्मरूप है और बंधका कारण है इसलिये वह स्वयं अपनेसे ही बद्ध तथा मुक्त कैसे कही जासकती है? बंधके कारणके अतिरिक्त कोई दूसरा ही बंधनेवाला तथा छूटनेवाला होना चाहिये। जैसे बेडी तो बांधनेवाली है और बंधने तथा उससे छूटनेवाला कोई और जीव ही होता है। बेडी स्वयं बंधती तथा छूटती नहीं है। प्रकृति सभी उत्पत्ति मान् पदार्थोंकी उत्पत्तिका निमित्त कारण है ऐसा आपने (सांख्यने) माना भी है। हम भी कर्मका स्वरूप ऐसा ही मानते हैं तथा कर्मको जड भी मानते हैं। इसलिये आपकी प्रकृति और हमारे कर्ममें कुछ अंतर नहीं है; केवल नाममात्र भिन्न हैं। अर्थात् आप प्रकृति कहते हैं और हम कर्म कहते हैं।

यस्तु प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात्रिविधो बन्धः। तद्यथा। प्रकृतावात्मज्ञानाद्ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः। ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः। इष्टापूर्ते दाक्षिणः। पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते इति। इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढाः नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं वा हीनतरं विशन्ति इति वचनात्।

स त्रिविधोपि कल्पनामात्रं कथंचिन्मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगेभ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहेतुभ्ये

वान्तर्भावात् । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसारः । बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद्य एव बद्धः स एव मुच्यते इति पुरुषस्यैव मोक्षः; आबालगोपालं तथैव प्रतीतेः ।

प्राकृतिक (प्रकृतिमें एकत्वबुद्धि होनेसे उत्पन्न होनेवाला), वैकारिक (इंद्रिय अहंकारादिक विकारोंसे उत्पन्न होनेवाला) और दाक्षिण (शुभकर्मोंसे होनेवाला पुण्यबंध) ऐसे बंध तीन प्रकार है। जो प्रकृतिमें आत्माका भ्रम होनेसे प्रकृतिकी ही आत्मा समझकर उपासना करते हैं उनके प्राकृतिक बंध होता है। पृथिव्यादि पांच भूत, इंद्रिय, अहंकार तथा बुद्धिरूप विकारोंकी पुरुष समझकर जो उपासना करते हैं उनके वैकारिक बंध होता है। यज्ञादिक (इष्ट) और दानादिक (आपूर्त) शुभ कर्म करनेसे दाक्षिण (पुण्य) बंध होता है। सांसारिक इच्छाओंसे जिसका मन मलिन होरहा है और जो आत्मतत्वको नहीं समझता है ऐसा जीव भी यज्ञदानादिक शुभकर्म करनेसे बंधको प्राप्त होता ही है। ऐसा कहा भी है कि; जो मूढ मनुष्य यज्ञदानादि कर्मोंको ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं; यज्ञदानादिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं वे इस यज्ञदानादिके पुण्यसे प्रथम तो स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं परंतु अंतमें फिर भी इसी मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीन स्थानोंमें आकर जन्म लेते हैं।

इस प्रकार जो ऊपर तीन प्रकारका बंध सांख्यमतीने कहा है वह कहनेमात्र ही है। क्योंकि; हमने जो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योगोंको कर्मबंधका कारण कहा है उन्हींमें इस तीन प्रकारके बंधका भी किसीप्रकार अंतर्भाव हो जाता है; उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब जीवका बंध सिद्ध है तो इस कर्मबंधके कारणसे जो संसारमें परिभ्रमण होता है वह भी उस जीवका ही होना चाहिये। और जो बंधता है वही कभी छूटता है। क्योंकि; जो बंधा ही नहीं है वह छूटै किससे ? बंध तथा मोक्ष (छूटने) का स्वामी (आधार) एक ही होता है। इस प्रकार मोक्ष होना भी पुरुषका ही निश्चित है। जो बँधता है वही छूटने योग्य है यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि बचोंसे लेकर सभी जानते हैं।

प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेन्न; प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात् । अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः । तस्यां जातायां निवर्तते; कृतकार्यत्वात् । " रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते

प्रकृतिः" इति वचनात्। इति चेन्नैव, तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात्। यथेयं कृतेपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते, प्रवृत्तिलक्षणस्य स्वभावस्यानपेतत्वात्। नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टविघातकारी। यथा हि नर्तकी नृत्यं पारिषदेभ्यो दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तत्कुतूहलात् प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति। तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम्।

यदि कहो कि "प्रकृति और पुरुषमें जो अंतर है उसको दिखाकर जब प्रकृति प्रवृत्ति करनेसे रुक जाती है तब जो पुरुषका अपने स्वरूपमें लीन होना है वही मोक्ष है" सो यह कहना मिथ्या है। क्योंकि, जब प्रकृतिका स्वभाव ही प्रवृत्तिकरना कहाहै तो प्रवृत्तिसे रुकना कैसे होसकता है? क्योंकि; पदार्थका स्वभाव नष्ट होनेपर तो पदार्थका नाश ही होजाता है। "प्रकृतिकी प्रवृत्ति केवल पुरुषार्थ उत्पन्न करनेकेलिये ही होती है और प्रकृति तथा पुरुषमें भेददृष्टिका होजाना ही पुरुषार्थ है। इसलिये भेददृष्टि-रूप पुरुषार्थ [कार्य] उत्पन्न होनेपर कारणरूप प्रकृति कृतकृत्य होनेसे विश्रामको प्राप्त होती है। जैसे नटी रंगभूमिको अपना नृत्य दिखाकर बंद होती है वैसे ही प्रकृति पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त होती है" ऐसा दृष्टांत भी कहा है। यह कहना सर्वथा असत्य है। क्योंकि; अचेतन होनेसे प्रकृतिमें विचारपूर्वक कार्य करना ही असंभव है। और भी दूसरा दोष यह है कि प्रकृति जैसे शब्दादिकोंका ज्ञान एकबार होजानेपर भी फिरसे शब्दादिकोंके ज्ञान करनेमें प्रवर्तती है तैसे प्रकृति तथा पुरुषमें भेददृष्टिरूप ज्ञान होनेपर भी फिरसे क्यों न प्रवर्ते? क्योंकि; प्रवर्तनस्वभाव तो उस प्रकृतिने अभी छोड़ा ही नहीं है। इस विषयमें नर्तकीका दृष्टांत भी उल्टा तुम्हारे ही सिद्धांतका घात करता है। किस प्रकार? जैसे नटी दर्शकोंको अपना नृत्य दिखा-कर निवृत्त होजानेपर भी अच्छा नृत्य होनेके कारण यदि दर्शकजन फिर भी आग्रह करें तो फिरसे भी नृत्य करने लगती है तैसे ही प्रकृति भी पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त होनेके अनंतर फिरसे क्यों न प्रवृत्त हो? और यदि फिरसे प्रवृत्त होना मानलिया जाय तो प्रकृतिका मोक्ष कभी हो ही नहीं सकैगा। इसलिये संपूर्ण कर्मोंका सर्वथा नाश होजानेपर पुरुष (आत्मा) का ही मोक्ष होता है ऐसा मानना चाहिये।

एवमन्यासामपि तत्कल्पनानां "तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रभेदात् पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनि-

वेशरूपो विपर्ययः । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योनः । ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः । बाधिर्यकुण्ठताऽन्धत्वजडताऽजिघ्रतामूकताकौण्यपङ्गुत्वक्लैव्योदावर्तमत्ततारूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिविधा शक्तिः । प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यऽपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिकाः । शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोपदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः । ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भउत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः । इति नवधा तुष्टिः । त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः । तथाध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्च तारसुतारताररम्यकसदामुदिताख्याः । इत्येवमष्टधा सिद्धिः । धृतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः । इत्यादीनां " संवरप्रतिसंवरादीनां च तत्त्वकौमुदीगौडपादभाष्यादिप्रसिद्धानां विरुद्धत्वमुद्भावनीयम् । इति काव्यार्थः ।

इसी प्रकार सांख्यमतियोंकी और भी नीचे दिखाई गई कल्पनाओंमें तथा तत्त्वकौमुदीके गौड़पाद भाष्य आदिक ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध संवर प्रतिसंवरादिक कल्पनाओंमे अनेक प्रकारका विरोध विचारलेना चाहिये । वे नीचे लिखी हुई कल्पनाएं ये हैं ।—तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अंधतामिस्र ऐसे पांच प्रकारका अविद्या, असिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश(आग्रह)नामक विपर्यय है । ब्रह्मलोकमें उत्पन्न होने, प्रजापतिलोकमें उत्पन्न होने तथा सौम्यलोकमें, इन्द्रलोकमें, गन्धर्वोंके लोकमें तथा यक्ष, राक्षस, पिशाचोंके लोकमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा देवताओंकी सृष्टि आठ प्रकार है । पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादिक स्थावर ऐसी पांच प्रकार तिर्यंचोकी सृष्टि है । ब्राह्मणादिक अंतर्गत भेदोंकी अपेक्षा न करनेसे मनुष्य एक प्रकार ही गिने हैं। इस प्रकार प्राणियोंकी उत्पत्ति सर्व चौदह प्रकारसे है । बहिरापन (श्रोत्रका), कुंठता (वचनकी), अंधापन (नेत्रोंका), जडपना (स्पर्शनेन्द्रियका), गंधका ज्ञान न होना (नासिकाका), तोतलापन (जिव्हाका), लूलापन (हाथका) लंगड़ापन (पैरोंका), नपुंसकपना (लिंगका), कब्जियात (गुदासंबंधी) तथा उन्मत्तता (मनकी) यह ग्यारह प्रकारका इंद्रियोंका वध तथा नौ तुष्टियोंके नौ प्रकार विपर्यय तथा आठ सिद्धियोंके आठ प्रकार विपर्यय ऐसे सत्रह प्रकारका बुद्धिका वध यह सर्व अट्ठाईस प्रकारकी शक्ति

है। प्रकृति, उपादान, काल तथा भोग इन नामोंवाली अथवा अम्भ, सलिल, ओघ तथा वृष्टि ये दूसरे नाम हैं जिनके ऐसी चार आध्यात्मिक तुष्टि हैं। शब्दस्पर्शादिक विषयोंसे उदासीनरूप तथा अप्राप्त वस्तुका उपार्जन, विद्यमान वस्तुकी रक्षा, विद्यमानका ही नाश, भोग, तथा हिंसारूप दोषोंसे उत्पन्न हुई ऐसी पांच बाह्य तुष्टि हैं। इनके नाम पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमांभ तथा उत्तमांभ हैं। इस प्रकार सर्व तुष्टि नौ हैं। दुःखका नाश करनेवाली तीन तो मुख्य सिद्धि हैं। प्रमोद, मुदितप्रमोद तथा मान ये इनके तीन नाम हैं। और अध्ययन, शब्द, ऊह (तर्क), सच्चे मित्रोंकी प्राप्ति तथा दान ये पांच अप्रधान सिद्धि हैं। तार, सुतार, तारतार, रम्यक तथा सदाप्रमुदित ये इन पांचोंके नाम हैं। इस प्रकार सर्व मिलकर आठ सिद्धि हैं। धृति, श्रद्धा, सुख, जाननेकी इच्छा तथा ज्ञानका होना ये पांच प्रत्येक कर्म करनेमें मूलकारण होते हैं। इत्यादिक तथा और भी सचर प्रतिसचरादिक तत्त्वकौमुदीनामक ग्रन्थके गौडपादभाष्यादिकोंमें दिखाई हुई सांख्यमतीकी कल्पनाओंमें परस्परका विरोध विचारलेना चाहिये। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुर्ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे विशरारुतामाहुः।

अब यह दिखाते हैं कि जो प्रमाणका फल प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न अर्थात् एकरूप ही मानते हैं और जो बाह्य पदार्थोंका निषेध कर सर्व ज्ञानरूप ही है ऐसा ज्ञानाद्वैत ही मानते हैं उनके मत विचारनेपर विशीर्ण होजाते हैं अर्थात् ठहरते नहीं हैं।

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

मूलार्थ—उपादान कारण तथा उसका कार्य ये दोनो एक समयमें नहीं रहसकते हैं और उपादान कारणका सर्वथा नाश होजानेपर भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होसकती है। यदि केवल ज्ञानस्वरूप ही जगत् माना जाय तो बाह्य अनेक पदार्थोंका ज्ञान नहीं होसकैगा। इस प्रकार विचारनेपर बुद्धका फैलाया हुआ इन्द्रजाल फटजाता है।

व्याख्या—बौद्धाः किल प्रमाणात्तत्फलमेकान्तेनाऽभिन्नं मन्यन्ते। तथा च तत्सिद्धान्तः "उभयत्र तदेव ज्ञान

प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्" । उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च, तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम् । कुतोऽधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथा हि । परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यज् ज्ञानफलम्; अभिन्नाधिकरणत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति । एतच्च न समीचीनं यतो यद्यस्मादेकान्तेनाऽभिन्नं तत्तेन सहैवोत्पद्यते । यथा घटेन घटत्वम् । तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते । प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति । स चैकान्ताऽभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः; नियतप्राक्कालभावित्वात्कारणस्य; नियतोत्तरकालभावित्वात्कार्यस्य । एतदेवाह "न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति । फलं कार्यं हेतुः कारणम् । तयोर्भावः स्वरूपं कार्यकारणभावः । स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ–बुद्धमतावलम्बी प्रमाणसे उत्पन्न हुए फलरूप ज्ञानको प्रमाणरूप ज्ञानसे सर्वथा अभिन्न मानते हैं । ऐसा ही उनके सिद्धान्तमें कहा है "दोनो प्रकारके (प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप) प्रमाणज्ञानमें ही फलरूप (कार्यरूप) प्रत्यक्ष तथा अनुमानज्ञान भी गर्भित हैं । क्योंकि; ज्ञान जितना होता है वह सर्व अधिगम (परिच्छेदरूप) अर्थात् फलरूप ही होता है" । इसी अभिप्रायको अनुमानद्वारा दिखाते है । ज्ञान जितना उपजता है वह सर्व परिच्छेदरूप अर्थात् फलरूप ही उपजता है । परिच्छेदरूपके सिवाय दूसरा कोई ज्ञानका फल है ही नहीं । क्योंकि; दूसरा जो कुछ फलरूप कल्पना किया जायगा वह सभी प्रमाणसे भिन्न स्थानमें रहनेवाला सिद्ध होगा । किंतु कारण तथा कार्यका आधार होना एक ही चाहिये । इस प्रकार प्रमाणरूप प्रत्यक्ष तथा अनुमान ज्ञानोसे इसके फलरूप (कार्यरूप) प्रत्यक्ष तथा अनुमान ज्ञान किसी प्रकार भिन्न सिद्ध नहीं होते । इस प्रकार प्रमाणके फलरूप ज्ञानको प्रमाणज्ञानसे सर्वथा अभेदरूप मानना बौद्धोंका मत है सो ठीक नहीं है । क्योंकि; जो जिससे सर्वथा अभिन्न होता है वह उसके साथ ही उत्पन्न होता है । जैसे घट और घटपना अर्थात् घटमें रहनेवाले धर्म । ये दोनो एक ही हैं इसलिये साथ ही उपजते हैं । और बौद्धोंने प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्यकारणरूप संबंध भी माना है । प्रमाण कारण है और प्रमाणका फल कार्य । यह कार्यकारणभाव संबंध भी प्रमाण तथा प्रमाणके फलको सर्वथा एकरूप माननेपर सिद्ध नहीं होसकता है । क्योंकि; दक्षिण (सीधे) और वाम (बांये) सींगके समान एकसाथ उपजनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्यकारणपना किस

प्रकार होसकता है ? क्योंकि; कार्यकी उत्पत्तिसे पहिले क्षणमें नियमसे कारण रह सकता है और कार्य नियमसे कारणके अनंतर-वाले दूसरे क्षणमें ही व्यवधान रहित रह सकता है। यही अन्यत्र भी कहा है "एक ही कालमें फल (कार्य) तथा हेतु (कारण) नहीं रह सकते हैं।" फल अर्थात् कार्यके और हेतु अर्थात् कारणके स्वरूपको ही कार्यकारणभाव कहते हैं। सो यह कार्यकारणभाव समानकालमें संभव नहीं है।

अथ क्षणान्तरितत्वात्तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह "हेतौ विलीने न फलस्य भावः" इति। हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भावः सत्ता; निर्मूलत्वात्। विद्यमाने हि फलहेतावस्येदं फलमिति प्रतीयते। नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

अब कार्यकारणोंमें क्षणमात्रका अन्तर पड़नेसे क्रमवर्त्तीपना होसकेगा ऐसी क्षणिकवादीकी आशंकाका "हेतौ विलीने न फलस्य भावः" ऐसा उत्तर देते हैं। अर्थात् क्षणिक होनेसे उत्पत्तिके बाद ही प्रमाणरूप हेतु (कारण) निरन्वय (सर्वथा) नष्ट होजानेपर प्रमाणके कार्यरूप फलकी निर्मूल अर्थात् कारणके विना ही उत्पत्ति होना असंभव है। क्योंकि, किसी भी कार्यरूप वस्तुका कारण विद्यमान रहनेपर ही यह इसका कार्य है ऐसी प्रतीति होसकती है। यदि कारणके विना भी कार्यकी उत्पत्ति मानलीजाय तो विना माताके भी पुत्रकी उत्पत्ति होना इत्यादि अनेक अतिव्याप्तिरूप दोष उपस्थित होने लगेंगे।

किं च हेतुफलभावः संबन्धः। स च द्विष्ठ एव स्यात्। न चानयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् संबन्धं क्षमते। ततः कथमयं हेतुरिदं फलमिति प्रतिनियता प्रतीतिः? एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याऽग्रहणे तदसंभवात् "द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम्" इति वचनात्।

तथा कार्यकारणभाव एक प्रकारका संबंध है। संबंध दो वस्तुओंमें ही रहता है। और आपको सर्वथा क्षणक्षयकी वासनासे वासित होनेके कारण इन दोनोका (प्रमाण और फलका) संबंध सहन नहीं हो सकता है इसीलिये किसी विवक्षित (निश्चित) पदार्थमें यह हेतु है, यह फल है ऐसी नियमित प्रतीति होना भी असंभव है। क्योंकि; जब प्रत्येक पदार्थ क्षणध्वंसी ही माना जायगा तो कार्यकारणोंमेंसे एक समयमें एक ही उपस्थित रहसकता है और इसीलिये किसी एक समयमें कार्यकारणोंमेंसे उस एकका ज्ञान होनेपर भी दूसरेका ज्ञान न होनेसे यह हेतु है, यह इसका फल है ऐसी प्रतीति होना असंभव है। "दो वस्तुओंमें रहनेवाले संबंधका

ज्ञान उन दोनों वस्तुओंका प्रथम ज्ञान होनेपर ही होसकता है; यदि उनमेंसे एक वस्तुका ही ज्ञान हो तो उस संबंधका ज्ञान कदापि नहीं हो सकता" ऐसा पूर्वाचार्योंका वचन है।

यदपि धर्मोत्तरेण "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः" इति न्यायविन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितं "नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतस्तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते न तद्वशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिवन्धनः साध्यसाधनभावो येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोधः स्यात्। अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किंचिद्रूपं प्रमाणं किंचित्प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्" इत्यादि तदप्यसारम्; एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयाऽयोगात् व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च सम्बन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात्।

और भी–धर्मोत्तर नामक बौद्ध आचार्यने "ज्ञानके आकारके साथ अर्थकी समानता होनेसे ही ज्ञानमें प्रमाणता होती है। क्योंकि ज्ञानमें अर्थकी समानता होनेपर ही अर्थकी प्रतीति होती है" ऐसे अभिप्रायवाले न्यायविन्दु[1] ग्रन्थके सूत्रका[2] विवरण करते हुए "जिसमें नीलरूपका प्रतिभास हो ऐसा विज्ञान जिससे उत्पन्न होताहो उसीसे नीलरूपकी प्रतीतिका निश्चय होता है। और जिन चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा नीलादिका ज्ञान उत्पन्न होता है केवल उन इन्द्रियोंके ही वश वह ज्ञान नीलादि संवेदनका निश्चय नहीं करासकता है। और नीलके सदृश अनुभव किया हुआ नीलादिज्ञान (अर्थके द्वारा) तो नीलका संवेदन कराता है। भावार्थ–पदार्थकी समानता रखनेवाला ही ज्ञान पदार्थकी सहायतासे प्रमाण समझा जाता है और इन्द्रियादिककी सहायतासे उत्पन्न होनेपर भी वह ज्ञान इन्द्रियादिकके वशसे प्रमाणरूप नहीं होता। यहांपर जन्यजनकभावका आश्रय लेकर साध्यसाधनपना नहीं मानागया है जिससे कि एक वस्तुमें (एक समयमें) परस्पर विरोध संभव हो। भावार्थ-यदि जन्यजनकभावकी अपेक्षा लेकर साध्यसाधनपना यहां मानाजाता तो एक वस्तुमें साध्यसाधनपनेका विरोध आता। क्योंकि; एक समयमें एक वस्तु या तो साध्यरूप ही हो सकती है या साधनरूप ही। दोनोंरूप नहीं होसकती। इसीलिये हमने जन्यजनकभावकी अपेक्षा साध्यसाधनभाव यहां नहीं माना

१ बौद्धोंके एक न्यायग्रन्थका नाम न्यायविन्दु है। २ "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः" ऐसा न्यायविन्दुका सूत्र है।

है। और इसीलिये यहां परस्पर विरोधरूप दोष भी संभव नहीं है। किंतु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकपनेकी अपेक्षामात्रसे साध्यसाधनपना है। इससे एक ही वस्तुका कुछ स्वरूप प्रमाणरूप तथा कुछ प्रमाणके फलरूप माननेमें विरोध नहीं आसकता है। यहांपर ऐसी व्यवस्था करनेका हेतु समानपना (ज्ञान तथा वस्तुका) ही है और इस ज्ञानसे नीलादिसंवेदनकी व्यवस्था कीजाती है।" इत्यादि विवरण (व्याख्यान) किया है परंतु वह भी असत्य है। क्योंकि; ज्ञानस्वरूप एक निरंश भावमें व्यवस्था होने योग्य (व्यवस्थाप्य) तथा व्यवस्था करनेयोग्य (व्यवस्थापक) ऐसे दो स्वभावोंका समावेश किस प्रकार होसकता है? क्योंकि; व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव भी एक प्रकारका संबंध होनेसे दो पदार्थोंमें ही रहसकता है। इसीलिये एकस्वभावमें दो स्वभावोंका होना असंभव है।

किं चाऽर्थसारूप्यमर्थाकारता। तच्च निश्चयरूपमनिश्चयरूपं वा? निश्चयरूपं चेत्तदेव व्यवस्थापकमस्तु। किमुभयकल्पनया? अनिश्चितं चेत्स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम्? अपि च केयमर्थाकारता? किमर्थग्रहणपरिणाम आहोस्विदर्थाकारधारित्वम्? नाद्यः सिद्धसाधनात्। द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वापत्त्यादिदोषाघ्रातः। तत्र प्रमाणादेकान्तेन फलस्याऽभेदः साधीयान्। सर्वथा तादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिद्ध्यत्यतिप्रसङ्गात्।

थोड़े समयके लिये यह पूर्वोक्त विचार छोड़ भी दिया जाय तो भी अर्थसारूप्यशब्दका अर्थ ज्ञानका पदार्थके आकार होजाना है। सो यह अर्थसारूप्य भी निश्चयरूप है अथवा अनिश्चयरूप? यदि निश्चयरूप मानाजाय तो इस निश्चयरूपको ही व्यवस्थापक कहसकते हैं; फिर व्यवस्थाप्य व्यवस्थापक इस प्रकार दो भाव माननेकी क्या आवश्यकता है? और यदि अर्थसारूप्यको अनिश्चयरूप माना जाय तो जो स्वयं अव्यवस्थित (अनिश्चित) है वह नीलादिसंवेदनकी निश्चय करानेकी व्यवस्था कैसे करसकता है? अर्थात् नीलादिसंवेदनका व्यवस्थापक कैसे होसकता है? और भी--अर्थसारूप्यका अर्थ जो अर्थाकारता किया सो वह अर्थाकारता क्या चीज है? क्या पदार्थको ग्रहण करनेका परिणाम है अथवा उस ज्ञेय पदार्थके आकाररूप होजाना है? आदिका पक्ष तो ठीक नहीं। क्योंकि, पदार्थको ग्रहणकरनेरूप परिणाम तो पूर्वसे ही सिद्ध है इसलिये सिद्धको साधनेसे सिद्धसाधननामक दोष उपस्थित होजाता है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् पदार्थके आकाररूप ज्ञानका होजाना माना जाय तो ज्ञानमें प्रमेयाकारका परिणमन होनेसे

जड़त्वादिक अनेक दोष आते हैं। इसलिये सर्वथा प्रमाणसे उसके फलका अभेद सिद्ध नहीं होसकता है। प्रमाण और उसके फलका सर्वथा तादात्म्य[1] संबंध माननेसे भी प्रमाण और फलकी व्यवस्था (विभाग) नहीं होसकती है। क्योंकि; एक स्वरूपमें परस्पर विरुद्ध दो स्वभावोंका होना असंभव है। सर्वथा तादात्म्य माननेपर ज्ञानमें पदार्थके समानपनेका होना तो प्रमाण और उसका निश्चय होना अथवा संवेदन होना फल, ये दो भाव नहीं होसकते है; नहीं तो एक जलादि पदार्थमें शीत तथा उष्ण भाव होना इत्यादि अनेकप्रकार अतिव्याप्ति दोष आनेकी संभावना होने लगेगी।

ननु प्रमाणस्याऽसारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेन्नैवं; स्वभावभेदमन्तरेणाऽन्यव्यावृत्तिभेदस्याप्यनुपपत्तेः। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाऽप्रमाणाऽफलव्यावृत्त्याः प्रमाणफलव्यवस्थावत्प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याप्यप्रमाणत्वस्याऽफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्? विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः। तस्मात्प्रमाणात्फलं कथंचिद्भिन्नमेवैष्टव्यं; साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात्।

कदाचित् बौद्ध कहे कि प्रमाणमें असमानपनेका निषेध ही सारूप्य अर्थात् समानपना है और अज्ञानके अभावका ही नाम अधिगति अथवा प्रमाणका फलरूप ज्ञान है। इस प्रकार व्यावृत्ति (निषेध) का भेद होनेसे एक तथा निरंश ज्ञानमें भी प्रमाण तथा फलकी व्यवस्था होसकती है। परंतु बौद्धका यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि; यथार्थमें स्वभावभेदके विना अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति करनेमें भेद किस प्रकार होसकता है? और प्रमाण तथा फलकी व्यवस्था जैसे अप्रमाण तथा अफल अथवा फलाभावकी व्यावृत्तिसे होती है तैसे ही प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाण तथा अन्यफल (विवक्षित प्रमाणफलके अतिरिक्त दूसरे) की व्यावृत्तिसे (निषेधसे) अप्रमाणता तथा फलाभावकी व्यवस्था भी क्यों न हो? क्योंकि; जैसे विजातीयसे वस्तुकी व्यावृत्ति होती है तैसे ही सजातीय वस्तुओंमें भी एकसे दूसरेकी व्यावृत्ति होसकती है। इसलिये प्रमाणसे प्रमाणके फलको कथंचित् जुदा ही मानना चाहिये। क्योंकि; यह साध्य है, यह साधन है ऐसी जो जुदी २ प्रतीति होती है वह निष्कारण नही है।

१ एक वस्तुमें जो गुणगुणी, स्वभावस्वभाववान्, पर्यायपर्यायी आदिक अनेक अवस्था होती हैं उन अवस्थाओंके साथ जो वस्तुका संबंध हो वह तादात्म्य है।

ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते ते परस्परं भिद्येते । यथा कुठारश्छिदिक्रिये इति । एवं यौगाभिप्रेतः प्रमाणात्फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः; तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात्कथंचिदभेदव्यवस्थितेः; प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः, यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् । इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्यत इत्यलम् ।

जो साध्यसाधनरूपसे प्रतीत होते हैं वे सर्वथा परस्पर भिन्न ही होते हैं । जैसे-कुल्हाड़ी और उसके द्वारा किसीका काटना (छेदनकर्म) ये दोनो जुदे जुदे हैं । इस प्रकार नैयायिक (योगमती) ने जो प्रमाण और प्रमाणके फलमें सर्वथा भेद कहा है वह भी मानना उचित नहीं है । क्योंकि, निश्चय करनेवाले प्रमाता पुरुषके साथ एकरूप होकर ही प्रमाण तथा प्रमाणके फलकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये प्रमाणसे प्रमाणका फल किसीअपेक्षा एकस्वरूप भी सिद्ध होता है। यह भी क्योंकि; प्रमाणपनेसे परिणत हुए आत्माकी परिणति ही फलरूप प्रतीत होती है । आत्माके सिवाय दूसरी जगह फलकी परिणति नहीं होसकती है । यह भी क्योंकि; जो आत्मा किसी पदार्थका निश्चय (प्रमिति) करता है वही आत्मा प्राप्य होनेपर उस पदार्थको ग्रहण करता है, हेय होनेपर छोड़देता है अथवा उदासीन होनेपर उपेक्षा करदेता है; ऐसी अबाधित प्रतीति सर्व संसारको है । ऐसी प्रतीति यदि न हो तो अपने तथा परके प्रमाण फलकी व्यवस्थाका नाश होजाय । यहांपर इतना खडन ही बहुत है ।

अथ वा पूर्वार्द्धमिदमन्यथा व्याख्येयम् । सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति । सर्वं सत् क्षणिकं; यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते । तत्र येन स्वरूपेणान्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति तत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन नष्टव्यमिति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् । अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति । एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभाव इति पुनरप्यनेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम् । इति नैव विनश्येदिति । सोऽयमदित्सोर्वणिजः प्रतिदिन पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः । तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद्द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात्पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत । एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येदिति ।

—सौगतलोग इस प्रकारसे अथवा इस ऊपर कहे हुए स्तोत्रके पहिले आधे भागका व्याख्यान दूसरी रीतिसे करते हैं ।

निश्चय करते हैं कि संपूर्ण सत्पदार्थ क्षणिक हैं। क्योंकि; सर्व ही घटादि वस्तु मूसल आदिक ऊपर गिरपड़नेपर नष्ट होते हुए दीखते हैं। जिस स्वरूपसे अंतअवस्थामें घटादि वस्तु नष्ट होते हैं वही स्वरूप उत्पन्न होते समय भी पदार्थमें विद्यमान है इसलिये उत्पन्न होनेके अनंतर ही प्रत्येक पदार्थ नष्ट होजाना चाहिये। इस प्रकार सभी वस्तुओंमें क्षणध्वंसीपना सिद्ध होता है। शङ्का—यदि अपनी उत्पत्तिके कारणभूत सहायकोंके द्वारा प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न ही ऐसा होता हो जो उत्पत्तिके अनंतर कुछ काल ठहरकर नष्ट होजाता हो तो क्षणध्वंसीपना स्वभाव क्यों माने? ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; यदि वस्तुका स्वभाव क्षणध्वंसी न मानाजायगा तो मुद्गरादिक (मूसल) पड़नेपर भी उस पदार्थका विद्यमान रहनेका स्वभाव बदल न सकैगा और इसीलिये उसको मूसल वगैरह ऊपर गिरपड़नेपर भी जैसाका तैसा ही विद्यमान रहना चाहिये; नष्ट न होना चाहिये। इस प्रकार यह सब नहीं देनेकी इच्छा रखनेवाले वनियेका पत्रमें लिखे हुए ऋणको प्रत्येक दिवस आगामी कलदिन देनेका वायदा करना जैसा ही न्याय (कहावत) है। अर्थात् जिस समय किसी पदार्थका किसी कारणसे नाश होगा तभी हम पूछ सकते हैं कि यह पदार्थ नाशके कारण मिलनेपर भी अभी नष्ट क्यों हुआ? क्योंकि; अभी इसके नष्ट होनेका समय नहीं था इसलिये जैसाका तैसा ही ठहरारहना चाहिये था। इस दोषके भयसे यदि दो क्षण ठहरनेका स्वभाव भी माना जाय तो भी उत्पत्तिके बाद प्रथम समयके समान दूसरे समयमें भी दो क्षण ठहरनेका स्वभाव विद्यमान रहनेसे और भी आगे दो क्षणतक ठहरना चाहिये। इसीप्रकार फिर तीसरे आदिक क्षणोंमें भी दो क्षण ठहरनेका स्वभाव विद्यमान रहनेसे कभी नष्ट न होना चाहिये।

स्यादेतत् "स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातं परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यते" इति तदसत्। कथं पुनरेतद् घटिष्यते "न च तद्विनश्यति स्थावरत्वाद्विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियत" इति? न ह्येतत्संभवति जीवति च देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति। अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वरं तद्वस्तु हेतोर्जातमिति? न हि म्रियते चाऽमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशाऽयोगाद् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्त्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव तद्विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति।

यदि कदाचित् ऐसा कहो कि पदार्थ तो अपने उत्पत्तिके कारणोसे ठहरनेका स्वभाव लेकर ही उत्पन्न होता है परंतु उसके विरोधी मूसल आदिकसे बलात्कार नष्ट किया जाता है परंतु यह भी असत्य है। क्योंकि; ऐसा कहनेसे परस्पर विरुद्ध ये दो वचन

नहीं घटसकेंगे कि " वह नष्ट तो होता नहीं है क्योंकि वह स्थावर है परंतु बलवान् विरोधीसे उसका नाश होजाता है " । यह कथन सर्वथा झूठ है कि देवदत्त तो जीरहा है परंतु किसी कारणवश उसका मरण होरहा है । यदि नष्ट होता है तो वह वस्तु अपने कारणो द्वारा नवीन उत्पन्न होता हुआ भी अविनाशी कैसा ? मरता भी हो और अमर भी हो यह कहना नहीं बन-सकता है । इसलिये यदि अविनाशी है तो कभी भी नाश न होना चाहिये परंतु नाश दीखता तो है इसलिये अपनी उत्पत्ति-के कारणो द्वारा उत्पन्न होते समय ही वस्तु नश्वर मानना चाहिये । इस कहनेसे उत्पन्न होते ही वस्तुका नाश सिद्ध होता है । और इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थमें क्षणध्वंसीपना सिद्ध होता है ।

प्रयोगस्त्वेवं "यद्विनश्वरस्वरूपं तदुत्पत्तेरनन्तराऽनवस्थायि । यथान्त्यक्षणवर्ति घटस्य स्वरूपम् । विनश्वरस्वरूपं च रूपादिकमुदयकाले" । इति स्वभावहेतुः । यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात् ? उच्यते—निरन्तरसदृशाऽपरापरोत्पादादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते । तेनाकारविलक्षणत्वाऽभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यभेदाऽध्यवसायी प्रत्ययः प्रसूयते । अत्य-न्तभिन्नेष्वपि लूनपुनरुत्पन्नकुशकेशादिषु दृष्ट एवायं स एवायमिति प्रत्ययः । तथेहापि किं न सभाव्यते ? तस्मात्सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम् । अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणमुत्तरक्षण उपादेयम् । इति पराभिप्रायमङ्गी कृत्याह "न तुल्यकालः" इत्यादि ।

इस प्रकरणमें अनुमान भी इस प्रकार बोला जासकता है । "जो विनश्वर है वह उत्पत्तिके अनंतर भी ठहर नहीं सकता है । जैसे अंतसमयमें नष्ट होते हुए घटेका स्वरूप ठहर नहीं सकता है । इसी प्रकार अन्य भी रूपादिमय सर्व पदार्थ उदयके समय ही विनाशीक हैं इसलिये उत्पत्तिके अनंतर भी क्षणध्वंसी हैं अर्थात् ठहर नहीं सकते हैं" । इस प्रकार यह स्वभावहेतुवाला अनुमान है । यदि समग्र पदार्थ क्षणध्वंसी ही हैं तो यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान कैसे होता है ? (क्योंकि, पूर्वकालमें देखे हुए पदार्थको ही दूसरी बार देखनेपर प्रत्यभिज्ञान होता है) । इस शंकाका समाधान यह है कि निरंतर एकसमान अनेक पर्यायोंकी उत्तरोत्तर उत्पत्ति होनेसे तथा

---

१ अनुमानके साधनेवाले हेतु तीन प्रकार होते हैं एक कार्य हेतु, दूसरा स्वभाव हेतु और तीसरा सामान्यतो दृष्ट । जिस हेतुका साध्यके साथ कार्यकारणभावादिक कोई भी संबंध संभव नहीं हो किंतु स्वभावमात्र ही अविनाभावनियमका साधक हो वह स्वभावहेतु है ।

अविद्याके[1] वश होनेसे ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वही है। पूर्व क्षणके नष्ट होते ही उसके समान दूसरा क्षण उत्पन्न हो-जाता है इस प्रकार कभी भी पूर्वाकारका नाश न दीखनेसे और पूर्व क्षणके नाश तथा उत्तर क्षणकी उत्पत्तिमें अंतर (व्यवधान) न पड़नेसे पूर्व पर्यायका सर्वथा नाश होनेपर भी वह ही यह है ऐसी अभेदबुद्धि उत्पन्न होसकती है। पहिले काटडाले हुए तथा फिरसे उत्पन्न हुए कुशा (त्रणविशेष), केशादिकोंकी पूर्वापर अवस्थाओंमें अत्यन्त भेद होनेपर भी यह वही है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता हुआ जैसे दीखता है तैसे ही यहांपर (प्रकरणमें) भी क्यों संभव न हो? इस प्रकार संपूर्ण सत्पदार्थ क्षणिक ही हैं ऐसा सिद्ध हुआ। यहांपर (क्षणध्वंसी स्वभावमें) पूर्वक्षण तो उपादान[2] कारण है और उत्तरक्षण उसका कार्य (उपादेय) है। इस प्रकार जो बौद्धोंका अभिप्राय है उसका निराकरण करनेके अभिप्रायसे ही आचार्यने उपरिके श्लोकमें "**न तुल्यकालः**" इत्यादि कहा है।

ते विशकलितमुक्तावलीकल्पा निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति उत क्षणान्तरे? न तावदाद्यः समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाऽभावात्। अतः साधूक्तः "न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति। न च द्वितीयः। तदानीं निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि? न चानुपादानस्योत्पत्तिर्दृष्टा; अतिप्रसङ्गात्। इति सुष्ठु व्याहृतं "हेतौ विलीने न फलस्य भावः" इति। पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः। केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भाव उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः।

वे सर्वथा स्वतन्त्र टूटी हुई मोतियोंकी मालाके समान उत्तरपर्यायको विना उत्पन्न किये ही सर्वथा नष्ट होते हुए पूर्वक्षणवर्ती पर्याय क्या अपने उत्पत्तिके समय ही उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोको उत्पन्न करदेते हैं अथवा उत्पत्तिसमयके वाद? अपने उत्पत्तिसमयमें तो वे उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोंको उत्पन्न कर नही सकते। क्योंकि; युवतिके दोनो कुचोंके समान एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमें उपादान तथा उपादेयपना अर्थात् कारणकार्यपना नहीं होसकता है। इसीलिये यह ठीक कहा है "न तुल्यकालः फलहेतुभावः।" अर्थात् एक ही समयमें कार्यको उत्पन्न करनेवाला उपादान कारण तथा उसका कार्य संभव नहीं होसकते हैं। दूसरे पक्षसे भी अर्थात् स्वयं उत्पन्न होनेके वाद भी उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोंको उत्पन्न करना संभव नहीं है। क्योंकि; उस दूसरेही क्षणमें उपादान कारणरूप

१ जो असत्य संसारको सत्यरूप अनुभव करावे वह अविद्या है। २ किसी भी उत्पन्न हुए पर्यायकी पूर्व अवस्थाको उसका उपादान कारण कहते हैं।

पूर्वपर्यायका सर्वथा सम्बन्धरहित नाश होचुका है इसलिये अपनी उत्पत्तिके दूसरे समयमें जब स्वयं आप ही नहीं है तब उत्तरक्षणवर्ती पर्यायकी उत्पत्ति करना किस प्रकार संभव हो? और उपादानके बिना किसीकी उत्पत्ति होती भी नहीं है। यदि होने लगे तो अतिव्याप्ति दोष आजायगा। अर्थात् बिना उपादान कारणके भी यदि कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो बिना माताके पुत्रकी उत्पत्ति होना इत्यादि प्रकारसे कार्यकारणादि नियमोंका भंग होजायगा। इसीलिये यह ठीक कहा है " हेतौ विलीने न फलस्य भावः "। अर्थात् उपादान कारणका सर्वथा (निरन्वय) नाश होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होसकती है। इस आधे श्लोकका शब्दार्थ तो पहिले ही करदिया था। यहां तो केवल फलरूप उपादेय अर्थात् कार्य और हेतुरूप उपादान कारणका कार्यकारणभाव (उपादानोपादेयभाव) संबंधमात्र दिखाया है।

यच्च क्षणिकत्वस्थापनाय मोक्षाकरगुप्तेनानन्तरमेव प्रजल्पितं तत् स्याद्वादवादे नित्यकालमेव निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात्, प्रतिक्षणं पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात्। यदप्यभिहितं न खेतत् संभवति जीवति च देवदत्ते मरणं चास्य भवतीति तदपि संभवादेव न स्याद्वादिनां क्षतिमावहति। यतो जीवनं प्राणधारणं मरणं चायुर्दलिकक्षयः। ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलिकानामुदीर्णानां क्षयादुपपन्नमेव मरणम्। न च चरमस्यामवस्थायामेव कृत्स्नायुर्दलिकक्षयात् तत्रैव मरणव्यपदेशो युक्त इति, तस्यामप्यवस्थायां न्यक्षेण तत्पाताभावात्। तथापि चावशिष्टानामेव तेषां क्षयो न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम्। इति सिद्धं गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं मरणमित्यलं प्रसङ्गेन।

जब क्षणिकपना सिद्ध करनेके अभिप्रायसे मोक्षाकरगुप्तने अभी हालमें जो कुछ प्रलाप किया है वह (नाश) भी स्याद्वादमय कथनमें अवस्थारहित निरन्वय नाश छोड़कर पर्यायकी अपेक्षा सिद्ध होता है इसलिये किसी अपेक्षासे सिद्ध हुएका ही सिद्ध करना है। क्योंकि; पर्यायका नाश अनेकान्तवादियोंने भी माना ही है। और भी जो " यह नहीं संभव है कि देवदत्त जीरहा है और मरण भी उसका होता है " ऐसा दोष अभी पूर्वमें कहा गया है सो यह भी स्याद्वादियोंकेलिये हानिकारक नहीं है। क्योंकि; जीवन नाम प्राणधारणका है और मरण आयुके अंशोंके नाश होनेका नाम है इसलिये प्राणधारण रहनेसे जीते हुए भी देवदत्तका प्रतिसमय उदय आनेवाले आयुके निषेकोंका अर्थात् आयुकर्मके हिस्सोंका फलदेनेके अनंतर क्षय होते रहनेसे प्रत्येक

पदार्थकी स्थिति क्षणमात्रसे अधिक है ही नहीं। इसलिये ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो? क्योंकि, कारणका तो नाश होचुका है। और जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है उसके नाश होनेपर ज्ञान निर्विषय रहजाता है। क्योंकि; तुम्हारे (बौद्धोंके) मतमें ज्ञानका कारण ही ज्ञानका विषय मानागया है। और निर्विषय ज्ञान आकाशमें दीखते हुए बालोंके ज्ञानके समान अप्रमाण ही होता है। और उस ज्ञानके साथवाले क्षणमें उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उस ज्ञानका विषय हो नहीं सकता है। क्योंकि; यह उस ज्ञानका कारण ही नहीं है। (बौद्धमतमें कारणरूप पदार्थ ही ज्ञानका विषय मानागया है)। इसलिये मूलग्रन्थकार कहते हैं कि "न तुल्यकाल" इत्यादि। अर्थात् ज्ञान और पदार्थमें फल (कार्य) और हेतुपना अर्थात् कार्यकारणपना समान कालमें नहीं होसकता है। क्योंकि, ज्ञानके साथ साथ उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उस ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है। सो भी क्योंकि, एक साथ उत्पन्न होनेवाले दो पदार्थोंमें (गायके दोनो सींगोके समान) एकदूसरेका कार्यकारणपना संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि उस ज्ञानसे पहिले उत्पन्न हुआ पदार्थ उस ज्ञानको उत्पन्न करदेगा सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि "हेतौ विलीने न फलस्य भाव" ऐसा पहिले कहचुके हैं। भावार्थ—हेतुका अर्थात् जो पदार्थ ज्ञानका कारण माना जाय उसका निरन्वय नाश होनेपर उस नष्ट हुए पदार्थसे फलकी (ज्ञानरूप कार्यकी) उत्पत्ति नहीं होसकती है किंतु उस ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले पदार्थके नष्ट होजानेपर विनाकारण ही होगी।

जनकस्यैव च ग्राह्यत्वे इन्द्रियाणामपि ग्राह्यत्वापत्तिः, तेषामपि ज्ञानजनकत्वात्। न चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टं, मृगतृष्णादौ जलाभावेपि जलज्ञानोत्पादादऽन्यथा तत्प्रवृत्तेरसंभवात्। भ्रान्तं तज्ज्ञानमिति चेन्ननु भ्रान्ताभ्रान्तविचारः स्थिरीभूय क्रियतां त्वया। सांप्रतं प्रतिपद्यस्व तावदनर्थजमपि ज्ञानम्। अन्वयेनार्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमेवेति चेन्न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तमपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोपि। स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव।

और उत्पन्न करनेवाले पदार्थको ही यदि प्रत्येक ज्ञान जान सकता हो तो जिस इन्द्रियसे उत्पन्न होता है उसको भी क्यों न जाने? क्योंकि, वह इन्द्रिय भी उस ज्ञानको उत्पन्न करनेवालोंमेंसे एक है। दूसरा दोष यह है कि जहां ज्ञान हो वहां उसको उपजाने वाला नियमसे हो तथा जहां पदार्थ न हो वहां ज्ञान भी न उपजता हो ऐसा अन्वयव्यतिरेकरूप नियम भी ज्ञानके प्रति पदार्थमें नहीं है। क्योंकि, ऊसर भूमिमें मरीचिका दीखनेपर उसमें जल समझकर प्रवृत्ति होनेलगती है इसलिये वहां जलज्ञान हुआ तो नि-

श्रित है परंतु उस जलज्ञानको पैदा करनेवाला जल है ही नहीं। यदि कहाजाय कि वह ज्ञान भ्रमरूप है तो भ्रमात्मक है या
सच्चा है ऐसा विचार तो पीछेसे स्थिर होकर करलेना। सबसे प्रथम तो यह स्वीकार करना चाहिये कि ज्ञान पदार्थके विना भी
होसकता है। यदि कहो कि जहां ज्ञान होता है वहां कुछ नकुछ पदार्थ रहता ही है इसलिये ज्ञानका जनक पदार्थ ही है परंतु
यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; जहां ज्ञान होता है वहां कुछ नकुछ पदार्थ रहता ही है इतने मात्रसे यह सिद्ध नहीं
होसकता है कि पदार्थ ही ज्ञानका जनक है। किंतु जहां पदार्थ न हो वहां ज्ञान भी न हो ऐसा नियम यदि मिले तो यह स्वीकार
कर सकते है कि ज्ञानका जनक पदार्थ ही है। परंतु यह (व्यतिरेक[1]रूप) नियम तो सिद्ध ही नहीं होता है ऐसा युक्तिपूर्वक अभी
कहचुके है।

योगिनां चाऽतीताऽनागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वं? तयोरसत्त्वात् "ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि
अणागए। णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसोवमा (संस्कृतच्छाया–न निधानगता भग्नाः पुञ्जो नास्ति
अनागतस्य। निर्वृताः नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमाः)" इति वचनात्। निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वा-
दतीतानागतत्वक्षतिः। न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं; प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि
तत्प्रकाशकत्वात्। जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाऽभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्यार्थाऽजन्यत्वात्। न
च स्मृतिर्न प्रमाणम्; अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात्; साध्यसाधनसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात्तस्य।

योगियोंके ज्ञानमें अतीत और आगामी पदार्थ भी झलकते हैं परंतु उस समय वे पदार्थ ही यदि नहीं हैं तो उस ज्ञानमें
निमित्तरूप कैसे होसकते हैं? क्योंकि; ऐसा कहा भी है "जो पदार्थ नष्ट होगये वे किसी भंडारमें जमा नहीं हैं तथा जो अभी
उत्पन्न ही नहीं हुए ऐसे आगामी होनेवाले पदार्थोंका भी कहीं ढेर नहीं लगा है। जो उत्पन्न होते है वे सूईकी अनीपर रक्खी
हुई सरसोके समान चिरकालकेलिये ठहर नहीं सकते हैं"। और यदि अतीत तथा आगामी पदार्थ भी ज्ञानके जनक माने जाय
तो आवश्यकीय क्रियाके जनक होनेसे वे भी विद्यमान ही हैं ऐसा मानना चाहिये; न कि अतीत तथा आगामी। क्योंकि; जव कारण

---

1 कारणके न रहनेपर कार्यका न उपजना इस नियमको व्यतिरेक कहते हैं। कार्यके होते हुए कारणका नियमसे उपस्थित रहना इस नियमको
अन्वय कहते हैं।

विद्यमान हो तभी अपने कार्यको जनसकता है, जो खुद अपने शरीरसे ही विद्यमान नहीं है वह किसी कार्यको पैदा क्या करेगा? इस लिये यदि पदार्थको ज्ञानका कारण मानें तो वे पदार्थ अतीत हों या आगामी, परंतु सभी विद्यमान मानने पड़ेंगे; कोई भी अतीत तथा आगामी न रहसकेगा। यदि कहो कि प्रकाश होने योग्य पदार्थोंसे उपजना ही ज्ञानका (प्रकाशकका) प्रकाश्यपना है परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, दीपक पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होकर भी उनका प्रकाश करता है। ज्ञान उसीको प्रकाशता है जो उसको पैदा करै ऐसा माननेसे और भी एक दोष आता है। वह यह है कि स्मृति अथवा व्याप्तिज्ञान किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होते तो भी ये प्रमाण हैं परंतु जनकको प्रकाश करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाण माननेवालोंके लिये ये अप्रमाण ही रहेंगे। स्मृतिज्ञान तो प्रमाण ही नहीं है ऐसा भी नहीं कहसकते हैं। क्योंकि, स्मृति ही अनुमानप्रमाणका प्राण है, जब साध्यसाधनके अविनाभाव संबंधका स्मरण होजाता है तभी अनुमान होता है, प्रथम नहीं।

जनकमेव च चेद् ग्राह्यं तदा स्वसंवेदनस्य कथं ग्राहकत्वम्? तस्य हि ग्राह्यं स्वरूपमेव। न च तेन तज्जन्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। तस्मात्स्वस्वसामग्रीप्रभवयोर्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसंभवान्न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य। नन्वर्थाऽजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिनियतकर्मव्यवस्था? तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते। तस्मादनुत्पन्नस्याऽतदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात्सर्वग्रहणं प्रसज्येत। नैवं; तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः। तदुत्पत्तावपि च योग्यताऽवश्यमेष्टव्या। अन्यथाऽशेषार्थसांनिध्ये तत्तदर्थाऽसांनिध्येपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः?

यदि जनक पदार्थ ही ज्ञानका विषय होसकता है ऐसा माना जाय तो स्वानुभवनरूप ज्ञानका विषय कौनसा होगा? यदि उस ज्ञानका स्वरूप ही उस ज्ञानका विषय माना जाय तो यह नियम टूटता है कि प्रत्येक ज्ञान अपने जनकको ही विषय करता है। क्योंकि; अपनेसे ही अपनी उत्पत्ति होना संभव नहीं है। सो भी क्योंकि, जब आप स्वयं होचुके तब अपने उत्पन्न करनेको अपनेमें क्रिया पैदा करसके और जब वह क्रिया होजाय तब अपनी उत्पत्ति होसके। इस प्रकार एककी उत्पत्ति दूसरेकी उत्पत्ति होनेके आश्रित होनेसे तथा दूसरेकी उत्पत्ति एक पहिलेकी उत्पत्तिके आधीन होनेसे कोई भी क्रिया नहीं होसकती है। और अपतक उत्पन्न

करनेकी क्रिया ही न होगी तबतक अपनेसे अपनेकी उत्पत्ति कैसी? इसलिये जैसे दीपक अपनी भिन्न सामग्रीसे पैदा होकर भी घटादिक पदार्थोंको प्रकाशता है तैसे ज्ञान भी प्रकाशनेयोग्य पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर ही पदार्थोंको प्रकाशता है; ज्ञान तथा पदार्थोंमें कार्यकारणरूप संबंध नहीं है। पदार्थोंसे न उपजकर ही ज्ञान पदार्थोंको प्रकाशता है यह माननेसे घड़ेका ज्ञान घड़ेको ही प्रकाशता है अन्यको नहीं ऐसा नियम कैसे होसकैगा? "जिस पदार्थको ज्ञान प्रकाशता है उसीसे उस ज्ञानकी उत्पत्ति तथा उसी पदार्थकासा उस ज्ञानका आकार जब हम मानते हैं तब तो यह नियम होसकता है कि घड़ेका ज्ञान घड़ेको ही प्रकाश सकता है अन्यको नहीं। परंतु यदि ज्ञानकी उत्पत्ति नियत पदार्थसे न मानीजाय तथा उस ज्ञानका आकार भी जिसको वह प्रकाशता है उसके समान न मानाजाय तो एक ज्ञान सभी पदार्थोंको प्रकाशित क्यों नहीं करने लगै"। इस प्रकारकी जो शंका है वह सर्वथा असत्य है। क्योंकि; पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ न मानै तो भी योग्यताके अनुसार ज्ञानसे नियमित पदार्थका प्रकाश होना संभव है। जिस समय जिस विषयके ज्ञानको रोकनेवाला कर्म नष्ट होजाता है उस समय उसी विषयका ज्ञान प्रकाशित होसकता है अन्य नहीं। यही ज्ञानकी योग्यता है। पदार्थसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति माननेवालोंको भी योग्यता अवश्य माननी पड़ती है। यदि न मानैं तो संपूर्ण पदार्थ समीपमें रहनेपर भी अथवा कोई कोई पदार्थ समीपमें न रहै तो भी किसी एक पदार्थसे किसीके आत्मामें तो ज्ञान उत्पन्न होता है और किसीके आत्मामें नहीं यह नियम कैसे बनसकैगा?

तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना; अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य साकारत्वप्रसङ्गाच्च। अर्थेन च मूर्त्तेनामूर्त्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यमित्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साऽभ्युपेया। ततः "अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्। तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता" इति यत्किञ्चिदेतत्।

ज्ञानको पदार्थाकार मानना तो पदार्थके आकारका फेरफार होते रहनेसे असिद्ध ही है। यदि ज्ञानको पदार्थके आकार ही माना जाय तो पदार्थका आकार ज्ञानमें आजानेसे पदार्थ तो निराकार होजाना चाहिये और ज्ञान साकार (रूपी) होजाना चाहिये। परंतु ऐसा दीखता नहीं है। और मूर्तिमान् पदार्थके साथ अमूर्तिक ज्ञानकी समानता भी कैसी? इसलिये किसी एक पदार्थको ग्रहण करना, सबको नहीं ग्रहण करना यही ज्ञानकी पदार्थके साथ समानता माननी चाहिये। ऐसा सिद्ध होनेसे ही यह कहना भी किसी प्रकार सत्य होसकता है कि "जिस पदार्थके ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका नाश होगया हो वही पदार्थ ज्ञानमें झलक

सकता है अन्य नहीं ऐसी योग्यताके सिवाय अन्य कुछ भी पदार्थकी समानता ज्ञानमें नहीं है। इसीलिये निश्चय करने योग्य पदार्थका निश्चय होजानेसे ज्ञानमें पदार्थकासा आकार होना कहसकते हैं।"

अपि च व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम्? यदि व्यस्ते तदा कपालाद्यक्षणो घटाऽन्त्यक्षणस्य जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति; ययार्सस्र्यं तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसज्यते तयोरुभयोरपि सद्भावात्। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरज्ञानग्राहकत्व प्रसज्येत तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात्। तत्र योग्यतामन्तरेणाऽन्यद् ग्रहणकारणं पश्याम इति।

और भी एक दोष यह है कि ज्ञानकी पदार्थसे उत्पत्ति होना तथा ज्ञानमें पदार्थकासा आकार होना ये दोनों पदार्थका नियत ज्ञान होनेमें जुदे जुदे कारण माने हैं अथवा मिलकर? यदि एक एक कारण हैं अर्थात् कहींपर तो पदार्थसे उत्पत्ति होना ही नियत पदार्थके प्रकाशनेमें कारण है और कहींपर पदार्थकासा आकार होना ही कारण है तो घटकी प्रथम पर्यायसे तो घटकी अंतिम पर्याय उत्पन्न होती है इसलिये घटकी प्रथम पर्याय घटकी अंतिम पर्यायमें प्रकाशित होनी चाहिये और जो जलमें चंद्रमाका प्रतिबिंब पड़ता है उस प्रतिबिंबको असली चंद्रमाका ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि; जलका चंद्रमा असली चंद्रमाका आकार ही है। परंतु घटका प्रथम पर्यायका घटकी अंतिम पर्यायको तथा जलचंद्रमाको असली चंद्रमाका ज्ञान नहीं होता है इसलिये पदार्थाकार तथा पदार्थसे उत्पत्ति ये जुदे जुदे तो नियत पदार्थके ज्ञान होनेमें कारण नहीं होसकते हैं। यदि कहो कि ज्ञान नियमित पदार्थको ही जानता है अन्यको नहीं इस नियममें ज्ञान जिस पदार्थको विषय करता है उस पदार्थकासा ज्ञानका आकार तथा उसी पदार्थसे उस ज्ञानकी उत्पत्ति होना ये दोनो मिलकर निमित्त हैं सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, घड़ा फूट-जानेपर उस घड़ेकी दूसरी अवस्थामें घड़ेका आकार तथा घड़ेसे उत्पत्ति ये दोनों कारण तो विद्यमान हैं परंतु तो भी यह दूसरी अवस्था उस घड़ेको जान नहीं सकती है। यदि ये दोनो ही पदार्थका निश्चित ज्ञान होनेमें कारण होते तो यहां भी निश्चित ज्ञान होना चाहिये था। यदि कहो कि " यदि जो ज्ञान किसी पदार्थसे उत्पन्न हुआ हो तथा उस पदार्थके ही आकारकासा हो तो यह ज्ञान उसी पदार्थको जानेगा जिससे यह उत्पन्न हुआ है तथा जिसका आकार उसमें पड़ा है किंतु यह नियम नहीं है कि कोई भी

वस्तु जिससे उत्पन्न हुई हो तथा जिसकासा आकार रखती हो उसको वह वस्तु जानसके" सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; पीछेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान यद्यपि पहिले ज्ञानके सर्वथा सदृश है तथा उसीसे उत्पन्न हुआ है तथा स्वयं ज्ञानरूप भी है इसलिये सर्व कारण मिलते हैं तो भी प्रथम ज्ञानको जानता नहीं है परंतु बौद्धोंके कथनानुसार तो जानना ही चाहिये। इसलिये प्रत्येक ज्ञान अपने अपने विषयको ही जानता है अन्यको नहीं ऐसा नियम होनेमें निमित्त कारण योग्यता ही है; योग्यताके सिवाय अन्य कोई भी निश्चायक नही दीखता है।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते। तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः। तन्मतं चेदम्। ग्राह्यग्राहकादिकलङ्काऽनङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत्। बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते। तथा हि। कोऽयं बाह्योर्थः? किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा? न तावत्परमाणुरूपः प्रमाणाऽभावात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनवद्धकक्षम्। तद्धि योगिनां स्यादस्मदादीनां वा? नाद्यम्; अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात्। न हि द्वितीयमनुभवबाधितत्वात्। न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात्। नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः; अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सह अविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात्।

इस प्रकार चालू सूत्रमेंसे प्रथमके "**न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः**" इन दो चरणोंका अर्थ तो लिखा अब आगेके "**न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम्**" इन दो चरणोंका व्याख्यान लिखते हैं। इन दो चरणोमें उन बौद्धोका खंडन है जो बाह्य पदार्थको सर्वथा न मानकर ज्ञानाद्वैत ही मानते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि यह जाननेका विषय है अथवा यह जाननेवाला है इत्यादि झगड़ोसे रहित, अनेक प्रकारके और भी प्रपंचोंसे रहित ज्ञानमात्र ही केवल यथार्थ वस्तु है। इसके सिवाय बाह्य वस्तु तो विचार करने पर ठहरता ही नहीं है अथवा सिद्ध ही नही होता है। कैसे नहीं सिद्ध होता है सो दिखाते हैं। बाह्य पदार्थ क्या वस्तु है?-क्या परमाणुरूप है अथवा स्थूल अवयवीरूप? परमाणुरूप होनेमें तो कोई प्रमाण ही नहीं है। बौद्धलोग प्रमाण दो ही मानते हैं; एक तो प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। यदि परमाणुरूप माननेमें कोई प्रमाण हो तो बौद्धोंके अनुसार इन्ही दोमेंसे कोई एक होसकता है। यदि प्रत्यक्ष माने तो प्रत्यक्ष भी दो प्रकार है प्रथम

योगिप्रत्यक्ष दूसरा हमलोगोंका साधारण प्रत्यक्ष। इन दोनोंमेंसे योगिप्रत्यक्ष तो परमाणु साधनेमें उपयोगी हो नहीं सकता है क्योंकि; योगिप्रत्यक्ष अत्यत परोक्ष होनेसे हमलोगोंके गोचर ही नहीं है; केवल श्रद्धासे मानते आते हैं। अर्थात् जब श्रद्धामात्र ही गम्य है; अत्यंत परोक्ष होनेसे हमारे प्रयोजनमें ही नहीं आता है तो हम कैसे कहसकते हैं कि योगिप्रत्यक्षसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थ भी जाना जासकता होगा? हमलोगोंका प्रत्यक्ष भी परमाणुरूप बाह्य पदार्थको जाननेवाला मानना ठीक नहीं है। क्योंकि; हमलोगोंके इस साधारण प्रत्यक्षकी ऐसी शक्ति नहीं है जो इतने सूक्ष्म पदार्थको अपने गोचर करसके। यह खंभ है यह घड़ा है इत्यादि स्थूल पदार्थोंको ही हमलोग प्रत्यक्षसे समझ सकते हैं। प्रत्यक्षसे हमलोगोंको यह परमाणु है यह परमाणु है इत्यादि निश्चय स्वप्नमें भी नहीं होसकता है। अनुमानज्ञान भी वहां ही प्रवर्तता है जहां उस अनुमानसे साधनेयोग्य विषयके नित्य ही साथ रहनेवाला हेतु किसी समय प्रत्यक्षसे निश्चित किया हो कि यह हेतु उस साध्यके साथ सर्वत्र और सदा रहता है। जो परमाणुरूप साध्य है वही यदि प्रत्यक्ष नहीं है तो उसके साथ किसी हेतुका रहना कैसे प्रत्यक्ष होसकता है? इसीलिये अनुमानसे भी परमाणुओंका सिद्ध होना दुर्लभ है।

किं चामी नित्या अनित्या वा स्युः? नित्याश्चेत्क्रमेणाऽर्थक्रियाकारिणो युगपद्वा? न क्रमेण; स्वभावभेदेनाऽनित्यत्वापत्तेः। न युगपदेकक्षणे एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वप्राप्ति(तेः)। अनित्याश्चेत् क्षणिकाः कालान्तरस्थायिनो वा? क्षणिकाश्चेत्सहेतुका निर्हेतुका वा? निर्हेतुकाश्चेन्नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यान्निरपेक्षत्वात्। अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम्। सहेतुकाश्चेत्किं तेषां स्थूलं किंचित्कारणं परमाणवो वा? न स्थूलं; परमाणुरूपस्यैव बाह्यार्थस्याऽङ्गीकृतत्वात्। न च परमाणवः। ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः? सन्तश्चेत्किमुत्पत्तिक्षण एव क्षणान्तरे वा? नोत्पत्तिक्षणे; तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तेषाम्।

ये परमाणु किसी प्रमाणसे सिद्ध तो नहीं होते हैं परंतु फिर भी कुछ समयकेलिये मानलिये जांय तो भी इनका स्वरूप कैसा है? क्या ये नित्य हैं अथवा अनित्य? यदि नित्य हैं तो भी इनमेंसे एक एक की जो अनेक स्थूल पर्याय बनती हैं वे क्रम क्रमसे बनती हैं अथवा एकसाथ? इन परमाणुओंमें स्थूल पर्यायोंकी उत्पत्ति यदि क्रमसे मानी जाय तब तो अनेक समयोंमें अनेक प्रकारके स्वभाव बदलनेसे ये परमाणु अनित्य ठहरते हैं। क्योंकि; एक स्वभावका परिवर्तन होकर दूसरे स्वभावमें वस्तुका आजाना ही अनित्यपना

है । कोई भी वस्तु सर्वथा तो नष्ट होती ही नहीं है । और यदि परमाणुओंसे जो पर्याय तीन कालमें परिणमनेवाली हैं उनका एकसाथ ही परिणमन होजाना माना जाय तो यह दोष आता है कि संपूर्ण पर्याय एक समयमें ही उत्पन्न होनी चाहिये । और इसीलिये दूसरे समयोमें परिणमनेकेलिये कोई पर्याय अवशिष्ट न रहनेसे उन परमाणुओंका निरन्वय नाश ही होजाना चाहिये। क्योंकि; प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समयमें किसी नकिसी पर्यायरूप होकर ही ठहरती है; जब पर्याय ही बाकी नहीं हैं तो ठहरै किस अवस्थापर ? इसलिये एक समयके अनंतर नाश होना ही चाहिये परंतु होता नहीं है । इसीलिये यदि परमाणुओंको अनित्य मानाजाय तो भी क्या क्षण क्षणमें उनका नाश होता है अथवा कुछ समय ठहरकर ? यदि क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं तो क्या किसी हेतुके वश होकर अथवा हेतुके विना ही ? यदि हेतुके विना ही क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं तो या तो सदा सत्रूप ही मानने चाहिये अथवा असत्रूप ही । क्योंकि; अन्य निमित्तोंके विना जो निजका स्वभाव होता है वह सदा ही एकसा बनारहता है; एक समय जो सत्रूप हैं उनका दूसरे समयमें असत्रूप होजाना यह स्वभावभेद जो प्रत्येक समयमें बदलता रहता है वह किसी नकिसी भिन्न कारणसे ही बदल सकता है । इसीलिये यदि किसी कारणके वश होकर इनका नाश होना माना जाय तो भी इनका कारण कोई स्थूल पदार्थ होसकता है अथवा वे ही परमाणु ? यदि स्थूल पदार्थ उस नाशका कारण माना जाय तो स्थूल तो कोई बाह्य पदार्थ ही नहीं है; बाह्य पदार्थ जितना अंगीकार किया है उतना परमाणुरूप ही किया है । यदि परमाणु ही माने जाय तो भी क्या वे सत्रूप अथवा असत्रूप अथवा सत्असत् दोनोरूप होकर नाशरूप अपने कार्यको करसकते हैं ? यदि सत्रूप होकर नाशरूप अपने कार्यको करसकते हैं ऐसा माना जाय तो भी क्या अपनी उत्पत्तिके समयमें ही नाश करते हैं अथवा दूसरे क्षणमें ? अपनी उत्पत्तिके समयमें तो वे उपजनेमें ही व्यग्र रहते हैं इसलिये उस समय तो दूसरोंका नाश कर नहीं सकते हैं । अर्थात् जो वस्तु जबतक सर्वथा पैदा ही नहीं होगई है किंतु उपज ही रही है तबतक वह किसी भी कार्यको क्या करसकती है ? कोई भी वस्तु स्वयं उत्पन्न होचुकनेके अनंतर ही किसी कार्यके करनेमें उद्यत होसकती है ।

अथ " भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते " इति वचनाद्भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेदेवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम् । ते च तेषामुपादानं स्युरुभयत्र भवनाऽविशेषात् । न च क्षणान्तरे; विनष्टत्वात् । अथाऽसन्तस्ते तदुत्पादकास्तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गस्तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात् । सद-

सत्पक्षस्तु " प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः " इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव । तस्मान्नैव क्षणिकाः । नापि कालान्तरस्थायिनः क्षणिकपक्षसदृक्षयोगक्षेमत्वात् ।

यदि " जो इनका उत्पन्न होना है वही तो क्रिया है तथा वही कारणरूप है" ऐसी किसीकी कहावत होनेसे उनकी उत्पत्ति होना ही दूसरोंकी उत्पत्तिका कारण माना जाय तो जो रूपके परमाणु तथा रसके परमाणुओंको बौद्धोंने जुदा जुदा माना है वह मानना भी व्यर्थ है। क्योंकि, एकसाथ उत्पन्न होनेवालोंमें एक दूसरेका कार्यरूप तथा कारणरूप होजाना सर्वत्र समान है । अर्थात् जैसे एक परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हुए भी दूसरे परमाणुकी उत्पत्तिमें सहकारी होसकता है वैसे रूपरसके परमाणु भी साथ उत्पन्न होते हुए एक दूसरेकी उत्पत्तिमें सहकारी होसकते हैं इसलिये रूपपरमाणु तथा रसपरमाणुओंको अपनी अपनी उत्पत्तिमें जुदे जुदे कारण मानना व्यर्थ ही है। परंतु बौद्धलोग मानते अवश्य हैं। इन दोषोंके भयसे अपनी उत्पत्तिके समयमें ही सहकारी होना न मानकर उत्पन्न होनेके अनंतर दूसरे समयमें सहकारी होना मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, उत्पत्तिके अनंतर दूसरे समयमें वह स्वयं ठहरता ही नहीं है, वह तो प्रथम ही नष्ट हो जाता है इसलिये नष्ट होनेपर सहकारी होना संभव नहीं है । अब जिस दूसरे पक्षमें परमाणुओंको असत्रूप माना है उस पक्षके अनुसार यदि असत्रूप परमाणुओंको ही दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्तिमें सहायक मानाजाय तो अपनी उत्पत्तिके समयको छोड़कर जब ये सहकारी परमाणु उत्पन्न होकर नष्ट होजांय तबसे सदा ही दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिये। क्योंकि, असत्रूप परमाणु जो उत्पत्तिके समयमें सहायक माने हैं वे असत्पनेकी अपेक्षा सदा ही एक सरीखे बने रहते हैं । तीसरे पक्षमें जो सत्असत् इन दोनोंस्वरूप परमाणुओंको दूसरोंकी उत्पत्तिमें कारण मानागया है वह सर्वथा दूषित है । क्योंकि; ऐसा कहा है कि "जिस एक एक स्वभावके माननेमें जो दोष संभवते हैं वे दोष उन सब स्वभावोंके मिले हुए एक स्वभाव माननेमें भी क्यों न संभव होंगे ? किंतु अवश्य होगे ।" इसलिये न तो उत्पत्तिके समय ही नष्ट होनेवाले परमाणु दूसरे परमाणुओंके उपजनेमें सहायक होसकते हैं और न उत्पन्न होनेके अनंतर चिरकाल तक ठहरनेवाले ही । क्योंकि, उत्पत्तिके समय ही नष्ट होनेवाले परमाणुओंको सहायक माननेमें जो दोष संभवते हैं वे ही दोष चिरकालतक ठहरनेवालोंमें भी संभवते हैं ।

किं चामी कियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थक्रियापराङ्मुखास्तत्कारिणो वा ? आद्ये खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः । उद-

ग्विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः? असद्रूपं चेच्छशविषाणादेरपि किं न करणम्? सद्रूपं चेत्सतोऽपि करणेऽनवस्था। तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः। तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते।

चिरस्थायी मानकर सहायक माननेमें और भी अधिक दोष ये आते हैं कि उत्पत्तिके अनंतर कितने ही कालतक ठहरते हुए भी परमाणु क्या प्रयोजनीभूत क्रियाओंसे पराङ्मुख होकर ठहरते है अथवा कुछ आवश्यकीय क्रियाओंको करते हुए ठहरते है? यदि कुछ भी क्रिया न करते हुए ठहरे माने जांय तो यह ठहरना मानना आकाशके पुष्पसमान है। अर्थात् सच्चा ठहरना वही है जिससे कुछ भी प्रयोजनरूप कार्य होता रहै। जिसके द्वारा कुछ होता ही नही है उसके ठहरनेमें प्रमाण ही क्या है? क्योंकि; जो विधमान होता है वह अवश्य कुछ नकुछ किया ही करता है। यदि कुछ करते हुए ही स्थित माने जांय तो भी क्या वह कार्य असत्रूप है वा सत्रूप है अथवा सत्असत् दोनोरूप है जिसको वे करते हैं? यदि वह कार्य असत्रूप है जिसको वे चिरस्थायी होकर करते हैं तो वे गधेके सींगोको भी क्यों नही बनाते? क्योंकि; गधेके सींग भी ठीक वैसे ही असत्रूप है। यदि सत्रूपको करते हैं तो जो कार्य उत्पन्न होजाता है उसको भी करते ही रहैंगे। क्योंकि; सर्वथा जो सत् होता है उसीको वे करते है। इस प्रकार किये हुएको फिर भी करते करते विराम न मिलसकैगा। यदि सत्असत् दोनोरूपके कार्यको करते हुए माने जांय तो जैसा दोष प्रथम दिखा चुके हैं उसी प्रकारका यहां भी संभव है। अर्थात्—जो सत्पक्ष तथा असत्पक्ष माननेमें दोष संभवते है वे सब यहां सत्असत् दोनोरूप तीसरा पक्ष माननेमें भी संभवते हैं। इसलिये परमाणुरूप बाह्य पदार्थ किसी प्रकार भी संभव नहीं है।

नापि स्थूलावयविरूपः। एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकतत्सिद्धिः? तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम्। किं चायमनेकावयवाधार इष्यते। ते चावयवा यदि विरोधिनस्तर्हि नैकः स्थूलावयवी; विरुद्धधर्माध्यासात्। अविरोधिनश्चेत्प्रतीतिबाधः; एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्ताऽऽवृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः।

अब जो स्थूल पदार्थोंको ही बाह्य पदार्थ मानते हैं उनका विचार करते हैं। स्थूलरूप बाह्य पदार्थ मानना भी युक्तिसंगत नही है। क्योंकि; अनेक परमाणुओंके समूहका नाम स्थूल अवयवी है सो यदि परमाणु ही सिद्ध नही है तो उन अनेक

परमाणुओंके संचयरूप स्थूल पदार्थोंकी सिद्धि कहना केवल कहनेमात्र ही है। और भी दूसरा दोष यह है कि, स्थूल पदार्थ अनेक परमाणुरूप अवयवोंमें रहनेवाला माना है; परंतु वे अवयव यदि परस्पर विरोधी हैं तो विरुद्धधर्मवाले उन अनेक परमाणुओंसे मिलकर एक स्थूल अवयवी पदार्थ कैसे बन सकता है? क्योंकि उसके प्रत्येक अवयवोंमें तो परस्पर जुदे जुदे रहनेका स्वभाव विद्यमान है। उन अवयवोंको परस्पर अविरोधी कहना तो सर्वथा प्रतीतिबाधित है। क्योंकि, एक ही अवयवीमें कोई परमाणु चंचल हैं, कोई अचल हैं, कोई लाल हैं, कोई सफेद हैं, कोई ढके हुए हैं और कोई खुले हुए हैं इत्यादि अनेक परस्पर विरोधी धर्मवाले एक दूसरेके स्वभावसे सर्वथा प्रतिकूल दीखते हैं इसलिये उन सबोंमें परस्पर विरोध ही प्रतीत होता है।

अपि चासौ तेषु वर्तमानः कात्स्न्येनैकदेशेन वा वर्तेत? कात्स्न्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात्। प्रत्यवयवं कात्स्न्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तेः। एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमबाधः। सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्ना अभिन्ना वा? भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कात्स्न्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था। अभिन्नत्वे न केचिदंशाः स्युः। इति नास्ति बाह्योर्थः कश्चित्। किन्तु ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति।

स्थूल अवयवीरूप बाह्य पदार्थ माननेमें और भी दोष दिखाते हैं।—अवयवीरूप बाह्य पदार्थ माननेवालेसे बौद्ध पूछता है कि अवयवीरूप स्थूल पदार्थ जो परमाणुरूप अवयवोंमें ठहरता है वह क्या अपने एक एक अवयवमें पूर्ण आकारसे ठहरता है अथवा उसका थोड़ा थोड़ा हिस्सा एक एक अवयवमें ठहरता है? यदि एक एक अवयवमें समूचा वर्तता है तो समूचा आकार तो एक अवयवीका एक ही है इसलिये अपने एक ही अवयवमें रह सकेगा; सभी अवयवोंमें उसका रहना मानना असंभव है। और यदि थोड़े समयके लिये यह भी मानलिया जाय कि एक अवयवी भी अपने सभी अवयवोंमें समूचा समूचा रहता है तो वे सभी अवयव प्रत्येक अवयवीरूप ही मानने चाहिये। अर्थात् अवयव तो उसीको कह सकते हैं जो किसी पदार्थका छोटासा हिस्सा हो। जिसमें पूरा स्थूलाकार वर्तता हो वह अवयव कैसा? वह तो अवयवी ही है। और अवयवी तथा छूटे छूटे समूहरूप परमाणुओंमें अंतर यही है कि अवयवी तो अनेक परमाणुओंका समूह होकर भी निरंश एक समझा जाता है परंतु छूटे परमाणुओंका ढेर एक होनेपर भी सब परमाणु जुदे जुदे रहते हैं। इसलिये यदि एक अवयवीका अपने एक एक अवयवमें रहना पूरा पूरा न मानकर एक एक हिस्सेका माना जाय तो उसमें अंशोंकी कल्पना होनेसे उसको निरंश एक अवयवी नहीं

कह सकते हैं । और यदि उसके भी अंश माने जांय तो वे अंश उस अवयवीसे कोई जुदी वस्तु हैं अथवा उस अवयवीरूप
ही है? यदि वे अंश भी उस अवयवीसे जुदी वस्तु हैं तो वे अंशभी एक प्रकारके अवयवी ही हुए । क्योंकि; अवयवीके सिवाय कोई
बाह्य पदार्थ है ही नहीं । इसलिये वे अंशरूप अवयवी भी प्रत्येक अपने अपने अवयवोंमेंसे एक एक अवयवमें हिस्सेवार रहैंगे।
क्योंकि; अवयवीका अपने अवयवोंमें रहना हिस्सेवार ही ऊपर मान चुके हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक अवयवके हिस्से
करनेसे कहीं ठिकाना ही नही रहता है । यदि अवयवीके अवयवोंको अवयवरूप ही माना जाय; अवयवीसे भिन्न न माना जाय
तो वे अवयव ही नहीं हैं । क्योंकि; अवयव तो एक एक हिस्सेका ही नाम है । **भावार्थ**—यदि अवयवीमें अवयवोंको
ही माना जाय तो वह स्थूल अवयवी है ऐसा व्यवहार भी कैसे हो सकता है? क्योंकि; अनेक अवयव जिसमें हो उसीको
स्थूल अवयवी कह सकते है । और यथार्थमें वही स्थूल हो सकता है जिसमें छोटे छोटे अनेक अवयव मिल गये हो । जो
निरंश एक है वह स्थूल अवयवी कैसे कहा जा सकता है? इसप्रकार स्थूल अवयवीरूप अथवा परमाणुरूप कोई भी बाह्य पदार्थ
सिद्ध नही होता है। इसलिये बाह्य कुछ है ही नही । किंतु जो कुछ बाह्यमें नीलपीतादिकरूप भासता है वह सब ज्ञानका परिवर्तन है।

**बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तं "स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः" । अलङ्कारकारे-
णाप्युक्तं " यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ? न चेत्संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते? " । यदि बाह्योऽ-
र्थो नास्ति किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभास इति चेन्ननु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो निर्वि-
षयत्वादाकाशकेशज्ञानवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति । अत एवोक्तं " नान्योऽनुभाव्यो बुध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते । १ । बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते । वासनालुठितं चित्त-
मर्थाभासं प्रवर्तते । २ ।" इति ।**

यदि जो प्रतिभासता है वही बाह्य पदार्थ माना जाय तो भी वह तो जड़ है इसलिये उसका प्रतिभासित होना ही
संभव नही है । ऐसा ही कहा है कि " दृश्यजातिवाले[1] ज्ञानमय पदार्थ बुद्धिको पदार्थाकार उत्पन्न करते हैं " । अर्थात्—बाह्य

---

१ बौद्धोंने पदार्थ दोप्रकार माने हैं प्रथम दृश्य दूसरे विकल्प्य । दृश्य पदार्थ सर्व ज्ञानमय हैं और विकल्प्य वे हैं जो लोकोंकर बाह्य पदार्थ-रूप मिथ्या कल्पित किये जाते हैं ।

पदार्थ कोई भी नहीं है, केवल विज्ञान ही बुद्धिको अनेकाकार करता रहता है। अलंकार ग्रन्थके कर्ता बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने भी कहा है कि "जब नीलादिक आकार प्रतिभाससे ही जान पड़ता है तब उसको बाह्य पदार्थ क्यों कहना चाहिये ? और जब वह प्रतिभासित नहीं होता है तब उसको बाह्य पदार्थ क्यों कहना चाहिये।" अर्थात्—जब प्रतिभासित होता है तब तो वह प्रतिभासरूप है इसलिये प्रतिभासको अंतरंग ज्ञानमय ही मानना चाहिये। तब तो बाह्य पदार्थके होनेमें कोई प्रमाण ही नहीं है। और जब कुछ प्रतिभासित ही नहीं होता है तब कुछ है या नहीं इसीमें शंका है तो वह बाह्य पदार्थ है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? बाह्य पदार्थ ही यदि नहीं हैं तो यह घड़ा है, यह पड़ा है इत्यादि ज्ञान क्यों होता है ऐसी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि, जैसे विना किसी बाह्य विषयके निरालंबन ही आकाशमें केश आदिकोंका ज्ञान हो जाता है अथवा जैसे स्वप्नमें जो ज्ञान होता है वह वस्तुके आलंबन विना ही होता है वैसे ही घटपटादिकका सर्वसामान्य ज्ञान भी बाह्य वस्तुके आलंबन विना अनादिकालसे साथ लगी हुई झूठी वासनाके कारण ही प्रवर्तता है। इसीलिये कहा है कि "जो बुद्धिमें प्रतिभासता है वह कोई बुद्धिसे अतिरिक्त पदार्थ नहीं है और न बुद्धिके अतिरिक्त अनुभव ही कोई वस्तु है। विषय विषयी भिन्न भिन्न न होनेसे स्वयं बुद्धि ही नाना-रूपसे प्रकाशित होती रहती है॥ बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है जैसा कि मूर्ख लोगोंने कल्पित कर रक्खा है। अनादिकालसे लगी हुई मिथ्या वासनासे वासित हुआ चित्त ही नानाप्रकारके पदार्थोंरूप परिणमता है।"

तदेतत्सर्वमयथार्थम्। ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दस्ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति। अस्य च कर्मणा भाव्यं; निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात्। न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञानमिति वाच्यं; तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाऽभावात्। न हि सर्वथाऽगृहीतसत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीतिः। स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम्। तथा च महाभाष्यकारः "अणुहूयदिठ्ठचिंतियसुयपयइवियारदेवयाणूवा। सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाऽभावो (संस्कृतच्छाया—अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैविकाऽनूपाः। स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाऽभावः)"॥ यश्च ज्ञानविषयः स च बाह्योऽर्थः। भ्रान्तिरियमिति चेच्चिरं जीव। भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणाऽपाटवादिना अन्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा। यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः। अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते तर्हि प्रलीना भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवस्था। तथा च सत्यमेतद्वचः "आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः। रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते। १।"

यह सब जो बौद्धका कहना है वह झूठ है। कैसे? जाननेरूप क्रियाका नाम ज्ञान है। जिससे जाना जाय वह ज्ञान है अथवा जाननामात्र ही ज्ञान है। जिससे जाना जाय अथवा जाननामात्र ऐसा ज्ञानशब्दका अर्थ होनेसे इस ज्ञानका कर्म कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। क्योंकि; विना किसी विषयके जानना कैसे हो सकता है? यदि कहों कि जैसे आकाशमें केशोंका ज्ञान विना किसी विषयके भी होजाना सर्व जनोंमें प्रसिद्ध है तैसे ही सर्वत्र भी विना विषयके ज्ञान हो सकता है परंतु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; आकाशमें जो केशोंका ज्ञान होता है वह भी सर्वथा निर्विषय नहीं है। जिस मनुष्यने कभी भी सचमुचके केश देखे नहीं हों उसको आकाशमें भी केशोंकी प्रतीति होना संभव नहीं है। अर्थात्—इस कहनेसे यह सिद्ध होता है कि जिसने प्रथम सच्चे केश देखे हैं उसीको आकाशमें भरे हुए अपरिमित सूक्ष्म रजआदिक केशादिरूप दीख सकते हैं। इसमें विपर्यय होनेका कारण बहुत अंतरका (फासलेका) पड़ना है। इस प्रकार आकाशमें जो केशोंका दीखना है वह रज आदिक वस्तुओंमें विपरीत परिणया ज्ञान है, न कि निर्विषय। इसीप्रकार स्वप्नका ज्ञान भी जागृत अवस्थामें पहिले अनुभव किये पदार्थोंका ही होता है इसलिये निर्विषय नहीं है। यही **महाभाष्यकारने** कहा है "पहिले अनुभव किये, देखे, विचार किये तथा सुने हुए पदार्थ तथा वातपित्तादिजनित विकार तथा देवोंकर विकारको प्राप्त किया मन तथा जलप्रधानदेश अथवा पापपुण्यके कारण ये सर्व स्वप्न आनेमें निमित्तकारण हैं। अर्थात् स्वप्नमें वही वस्तु दीखती है जो पहिले सुनी हो देखी हो चिंतवन की हो तथा अनुभव की हो। और वातपित्तादिके विगड़नेपर भी मनमें नाना प्रकारकी चिंता तथा विचार उत्पन्न होनेसे स्वप्न आता है। इत्यादि स्वप्न होनेके अनेक कारण मिलते हैं इसलिये स्वप्नकी उत्पत्ति विना कारणके ही मानना मिथ्या है।" और जो ज्ञानके विषय है वे सब बाह्य पदार्थ ही हैं। यदि ज्ञानमें जो पदार्थका दीखना है वह भ्रमरूप माना जाय तो भी भ्रम माननेवालेको हम चिरकाल जीता रहो ऐसा आशीर्वाद देते हैं। क्योंकि; भ्रम माननेसे भी बाह्य पदार्थकी सिद्धि होती है। यदि किसीने एक समय किसी पदार्थको यथार्थ देखा हो और पीछे इंद्रियमें रोगादि उत्पन्न हो जाय अथवा पदार्थ अत्यंत दूर पड़ा हो अथवा उजाला न हो इत्यादि ज्ञानके किसी कारणकी कमी होनेसे किसी दूसरे पदार्थको पहिले देखा हुआ पदार्थ मान लिया हो तो उस ज्ञानको भ्रम कहते हैं। जैसे जिसने पहिले सच्ची चांदी देखी हो वह पीछे किसी कारणवश शीपको चांदी समझने लगे तो उसका वह ज्ञान भ्रमरूप है। परंतु यदि प्रत्येक सच्चे पदार्थके ज्ञानको भी भ्रम मानलिया जाय तो यह ज्ञान सच्चा है और यह झूठा है ऐसा निश्चय ही कैसे

हो सकैगा ? और यदि बाह्य पदार्थ कुछ माना ही नहीं जाय तो यह वचन भी सत्य हो जाय कि "जिसने मनके संकल्पमात्र लड्डू खाये हैं और जिसने सचे लड्डू खाये हैं उन दोनोंका पेट भरना और बल बढना इत्यादिक फल समान हैं" ।

न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादिना बाधां विदधते, परमाणुरूपस्य स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात् । यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहितं प्रमाणाऽभावादिति तदसत् । तत्कार्याणां घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथंचित्प्रत्यक्षत्वं योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम् । अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात् । अनुमानादपि तत्सिद्धिः । यथा—सन्ति परमाणवः स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथाऽनुपपत्तेरित्यन्तर्व्याप्तिः । न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात्, आत्माकाशादेरपुद्गलत्वकक्षीकाराच्च । यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तथाकालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात्प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमविरुद्धैव ।

जो बाह्य पदार्थविषयके दोष बौद्ध मतमें दिखाये हैं वे दोष स्याद्वादियोंके मतमें भी संभव हो सकते हों ऐसा नहीं है । क्योंकि, स्याद्वादियोंने तो परमाणु तथा स्थूल अवयवी ऐसे दोनो प्रकारके बाह्य पदार्थ माने हैं । और जो परमाणुरूप बाह्य पदार्थके खडनमें बौद्धने ऐसा कहा था कि "परमाणुको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण न होनेसे परमाणुरूप कोई पदार्थ नहीं है" सो यह कहना असत्य है । परमाणुओंसे बने हुए घडा महल मकानादि अनेक स्थूल पदार्थोंके दीखनेसे कारणरूप परमाणुका भी एक प्रकारसे दीखना सिद्ध है । और योगीजन तो परमाणुको भी साक्षात् प्रत्यक्ष देखते हैं । हम लोगोंको जो परमाणुका साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं है सो तो परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होनेसे नहीं है । अर्थात्–हम लोगोंको यद्यपि सूक्ष्म होनेसे परमाणुका साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं है तो भी जो परमाणुओंके स्थूलकार्योंका प्रत्यक्ष होता है वह परमाणुओंका ही प्रत्यक्ष है । क्योंकि, जिसका प्रत्यक्ष होता है ऐसा स्थूल अवयवी क्या परमाणुरूप अवयवोंके विना ही उत्पन्न हो जाता है? यदि विना अवयवोंके नहीं उत्पन्न होता है तो जब वह पूर्ण अवयवी दीखता है तब उसके अवयव दीखनेसे कैसे बच सकते हैं? यदि अवयव न दीखते हों तो अवयवोंका समूहरूप अवयवी भी दीख न सकैगा । जिसके अवयव तो भिन्न भिन्न रहनेपर न भी दीख सकें परंतु उनका समूह होकर जब स्थूल एक पिंडरूप हो जाता है तब उसीको स्थूल अवयवी कहते हैं । अवयवी कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । अनुमानसे भी परमाणु सिद्ध होता है । सोई दिखाते हैं । जबतक छोटे छोटे अवयवरूप पदार्थ न हों तबतक बड़े बड़े पदार्थ

नही वन सकते हैं। और बड़े बड़े पदार्थ हैं अवश्य इसलिये जिनके विना बड़े बड़े नहीं वन सकते हैं ऐसे छोटे छोटे पदार्थ भी अवश्य हैं। यह अनुमान परमाणुको सिद्ध करता है। हमको (जैनोंको) यह भी आग्रह नही है कि स्थूल अवयवी (कार्य) की उत्पत्ति सदा परमाणुओंसे ही होती है। क्योंकि; स्थूल जो सूतका ढेर है उससे भी स्थूल पर्यायरूप वस्त्र बनता है। और पुद्गलसे भिन्न आत्मा तथा आकाशादिक स्थूल ही हैं तो भी उनकी उत्पत्ति किसी परमाणुसमूहसे नही है किन्तु वे अनादिकालके अकृत्रिम हैं इसलिये यह कहना भी ठीक नही है कि पुद्गल तथा अपुद्गल सभी स्थूल पदार्थ किसी न किसी परमाणुपुंजसे ही उत्पन्न होते हैं। किंतु "स्थूलोंकी उत्पत्ति परमाणुओंसे ही होतीं है" इस वाक्यका यही अभिप्राय है कि पुद्गलमयी कुछ स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति तो साक्षात् परमाणुओंसे ही होती है और कुछकी परंपरा परमाणुओंसे होती है। अर्थात्—साक्षात् हो अथवा परंपरा हो परंतु सबकी उत्पत्ति होती परमाणुओंसे ही है। यदि परमाणु न हों तो किसी भी पुद्गलमयी कार्यकी निर्मूल उत्पत्ति न हो सके। और जहांपर (पौद्गलिक अवयवियोंमें) साक्षात् परमाणुओंसे ही उत्पत्ति होती है वहांपर उन परमाणुओंमें उस अवयवीके समय, द्रव्य, क्षेत्रादिकी अपेक्षासे उत्पन्न हुई एक अपूर्व क्रियाके द्वारा इस प्रकारका विलक्षण संयोग उपजता है कि जिससे एक अवयवीरूप पदार्थ बन जाता है।

यदपि किं चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि तत्रापि कथंचिद्विरोध्यनेकावयवाऽविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते। तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथंचिदुपेयत एव; तावदवयवात्मकस्य तस्यापि कथंचिदनेकरूपत्वात्। यच्चोपन्यस्तमपि चासौ तेषु वर्तमानः कात्स्र्न्येनैकदेशेन वा वर्तेतेत्यादि तत्रापि विकल्पद्वयाऽनभ्युपगम एवोत्तरम्; अविष्वग्भावेनाऽवयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात्।

और अवयवी क्या अपने अवयवोंमेंसे किसी एक अवयवके आश्रय रहता है अथवा सभी अवयवोंके आश्रय रहता है इत्यादि जो बौद्धने पूछा उसका भी यही उत्तर है कि अनेक अवयवोंमें जो परस्पर विरोध है वह कथंचित् ही है; सर्वथा नही है इसलिये प्रत्येक अवयवी अपने अनेक अवयवोंमें ही अभेदरूपसे रहता है। परस्पर विरोधी अवयवोंमें जो एक अवयवी रहता है वह भी कारणरूप अवयवोंमें परस्पर विरोध होनेसे अनेकरूप होना चाहिये ऐसी जो बौद्धने शंका की है उसका भी यही उत्तर है कि हम अवयवोंके परस्परविरोधसे अवयवीमें भी कथंचित् अनेकपना मानते ही हैं। क्योंकि; अवयव स्वयं अनेक

हैं और अवयवोंसे अवयवी सर्वथा भिन्न नहीं है इस अपेक्षासे यदि अवयवी विचारा जाय तो अवयवीमें भी कथंचित् अनेकपना सिद्ध है। और जो बौद्धने यह शंका की कि अवयवी जिन अवयवोंमें रहता है उनमेंसे प्रत्येकमें सर्वांगरूप वसता है अथवा एक एक अवयवमें एक एक अंशरूपसे वसता है सो इसका उत्तर यही है कि उसमें ऐसे दो विकल्प हम नहीं मानते हैं। क्योंकि, अपने अवयवोंमें वह ऐसे एक प्रकारके अभेदरूपसे वसता है कि जबतक अवयवी बना रहै तबतक अपने अवयवोंसे वह भिन्न नहीं होसकता है। अविष्वग्भावसंबंध भी ऐसे ही संबन्धको कहते हैं। अर्थात् गुणगुणी, पर्यायपर्यायी, अवयवअवयवीका परस्पर जो ऐसा संबंध होता है कि जबतक आधाररूप वस्तु (पर्याय या द्रव्य) नष्ट न हो तबतक गुणगुणी, पर्याय पर्यायी तथा अवयवअवयवी परस्परमें छूट नहीं सकते हैं उसीको अविष्वग्भावसंबंध कहते हैं।

किं च यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते नीलमेतदिति। विज्ञानाकारोऽयमिति चेन्न ज्ञानाद्बहिर्भूतस्य संवेदनात्। ज्ञानाकारत्वे त्वहं नीलमिति प्रतीतिः स्यान्न त्विदं नीलमिति। ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात्कस्यचिदहमिति प्रतिभासः कस्यचिन्नीलमेतदिति चेन्न; नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थितत्वाभावात्। तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदेवाऽपरेण त्वमिति प्रतीयते। नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः; सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात्। भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते तथापि तेन न व्यभिचारस्तस्य भ्रान्तत्वात्। स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभासत इति चेन्ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति? कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः? प्रतियोगिशब्दो ह्ययं परमपेक्ष्यमाण एव प्रवर्तते।

और यदि बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो ऐसा निश्चयरूप ज्ञान किसका होता है कि यह नील पदार्थ है? यदि कहो कि यह नील है ऐसा आकार विज्ञानका ही होता है तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा आकार तो अपने अंतःकरणके बाहिर जुदा पदार्थरूप दीखता है इसलिये विज्ञानरूप कैसा? यदि विज्ञानाकार ही होता तो मैं नील पदार्थ हूं ऐसी प्रतीति होनी चाहिये थी परंतु ऐसी प्रतीति तो होती ही नहीं है। यदि कहो कि ज्ञानोंके प्रत्येक आकार जुदे जुदे होते हैं इसलिये किसी ज्ञानमें तो ऐसा प्रतिभासता है कि मैं हूं और किसी ज्ञानमें ऐसा प्रतिभासता है कि यह नील है सो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि; जिस प्रकार किसी एक नीलादिक बाह्य वस्तुका ज्ञान सबोंको समान ही होता है कि यह नियमपूर्वक नील है उस प्रकार

मैं हूं ऐसा ज्ञान किसी एक विषयमें सबोंको समान नहीं होता है। एक जीव अपनेको मैं हूं ऐसा समझता है परंतु दूसरा उसीको मैं हूं ऐसा नहीं समझता है किंतु तू है ऐसा समझता है। परंतु नीलादिक किसी एक बाह्य वस्तुका ज्ञान सबको एकसा ही होता है। इसलिये बाह्य वस्तुका ज्ञान अवश्य है। अर्थात् नीलादिक बाह्य वस्तुमें यदि एक मनुष्यको यह ज्ञान हो कि यह सामनेकी वस्तु नीलरूपी है तो और भी दूसरे लोगोंको उसका ऐसा ही ज्ञान होगा कि यह नीलरूपी है। कदाचित् किसीको रोगादिके वश नीले पदार्थका पीतरूप भी ज्ञान हो तो भी वह ज्ञान अंतमें भ्रमरूप सिद्ध हो जाता है परंतु निर्विकार मनुष्योंको सदा एक विषयमें सभीको एकसा ही ज्ञान होता है। इसलिये बाह्य पदार्थ अवश्य मानना चाहिये। कदाचित् कहो कि जब जीव स्वयं अपने आपका अनुभव करता है तब उसको मैं हूं ऐसा भासता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; ऐसा कहना तो तभी शोभित हो सकता है जब अपने सिवाय औरका भी ज्ञान माना हो। यदि ऐसा माना ही नही है; किंतु जो कुछ है वह आप ही है ऐसा जब बौद्धोका मंतव्य है तो "अपने आपको ही अनुभवता है" ऐसा बोलना किसप्रकार ठीक माना जाय? 'अपने आपको' ऐसा शब्द प्रतियोगीशब्द कहा जाता है। प्रतियोगी शब्द उसीको कहते हैं जिसके बोलनेपर उससे उलटे भिन्न पदार्थका भी प्रतिबोध हो जाय। 'अपने आप' ऐसा शब्द भी तभी बोला जा सकता है जब अपने आपके सिवाय अन्य भी पदार्थ माने जाय। क्योंकि 'अपने आप' शब्दका अर्थ यही हो सकता है कि दूसरा नही किंतु अपने आप। इसलिये जहां अपने आपके सिवाय दूसरे पदार्थ माने ही नहीं है वहां 'अपने आप' ऐसा बोलना ठीक नहीं है।

स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत् हन्त प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न वास्तवः? भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेन्ननु कुत एतत्? अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत्किं तदनुमानमिति पृच्छामः? यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत्ततो न भिद्यते। यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः। नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थः। इति व्यापकाऽनुपलब्धिः। प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्याऽनुपलब्धिर्भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात्। इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेन्न। संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात्। ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्। तत्परसंवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति। स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम्। तदेवमनयोर्युगपद्ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति। अभेदश्च नास्ति। इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धाऽनैकान्तिकत्वम्।

कदाचित् कहो कि हम जो 'अपने आप' ऐसा भेदरूप शब्द बोलते हैं वह भी भ्रमज्ञानके वश बोलते हैं तो हम पूछते हैं कि पदार्थ परस्पर भिन्नरूप जब प्रत्यक्षसे दीखते हैं तो परस्परका भेद झूंठा क्यों है? यदि कहो कि भेद दिखानेवाला प्रत्यक्ष भ्रमात्मक है क्योंकि; अनुमानसे अभेद सिद्ध होता है तो हम पूछते हैं कि वह कोनसा अनुमान है? इस प्रश्नके उत्तरमें बौद्ध अभेद साधनेवाले अनुमानको दिखाता है कि—जो नियमसे सदा जिसके साथ ही मिलता है वह उससे भिन्न नहीं कहा जासकता है। जिस प्रकार असली आकाशगामी चंद्रमाके होते हुए ही जलमें पड़ा हुआ चंद्रमाका प्रतिबिंब दीखता है, जब असली चंद्रमा नहीं होता है तब जलमें उसका प्रतिबिंब भी नहीं दीखता है इसलिये असली चंद्रमाके अतिरिक्त वह प्रतिबिंब कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इसी प्रकार जहां जिस समय जैसा पदार्थ दीखता है वहां उस समय ज्ञान भी वैसा ही प्रतीत होता है इसलिये पदार्थ भी ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह अनुमान व्यापकानुपलब्धिनामक है। भावार्थ—जहां साध्यसे विपरीत धर्मके साथ जो कोई धर्म व्याप्त होसके ऐसे धर्मकी जो उपलब्धि नहीं होना है उसीका नाम व्यापकानुपलब्धि है। जैसे यहां पर ज्ञान तथा विषयरूप पदार्थका अभेद साध्य है। ज्ञान तथा पदार्थका जो भेद मानना है वह साध्यसे विपरीत धर्म है। उस विपरीत धर्मकी सिद्धि तभी होसकती है जब अभेदका साधक 'ज्ञान तथा पदार्थका साथ साथ मिलना' ऐसा हेतु जो बौद्धने कहा है उससे विपरीत 'ज्ञान तथा पदार्थका साथ साथ न मिलना' ऐसा हेतु मिलसके। परंतु ऐसा हेतु मिलता ही नहीं है। क्योंकि; जुदे जुदे रहनेवाले नीले पीले आदिक धर्मोंका एकसाथ मिलना संभव नहीं है। कभी नीलरूप ही मिलता है और कभी पीतादिरूप ही। अब यहांपर सिद्धान्ती कहते हैं कि इस अनुमानसे बौद्ध जो अभेद सिद्ध करता है वह सिद्ध करना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि; इस अनुमानका हेतु सच्चा हेतु नहीं है किंतु संदिग्धानैकान्तिकनामक हेत्वाभास है। भावार्थ—संदिग्धानैकान्तिकनामक हेत्वाभास उस हेतुको कहते हैं जिसका रहना साध्यसे विरुद्ध धर्मके साथ भी संभव होसके। सो ही दिखाते हैं।—ज्ञान निजका तथा अन्य पदार्थोंका निश्चय कराता है सो अन्यका निश्चय कराना जो ज्ञानमें धर्म है उस धर्मके आश्रयसे तो ज्ञान अन्य बाह्य नीलादिकोंका निश्चय कराता है और जो आपमें निजका निश्चय कराने रूप धर्म है उसकी अपेक्षासे उस नीलादि ज्ञानरूप परिणत हुई बुद्धिको अपने आपेमें निश्चय कराता है। बुद्धि नीलादिज्ञानमय परिणत हुई तभी कही जाती है जब यह नीलादि है इस प्रकार बाह्य पदार्थका प्रथम ही ज्ञान हुआ हो। नीलादिज्ञानमय परिणत हुई बुद्धिको जो

ज्ञान स्वसंवेदनधर्म द्वारा जताता है उसका ऐसा उदाहरण कहा है कि नीलादि ज्ञान जिसको हुआ है वह मै (ज्ञान) ही हूं। इस प्रकार जो प्रथम ही बाह्य पदार्थको जतानेवाला 'यह नीलादिक बाह्य पदार्थ है' ऐसा प्रथम ज्ञान तथा 'नीलादिकका ज्ञान जिसको हुआ है वह मैं ही हूं' ऐसा दूसरा ज्ञान एक साथ हीं चेतनामें परिणमते हैं; इनकी उत्पत्तिमें कालका अंतर नहीं है। इसलिये एकसाथ ही मिलना जिनका होता है वे परस्पर भिन्न नही होते ऐसा जो बौद्धने कहा था वह असत्य प्रतीत होता है। क्योंकि; ऊपर दिखाये हुए उदाहरणमें दोनो ज्ञानोका ग्रहण होना तो साथ ही है परंतु वे दोनो ज्ञान एक नही हैं किंतु जुदे जुदे हैं। इस प्रकार अभेद सिद्ध करनेमें बौद्धने जो 'एक साथ होना' ऐसा हेतु कहा था वह हेतु अभेदसे विपरीत भेदमें भी रहता हुआ प्रतीत होनेसे संदेहसहित है। और इसीलिये इसको संदिग्धानैकान्तिक कहा है।

असिद्धश्च सहोपलम्भनियमो; नीलमेतदिति बहिर्मुखतयाऽर्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याऽननुभवात्। इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम्? अपि च प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाऽबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभो, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमित्यन्योन्याश्रयदोषोपि दुर्निवारः। अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा प्रतीतिः कुतः? न हि तत्र विवक्षितदेशेऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः। वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेन्न; तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात्। सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवस्तद्देशा च तत्पूर्विका वासना। बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किंकृतो देशनियमः? अर्थास्ति तावदारोपनियमः। न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते। बाह्यश्चार्थो नास्ति। तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यदनन्यद्वा? अनन्यच्चेद्बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः? अन्यच्चेदर्थे कः प्रद्वेषो? येन सर्वलोकप्रतीतिरपन्हूयते। तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः।

'ज्ञान तथा पदार्थकी एक साथ उपलब्धि होना (मिलना)' यह हेतु असिद्ध भी है। क्योंकि; जब यह नीलादि है ऐसा बाह्य पदार्थ भासता है तभी नीलादिकका जो अंतरंगमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव नही होता है। इन दोनों ज्ञानोकी उत्पत्तिमें कालका अंतर पड़ता है। इसलिये ज्ञान और पदार्थमें परस्परका भेद जो प्रत्यक्षसे सिद्ध है उसको यह ऊपर दिखाया हुआ बौद्धका अनुमान भ्रमात्मक नही ठहरा सकता है। और भी दूसरा दोष यह है कि भेददर्शक जो प्रत्यक्ष है वह जब भ्रमात्मक

सिद्ध हो तब अभेद सिद्ध करना सचा होनेसे अभेद साधक ऊपर कहा हुआ अनुमान सत्य कहा जासके और जब अभेदसाधक यह अनुमान सत्य सिद्ध हो तब भेद जतानेवाला प्रत्यक्ष प्रमाणरूप कहा जासके । इस प्रकार अनुमानका सचापना तभी सिद्ध हो सकता है जब यह प्रत्यक्ष झूठा होजाय और जब अनुमान सचा सिद्ध होजाय तब यह प्रत्यक्ष झूठा सिद्ध होसके। ऐसे दोषको अन्योन्याश्रय दोष[1] कहते हैं। यह दोष दुर्निवार है। क्योंकि, जो दोनोंमेंसे कोई भी एक दूसरेके विना सिद्ध नहीं होसकता है वह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होसकता है। और भी तीसरा दोष यह है कि यदि बाह्य पदार्थ कुछ है नहीं तो स्थानकी ऐसी निश्चय प्रतीति क्यों होती है कि अमुक वस्तु अमुक स्थानपर ही है अन्यत्र नहीं है। यदि बाह्य वस्तु है ही नहीं तो किसी खास स्थानका ऐसा संकल्पमात्र भी नहीं होना चाहिये कि अमुक वस्तु अमुक स्थानपर ही है अन्यत्र नहीं है। अनादि कालसे प्रवृत्त हुई झूठी वासनाओंकी प्रवृत्तिसे किसी खास स्थानमें संकल्पमात्रका होजाना मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; ज्ञानके अतिरिक्त वासना भी कोई सची भिन्न वस्तु नहीं है इसलिये वासनासे भी स्थानका संकल्प निश्चय करना असंभव है। यदि ज्ञानके अतिरिक्त यथार्थमें कोई बाह्य पदार्थ हो तो जहांपर वह पदार्थ होगा वहां ही उस पदार्थकी वासना होना भी माना जासकता है। क्योंकि, वासना उत्पन्न करनेका हेतु वहां विद्यमान है। परंतु जब ऐसा बाह्य पदार्थ ही कोई नहीं है जिसके कारण वासना उत्पन्न होसकती है तो वासना भी उस स्थानपर है जिस स्थानपर पदार्थ माना जाता है ऐसा निश्चय किस प्रकार हो? । अब यहांपर बौद्ध कहता है कि अमुक वस्तु अमुक स्थानपर ही है अन्यत्र नहीं है ऐसा संकल्प होनेका भी कोई कारण अवश्य है। कारणोंमें जबतक अंतर न हो तबतक कार्योंमें परस्पर भेद नहीं होसकता है। और स्थानके नियम करनेका कोई बाह्य कारण तो है ही नहीं यह बात हम प्रथम ही कहचुके हैं इसलिये इसका कारण कोई दूसरा ही होना चाहिये। वह दूसरा कारण इस जीवके साथ लगी हुई नाना प्रकारकी वासना ही है। परंतु यह बौद्धका कहना

---

1 जो दो पदार्थोंकी सिद्धि परस्पर एक दूसरेके आश्रित हो उसको अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। इसका उदाहरण जैसे—एक ताला ऐसा होता है जो विना तालीके बंद तो होजाता है परंतु विना तालीके खुल नहीं सकता है। ऐसे तालेकी ताली तो कदाचित् भूलसे मकानके भीतर ही रहगई हो और वह ताला मकानके बाहरसे लगादिया हो तो फिर जब ताली मिलजाय तब ताला खुले और प्रथम ताला खुले तो ताली मिलसके। ऐसे प्रसंगपर एक कार्य दूसरा कार्य हो जानेके आश्रित है इसलिये न तो ताला ही खुल सकता है और न ताली ही आसकती है।

सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि; वे नाना प्रकारकी वासना ज्ञानके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु हैं अथवा ज्ञानमय ही हैं ? यदि ज्ञानसे अभिन्न ज्ञानमय ही हैं तो ज्ञान तो एक प्रकार ही बौद्धोंने माना है फिर वासना ज्ञानसे अभिन्न होकर भी नाना प्रकारकी होजानेमें क्या कारण है? यदि ज्ञान के अतिरिक्त वासना कोई अन्य पदार्थ है तो और भी बाह्य पदार्थ जो प्रत्यक्ष दीखतेहैं उनके माननेमें क्या बुराई है ? जिससे कि सर्व जनोंकी प्रतीतिको मिथ्या ठहराते हो। इस प्रकार ज्ञान और बाह्य पदार्थोंमें परस्पर भेद सिद्ध हुआ।

तथा च प्रयोगः। विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः अर्थस्य च बहिः; ज्ञानस्याऽपरकालेऽर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात्; ज्ञानस्य आत्मनः सकाशादर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः; ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वादर्थस्य च जडरूपत्वादिति। अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि संगतिमङ्गति। न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यमिति। अत एवाह स्तुतिकारः "न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्" इति। सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्। तस्या अद्वैतम्। द्वयो[र्भा]वो द्विता। द्वितैव द्वैतं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽणि। न द्वैतमद्वैतं बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वम्। संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम्यते इत्यर्थः।

अनुमानसे भी इसको इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि विवादापन्न जो [नी]लादिक पदार्थ हैं वे अवश्य ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु हैं। क्योंकि; ज्ञान तथा उन नीलादि पदार्थोंमें परस्पर विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं। वे विरुद्ध धर्म कोनसे हैं? ज्ञान तो शरीरके भीतर ही रहता है और ज्ञेय पदार्थ शरीरके बाहिर भी रहते हैं; ज्ञेय पदार्थ तो ज्ञानसे पहिले समय भी मिलता है परंतु ज्ञान केवल ज्ञेय पदार्थ उत्पन्न होचुकनेपर ही मिलता है; ज्ञान तो आत्मासे उत्पन्न होता है तथा ज्ञेय पदार्थ अपने अपने भिन्न भिन्न कारणोंसे उपजते हैं; इसी प्रकार ज्ञान तो सर्व पदार्थोंको प्रकाशनेवाला है तथा ज्ञेय पदार्थ स्वयं जड़स्वरूप है इत्यादि ज्ञान तथा ज्ञेय पदार्थोंमें परस्पर बहुतसे विरोधी धर्म है। इसलिये यदि ज्ञानके अतिरिक्त कुछ भी बाह्य पदार्थ न माने जांयगे तो बाहिरके पदार्थोंकी जो स्वयं अपने अपने अनुभवसे प्रतीति होती है वह किसी प्रकार सिद्ध न होसकैगी। और प्रत्यक्ष दीखते हुए बाह्य पदार्थोंका "बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं" ऐसा विनायुक्ति निषेध करना भी सहज नहीं है। इसीलिये स्तुतिकर्ता **श्रीहेमचन्द्राचार्य** कहते हैं कि "न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्"। अर्थात्–केवल ज्ञानाद्वैत यदि माना जाय तो बाह्य

पदार्थोंका दीखना असंभव है। 'सं' अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा 'वित्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुस्वभाव जानाजाय उसको संवित् कहते हैं। और जहांपर अपने आपेको जाननेका प्रकरण हो उस स्थानपर केवल जाननेमात्रका नाम संवित् अथवा ज्ञान है। ऐसी संवित्का अद्वैत क्या सो कहते हैं। दो पदार्थोंके रहनेका नाम द्विता है। द्विताको ही द्वैत भी कहते हैं। क्योंकि, द्विता शब्दका अर्थ द्वित्व है। यहांपर द्विताशब्दका जो कुछ अर्थ है उतने ही अर्थमात्रकी विवक्षामें द्विताशब्दके अनंतर व्याकरणके नियमानुसार "प्रज्ञादिभ्य" सूत्रकर 'अण्' प्रत्यय हो जाता है। इस अण् प्रत्ययके होनेसे ही द्विताशब्दका 'द्वैत' बनजाता है। जो द्वैत अर्थात् परस्पर भेदरूप न हो उसका नाम अद्वैत है। बाह्य पदार्थोंको न मानकर सबको एक ज्ञानमय ही माननेका नाम अद्वैत है। पहिले कहचुके हैं कि संवित् नाम ज्ञानका है। इसलिये संवित् ही केवल सत्य है, अन्य कोई भी बाह्य पदार्थ यथार्थमें नहीं है ऐसे ही विचारका नाम संविदद्वैत है। *भावार्थ—जो कुछ दीखता है वह सर्व ज्ञान ही है; ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ भी* बाह्य पदार्थ सत्ता नहीं है ऐसे विचारको संविदद्वैत कहते हैं।

तस्य पन्था मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन्। ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत्। किमित्याह "नार्थसंवित्"। येयं बहिर्मुखतयाऽर्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः। एतच्चानन्तरमेव भावितम्। एवं च स्थिते सति किमित्याह " विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् " इति। सुगतो मायापुत्रस्तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातमिन्द्रजालमिवेन्द्रजालं, मतिव्यामोहविधायित्वात्। सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम्। पूर्वं विलून पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम्। यथा किंचित्तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति एवं तत्कल्पितमिन्द्रजालं तृणप्राय धारालयुक्तिशस्त्रिकया छिन्नं सद्विशीर्यत इति।

संविदद्वैतरूप विचारके अनुसार प्रवर्तनेको संविदद्वैतपथ कहते हैं। संविदद्वैतपथ अर्थात् ज्ञानाद्वैतमत। इस संविदद्वैतपथके माननेमें कोनसा दोष आता है? पदार्थोंका ज्ञान नहीं होसकता है। अर्थात् जो यह बाह्य पदार्थोंकी प्रतीति साक्षात् अनुभव की जाती है वह प्रतीति केवल ज्ञानाद्वैत माननेसे नहीं उत्पन्न होसकैगी। इसका विचार भी अभी करचुके हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि बाह्य पदार्थ भी अवश्य कोई सत्य पदार्थ हैं और जो बौद्ध लोग बाह्य पदार्थोंको नहीं मानते हैं वह मानना झूठा है। यह सिद्ध होनेसे क्या हुआ? सुगत (बुद्ध) का बनाया हुआ इंद्रजाल फट गया। सुगत अर्थात् मायापुत्र। समस्त पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट

होते है; किसी प्रकार भी स्थिर नहीं हैं इत्यादि जो सुगतद्वारा झूठी कल्पना कीगई है वह एक झूठे इंद्रजालके समान है। क्योंकि; वाजीगरोका बनाया हुआ अनेक प्रकारका इंद्रजाल अर्थात् मायामयी झूठा तमासा जिस प्रकार थोड़े समयतक तो भोले मनुष्योंकी बुद्धिको मोहित करता है परंतु अंतमें शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो जाता है उसी प्रकार बौद्धका रचाहुआ यह मायामयी झूठा तमासा भी भोले मनुष्योंके चित्तको कुछ समयपर्यंत तो मोहित करता है परंतु विचार करनेपर शीघ्र ही विघट जाता है। इसीलिये इसका नाम सुगतका इन्द्रजाल है। विचार करनेपर प्रथम तो इस इंद्रजालके टुकडे टुकड़े हो जाते है और पीछेसे सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार फूंसका बनाहुआ स्तम्भ थोड़ासा छेदनेसे ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह सुगतका कल्पित किया हुआ इन्द्रजाल तृणोके समान निस्सार होनेके कारण तीक्ष्ण युक्तिरूप छुरीसे थोड़ासा छेदनेपर ही विघट जाता है।

अथ वा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुतोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विधं जनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलाऽभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाऽद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणाऽनभिज्ञं लोकं व्यामोहयमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव सेवत इति। अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः। सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगत इत्युशन्ति। ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम्। इति काव्यार्थः।

अथवा जिस प्रकार चतुर वाजीगरने जो इन्द्रजाल वनाया हो वह यद्यपि झूठी वस्तुओंसे भरा हुआ है तो भी वह अद्भुत वस्तुओंके दिखानेसे थोड़े समयतक भोले मनुष्योंके मनको मोहित करता है परंतु पीछे इंद्रधनुषके समान विलीन होता हुआ दीखता है उसी प्रकार जिसमें प्रमाण तथा प्रमाणके फलको अभिन्न कहा है एवं क्षण क्षणमें सबका नाश बतलाया है तथा ज्ञानके अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ नहीं है इस प्रकारका उपदेश किया है ऐसा जो सुगतका वनाया हुआ इन्द्रजाल वह प्रमाणके स्वरूपको न समझनेवाले भोले मनुष्योंके चित्तको मोहित करता हुआ भी युक्ति पूर्वक विचारनेपर विखर जाता है। इस श्लोकमें सुगत शब्द केवल हसी करनेके अभिप्रायसे लिखा गया है। क्योंकि; गत नाम ज्ञान। सु अर्थात् सच्चा जिसका ज्ञान हो वह सुगत है ऐसा सुगत शब्दका अर्थ सुगतके शिष्योने किया है। परंतु धन्य है उसके सुज्ञानको जिसने इस प्रकार असंगत युक्तिशून्य उपदेश किया। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयास्तत्कक्षीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकाराऽनङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थाऽसिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह।

प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय तथा प्रमाता ये चारों पदार्थसिद्धि करनेके कारण हैं इसलिये इनके द्वारा ही व्यवहार प्रवर्तता है। कुछ भी न माननेवाले शून्यवादी अर्थात् एक प्रकारके बौद्ध इन चारोंका निषेध करते हैं। परंतु वे शून्यताका मंडन भी किसी अनुमानादि प्रमाण द्वारा ही करते होंगे। यह अनुमानादि प्रमाण यदि सचा है तो सर्वथा शून्यता सिद्ध होना असंभव है, और यदि यह अनुमानादि प्रमाण भी सर्वथा झूठ है तो झूठे अनुमानादिसे कुछ सिद्ध हो नही सकता है इसलिये भी शून्यताकी सिद्धि होना असंभव है। इस प्रकार अब शून्यवादीकी हसी करते हुए आचार्य कहते हैं।—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

मूलार्थ—अन्य वादी तो प्रमाणादिको मानते हैं इसलिये अपने इष्ट सिद्धान्तोंको सिद्ध करसकते हैं परंतु यह शून्यवादी उन परवादियोंके समान अपने शून्यवादको सिद्ध नहीं करसकता है। क्योंकि; जिससे सिद्धि होसकती है ऐसे प्रमाणादिको यह झूठा मानता है। और यदि यह शून्यवादी प्रमाणका आश्रय लेकर अपने सिद्धांतको साधे तो इसका शून्यतामय सिद्धान्त कोप करने लगे। क्योंकि; प्रमाणका आश्रय लेनेसे प्रमाण पदार्थ सिद्ध होजाता है इसलिये शून्यता नहीं रहसकती है। हे भगवन्! आपके मतके साथ ईर्षा रखकर अपने नये नये मतोंका निरूपण करनेवालोंने क्या अच्छा कहा है!!! अर्थात् ऐसा निरूपण किया है कि जिसका सिद्ध होना ही कठिन है।

व्याख्या–शून्यः शून्यवादी प्रमाण प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पद प्रतिष्ठां नाश्नुवीत न प्राप्नुयात्। किंवत्? परवत् इतरप्रामाणिकवत्। वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः। यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते नैवं नायम्; अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्याऽपारमार्थिकत्वात् "सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहि: सद-

कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति? प्रेक्षा-
सत्त्वमपेक्षते" इत्यादिवचनात्। अप्रमाणकश्च शून्यवादाभ्युपगमः
कुप्येदित्यादि। अथ चेत्स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते तत्रायमुपालम्भः—कुप्येदित्यादि।
वस्त्वव्याहतिप्रसङ्गात्। अथ चेत्स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते कृतान्तः तत्सिद्धान्तः कुप्ये-
प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्स्पृशते आश्रयमाणाय प्रकरणादस्मै शून्यवादिने कृतान्तः तत्सिद्धान्तः कुप्ये-
त्कोपं कुर्यात्। सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः। यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्व-
मपहरति एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादि-
त्वमपहरति।

व्याख्यार्थ—शून्यवादी प्रत्यक्षादि प्रमाणका आश्रय विना लिये अपने माने हुए शून्यवादकी सिद्धि करनेकी प्रशंसाको नही
पासकता है। किस प्रकार? जिस प्रकार अन्यवादी अपने सिद्धांतोंका मंडन कर प्रशंसा पाते हैं। यह दृष्टान्त प्रतिष्ठा
न पानेवाले शून्यवादीकी अपेक्षा उलटा है। अर्थात्—अन्यवादी अपने सिद्धांतोको प्रमाणद्वारा सिद्धकर जैसी प्रशंसा पासकते है
तैसी प्रशंसा यह शून्यवादी जबतक प्रमाणका आश्रय नही लेगा तबतक कभी नही पासकता है। क्योंकि; इसके मतमें प्रमाण
प्रमेयादिकका व्यवहार मानना ही जब झूठा बताया है तो शून्यवादकी सिद्धि कैसे होसकती है? शून्यवादियोंके सिद्धान्तमें
ऐसा कहा भी है कि "केवल बुद्धिमें यह धर्म है, यह धर्मी है इत्यादि कल्पना करनेमात्रसे ही यह संपूर्ण अनुमान अनुमेया-
दिका व्यवहार चलता है; किंतु किसी बाह्य पदार्थके होने न होनेकी अपेक्षा नही करता है"। इस कथनके अनुसार जिस शून्य-
वादकी सचाई किसी प्रमाणसे निश्चित ही नही होसकती है उस शून्यवादका आदर बुद्धिमानोंके पास किस प्रकार होसकता है?
कदाचित् विना परीक्षा किये ही योग्य अयोग्यका विचार न करता हुआ जो कोई उसका ग्रहण करै तो वह मूर्ख समझना चाहिये।
यदि कदाचित् शून्यवादी अपना शून्यवाद सिद्ध करनेके अभिप्रायसे किसी प्रमाणको स्वीकार करै तो उसके ऊपर आगे कहा
हुआ दोष आपड़ता है। वह दोष यह है कि प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणका आश्रय लेते हुए शून्यवादीके ऊपर उसीका माना हुआ
सिद्धान्त कोप करने लगैगा। अर्थात् शून्यवादपनेमें बाधा आजायगी। जिस प्रकार सेवकके विरुद्ध आचरणसे कुपित हुआ राजा
सेवकका सर्वस्व हरलेता है उसी प्रकार शून्यवादरूपी सिद्धान्त शून्यवादके विरुद्ध प्रमाणादि आचरणको स्वीकार करते हुए
शून्यवादीको देखकर उस शून्यवादीका सर्वस्व हरलेगा। शून्यवादका भलेप्रकार निरूपण करना ही शून्यवादीका सर्वस्व है।

किं च स्वागमोपदेशेनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः ? प्रमाणाङ्गीकरणात् । किं च प्रमाण प्रमेयं विना न भवतीति प्रमाणाऽनङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता न पुनः शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बरं; शून्यवादस्यापि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशिधातु कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः ।—यद्यसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत्प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते तदा तस्मै कृतान्तो यमराजः कुप्येत् । तत्कोपो हि मरणफलः । ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमसौ प्रमाणवशिग्रहस्थानापन्नत्वान्मृत एवेति ।

और भी एक दोष यह है कि शून्यवादी जो शून्यवादका उपदेश करता है वह अपने आगमके कथनानुसार ही करता है इसलिये उसने अपने आगममें तो सत्यता सीकार कर ही ली, तो फिर सर्वथा शून्यपना किस प्रकार सिद्ध होसकता है ? क्योंकि, एक आगमकी प्रमाणता तो वह स्वयं सीकार करचुका । और भी एक दूसरा दोष यह है कि प्रमाणकी सिद्धि प्रमेयके विना नही होसकती है इसलिये यदि शून्यवादी प्रमाणको नहीं माने तो प्रमेय पदार्थ भी सिद्ध नही हो सकते हैं । और यदि प्रमेय कुछ हैं ही नहीं तो शून्यवादकी सिद्धि करनेकेलिये अधिक प्रलाप करना भी वृथा है किंतु मौन ही धारण करना चाहिये । क्योंकि, शून्यवाद भी एक प्रकारका प्रमेय है । भावार्थ—जब शून्यवादी ऐसा कहचुका है कि प्रमेयमात्र कुछ वस्तु नहीं है तो शून्यवादकी सिद्धि भी क्यों करनी चाहिये ? । यहांपर 'स्पृश' धातुके तथा 'कृतान्त' (यमराज) शब्दके लिखनेसे आचार्यका यह अभिप्राय है कि प्रमाणका सीकार करना तो दूर ही रहा किंतु यदि वह शून्यवादी प्रमाणका स्पर्शमात्र भी करैगा तो इसके ऊपर यमराज कोप करने लगैगा । भावार्थ—कृतान्त शब्दके अर्थ दो हैं प्रथम यमराज दूसरा सिद्धान्त अथवा मत । ऐसे दो अर्थवाले शब्दोंके लिखनेसे कारिकाके अर्थकी दूसरी ध्वनि भी निकल सकती है । वह ध्वनि यही है कि जिस प्रकार यमराजका कोप होनेसे जीवकी मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार यहां भी वह अपने शून्यवादसिद्धान्तके विरुद्ध जो प्रमाणोंको सीकार करता है उससे वह निग्रह स्थानमें पतित हुआ समझा जाता है। अर्थात् वह अपने शून्यवादमय मतके विरुद्ध प्रमाणरूप एक पदार्थकी सत्ताका सीकार करनेसे अपने सिद्धांतसे पतित समझा आता है । अपने वचनपर स्थिर रहना ही तो प्रामाणिकका जीना है और उससे च्युत हो जाना ही उसका मरण समझना चाहिये ।

एवं सति (अहोइत्युपहासप्रशंसायां) तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्येवं शीलास्त्वदसूयिनस्तन्त्रान्तरीयास्तैर्दृष्टं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितं अहो सुदृष्टं साधु दृष्टम्! विपरीतलक्षणयोपहासान्न सम्यग्दृष्टमित्यर्थः। अत्राऽसूयधातोस्ताच्छीलिकणक्प्राप्तावपि बाहुलकाण्णिन्। असूयाऽस्त्येषामित्यसूयिनस्त्वय्यऽसूयिनस्त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा। त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किंचिदचारु; असूयुशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्यैर्न्यायतात्पर्यपरिशुद्ध्यादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति।

इस प्रकार शून्यवादीका मत सदोष सिद्ध होनेपर 'अहो' शब्दसे उसकी हसी करते हैं। 'अहो' शब्दका अर्थ कहींपर तो हसी करना होता है और कहींपर प्रशंसा करना होता है। हे भगवन्! तुह्मारे विषयमें असूया करनेवाले अर्थात् तुह्मारे गुणोंमें दोष प्रकट करनेकी इच्छा रखनेवाले अन्यमतोंके धारक लोगोंने जो कुछ अपने खोटे मतिज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखा है वह 'अहो' अर्थात् विचार करते हुए हमको हसी आती है कि कितना यथार्थ देखा है!!! यहांपर हसी इसलिये आती है कि उन्होंने जो देखा है वह कुछ भी ठीक नहीं देखा है। यथार्थ देखा है ऐसा यहांपर कहना भी हसी आनेके कारण ही है। यहांपर 'त्वदऽसूयिदृष्टम्' इस पदमें जो 'असूयि' शब्द है वह असूय धातुसे असूया करना है स्वभाव जिसका ऐसे अर्थमें बनता है। और यद्यपि यहां 'णक्' प्रत्यय प्राप्त होनेसे 'असूयक' शब्द बनना चाहिये था परंतु उस णक्प्रत्ययके प्रकरणमें बहुलताके अर्थका आश्रय लियागया है इसलिये 'असूय' धातुसे णिन् प्रत्यय होजानेपर 'असूयि' शब्द भी बनजाता है। व्याकरणशास्त्रमें बहुलता उसीका नाम है जिसका आश्रय लेनेसे नियमविरुद्ध प्रत्यय भी प्रयोगपरिपाटीके अनुसार हो जाते है। अथवा जिनमें असूया रहती हो वे असूयी है इस प्रकार 'असूया' शब्दसे तद्धितके प्रकरणकी मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्यय करनेसे भी 'असूयी' शब्द बनजाता है। जो तुह्मारे गुणोंमें असूया करते हैं उनको त्वदसूयी कहते हैं। त्वदसूयियोंकर देखे हुए पदार्थको त्वदसूयिदृष्ट कहते हैं। पूर्वोक्त कारिकामें कोई 'त्वदसूयुदृष्टम्' ऐसा पाठ भी मानते हैं परंतु कुछ हानिकारक नहीं है। क्योंकि; ईर्षासूचक उकारांत असूयु शब्दका उच्चारण उदयनादिक ग्रन्थकारोंने भी अपने बनाये हुए न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदिक ग्रन्थोंमें किया है।

इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः—प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमवस्त्वेव विचारासहत्वात्तुरङ्गशृङ्गवत्। तत्र प्रमाता तावदात्मा। तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाऽभावादभावः। तथा हि। न प्रत्यक्षेण

तस्तिद्धिरिन्द्रियगोचराऽतिक्रान्तत्वात्। यत्तु अहङ्कारप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनं तदप्यनैकान्तिकं तस्याहं गौरः श्यामो वेत्यादौ शरीराश्रयतयाप्युपपत्तेः। किं च यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात्तदा न कादाचित्कः स्यादात्मनः सदा सन्निहितत्वात्। कादाचित्कं हि ज्ञानं कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम्। यथा सौदामनीज्ञानमिति। नाप्यनुमानेन अव्यभिचारिलिङ्गाऽग्रहणात्। आगमानां च परस्परविरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम्। तथा हि। एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितोऽभियुक्ततरेणाऽपरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते। स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम्? इति नास्ति प्रमाता।

यहांपर शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति ये चार तत्त्व जो अन्यवादियोंने कल्पित करलिये हैं वे सर्वथा झूठ हैं। क्योंकि; विचार करनेपर जिस प्रकार घोडेके सींग किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होते उसी प्रकार ये चारों तत्त्व भी सिद्ध नहीं होते हैं। इनमेंसे प्रमाता नाम आत्माका है। परंतु इस आत्माका किसी प्रमाणद्वारा ज्ञान न होनेसे यथार्थमें कुछ है ही नहीं। यही दिखाते हैं। प्रत्यक्षसे तो यह आत्मा जाना ही नहीं जासकता। क्योंकि; इंद्रिय केवल रूप, रस, गंध, स्पर्शवाले पदार्थोंको ही जान सकती हैं और इस आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं नहीं किंतु यह अरूपी है इसलिये इसको नहीं जान सकती हैं। और इस आत्माके आश्रय होनेवाले अहंकारका मानसिक प्रत्यक्ष होनेसे आत्माका मानसिक प्रत्यक्ष मानना भी असत्य है। क्योंकि, मैं गौरवर्ण हूं अथवा काला हूं इस प्रकार जो अहंकार होता है वह शरीरका आश्रय लेकर भी उत्पन्न हो सकता है। जिस धर्मका जिसके साथ संबन्ध माना जाता है उसके अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थके साथ भी उसका संबन्ध यदि रह सकता हो तो उस धर्मको हेतु मानना व्यभिचारी है। और यदि अहंकारका ज्ञान आत्मामें ही होता हो तो कदाचित् ही न होना चाहिये किंतु सदा ही होते रहना चाहिये। क्योंकि, जिस आत्मामें यह उत्पन्न होता है वह आत्मा सदा विद्यमान रहता है। जो ज्ञान कदाचित् ही होता है, सदा नहीं होता है वह ज्ञान कदाचित् कदाचित् उत्पन्न होनेवाले कारणोंसे ही उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, जैसे बिजलीका ज्ञान। इस प्रकार प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि होना तो असंभव है ही परंतु अनुमानसे भी असंभव ही है। क्योंकि, जो आत्माके साथसे कभी बिछुड़ता न हो किंतु सदा साथ ही मिलता हो ऐसा कोई हेतु नहीं दीखता है। और आगम परस्पर विरुद्ध पदार्थोंको कहनेवाले हैं इसलिये उनकी तो प्रमाणता होना ही दुर्लभ है। यही दिखाते हैं। एक शास्त्र जिस

पदार्थको जिस प्रकार सिद्ध करता है उस पदार्थको दूसरा शास्त्र उस प्रकारसे अन्यथा ही साधता है। इस प्रकार जब शास्त्रोंमें परस्पर स्वयं ही प्रमाणता नहीं दीखती है तो वे दूसरे पदार्थोंका निश्चय किस प्रकार करासकते हैं? इस प्रकार प्रमाता जो आत्मा माना गया है उसकी सिद्धि किसी प्रमाणसे भी नहीं होनेके कारण प्रमाता कोई वस्तु नही है।

प्रमेयं च बाह्योऽर्थः। स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः। प्रमाणं च स्वपराऽवभासि ज्ञानम्। तच्च प्रमेयाऽभावे कस्य ग्राहकमस्तु? निर्विषयत्वात्। किं चैतदर्थसमकालं तद्भिन्नकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत? आद्यपक्षे त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्राऽवभासेरन्; समकालत्वाविशेषात्। द्वितीये तु निराकारं साकारं वा तत्स्यात्? प्रथमे प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु किमयमाकारो व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात्? अव्यतिरेके ज्ञानमेवायम्। तथा च निराकारपक्षदोषः। व्यतिरेके यद्ययं चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्। तथा चायमपि निराकारः साकारो वा तद्वेदको भवेदित्यावर्त्तनेनानवस्था। अथाचिद्रूपः किमज्ञातो ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात्? प्राचीने विकल्पे चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात्। तदुत्तरे तु निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन तस्यापि ज्ञानं स्यादित्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति।

बाह्य पदार्थको प्रमेय कहते हैं। परंतु बाह्य पदार्थका विचार हालहीमें बाह्य पदार्थका खंडन करते समय करचुके हैं। अर्थात् उस प्रमेयका खंडन अभीहाल करचुके हैं। प्रमाण उसको कहते हैं जो अपना तथा परका जतानेवाला हो। परंतु जब प्रमेयरूप बाह्य पदार्थ ही कोई वस्तु नही है तो विषय न रहनेपर प्रमाण जतावेगा किसको? और यदि प्रमेय तथा प्रमाण माने भी जांय तो क्या जब पदार्थ उत्पन्न होता है उसी समय प्रमाण उसको जानता है अथवा किसी दूसरे समय? यदि कहो कि पदार्थ जब उत्पन्न होता है तभी प्रमाण उस पदार्थको जानता है तो तीनो लोकमें होनेवाले सभी पदार्थ उस ज्ञानमें प्रतिभासित होने चाहिये। क्योंकि; समकालीन होनेसे जिस पदार्थको जिस समयमें जिस प्रकार जो ज्ञान जानता है उसी प्रकार और भी पदार्थ जो उसी समय उत्पन्न होते है वे सर्व उस ज्ञानके समकालीन हैं। यदि कहो कि पदार्थ उत्पन्न होजानेके अनंतर प्रमाण उस पदार्थको जानता है तो क्या जिस ज्ञानसे पदार्थ जाना जाता है वह ज्ञान निराकार ही है अथवा उसका कुछ आकार भी है? यदि वह ज्ञान निराकार ही है तो जिसका कुछ आकार ही नहीं है उस ज्ञानमें प्रत्येक पदार्थका निश्चय होना

कठिन है। अर्थात् यह अमुक है अथवा अमुक नहीं है ऐसा निश्चय उसीसे होसकता है जिसका कुछ आकार विद्यमान हो। और यदि यह किसी आकार सहित है तो भी यह ज्ञानका आकार उस ज्ञानसे कोई भिन्न वस्तु है अथवा अभिन्न? यदि अभिन्न है तो यह ज्ञान ही है इसलिये ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्नस्वरूप आकार न होनेसे ऊपर कहा हुआ निराकार पक्षका दोष यहां भी आसकता है। और यदि यह आकार ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु है तो वह आकार चैतन्यस्वरूप है अथवा जड़स्वरूप? यदि चैतन्यस्वरूप है तो जिस प्रकार ज्ञान जिस पदार्थको जानता है उसी प्रकार यह ज्ञानका आकार भी उस पदार्थको जानता होगा ऐसा मानना चाहिये। और जब ज्ञानका आकार भी पदार्थको जानता है ऐसा सिद्ध हुआ तब यह आकार भी स्वयं किसी दूसरे आकार सहित है अथवा निराकार है? यदि निराकार है तो पदार्थोंका निश्चय होना कठिन है। और यदि साकार है तो यह आकार चैतन्यस्वरूप है अथवा जड़स्वरूप? यदि चैतन्यस्वरूप है तो जिस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञानका प्रथम आकार पदार्थको जानते हैं उसी प्रकार यह आकारका आकार भी उस पदार्थको जानने लगेगा। इत्यादि पूर्वोक्त विकल्प ही उत्तरोत्तर फिर संभव होनेसे अनवस्था दोष आवेगा। उत्तरोत्तर विचार करते करते भी अंत न मिलनेको अनवस्था कहते हैं। और यदि यह आकार जड़स्वरूप है तो क्या यह आकार स्वयं अज्ञात रहकर ही ज्ञानद्वारा पदार्थके जाननेमें सहायक होता है अथवा स्वयं ज्ञात होनेपर? यदि स्वयं अज्ञात रहकर ही पदार्थके जाननेमें सहायक है तो जो पदार्थ किसी एक प्राणीको जान पड़ता है उसका ज्ञान दूसरेको भी होना चाहिये। क्योंकि; ज्ञानका आकार स्वयं अज्ञातपनेकी अपेक्षा उस दूसरे प्राणीमें भी विद्यमान है। और यदि ज्ञात होकर पदार्थके ज्ञान होनेमें सहायक मानाजाय तो उस जड़स्वरूप आकारका ज्ञान किसी निराकार ज्ञानद्वारा हुआ है अथवा साकार ज्ञानद्वारा? यदि किसी निराकार ज्ञानसे उस आकारका ज्ञान मानाजाय तो उस आकारका निराकार ज्ञानद्वारा निश्चय होना दुर्लभ है। इत्यादि प्रकारसे वारंवार पूर्वोक्त विकल्पोंको ही लौटाते लौटाते कहींपर स्थिति नहीं रहसकती है इस लिये यहां भी अनवस्था दोष आता है।

इत्थं प्रमाणाऽभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी? इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति। तथा च पठन्ति "यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा। यदेतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"। इति पूर्वपक्षः। विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम्।

इस प्रकार जब प्रमाण ही सिद्ध नहीं होता तो प्रमाणके फलरूप प्रमितिकी क्या कथा? इसलिये सर्वथा शून्यता मानना ही उत्तम सिद्धांत है। ऐसा ही कहा भी है "जैसा जैसा विचार करते हैं तैसा तैसा ही पदार्थका विलय होता जाता है। यदि कोई पूछै कि तुम प्रत्यक्ष दीखते हुए पदार्थोंका अभाव कैसे करसकते हों तो हम उत्तर देते हैं कि हम कुछ नहीं करते हैं परंतु जब पदार्थोंका स्वरूप ही ऐसा है तो उसमें हमारा करना क्या है? इस प्रकार शून्यवादी अपने मतका मंडन करता है। यदि विस्तारसे इसका विवेचन देखना हो तो तत्त्वोपप्लवसिंहनामक ग्रन्थसे देखलेना चाहिये।

अत्र प्रतिविधीयते। ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तं तच्छून्यमशून्यं वा? शून्यं चेत्सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नानेन किंचित्साध्यते निषिध्यते वा। ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था। अशून्यं चेत्प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः; भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात्। तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती। तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किंचित्तत्साधनं दूष्यते। तत्र यत्तावदुक्तं प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिरिन्द्रियगोचराऽतिक्रान्तत्वादिति तदसिद्धसाधनम्। यत्पुनरहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तं तदसिद्धम्; अहं सुख्यहं दुःखीत्यन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः। तथा चाहुः "सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते। मतुवर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः।१। इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्। अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका।२।" यत्पुनरहं गौरोहं श्याम इत्यादिबहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते। यथा प्रियभृत्येऽहमिति व्यपदेशः।

अब इस शून्यवादीके मतका खंडन करते हैं। हम पूछते हैं कि इस शून्यवादीने सर्वशून्यता सिद्ध करनेकेलिये जो वचन बोला है वह भी कुछ है अथवा शून्यरूप ही है? यदि कुछ नहीं है किंतु शून्य ही है तो जिस प्रकार गधेके सींग कुछ न होनेसे कुछ नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार इसके वचनसे भी असत्‌रूप होनेके कारण न तो किसी शून्यवादादिककी सिद्धि होसकती है और न किसी विद्यमान पदार्थका निषेध होसकता है। इसलिये ऐसे शून्यवचनद्वारा निषेध न होसकनेसे ही प्रमा-

१ अशून्यपक्षेऽपि। २ तत्त्वचतुष्टयी। ३ चेत्यमानम्। ४ अनुरोधात्।

णादि चारो विषयोंका होना निष्कंटक सिद्ध होता है। और यदि शून्यवादी अपने वचनको कुछ है ऐसा मानता हो तो विचारा उस शून्यवादीका स्वेनसिद्ध शून्यवाद ही नष्ट होजायगा। क्योंकि, जब उसीका वचन कुछ विद्यमान सत्तारूप पदार्थ है तो सर्वशून्यता कहां रही? इसलिये अब भी हमारी प्रमाणादि चतुष्टयरूप भगवती अर्थात् वाणी निष्कंटक सिद्ध है। इस प्रकार यद्यपि हमारी वाणी-का खण्डन शून्यवादीके वचनोंसे नहीं होसकता है तो भी युक्तिपूर्वक विचार करनेवाले विद्वानोंकी परिपाटीके अनुसार शून्यवादीके वचनोंमें और भी दोष दिखाते हैं। शून्यवादीने सबसे प्रथम जो यह कहा कि प्रमाता जो आत्मा उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञानसे नहीं है क्योंकि; आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है सो यह कहना हमको भी इष्ट है। अर्थात् हम भी यही मानते हैं कि आत्मा इंद्रियगोचर न होनेसे प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। परंतु जो यह कहा कि मैं सुखी हू मैं दुःखी हू इत्यादि अपने अंतरंगमें उत्पन्न हुए मानसिक प्रत्यक्षसे भी आत्मसिद्धि होना असंभव है क्योंकि, ऐसा ममत्वका ज्ञान शरीरको अपना निज स्वरूप माननेसे भी होसकता है। सो यह कहना असत्य है क्योंकि; मैं सुखी हू मैं दुःखी हू ऐसा अंतरंगको विषयकरनेवाला ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न हो सकता है। यही कहा भी है " सुखादिकका जो अनुभव होता है वह आधारके विना नहीं होसकता है इसलिये सुखादिकके ज्ञानद्वारा उसके आधारभूत आत्माका भी प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है। यह सुख है अथवा दुःख है ऐसा जो ज्ञान होता है वह ऐसा नही मालुम पड़ता है जैसा कि घटादि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान मालुम पड़ता है। अर्थात् घटादिकोंका ज्ञान तो बाहिरकी तरफको ऐसा होता है कि यह घड़ा अपनेसे भिन्न अमुक स्थानपर है परंतु मैं सुखी हू यह सुखज्ञान घड़ेके समान बाहिरकी तरफ होता हुआ अनुभवमें नहीं आता है किंतु भीतरकी तरफ सारा आत्माके आलंबनपूर्वक ही होता है। इसलिये इस मानस प्रत्यक्षसे आत्माका प्रत्यक्ष सिद्ध होना अनुभवसे सिद्ध होता है"। और जो मैं काला हू मैं गोर हू इत्यादि शरीरको माननेवाला ज्ञान होता है वह प्रयोजनके वश होकर शरीरमें आरोपित किया है, न कि यथार्थमें शरीरादिक ही अहंकारके आधार हैं। आरोपित करनेका निमित्त भी यह है कि आत्माके सुख दुःख होनेमें शरीर सहकारी है तथा आत्माके अत्यंत निकट है। अर्थात्-यह निमित्त पाकर ही आत्मामें होनेवाले अहंकारको हमलोग शरीरके आश्रित समझते हैं। निमित्तके विना भी यदि एकका दूसरेमें आरोपण होसकता हो तो आरोपण करते करते कभी छुटकारा ही न मिलसके। इस आत्माके अहंकाररूप धर्मका जिसप्रकार कि शरीरमें आरोपण होता है ठीक ऐसा ही मानना है जैसा प्यारे नोकरको मानना कि यह नोकर जुदा नहीं है किंतु मेरा ही शरीर है।

यच्चाहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वं तत्रेयं वासना ।– आत्मा तावदुपयोगलक्षणः । स च साकाराऽनाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति । अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव । तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यादिन्द्रियाऽनिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्त्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव । यथा बीजं सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति; नान्यथा । न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की; तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात् । एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् । यदप्युक्तं तस्याऽव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति तदप्यसारं; साध्याऽविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः ।

अहंकारकी उत्पत्तिका कारण जो आत्मा है सो तो सदा ही विद्यमान है इसलिये यदि अहंकार आत्मामें होता हो तो सदा ही होना चाहिये परंतु सदा नहीं होता है सो क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है कि'उपयोग नाम चेतनाका है । वह चेतना दोप्रकार है प्रथम निराकार दूसरी साकार । साकार चेतनाको ज्ञान कहते हैं और निराकारको दर्शन अथवा दर्शनोपयोग । ये ज्ञान दर्शन तो चेतनागुणके पर्याय हैं और चेतना सदा शाश्वता है और इन पर्यायोका मूल कारण है । पर्याय तो क्षणभंगुर होते हैं परंतु गुण सदा विद्यमान रहता है तथा उसमें सदा कोई न कोई पर्याय उपजता तथा नष्ट होता ही रहता है । इसलिये चेतनाकी ज्ञान दर्शनरूप साकारनिराकार पर्यायोंमेंसे कोई न कोई पर्याय आत्मामें सदा होता ही रहता है । अहंकार भी एक प्रकारका ज्ञानरूप उपयोग है । आत्मामें बंधे हुए कर्मोंमेंसे जिस समय जैसे ज्ञानावरण कर्मका क्षय तथा अनुदय होता है वैसा ही इन्द्रिय, मन तथा प्रकाशादिकोंके सहारेसे इस आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार आत्मामें ज्ञानोत्पत्तिकी शक्ति सदा रहनेपर भी ज्ञानके उत्पन्न होनेमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता होनेके कारण जब सर्व कारण मिलते हैं तभी ज्ञान प्रकट होसकता है; सदा नहीं । जैसे बीजमें अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति यद्यपि सदा विद्यमान है तो भी अंकुरकी उत्पत्ति तभी होसकती है जब उत्पन्न होनेके योग्य मट्टी पानी आदिक संपूर्ण कारण एकत्रित होजांय । जबतक संपूर्ण कारण न मिलैं तबतक अंकुरकी उत्पत्ति होना यद्यपि असंभव है तो भी उत्पत्ति न होनेसे ही ऐसा नहीं कहसकते हैं कि अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति भी बीजमें कदाचित् ही होती है । क्योंकि; सभी शक्ति द्रव्यकी अपेक्षा सदा शाश्वती रहती हैं । इसी प्रकार यद्यपि आत्मा सदा संनिकट

विद्यमान रहता है तो भी ज्ञान तभी होसकता है जब संपूर्ण कारण एकत्रित होजाते हैं । और जो यह कहा कि इस आत्माको जतानेवाला एक भी ऐसा हेतु नहीं मिलता है जो आत्माके विना कहीं रह न सकता हो सो यह कहना भी मिथ्या है । क्योंकि; ऐसे अनेक हेतु मिलते हैं जो आत्माके अतिरिक्त कहीं रह ही नहीं सकते ।

तथा हि । रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका क्रियात्वात् । छिदिक्रियावत् । यश्चास्याः कर्ता स आत्मा । न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वं; तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनाऽस्वतन्त्रत्वात् । करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाऽचेतनत्वात् परप्रेर्यत्वात् प्रयोक्तृव्यापारनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात् । यदीन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात्तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वाऽनुभूतार्थस्मृतेर्मया दृष्टं स्पृष्टं घ्रातमास्वादितं श्रुतमिति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च कुतः संभवः ? किं चेन्द्रियाणां स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम् । अस्ति च तथाविधफलादे रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणे दन्तोदकसंप्लवाऽन्यथानुपपत्तेः । तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्दर्शी कश्चिदेकोऽनुमीयते । तस्मात्करणान्येतानि । यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा ।

अब उन हेतुओंको दिखाते हैं । रूपादिक गुणोंका जो नेत्रादि द्वारा प्रत्यक्ष होता है वह प्रत्यक्ष कर्ताके विना नहीं होसकता है । क्योंकि, वह प्रत्यक्ष एक प्रकारकी क्रिया है । जैसे कुल्हाड़ीसे काटनेरूप जो क्रिया है वह विना किसी कर्ताके नहीं होसकती है । जो इस देखने जानने आदिक क्रियाओंका कर्ता है उसीका नाम आत्मा है । और जिस प्रकार कुल्हाड़ीसे काटनेमें कुल्हाड़ी स्वयं काटनेवाली नहीं है उसी प्रकार इन्द्रियोंकी सहायतासे देखने जाननेमें भी इन्द्रिय स्वयं देखने जाननेवाली नहीं होसकती किन्तु देखने जाननेवाला कोई और ही होना चाहिये। क्योंकि; इन्द्रियां जैसे काटनेमें कुल्हाड़ी करणरूप होनेसे किसीके परतन्त्र ही रहती है तैसे परतंत्र हैं। करण उसको कहते हैं जो स्वयं जड़रूप होकर किसीकी प्रेरणासे ही कार्य करता हो किंतु जब प्रेरणा करनेवाला न हो तब स्वतंत्र कुछ नहीं करसकता हो । यह करणका स्वरूप इन्द्रियोंमें भी घटता है इसलिये इन्द्रियां भी करण ही हैं। कर्ता अपना कार्य करनेमें स्वतंत्र होता है, जब चाहता है तब प्रवर्तता है और जब नहीं चाहता है तब नहीं प्रवर्तता है । यह कर्ताका स्वरूप इन्द्रियोंमें नहीं घटता है इसलिये इन्द्रियां स्वयं कर्ता नहीं हैं । यदि इन्द्रियां ही स्वयं कर्ता हों तो जिस इन्द्रियसे जिस किसी वस्तुका अनुभव पहिले किया था उस वस्तुके अनुभवका स्मरण तभीतक होना चाहिये जबतक वह इन्द्रिय बनी रही हो ।

क्योंकि; जो अनुभवका कर्ता होता है वही उसका स्मरण करसकता है। परंतु उस इंद्रियके नष्ट होजानेपर भी ऐसा स्मरण होता है कि मैने सूंघा था, देखा था, सुना था इत्यादि; अथवा ऐसा ज्ञान भी होता है कि जिसने सूंघा था, देखा था, सुना था वह मै ही हूं। और भी एक दोष यह है कि इंद्रियोंमेंसे प्रत्येकका विषय नियत है जैसे नेत्र रूपको ही जान सकते है, कान शब्दको ही सुन सकते है इत्यादि। किसी भी इंद्रियकी ऐसी शक्ति नही है जो किसी एक ही इंद्रियसे रूपरसादिक सभी विषयोंका अनुभव होसकै। परंतु रूप रसादिक अनेक विषयोका अनुभव कोई एक करता अवश्य है, नही तो आमका रूप देखनेके अनंतर ही जीभपर पानी क्यों आजाता है? अर्थात्—यदि अपने अपने विषयको वे इंद्रिय ही जाननेवाली हों; दूसरा कोई एक सबोका अनुभवकरता न हो तो जब जिव्हा रसको चाखचुकै तभी उसपर पानी आना चाहिये परंतु देखते है कि सुन्दर फलके देखनेमात्र ही जिव्हापर पानी आजाता है। इसलिये गवाक्षगत प्रेक्षकके समान सर्व इंद्रियोंमें तथा मनमें रहकर प्रेरणा करनेवाला इंद्रियोंकि अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ भी है। इस प्रकार इंद्रिय तो परतंत्र होनेसे कारण ही हैं किंतु इंद्रियोंको प्रेरणा करनेवाला आत्मा एक भिन्न वस्तु सिद्ध हुआ।

तथा साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका विशिष्टक्रियात्वाद्रथक्रियावत्। शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितं विशिष्टक्रियाश्रयत्वाद्रथवत्। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा सारथिवत्। तथात्रैव पक्षे इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत्। वायुश्च प्राणापानादिः। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा भस्त्राध्मापयितृवत्। तथाऽत्रैव पक्षे इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद्दारुयन्त्रवत्। तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतं; वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद्गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत्। वृक्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेन्न तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात्। यश्चैषां कर्त्ता स आत्मा गृहपतिवत्। वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयं किंचिद्वक्ष्यते च।

तथा हितकी साधनरूप सामग्रीके ग्रहण करनेमें और अहितके उपजानेवाली सामग्रीके छोड़नेमें जो चेष्टा होती है वह किसी न किसी प्रयत्न द्वारा ही होसकती है। क्योंकि; वह चेष्टा भी एक प्रकारकी क्रिया है। क्रिया जितनी होती हैं वे सर्व किसी न किसी प्रयत्नसे ही होती हैं। जैसे रथके चलनेकी जो क्रिया है वह हांकनेवालेके प्रयत्नसे अथवा बैल घोड़ोंके खींचनेरूप प्रयत्नसे होती है। जबतक यह प्रयत्न न किया जाय तबतक यह क्रिया भी नहीं होसकती है। और जो शरीर है वह जैसे रथ रथके चलनेकी

कियाका आधार है वैसे आधार है। जो इस शरीरको हिताहितके लिये हलाता चलाता है वह आत्मा ही है। जैसे रथके हांकनेवाला सारथी। और भी जैसे जब कोई चलानेवाला होता है तभी भातड़ीमेंसे जितना वायु चाहिये उतना निकलता है नहीं तो नहीं वैसे शरीरका प्राणापानादिक वायु इच्छानुकूल तभी चल सकता है जब कोई इस शरीररूप भत्राको हलानेवाला हो। जिस प्रकार भातड़ीको हलानेवाला कोई प्राणी होता है उसी प्रकार प्राणापानादि वायुको इच्छानुकूल चलानेवाला आत्मा है। और भी इसी प्रसंगपर एक तीसरा अनुमान यह है कि इस शरीरके नेत्रादिक अंगोंमें संकोच विस्तार करनेकी अथवा खोलने मंदकरने की जो चेष्टा है वह किसी न किसी शरीरके अतिरिक्त कारण बिना नहीं होसकती है। जैसे लकड़ीके बने हुए बहुतसे खिलोने ऐसे होते हैं जो दवानेसे खुल जाते हैं तथा हाथ ढीला करदेनेपर फिर बंद होजाते हैं। इसलिये ये खिलोने जिस प्रकार हाथकी प्रेरणा बिना खुल नहीं सकते तथा बंद नहीं होसकते हैं उसी प्रकार आत्माके बिना शरीरके नेत्रादिक अंगोंका खुलना बंदहोना असंभव है। और भी आत्माकी सिद्धि करनेमें एक अनुमान यह है कि शरीरकी वृद्धि हानि होनेपर तथा किसी अंगउपांगके भग्न होजानेपर भी फिरसे उसकी पूर्ति होना इत्यादिक जो कार्य हैं वे किसी न किसी प्रयत्नशील कारणके बिना नहीं होसकते हैं। क्योंकि, ये वृद्धिहानिरूप शरीरके कार्य भी एक प्रकार टूटेफूटेकी मरम्मत होजानेके समान हैं। जैसे घरका बनाना गाड़देना तथा टूटनेफूटनेपर मरम्मत करना किसी प्राणीके बिना नहीं होसकता तैसे ही किसी विशेष कर्ताके बिना शरीरकी हानि वृद्धि तथा घावका पुरना इत्यादि कार्य नहीं होसकते हैं। वृक्षादिकोंमें भी जो कुछ वृद्धि हानि होती है वह किसी न किसी एकेन्द्रिय जीवके रहनेपर ही होती है। जब जीव नहीं रहता है तब वृक्षादिकोंका घटना बढ़ना भी बंद हो जाता है। इसलिये वृक्षादिकोंकी हानिवृद्धिसे भी हमारे इस अनुमानमें बाधा नहीं है। जैसे घरका स्वामी घरके बनाने बिगाड़नेवाला होता है तैसे जो इस घटने बढ़नेको करनेवाला है वही आत्मा है। वृक्षादिकोंमें जो जीव माने जाते हैं उनका निश्चय आचारांगादि शास्त्रोंसे करलेना चाहिये तथा हम भी कुछ कहैंगे।

तथा प्रेर्यं मनः अभिमतविषयसम्बन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्दारकहस्तगतगोलकवत्। यश्चास्य प्रेरकः स आत्मा इति। तथा आत्मचेतनक्षेत्रज्ञजीवपुरुषादयः पर्याया न निर्विषयाः पर्यायत्वात् घटकुटकलशादिपर्यायवत्। व्यतिरेके पञ्चभूतादिः। यश्चैषां विषयः स आत्मा। तथाऽस्त्यात्मा असमस्तपर्यायवाच्यत्वात्। यो योऽसाङ्केतिकशु

द्रूपपर्यायवाच्यः स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति । यथा घटादिः । व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः । तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि गुणत्वाद्रूपवत् । योऽसौ गुणी स आत्मा । इत्यादिलिङ्गानि । तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः । आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वं तेषामप्रामाण्यमेव । यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव कपच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात् । कपादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः ।

और भी इस विषयमें अनुमान दिखाते है । अभिमत कार्योंकी तरफ जो मन दौड़ता है वह किसी न किसीकी प्रेरणासे ही दौड़ता है । क्योंकि; जब दौड़ता है तब किसी वांछित पदार्थपर ही पहुचता है । ऐसा नहीं है कि दौड़ते दौड़ते अनिच्छित पदार्थ पर भी पहुच जाता हो । जैसे बालकके हाथका गोला । यह गोला जहां फेका जाय वहां ही फेकनेपर जापड़ता है । ऐसा नहीं है कि गोला फेका तो पूर्व दिशाकी तरफ जाय और पड़ता हो पश्चिम दिशामें । इसलिये जिस प्रकार गोलाको फेकनेवाला बालक है उसी प्रकार मनको चलानेवाला आत्मा है । और भी आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव तथा पुरुष इत्यादिक जो पर्याय हे वे किसी न किसी द्रव्यके विना उत्पन्न नहीं होसकते है। क्योंकि; पर्याय जितने होते हैं वे किसी न किसी द्रव्यके ही होते हैं । जैसे घड़ा सरवा कलश इत्यादि पर्याय मृत्तिकाद्रव्यके हैं । तथा जिनका कोई आदिकारणरूप द्रव्य नहीं मिलता है वे सचमुच कुछ होते ही नहीं । जैसे छट्ठा भूत । छट्ठे भूतका कोई मूलकारण नहीं है इसलिये छट्ठाभूत केवळ कहनेमात्र है; सचमुच कोई वस्तु नहीं है । आत्मा चेतन पुरुष इत्यादि नामवाले पर्यायोंका जो मूलकारण है उसीका नाम आत्मा है । तथा और भी कहते है। किसी विकृत पर्यायका नाम न होकर शुद्ध निर्विकार वस्तुका वाचक होनेसे आत्मशब्दका वाच्य अवश्य कोई न कोई वस्तु है । जो जो शब्द विनासंकेत शुद्ध वस्तुके वाचक होते हैं वे वे अपनी अपनी वस्तुकी सत्ताको कभी नही छोड़ते । जैसे घडा आदिक । और जो शब्द किसी संकेतितमात्र वस्तुके वाचक होते हैं उन शब्दोंके वाच्यरूप पदार्थ कुछ भी नहीं होते हे । जैसे गधेके सींग तथा आकाशके कमल । तथा जो सुखदुःखादिक हैं वे एक प्रकारके गुण अथवा स्वभाव हैं इसलिये इनका आश्रय कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिये । क्योंकि; गुण अथवा स्वभावोंकी स्थिति किसी द्रव्यके विना नहीं होती । जो उनका आश्रय है वही आत्मा है । इत्यादि अनेक साधनोसे आत्मा सिद्ध होता है इसलिये अनुमानसे भी जीवद्रव्य सिद्ध है । और आगमोंमें जो परस्पर विरुद्धता कही वह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि; सभी आगम तो परस्पर विरुद्ध अर्थको कहते ही नहीं हैं । जिन आगमोंमें

परस्पर विरुद्ध अर्थ दीखता हो वे अप्रमाण ही हैं। परंतु मोहके नाश होजानेसे जिनमें सत्य मोक्षना प्रकट हुआ है तथा ज्ञानावरणीय कर्मका अत्यंत क्षय होजानेसे सर्वज्ञपना प्रकट हुआ है ऐसे आप्त भगवान्ने जो आगम कहे हैं वे प्रमाण हैं। क्योंकि, आप्तकथित शास्त्रोंमें कष (जीवोंकी हिंसा), छेद तथा ताप इत्यादिके द्वारा दुष्कर्मोंका सर्वथा निषेध किया है। जिन शास्त्रोंमें किसी स्थानपर तो हिंसादिकसे पाप तथा कहींपर पुण्य होना कहा हो उन्हींमें परस्पर वचनविरोध संभव है। परंतु जिन शास्त्रोंमें हिंसादिक करनेवालेको सर्वथा पापी ही कहा हो वे शास्त्र किसी प्रकार अप्रमाण नहीं होसकते हैं। कष, छेद तथा तापका स्वरूप आगे चलकर ३२ वें श्लोकके अर्थमें कहेंगे।

न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषस्तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि नास्तीति; यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात् सूर्याद्यावरकजलदपटलवत्। तथा चाहुः "देशतो नाशिनो भाया दृष्टा निखिलनश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वदेवं रागादयो मताः" इति। यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः। अथाऽनादित्वाद्रागादीनां कथं प्रक्षय इति चेन्न; उपायतस्तत्सम्भवात्; अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात् तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात्सर्वज्ञत्वम्। तत्सिद्धिस्तु-ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वादाकाशपरिमाणतारतम्यवत्। तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः। तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव। तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनं; "रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्" इति वचनात्। प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेव। इति सिद्ध आगमादप्यात्मा "एगे आया" इत्यादिवचनात्।

रागादि संपूर्ण दोष जिसके नष्ट होगये हों वह आप्त है। ऐसा आप्त होना असंभव नहीं है। रागादिक संपूर्ण दोष किसी जीवमें अत्यंत नष्ट होसकते हैं। क्योंकि, उन रागादि भावोंकी हमलोगोंमें हीनाधिकता होती दीखती है। जिन विकारोंकी कमी कहींपर हीनाधिकता दीखती है वे विकार कभी कहींपर सर्वथा नष्ट भी होजाते हैं। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशको रोकनेवाले

मेघपटलोंकी कभी कहीं हीनाधिकता होती दीखती है इसलिये कभी कहींपर उनका सर्वथा नाश भी होजाता है। अन्यत्र भी यह कहा है "जिन विकारोंकी क्रमक्रमसे कभी हानि कभी वृद्धि होती है उनका कभी सर्वथा नाश भी होजाता है ऐसा नियम है। जिस प्रकार मेघपटल कभी बढते कभी घटतेहुए दीखते हैं इसलिये कभी सर्वथा नष्ट भी होजाते है उसी प्रकार जीवके रागद्वेषादिक दोष भी कभी किसी जीवमें बढ़ते हैं तथा कभी घटते हैं इसलिये इनका कभी सर्वनाश भी होसकता है। जिस जीवके रागादिक दोष सर्वथा विलीन होगये हों वही सर्वज्ञ आप्त भगवान् है। कदाचित् कहो कि जिन रागादिक दोषोंका जीवके साथ अनादि कालसे संबंध है वे किसी प्रकार क्षीण नहीं हो सकते है परंतु यह कहना अयोग्य है। उपाय करनेसे उनका भी नाश होसकता है। जबतक सुवर्ण खानिसे निकालकर शुद्ध नहीं किया हो तबतक उसमें जो किट्टिमा संसक्त होरही है वह अनादि-कालसे ही होरही है परंतु जब उसको सुहागे अग्नि आदिकोका पुट देकर शुद्ध करते है तब सुवर्ण तथा किट्टिमा भिन्न भिन्न होकर सुवर्ण सर्वथा शुद्ध होजाता है। इसी उदाहरणके अनुसार यद्यपि जीवके साथ रागादिक अनादि कालसे संसक्त होरहे है परंतु जब आत्मरूपी मलिन सुवर्णको रत्नत्रयरूपी अग्निपुटमें रखकर शुद्ध किया जाता है तब रागादिक तथा आत्मा भिन्न भिन्न होकर आत्मद्रव्य सर्वथा निर्दोष होसकता है। और जब दोष क्षीण होजाते है तब केवलज्ञान उपजता ही है। जिस स्वभावकी वृद्धि कुछ कुछ होती रहती है उसकी कहीं पूर्ण वृद्धि होजाना भी संभव है। इसी नियमके अनुसार ज्ञान गुणकी वृद्धि भी जो उत्तरोत्तर एकसे दूसरेमें अधिक होती हुई दीखती है वह किसी जीवमें सर्वोत्कृष्ट भी हो सकती है। जैसे आकाशको नापनेपर बढता हुआ ही दीखता है परंतु इसकी भी वृद्धि कहींपर सर्वोत्कृष्ट हैं। केवलज्ञान होना इस अनुमानसे संभव है। तथा और भी कई अनुमानोंसे सर्वज्ञके ज्ञानकी सिद्धि होती है। कैसे? स्वभावसूक्ष्म जो दृष्टिसे प्रत्यक्ष न होसकें ऐसे परमाणु आदिक, जिनके बीचमें बहुतसा व्यवधान पड़ा हो ऐसे सुमेरु आदिक तथा जिनमें कालका बहुतसा अंतर पड़गया हो ऐसे रामरावणादिक पदार्थ भी किसीको प्रत्यक्ष दीखने चाहिये। क्योंकि; अनुमानसे जब हम विचार करते है तब उनका होना सिद्ध होता है। जैसे यद्यपि पर्वतपर होनेवाली अग्नि हमको कभी कभी प्रत्यक्ष नहीं होती तो भी धूम देखकर अनुमानसे उसको सिद्ध करलेते हैं इसलिये वह हमको प्रत्यक्ष न होनेपर भी किसी न किसीको प्रत्यक्ष होसकती है उसी प्रकार यद्यपि परमाणु आदिक हमको प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी अनुमान द्वारा सिद्ध होनेसे किसी न किसीको प्रत्यक्ष भी अवश्य होने चाहिये। इसी प्रकार जो चंद्रसूर्यके ग्रहण आदिक

भविष्यत् विषयोंको सत्य जतानेवाले ज्योतिष्क शास्त्रको जानता है वह ग्रहण पड़नेके पहिले ही कह देता है कि अमुक समय ग्रहण पड़ेगा। और वह कहना सत्य होता है। ऐसे शास्त्रोंको वही बना सकता है जो स्वयं सर्वज्ञ हो। इत्यादि हेतुओंसे भी सर्वज्ञज्ञानका होना प्रमाणसिद्ध है। जिस जीवमें ऐसा केवलज्ञान होगया हो उसकर बनाये हुए शास्त्र किसी प्रकार भी अप्रमाण नहीं होसकते हैं। शास्त्र वे ही अप्रमाण होते हैं जिनके बनानेवाले स्वयं निर्दोष न हों। कहा भी है कि "रागके द्वेषके अथवा मोहके वश होजानेपर वचन झूठ बोला जाता है। जिसमें ये दोष ही नहीं रहे वह असत्य किस प्रकार बोल सकता है?"। हमने यह तो पहिले ही कहा था कि हमारे शास्त्रोंके बनानेवालोंमें कर्मोंके नाश हो जानेसे दोष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं। ऐसे निर्दोष हमारे शास्त्रोंमें "आत्मा अकेला है" इत्यादि वचनोंके मिलनेसे आगमप्रमाणसे भी जीवद्रव्य सिद्ध है।

तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता। प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम्। तत्सिद्धौ च 'प्रमाण ज्ञान तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात्' इति प्रलापमात्रं; करणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाल्लवनादिषु तथा दर्शनात्। यच्चार्थसमकालमित्याद्युक्तं तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव। अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाकलनकुशलं स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकं शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याप्यर्थस्य परिच्छेदके। निराकारं चैतद्वयमपि। न चातिप्रसङ्गः स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः। शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः। प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव। न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा। फलं च द्विधानन्तर्यपारम्पर्यभेदात्। तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम्। पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यं शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः। इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम्। ततश्च "नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वमाध्यात्मिका विदुः" इत्युन्मत्तभाषितम्।

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इन तीनो प्रमाणोसे प्रमाताका (आत्माका) होना सिद्ध है। जिन बाह्य विषयोंको ज्ञान जानता है उनका होना तो अभी पहिले सिद्ध कर चुके हैं। इसलिये यह कहना केवल निर्हेतुक बकना है कि जब बाह्य पदार्थ ही कोई चीज नही है तो जो प्रमाणज्ञान है वह किसको जाने? जितनी क्रिया होती हैं वे किसी न किसी करणके बिना नहीं होसकती। जैसे वृक्षका काटना किसी कुल्हाड़ीसे ही हो सकता है, जबतक कुल्हाड़ी न हो तबतक वृक्ष कट नहीं सकता है।

जानना भी एक प्रकारकी क्रिया है इसलिये यह भी बिना किसी करणके नहीं होसकती है। और जो यह पूछा कि जिन पदार्थोंको जानना हो उनके साथ साथ ही उनको जाननेवाला ज्ञान उपजता है अथवा उनके बाद? सो हम दोनो तरहसे मानते हैं। हमलोगोंका प्रत्यक्ष तो जो विद्यमान पदार्थ हों उन्हींको जानसकता है और स्मरणज्ञान बीती हुई वस्तुको ही जानसकता है परंतु शब्द सुननेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तथा अनुमानज्ञान तीनो कालके पदार्थोंको जान सकते हैं। ये दोनो प्रकारके ज्ञान यद्यपि निराकार ही हैं तो भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है। और जो निराकार माननेमें यह दोष बतलाया था कि किसी पदार्थका इस प्रकार निश्चय नहीं होसकैगा कि यह घड़ा ही; अन्य कुछ नहीं है अथवा यह अमुक ही है अन्य कुछ नहीं है सो यह दोष मानना भी भूल है। क्योंकि; ज्ञान किसी समय भी हो परंतु उसी पदार्थको जानसकता है जिसके ज्ञानको रोकनेवाला ज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यांतराय कर्म कुछ नष्ट होगया हो। इन शंकाओंके अतिरिक्त जो शंका हैं वे सब आडम्बरमात्र हैं इसलिये उनको स्वीकार न करना ही शून्यवादीका तिरस्कार है। इस प्रकार प्रमाणका जो शून्यवादीने खंडन किया था वह मिथ्या हुआ। और प्रमाणका फल प्रमिति है; उस प्रमितिका अनुभव स्वयमेव होता है। जिस वस्तुका स्वयमेव अनुभव होसकता है उसका अनुभव उपदेशसे कराना व्यर्थ है। प्रमाणके फल दो प्रकारके हैं पहिला साक्षात् दूसरा परंपरासे उत्पन्न होनेवाला। इनमेंसे किसी पदार्थसंबंधी अज्ञानका नाश हो जाना प्रमाणका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परंपरा फल संसारसे उदासीनता होना है और शेषके अल्पज्ञानियोंके प्रत्येक ज्ञानका परंपरा फल इष्टानिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण तथा त्यागकी बुद्धि उत्पन्न होना है तथा मध्यस्थ पदार्थोंमें मध्यस्थ भाव हो जाना परंपरा फल है। इस प्रकार प्रमाता आत्मा तथा प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चारों प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणद्वारा होचुकी। इसलिये "न तो पदार्थ सत्रूप ही है; न असत्रूप ही हैं; न सत् असत् दोनोरूप ही है और न सत् असत्के अभावस्वरूप ही है किंतु अध्यात्म विषयके ज्ञाताओंने इन चारों प्रकारकी कथनीसे जुदा कोई विलक्षण ही तत्त्व माना है" इस प्रकारका जो कहना है वह उन्मत्तकासा कहना है।

किं चेदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणादभिमन्यतेऽप्रमाणाद्वा? न तावदप्रमाणात्तस्याऽकिंचित्करत्वात्। अथ प्रमाणात् तन्न। अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतमसांवृतं वा स्यात्? यदि सांवृतं[1] कथं तस्मादवास्तवाद्वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः? तथा च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रा-

1 अनिरूपिततत्त्वार्था प्रतीतिः संवृतिर्मता। तत्त्वार्थका निरूपण न करनेवाली प्रतीतिको संवृति कहते हैं।

दिव्यवहारः प्राप्तः । अथ तद्ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतं तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहाराऽपलापप्रतिज्ञा तेनैव व्यभिचारात् । तदेवं पक्षद्वयेऽपि इतो व्याघ्र इतस्तटीति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः । इति काव्यार्थः ।

इस प्रकार शून्यवादीका कथन प्रथम तो किसीप्रकार सिद्ध ही नहीं होता परंतु तो भी जो प्रमाण प्रमाता आदिकोंको झूठा कहा है वह क्या किसी प्रमाणके बलसे कहा है अथवा प्रमाणके विना ही ? यदि किसी प्रमाणके विना ही कहा है तो विना प्रमाण कहनेसे तो कुछ सिद्ध हो नहीं सकता । और यदि किसी प्रमाणके बलसे कहा है तो पदार्थको असत्यस्वरूप कल्पनामात्र जाननेवाला प्रमाण क्या सांवृत प्रमाण है अथवा असांवृत ? जो यथार्थमें तो कुछ हो नहीं किंतु कल्पनामात्रसे माना गया हो वह सांवृत कहाजाता है । सो यदि उस प्रमाणको सांवृत माना हो तो उस असत्यार्थ प्रमाणसे सच्चे शून्यवादका निश्चय कैसे हो सकता है ? इसलिये जब शून्यवादको जाननेवाला प्रमाण ही झूठा है तब हमारा प्रमाताआदि संपूर्ण व्यवहार मानना ही सच्चा प्रतीत होता है । और यदि शून्यवादको जाननेवाला प्रमाण सच्चा है तो सर्वथा शून्यवादका कहना मिथ्या हुआ । क्योंकि, एक प्रमाण तो तुमने अपने मुखसे ही स्वीकार किया । इस प्रकार न तो प्रमाणसे सिद्धि हो सकती है और न प्रमाणके विना । दोनो ही पक्ष माननेमें दोष है । 'एक तरफ भागते हैं तो व्याघ्र खड़ा है और दूसरी तरफ देखते हैं तो नदी वह रही है' इस न्यायके अनुसार दोनो ही पक्षके माननेमें शून्यवादीको अपना शून्यवाद छोड़कर हमारा प्रमाताआदिका व्यवहार सत्य मानना पड़ता है । क्योंकि, किसी प्रकार भी शून्यवाद सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकाऽऽमुष्मिकव्यवहाराऽनुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारितं[1] दर्शयन्नाह ।

क्षणिकवादीने पदार्थके स्वरूपका जैसा उपदेश किया है उससे न तो इस लोककी और न परलोककी व्यवस्था बन सकती है इसलिये यह उपदेश विचार किये विना ही किया है ऐसा दिखाते हुए अब कहते हैं ।—

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

---

१ 'कारिताप्रतितं' इति लघुप्रकरणम् ।

मूलार्थ—यदि वस्तुका स्वभाव क्षणभंगुर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मोंका फल विना भोगे ही नाश हो जायगा; स्वयं नहीं किये हुए कर्मोंका फल भी भोगना पड़ैगा; संसारका, मोक्षका तथा स्मरणशक्तिका नाश होजायगा। अनुभवसिद्ध इन दोषोंको नही गिनता हुआ आपके विरुद्ध मानता हुआ क्षणिकवादी जो वस्तुका स्वरूप क्षणभंगुर होना ही मानता है; हे भगवन्! वह उसकी बड़ी धृष्टता समझनी चाहिये।

व्याख्या—कृतप्रणाशदोषमकृतकर्मभोगदोषं भवभङ्गदोषं प्रमोक्षभङ्गदोषं स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् साक्षादित्य नुभवसिद्धान् उपेक्ष्यानादृत्य साक्षात्कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः सर्वभावानां क्षणभङ्गमुदयानन्तरवि- नाशरूपक्षणक्षयितामिच्छन् प्रतिपद्यमानस्ते तव परःप्रतिपक्षी वैनाशिकः [सौगत इत्यर्थः] अहो महासाहसिकः। सहसा अविमर्शात्मकेन वलेन वर्तते साहसिकः। भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते। महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी। इति मुकुलितार्थः।

व्याख्यार्थ—पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगे विना ही नाश हो जाना, स्वयं नहीं किये हुए कर्मोंका भी फल भोगने पड़ना, संसारका नाश हो जाना, मोक्षका नाश हो जाना तथा स्मरणशक्तिका नाश हो जाना इन अनुभवसिद्ध दोषोंको नहीं गिनकर संपूर्ण वस्तुओंको क्षणभंगुर माननेवाला तुह्मारा प्रतिपक्षी बौद्ध देखो! बड़ा साहसी है!! जिन संसारमोक्षादिक सपूर्ण विषयोंको क्षणिकवादी स्वयं मानता है उन्हीका अभाव सर्वथा क्षणभंगुरपना माननेसे होता है तो भी जैसे हस्ती नेत्र मूंदकर सब कुछ करता है तैसे ही संसारमोक्षादि संपूर्ण विषयोंका अनुभव करता हुआ तथा वस्तुकी स्थिति क्षणभंगुर माननेसे संसारमोक्षादि कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकते हैं ऐसा समझता हुआ भी जो वस्तुको उत्पत्तिके अनंतर क्षण क्षणमें नष्ट होते हुए मानता है सो ही दोषोंकी तरफ ध्यान नही देना है। **भावार्थ**—हे भगवन्! वस्तुका क्षण क्षणमें विनाश होना माननेवाला यह एक प्रकारका बौद्ध आपके मतका द्वेषी है। क्योंकि; आपकी युक्तिसे तो वस्तुका स्वरूप कथंचित् नित्य तथा कथंचित् अनित्य सिद्ध होता है परंतु इसने वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणध्वंसी माना है और यह मानना उसके ही आचरणसे दूषित सिद्ध होता है। आगे आनेवाले कष्टोंको विचारे विना ही अपनी शिरजोरीसे जो सहसा प्रवृत्त हो उसको साहसी कहते हैं। इस बौद्धकी भी ऐसी ही प्रवृत्ति है। क्योंकि;

क्षणभंगुरपना युक्तिसे बाधित होता है तो भी क्षणभंगुरताको ही मानता है। यह साहसियोंमें भी महासाहसी है। क्योंकि, यह सर्वथा ही विचार न करता हुआ धृष्टतासे कार्य करनेवाला है। इस प्रकार इस कारिकाका संक्षिप्त अर्थ है।

विवृतार्थस्त्वयम्।—बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति, न पुनर्मौक्तिककणनिकराऽनुस्यूतैकसूत्रवत्-दन्वयिनमेकम्। तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतं तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः। यस्य च फलोपभोगस्तेन तत्कर्म न कृतम्। इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य कृतप्रणाशः स्वकृतकर्मफलाऽनुपभोगात्। उत्तर-ज्ञानक्षणस्य चाऽकृतकर्मभोग स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति। अत्र च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः। तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः। बन्धानुलोम्यार्थेत्थमुपन्यास। तथा भवभङ्गदो-षः। भव आर्जवीभावलक्षणः ससारस्तस्य भङ्गो विलोपः स एव दोष क्षणिकवादे प्रसज्यते। परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः परलोकिनः कस्यचिदभावात्। परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेण भवति। तच्च प्राचीनज्ञानक्षणाना निरन्वय नाशात्केन नामोपभुज्यतां जन्मान्तरे? यच्च मोक्षाकरगुप्तेन "यच्चित्त सच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदा-नीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि" इति भवपरम्परासिद्धये प्रमाणमुक्तं तद् व्यर्थं; चित्तक्षणाना निरवशेषना-शिनां चित्तान्तरप्रतिसधानाऽयोगात्। द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसंधानमुभयानुगामिना केनचित्क्रियते। यश्चानयोः प्रतिसधाता स तेन नाभ्युपगम्यते। स ह्यात्माऽन्वयी। न च प्रतिसधत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः; कार्यहेतुप्रसङ्गात्। तेन वादिनाऽस्य हेतो' स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात्। स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति। भिन्नकालभाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम्? युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाऽभावापत्तिः। युगपद्भावित्वे-ऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामक यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति? अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जनन-मर्थः सोऽप्यनुपपन्नस्तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याऽभावात्। भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वादुत्तर-चित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम्? इति यत्किञ्चिदेतत्।

अब इसका अर्थ विस्तारसे कहते हैं। बौद्धलोग विचारके क्षणोंकी परंपराको ही केवल आत्मा मानते हैं। और मोतियोंके प्रत्येक नगोंमें प्रवेश पानेवाले सूतके डोराके समान प्रत्येक क्षणके साथ संबंध रखनेवाले अनाद्यनंत ऐसे किसी एक नित्य आत्माको नहीं

मानते हैं। बौद्धमतमें ऐसा माना गया है कि विचारके जिस क्षणने कुछ सत्स्वरूप अथवा असत्स्वरूप कार्य किया है उस क्षणका आगेकी पर्यायोंकी तरफ संबंधरहित सर्वथा नाश हो जाता है इसलिये अपने आपको अपने कृत्यका फल स्वयं नही भोगना पड़ता है। जिसको उस कृत्यका फल भोगना पड़ता है वह एक नवीन ही उत्पन्न होता है इसलिये उसका वह कर्म किया हुआ नहीं होता। इसप्रकार जिस पहिले क्षणने कर्म किया था उसको भोगना न पड़ा किंतु वह यों ही नष्ट हो गया इसलिये किये हुए कर्मका फल भोगेविना ही नष्ट हो जाना सिद्ध हुआ। तथा जिस आगेके ज्ञान क्षणने स्वयं उस कर्मको किया नहीं था उसको उसका फल भोगना पड़ा इसलिगे स्वयं नहीं किये हुए कर्मका भी फल भोगना सिद्ध हुआ। इस कारिकामें 'कृतप्रणाश' शब्द जो पड़ा हुआ है उसका अर्थ किगे हुए का नाश हो जाना होता है। परंतु यह शंका बनी ही रहती है कि ऐसा क्या किया है जिसका नाश हो जायगा? इस शंकाकी निवृत्ति करनेकेलिये आगे कहे हुए 'अकृतकर्मभोग' पदसे 'कर्म' शब्द लेकर 'कृतप्रणाश' शब्दके बीचमें भी जोड़ देना चाहिये और फिर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि पूर्वकृत जो कर्म है उसका नाश फल भोगेविना ही हो जायगा। रचनाकी रीति सरल होनेसे भी प्रकरणानुसार यह अर्थ हो सकता है। तथा क्षणिकपना माननेसे जिसका चारो गतिओंमें परिभ्रमण करना स्वरूप है ऐसा संसार भी सिद्ध न होसकैगा। अर्थात् परलोकका अभाव हो जायगा। क्योंकि; जब सभीका स्वभाव क्षणभंगुर माना गया है तब परलोक जानेके लिये बचा कोन रहैगा? जीव इस जन्ममें जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार परलोकमें जाकर सुख दुःख भोगता है। परंतु बौद्धमतमें तो ऐसी नित्य कोई चीज ही नहीं है जो जन्मान्तरमें जाकर सुखदुःख भोगनेकेलिये बनी रहै। क्योंकि; जो पूर्वके ज्ञानक्षण हैं वे आगे उत्पन्न होनेवाले क्षणोंके साथ कुछ भी संबंध न रखकर पहिले ही नष्ट हो जाते हैं इसलिये जन्मांतरमें जानेके लिये ऐसा कोन बचता है जो वहांके सुखदुःख भोगै? और जो मोक्षाकरगुप्तने इस दोषके दूर करनेके अभिप्रायसे यह कहा कि जो कोई चेतनाका क्षण होता है वह आगेके दूसरे चैतन्यक्षणमें अपने स्वरूपका संस्कार उत्पन्न करके ही नष्ट होता है। जिस प्रकार जीवनके मध्यका प्रत्येक चैतन्यक्षण आगेके चैतन्यक्षणमें संस्कार डालकर ही नष्ट होता दीखता है। मरणके अंतसमयमें होनेवाला चैतन्यक्षण भी एक चैतन्यक्षण है इसलिये वह भी आगामी परलोकके प्रथम चैतन्यक्षणमें अपने संपूर्ण संस्कारको जोड़कर ही नष्ट होता है। इस प्रकार परिपाटी दिखलानेसे मोक्षाकरगुप्तने यह सिद्ध किया कि बौद्धमतके अनुसार भी चैतन्य-

क्षणको अपने पूर्वकृत कर्मोंका शुभाशुभ फल परलोकमें भोगना पड़ता है। परंतु इस परिपाटीका दिखाना व्यर्थ है क्योंकि, जब पूर्वके चैतन्यक्षण सर्वथा नष्ट होते जाते हैं तब आगेके चैतन्यक्षणोंसे पूर्वके चैतन्यक्षणोंका संबंध होना ही असभव है। जब पूर्वापरकी दोनो वस्तु एक समयमें विद्यमान हों तब कदाचित् दोनोंमें मयेल रखनेवाली किसी एक शक्तिके द्वारा एक दूसरेके सामर्थ्यका संबंध तथा परिवर्तन हो सकता है। जो दोनो पर्यायोंमें अर्थात् चैतन्यक्षणोंमें संबंध करानेवाला आत्मद्रव्य है उसको बौद्धोने अंगीकार ही नहीं किया है। आत्मा ही सदा शाश्वता है इसलिये वही एक पर्यायके शुभाशुभ कर्मके फलादिको दूसरे पर्यायोंमें परिवर्तन करासकता है। आगेके पर्यायमें पूर्व धर्मका परिवर्तन कराना अर्थात् पैदा कराना यह अर्थ मानना भी बौद्धको इष्ट नहीं है। क्योंकि, ऐसा होनेमें तो कार्यकारणभाव संबंध होनेसे कार्यहेतु होजाता है और बौद्धने इसको माना स्वभाव हेतु ही है। सो पहिले कहचुके हैं। समावहेतु वहां ही होता है जहां तादात्म्य संबंध हो। और तादात्म्य संबंध तभी सं-भव है जब पूर्वापरके चैतन्यक्षण एकसाथ विद्यमान रहें। जहां पूर्वापरके चैतन्यक्षण सर्वथा भिन्न भिन्न समयवर्ती मानेगये हैं वहां उनका तादात्म्य संबंध कैसे होसकता है? और यदि एक समयमें भी पूर्वापर चैतन्यक्षणोंको विद्यमान मानलिया जाय तो भी यह निश्चय नहीं होसकता है कि अमुक चैतन्यक्षण तो अपने संपूर्ण सामर्थ्यका परिवर्तन करनेवाला है तथा अमुकमें परिवर्तन होता है। क्योंकि, ये चैतन्यक्षण सभी एकसे हैं, परस्पर उनमें कुछ अंतर नहीं है इसलिये यह विभाग कैसे होसकेगा कि इसमें तो साम-र्थ्यका परिवर्तन किया जायगा और इसके सामर्थ्यका परिवर्तन होगा। अच्छा! कुछ समयकेलिये ऐसा विभाग होना मानकर सामर्थ्यका परिवर्तन मान भी लियाजाय तो भी उस सामर्थ्यका परिवर्तन होना असंभव है। क्योंकि, एक ही समयमें कार्य और कारणका होना अनुचित है। यदि उन दोनोंका समय भिन्न भिन्न मानाजाय तो भी जब पूर्वका चित्क्षण नष्ट होचुका तो उत्तरके चित्क्षणकी उत्पत्ति विना उपादान कारणके कैसे होसकेगी? इस प्रकार विचारनेसे बौद्धमतानुसार परलोकका होना सिद्ध नहीं होता।

तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः। प्रकर्षेणाऽपुनर्भावेन कर्मबन्धनान्मुक्तिः प्रमोक्षस्तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति। कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते? ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते? न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं दध्वसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चिद्। वास्तवत्वे त्वात्माभ्युपगमप्रसङ्गः।

इसी प्रकार मोक्षका भी अभाव होजाता है। कर्मबंधके ऐसे नाश होजानेका नाम मोक्ष है जिसका फिर बंध न हो। ऐसे मोक्षका होना बौद्धमतके अनुसार असंभव है। प्रथम तो उसके मतमें आत्मा कोई वस्तु ही नही मानागया है इसलिये आगामी भवमें सुखी होनेके लिये प्रयत्न ही कौन करैगा? जबतक संसार है तबतक जो ज्ञानक्षणरूप पर्याय माने हैं उनमेंसे भी प्रतिसमय पूर्वके सर्वथा नष्ट होते जाते हैं और आगेके नवीन उपजते रहते हैं। उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है इसलिये वे भी सुखी होनेकी इच्छा नहीं कर सकते हैं। चेष्टा वही करता है जिसको आगे चलकर सुखी होनेकी आशा हो। केवल दूसरोंके सुखी होनेके लिये कोई भी ... प्रयत्न नहीं करता है। जब उनमेंसे कोई भी ज्ञानक्षण नहीं ठहर सकता है किंतु सभी नष्ट होनेवाले हैं तो सुखी होनेकेलिये प्रयत्न को... न करै? और प्रत्येक ज्ञानक्षणका सुखदुःख भी उसीके साथ नष्ट हो जाता है; आगे चलता नहीं है। इस दोषके दूर करनेके लि... ये यदि सब ज्ञानक्षणोंमें सुखदुःखको पहुचानेवाली एक वासना मानीजाय तो जिस मतमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है उसमें वा... सना भी कोई स्थिर पदार्थ सिद्ध नहीं होसकता; जिसके द्वारा सब क्षणोंमें सुखदुःखोंकी संतान चलती रहे। यदि वासनाको सच... तथा नित्य मानते हों तो वह आत्मा ही है। नाममात्रका भेद है।

अपि च बौद्धा निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष इत्याहुस्तच्च न घटते; कारणाऽभावादे... व तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाऽभावाद्विशेषानाधायकः प्रतिक्षणम... पूर्ववदुपजायमानो निरन्वयविनाशी गगनलङ्घनाभ्यासवदनासादितप्रकर्षो न स्फुटाऽभिज्ञानजननाय प्रभवतीत्य... नुपपत्तिरेव तस्य। सैमलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात्। ... किं च समलचित्तक्षणाः पूर्वे स्वरसपरिनिर्वाणाः। अयमपूर्वो जातः। सन्तानश्चैको न विद्यते। बन्धमोक्षौ चैकाधि... करणौ; न विषयभेदेन वर्तेते। तत्कस्येयं मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते? अयं हि मोक्षशब्दो

१ मतं क्षणिकमित्यानुपूर्वी... क्षणस्थायित्व पूर्वोत्तरोत्तरक्षण... एव निर्मलस्यान्ते निर्मलताम... विशेषविषयाकारनिर्हेतुविसंतानोदयो भावनाप्रचयसम्या अपि यदुत्तम् ॥ २ ननु सास्रवसंस्काराभावेऽपि पूर्वपूर्वज्ञान... उत्पद्यते रक्तकर्पासबीजसंतानवदित्याह समलेति ॥ ३ ननु ... न साक्षात्कारायायकतया न दोष इत्यत आह किं चेति ॥

ग्रन्धनविच्छेदपर्यायः । मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः । क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्ध' क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति मोक्षाऽभावः प्राप्नोति । १२ ।

और बौद्ध जो मोक्षका स्वरूप ऐसा मानते हैं कि संपूर्ण वासनाओंका नाश होजानेपर नष्ट होगया है विषयोंका मलिन संबंध जिसमें ऐसी विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति ही मोक्ष है सो यह स्वरूप बनता नहीं है। क्योंकि; जब कारण ही नहीं हो तो कार्य कैसे उपजसकता है ? भावनाओंके सन्तानको उसका कारण माना है तो वह कोई अविनाशी एक आश्रयरूप न होनेसे कुछ विशेषता पैदा नहीं करसकता तथा वह प्रत्येक नवीन नवीन ही उत्पन्न होता है तथा निरन्वय ही नष्ट होजाता है तथा जिस प्रकार गगनका कितना ही उलंघन क्यों न किया जाय परंतु अंत नहीं आता उसी प्रकार यह भी कितनी ही बार क्यों न उपज विनशे परंतु उसकी उत्पत्तिका अंत नहीं आता ऐसे उस ज्ञानक्षणसे किसी भी स्पष्ट एवं ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होसकती है इसलिये ऐसा शुद्ध ज्ञान होना असंभव ही है। भावार्थ—जब शुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति ही संभव नहीं है तो मोक्ष कहांसे हो? क्योंकि, शुद्ध ज्ञानकी उत्पत्तिका ही नाम मोक्ष है। और जो संसारदशामें होनेवाले मलिन ज्ञानक्षण हैं उनसे केवल मलिन ज्ञानक्षणोंकी ही उत्पत्ति होसकती है, शुद्ध ज्ञानक्षणोंकी उत्पत्ति होना संभव नहीं है। अर्थात् अशुद्ध ज्ञानक्षण उत्पन्न करनेमात्रकी उनमें स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है। क्योंकि, प्रत्येक बीज अपने सजातीय फलको ही पैदा करसकता है, विजातीयको कभी नहीं करसकता है। और जब उसका सदा मलिन ज्ञानक्षण उपजाना ही स्वभाव है तो अकस्मात् उसका नाश होजाना भी संभव नहीं है। भावार्थ—समस्त ज्ञान-क्षणोंका सर्वथा नाश होकर नवीन शुद्ध ज्ञानकी उत्पत्तिरूप मोक्षका होना असंभव ही है। और भी एक दोष यह है कि संसारदशामें होनेवाले मलिन ज्ञानक्षण तो सर्वथा अपने स्वरूपसे नष्ट होचुके तथा पीछेसे शुद्ध ज्ञानक्षणकी जो उत्पत्ति है वह निर्मूल ही है और पूर्ववर्ती तथा इन शुद्ध ज्ञानक्षणोंमें रहनेवाला कोई एक संतान संभव नहीं है। जब संसारदशाके मलिन ज्ञानक्षणोंका शुद्ध ज्ञानक्षणरूप मोक्षदशाके साथ कोई संबंध ही नहीं रहा तो संसारीक अवस्था तो किसी अन्यकी ही भी तथा मोक्ष किसी अन्यका ही हुआ ऐसा मानना पड़ैगा। यथार्थमें मोक्ष उसीका होना चाहिये जिसकी पहिले संसारीक अवस्था रही हो। क्योंकि; बंधनसे छूटनेका नाम मोक्ष है इसलिये जो बंधता है वही छूटसकता है जिसका कभी बंध ही नहीं हुआ वह छूटैगा किससे ? और जब संसारदशावाला जो बंधा है वह तो छूटता ही नहीं है तो वह प्रयत्न भी किसलिये करैगा ? जो कोई प्रयत्न

करता है वह अपने ही सुखी होनेकेलिये; नकि दूसरेकेलिये। क्षणिक बौद्धोंके मतमें बंधता तो पहिला क्षण है और छूटता है दूसरा इसलिये बंधे हुएकी मोक्षका तो अभाव ही रहा।

तथा स्मृतिभङ्गदोषः। तथा हि। पूर्वबुद्ध्याऽनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति; ततोऽन्यत्वात्सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते। अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाऽभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः? तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्। पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेणेयमुत्पद्यते। अथ स्याद्यं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव च स्मृतिः। भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति; तेन संतानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसांतानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्; एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्। न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं; क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः।

तथा क्षणिकपना माननेसे स्मरण भी न होसकैगा ऐसा दोष आता है। जैसे एक बुद्धिके विचारको दूसरेकी बुद्धि नहीं समझ सकती है क्योंकि; वे दोनो बुद्धि परस्पर भिन्न हैं उसी प्रकार बुद्धिके प्रथम क्षण आगेके क्षणोको नहीं जानसकते हैं क्योंकि; वे पूर्वोत्तर कालवर्ती सभी बुद्धिक्षण परस्परमें भिन्न हैं। जो वस्तु जिस किसीने देखी हो उसका स्मरण उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं करसकता है। यदि एकके देखे हुएका दूसरा भी स्मरण करसकता हो तो एकने जो चीज देखी है उसका स्मरण सभीको होना चाहिये। इस प्रकार जब आगेके बुद्धिक्षणोमें स्मरण ही नही होसकता है तो प्रत्यभिज्ञान कहांसे होगा? क्योंकि; प्रत्यभिज्ञान नामा ज्ञान तभी होता है जब पहिले देखे हुएका स्मरण हुआ हो तथा वर्तमानमें पहिलेके समान किसी चीजको अथवा विलक्षणको अथवा उसी चीजको अथवा अन्य प्रकारकी किसी चीजको प्रत्यक्ष देखा हो। **भावार्थ**—पहिले देखे हुएका स्मरण तो जैसे 'वह था' तथा वर्तमान किसीका ऐसा अनुभव करना जैसे 'यह है' ऐसे स्मरण तथा अनुभवके बाद उत्पन्न होनेवाले जोड़रूप एक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे वह यह है अथवा उससे यह भिन्न है अथवा यह उसके समान ही है,

इत्यादि। किसी वर्तमान वस्तुको देखनेसे जब पूर्वका स्मरण उठता है तभी उसके बाद प्रत्यभिज्ञान उपजता है। यहांपर बौद्ध कहता है कि " यदि हम बिना किसी संबंधके ही अन्यकर देखे हुएका अन्यको स्मरण होना मानें तो ऊपर दिखाया हुआ दोष आसके परंतु हम तो कार्यकारणपना जिनमें पाया जाता हो उन्हींमें परस्पर एक दूसरेका स्मरण होना मानते हैं। जो संतान भिन्न भिन्न हैं उनमें परस्पर कार्यकारणपना ही नहीं है इसलिये उनमें एकके देखे हुएका दूसरेको स्मरण नहीं होसकता है। किंतु जो बुद्धिक्षण एक ही संतानमें उत्पन्न होते हैं उनमें पूर्वका बुद्धिक्षण तो कारण होता है और पीछे उत्पन्न हुआ कार्य होता है इसलिये उस कार्यकारणपनेके संबंधसे उन एक संतानवर्ती बुद्धिक्षणोंमें स्मरण होसकता है" । यह भी बौद्धका कथन ठीक नहीं है। क्योंकि, एक संतानवाले क्षणोंमें कार्यकारणरूप संबंध माननेसे भी कुछ भिन्नता मिट नहीं जाती है। भिन्नता तो तब न रहे जब सभी क्षण एकरूप हों। जब सभी क्षण परस्पर भिन्न हैं, क्षण क्षणमें नष्ट होते जाते हैं तब कार्य-कारणरूप संबंध माननेसे भी परस्परका भेद मिट नहीं सकता है। और जहां कार्यकारणपना हो वहां चाहें परस्पर भेद हो तो भी पहिलेके देखे हुएका दूसरेको स्मरण होसकता है ऐसा कोई दृष्टान्त भी नहीं है जिसका दोनो पक्षोंमें आदर होसके।

अथ "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा" इति कर्प्पासे रक्तता-दृष्टान्तोऽस्तीति चेत्तदसाधीयः साधनदूषणयोरसंभवात्। तथा हि। अन्वयाद्यसंभवान्न साधनम्। न हि कार्यका-रणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्प्पासे रक्ततावदित्यन्वयः संभवति। नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति। असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावदित्यने-न कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते। किं च यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते तदा शिष्याचार्यादिबु-द्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात्। अथ नायं प्रसङ्ग एकसंतानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्तदप्ययुक्तं; भेदाऽभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरम्परातस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरम्परैव सा। तथा च संतान इति न किंचिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्। भेदे त्वपारमार्थिकः पारमार्थिको वाऽसौ स्यात्? अपारमार्थिकत्वेऽ-स्य तदेव दूषणमकिंचित्करत्वात्। पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वा? क्षणिकत्वे संतानिनिर्विशेष

एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकरणिना । स्थिरश्चेदात्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः । इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् । तदभावे चाऽनुमानस्याऽनुत्थानमित्युक्तं प्रागेव ।

कदाचित् कहो कि "जिस संतानमें कर्मोंकी वासना होती है उसी संतानद्वारा उन कर्मोंका फल भोगा जाता है । जैसे जिस कपासके बीजमें लालिमा होती है उसके बोनेपर उसीसे उपजे कपासमें लालिमा आती है" यह कपासलालिमाका दृष्टांत मिलता है परंतु इस दृष्टांतसे न तो कुछ सधसकता है और न किसी वचनमें बाधा पड़सकती है । कार्यकारणपना जहां जहां होता है वहां वहां स्मरण उत्पन्न होता है जैसे कपास और लालिमा ऐसा अन्वय नहीं संभवता है तथा जहां स्मृति नहीं होती वहां कार्यकारणपना भी नही होता ऐसा व्यतिरेक भी नहीं घटता है । जहां अन्वय व्यतिरेक संभव हों वहां ही हेतु सिद्ध होसकता है । यदि अन्वयव्यतिरेक ही नहीं होसके तो कार्यकारणरूप हेतु किस प्रकार सिद्ध होसकता है? जब हेतु सिद्ध हो तभी कार्यकारणपना होनेसे स्मृति होना भी संभव होसकता है । और हमने जो यह कहा था कि जिनमें परस्पर भेद होता है उनमें एकके देखे हुए पदार्थ की दूसरेको स्मृति होना असंभव है सो इस वचनमें कपास लालिमाके दृष्टांतसे कुछ असिद्धतादिक दोष भी आते नहीं दीखते, जो हमारा कहना असत्य होजाय । और भी एक दोष यह है कि यदि कार्यकारणपनेके संबंधमात्रसे भिन्न भिन्न वस्तुओंमें भी स्मृति उपजसकती हो तो शिष्यको गुरु पढ़ाता है इसलिये शिष्यकी बुद्धि तो कार्य है तथा गुरुकी बुद्धि कारण है सो यहां भी गुरुके अनुभव किये पदार्थोंका शिष्यको स्मरण होना चाहिये परंतु होता नहीं है सो क्यों? एक संतानमें ही कार्यकारणरूप संबंधके द्वारा स्मरणका होना मानना भी युक्तिसंगत नही है क्योंकि; जब संतान और बुद्धिक्षणोंमें परस्पर भिन्नता अभिन्नताका विचार करनेलगते है तो संतान कोई चीज सिद्ध नहीं होती । कैसे? यदि क्षणपरंपरा तथा संतानमें परस्पर अभेद मानाजाय तो क्षणपरंपरा ही रही; संतान कोई भिन्न वस्तु नहीं ठहरी इसलिये संतानसे कोई अपूर्व कार्य होना असंभव है; जो कुछ कार्य होगा वह क्षणपरंपरासे ही होगा । और यदि क्षणपरंपरासे संतान कोई भिन्न वस्तु है तो भी वह सचमुच कुछ है अथवा कल्पनामात्र ही है? यदि कल्पनामात्र ही है तब तो फिर भी कुछ कर नहीं सकती है । और यदि सचमुच कोई चीज है तो वह स्थिर है अथवा बुद्धिक्षणादिवत् वह भी क्षणिक है? यदि संतान भी क्षणिक है तब तो जैसे क्षणपरंपरामें दोष हैं तैसे ही दोष इसमें भी संभव होसकते हैं इसलिये ऐसी संतानके माननेसे भी क्या प्रयोजन? यह

मानना तो ऐसा ही है जैसा एक चोरसे भयभीत होकर दूसरे चोरका शरण लेना। यदि वह स्थिर है तो नाम बदलकर आत्मा ही स्वीकार किया समझना चाहिये। इस प्रकार जबतक क्षणिकपना मानाजायगा तबतक स्मृति होना असंभव ही है। स्मरण न होनेसे अनुमान भी न होसकेगा यह दोष तो पहिले ही दिखाचुके हैं।

अपि च स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन्। "इत एकनवते: कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः" इति वचनस्य च का गतिः? एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयति इति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः। क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिमैति तस्य महत् साहसम्। इति काव्यार्थः।

परंतु एक और भी दोष यह संभव है कि यदि स्मृति नहीं रहेगी तो जो धरोहर रक्खी गई है उसको मांगेगा कौन तथा पीछा देगा कौन? ऐसे व्यवहारोंका नाश ही होजायगा। और "अबसे इक्यानवेमें कल्पमें मैंने बलात्कारसे एक पुरुष मारडाला था उसी कर्मके खोटे फलसे हे भिक्षुको! यह मेरा पैर छिदा है" इस वचनके विषयमें क्या उत्तर होसकैगा? इसी प्रकार जो उत्पत्ति स्थिति जरा तथा मरणके क्रमसे चार क्षण पर्यंत वस्तुकी स्थिति मानते हैं उनका कहना भी अनुचित है। प्रथम क्षणमें तो वस्तुकी उत्पत्ति, दूसरे स्थितिक्षणमें वस्तुकी स्थिति, तीसरे जराक्षणमें वस्तुकी अवस्था जर्जरित होना तथा चौथे मरणक्षणमें वस्तुका नाश ऐसे चार क्षण ही वस्तु रहसकती है ऐसा वे कहते हैं परंतु यह कहना दूषित है। क्योंकि, चार क्षणके अनंतर भी रक्खी हुई धरोहरका लेना देना देखा जाता है। इस प्रकार अनेक दोष आते हुए भी जो क्षणभंगुरता मानता है उसका बड़ा भारी साहस समझना चाहिये। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

अथ तथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकर्ण्येत्थं प्रतिपादयिष्यन्ति यत्पदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एवेति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिमतभेदाभेदस्याद्वादमकामानपि तानङ्गीकारयितुमाह।

क्षणभंगुरता माननेमें सर्व व्यवहारोंका लोप होजानेका दोप जो बौद्धोंके ऊपर लगायागया उसकी मरंमत बौद्ध इस प्रकार करैंगे कि यद्यपि संपूर्ण पदार्थ क्षणभंगुर है तो भी वासनाके बलसे उत्पन्न हुए अभेदज्ञानसे इस लोक तथा परलोक संबंधी संपूर्ण व्यवहार चल सकते हैं इसलिये पूर्वकृत कर्मोंका नाश होजायगा इत्यादिक दोप कहना असत्य है। बौद्धोंकी इस आशंकाको दूर करनेकी इच्छासे आचार्य महाराज बौद्धकी कल्पना की हुई वासना क्या क्षणपरंपरासे भिन्न है अथवा अभिन्न है अथवा भिन्न भी नही है तथा अभिन्न भी नहीं है ऐसी तीनो कल्पनाओंमेंसे किसी भी कल्पनाके माननेमें वासनाकी सिद्धि नहीं होती ऐसा दिखाते हुए जैनधर्ममें माने हुए कथंचित् भेदाभेद नहीं चाहते हुए भी बौद्धोंको मानने पड़ते हैं ऐसा कहते हैं।

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाऽभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोतन्या[illegible]त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥

मूलार्थ—सर्वथा एकता मानना अथवा परस्पर भेद ही मानना अथवा भेदाभेद दोनो ही न मानना ऐसे तीन पक्षोंकी कल्पना बौद्धमतमें हो सकती है। परंतु इन तीनो पक्षोमेंसे किसी भी पक्षके माननेसे बौद्धकर संकल्पित कीहुई वासना तथा प्रतिसमय उत्पन्न और नष्ट होते हुए ज्ञानक्षणोकी शृंखला सिद्ध नहीं होसकती है; इसलिये हे अर्हन्! जैसे समुद्रके बीच जहाजसे उड़े हुए पक्षीको जब जहाजके अतिरिक्त कोई भी शरण नहीं दीखता है तब जहाजका ही उसको शरण लेना पड़ता है तैसे बौद्धोंको अपने सिद्धान्तका खंडन होजानेसे आपकर कहे हुए कथंचित् भेदाभेदरूप सिद्धांतका ही शरण लेना चाहिये।

व्याख्या–सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावन्नवनवोत्पद्यमानापरापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदाऽनुभयैर्न घटेते। न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा; न द्वयम्। यद्धि यस्मादभिन्नं न तत्ततः पृथगुपलभ्यते। यथा घटाद्घटस्वरूपम्। केवलायां वासनायामन्वयिस्वीकारः। वास्याऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु? इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते। क्षणपरम्परामात्रा-

द्वीकरणे च प्राग् एव दोषाः। न च भेदेन ते युज्येते। सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यादक्षणिका वा? क्षणिका चेत्तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक्कल्पनं व्यर्थम्। अक्षणिका चेदन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनागमबाधः। तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम्।

व्याख्यार्थ–प्रथम ज्ञानक्षणसे आगेके दूसरे ज्ञानक्षणोंमें उत्पन्न होती हुई शक्तिको वासना कहते हैं। टूटी हुई मोतियोंकी मालामेंसे बिखिरे हुए मोतियोंके समान परस्पर जुदे जुदे ज्ञानक्षणोंका एक दूसरेमें मिले हुएकासा ज्ञान करानेवाली वासना बौद्धमतावलम्बियोने मानी है। यह वासना संपूर्ण ज्ञानक्षणोंमें इस प्रकार प्रविष्ट रहती है जिस प्रकार मोतियोंकी मालामें डोरा। इसीका दूसरा नाम संतान है। और दीपककी लौके समान सदा नये नये उत्पन्न होते हुए पूर्वोत्तर पर्यायोंमें एकसी जो ज्ञानक्षणोंकी अर्थात् प्रत्येक समयवर्ती ज्ञानके पर्यायोंकी श्रेणी है उसीको बौद्धसिद्धांतवाले क्षणसंतति कहते हैं। ये दोनो ही क्षणसंतति तथा वासना न तो अभेदपक्षमें माननेसे ही संभव होसकती हैं और न भेदपक्ष अर्थात् अनेकता माननेसे और न भेदाभेद दोनो ही न माननेसे। जब अभेदपक्ष मानते हैं तब तो संपूर्ण संसार ही एकरूप है इस लिये यह वासना है और यह क्षणसंतति है ऐसा भेदव्यवहार नहीं बनसकता। जब संपूर्ण विश्वको अभेदरूप मान चुके तब या तो वासना ही एक चीज मानलीजाय या क्षणसंतति ही। अभेदरूप संपूर्ण विश्वको मानते हुए यह नहीं कहसकते हैं कि वासना तथा क्षणसंतति दोनो ही भिन्न भिन्न वस्तु हैं। जो वस्तु जिससे अभिन्न है उसकी प्रतीति उससे भिन्न होकर कभी नहीं होसकती है। जैसे घड़ा और घड़ेका आकार ये दोनो अभिन्न हैं, घड़ेका स्वरूप घड़ेके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु नहीं है इसलिये घड़ेके स्वरूपका घड़ेके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र भान नहीं होता। इस प्रकार जब दोनो जुदे सिद्ध नहीं होते तब यदि केवल वासना ही स्वीकार करें तो वासनामें एक अनुगामीपना धर्म रहता है सो जब वासित करने योग्य कोई भिन्न पदार्थ ही नहीं है तो वासनाका अन्वय कहांपर रहेगा और अपनी वासनासे किसको वासित करेगा? इस प्रकार केवल वासना माननेपर तो वासनाका स्वरूप भी नहीं बनता है और यदि केवल क्षणसंतति ही मानीजाय तो क्षणसंततिमें आनेवाले दोष पहिले ही कहचुके हैं। और दोनोंमें भेद माननेपर भी वासना तथा क्षणसंतति सिद्ध नहीं होसकती हैं। क्योंकि, वासनाको भिन्न मानकर भी क्या क्षणसंततिकी तरह क्षणिक माना है अथवा नित्य? यदि वासना भी क्षणिक है तो क्षणसंततिके अतिरिक्त वासनाकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। अर्थात् यदि चिरस्थायी सब क्षणोंमें रहनेवाली एक वासना नही मानीजाय तो पहिले क्षणवर्ती

पुण्यपापादिक आगेके दूसरे क्षणोंमें न पहुंच सकैगे किंतु फल विना दिये ही पुण्यपापादिक क्षणनाशके साथ साथ नष्ट होजांयगे। इसलिये पहिले अनुभवको तथा पुण्यपापादिकोंको आगेके क्षणोंमें पहुंचानेकेलिये ही वासनाकी कल्पना की गई है। यह वासना नित्य होनेसे ही आगेके क्षणोंमें पहिले क्षणोंके पुण्यपापादिकोंको पहुंचा सकती है। परंतु यदि यह भी क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली मानीजाय तो स्मरण तथा पुण्यपापादिक क्षणनाशके साथ साथ नष्ट होजानेका जो दोषारोपण किया था वह दोषारोपण वासना माननेपर भी ज्योंका त्यों बना रहता है इसलिये वासनाका मानना न मानना बराबर है। इस भयसे यदि वासनाको नित्य ही मानने लगैं तो इस नित्य पदार्थके स्वीकार होनेसे बौद्धोंके सिद्धांतमें बाधा आती है। क्योंकि; बौद्धोंके सिद्धांतमें कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। और जब वासनाको नित्य मानलिया तो अन्य पदार्थोंको भी नित्य माननेमें क्या बाधा है जो क्षणिक सिद्ध करनेके लिये इतना प्रयास उठानेका व्यसन लगा रक्खा है।

अनुभयपक्षेणापि न घटेते। स हि कदाचिदेवं ब्रूयात्–नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये न च भेदं; किं त्वनुभयमिति तदप्यनुचितं; भेदाऽभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात्। अन्यतरपक्षाभ्युपगमस्तत्र च प्रागुक्त एव दोषः। अथवाऽनुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः। भेदाऽभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात्। अनार्हतानां हि वस्तुना भिन्नेनवा भाव्यमभिन्नेन वा; तदुभयाऽतीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात्। एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परावासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद्भेदाऽभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः। न च "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यं; कुक्कुटसर्पनरसिंहादिवज्जात्यन्तरत्वादनेकान्तपक्षस्य।

यदि कदाचित् बौद्ध कहै कि न तो मैं वासनामें क्षणसंततिसे भेद ही मानता हूं और न अभेद ही मानता हूं किंतु भेदाभेद दोनोंका अभाव मानता हूं तो यह भी बौद्धका कथन अयोग्य है। क्योंकि; भेद तथा अभेद ये दोनो ऐसे धर्म हैं कि एकके निषेधसे दूसरा आही जाता है इसलिये भेदको न मानै तो अभेद आपड़ता है और अभेदको न मानै तो भेद आपड़ता है। दोनोका निषेध कदापि नहीं होसकता। और भेदाभेदमेंसे किसी एकको मानै तो प्रत्येकके दोष ऊपर दिखा ही चुके हैं। और यदि भेदाभेद का अभाव माना ही जाय तो दोनोंके निषेध करनेपर कुछ रहेगा ही नहीं किंतु सर्वाभाव होजायगा। क्योंकि;

पदार्थकी सिद्धि या तो भेदरूपसे ही होसकती और या अभेद मानकर ही। वस्तुकी स्थिति करनेका भेदाभेद छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो आर्हत मतको नहीं मानते हैं वे या तो वस्तुको भेदरूपसे ही साधसकते हैं या अभेदरूपसे ही। जैसे वांझके सुत होना संभव नहीं है तैसे उनके लिये भेदाभेदके अतिरिक्त वस्तु साधनेका कोई भी मार्ग संभव नहीं है। इस प्रकार तीनो पक्षोंके माननेमें दोषारोपण होसकता है। एक भी पक्ष ऐसा नहीं है जिसके माननेसे क्षणसंतति तथा वासना सिद्ध होसकै इसलिये हताश होकर कथंचित् भेदाभेदपक्ष ही मानना पड़ता है। "जो दोष प्रत्येक जुदे जुदे पक्ष माननसे आता है वह दोष उन दोनोंके समुदायरूप एक पक्ष माननेसे भी आवेगा" इस वचनके अनुसार जो दोष एक एक भेद अथवा अभेद पक्षके माननेसे आते हैं वे कथंचित् भेदाभेद माननेमें भी आसकते हैं ऐसा कहना भी असत्य है। क्योंकि; जैसे कुक्कुटसर्प या नरसिंह पर्यायमें न तो केवल कुक्कुट या नरकासा ही रूप रहता है और न सर्प या सिंहकासा ही किंतु दोनोंसे विलक्षण ही होता है उसी प्रकार कथंचित् भेदाभेदरूप अनेकांतवादका स्वरूप एक एक पक्षोंकी अपेक्षा कुछ निराला ही है।

नन्वार्हतानां वासनाक्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति। तत्कथं तदाश्रयभेदाभेदचिन्ता चरितार्था इति चेन्नैवम्। स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरम्परोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। अतीताऽनागत-वर्तमानपर्यायपरम्परानुसन्धायकं चान्वयिद्रव्यम्। तच्च वासनेति सञ्ज्ञान्तरभाक्त्वेऽप्यभिमतमेव। न खलु नामभेदाद्वादः कोऽपि कोविदानाम्। सा च प्रतिक्षणोत्पादिष्णुपर्यायपरम्पराऽन्वयिद्रव्यात्कथंचिद्भिन्ना कथंचिदभिन्ना च। तथा तदपि तस्याः स्याद्भिन्नं स्यादभिन्नम्। इति पृथक्प्रत्ययव्यपदेशविषयत्वाद्भेदो द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनादभेदः। एतच्च सकलादेशविकलादेशव्याख्याने पुरस्तात्प्रपञ्चयिष्यामः।

जैनोंने जब वासना तथा क्षणसंतति ये दोनो पदार्थ ही नहीं माने हैं तो वे परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न ऐसा विचार करने की उनको क्या आवश्यकता है? यह शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि, स्याद्वादियोंने भी प्रतिक्षण नये नये पर्यायोंकी उत्पत्ति मानी है इसलिये तो क्षणिकता अथवा क्षणसंतति मानना सिद्ध होता है और जो एक द्रव्यके अतीत अनागत वर्तमान काल संबंधी संपूर्ण पर्यायोंको एकरूप रखनेवाला है उसको अन्वयिद्रव्य कहा है तथा उसीको वासना नामसे भी कहसकते हैं। नाममात्रका भेद होनेसे विद्वानोंमें विवाद कभी नहीं होता। यह प्रत्येक क्षणोंमें उपजनेवाली पर्यायोंकी शृंखला अन्वयिद्रव्यसे

(वासनासे) कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। इसी प्रकार अन्वयिद्रव्य भी पर्यायपरंपरासे (क्षणपरंपरासे) कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। जो प्रत्येक पर्यायका ज्ञान जुदा जुदा होता है वह निर्मूल नहीं है इसलिये तो प्रत्येक पर्याय भिन्न भिन्न हैं परंतु वे संपूर्ण पर्याय होते एक ही द्रव्यके हैं इसलिये पर्याय तथा अन्वयि द्रव्य एक दूसरेसे अभिन्न हैं। इस कथंचित् भेदाभेदका खुलासा आगे चलकर सकलादेश विकलादेशका व्याख्यान करते समय करैंगे।

अपि च बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता। तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चाऽस्थिराणां भिन्नकालतयान्योन्याऽसंबद्धानां च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते; स्थिरस्य संबद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति। अथ पूर्वचित्तसहजाच्चेतनाविशेषात्पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते। सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना। तथा हि। पूर्वचित्तं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत्षड्विधम्। पञ्च रूपादिविज्ञानान्यऽविकल्पकानि। षष्ठं च विकल्पविज्ञानम्। तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्। तस्मात्पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति। तदपि न; अस्थिरत्वाद्वासकेनाऽसम्बन्धाच्च। यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति। वर्तमानस्याऽशक्याऽपनेयोपनेयत्वेनाऽविकार्यत्वात्। तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यति इति। नाप्यनागते उपकारं करोति; तेन सहासंबद्धत्वात्। असंबद्धं च न भावयतीत्युक्तम्। तस्मात् सौगतमते वासनापि न घटते। अत्र च स्तुतिकारेणाऽभ्युपेत्यापि तामन्वयिद्रव्यव्यवस्थापनाय भेदाभेदादिचर्चा विवरितेति भावनीयम्।

और भी एक दोष यह है कि बौद्धमतमें वासना भी नहीं सिद्ध होती है इसलिये जब क्षणसंततिके अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है तो भेदाभेदका झगड़ा बिना आधार करना व्यर्थ है। पूर्व क्षणके धर्मोंका उत्तर क्षणोंमें आजाना ही वासना मानी गई है। परंतु जो क्षण स्वयं अस्थिर हैं तथा जुदे जुदे समयोंमें उपजनेसे एक दूसरेसे मिल नहीं सकते हैं उन क्षणोंमेंसे यह क्षण तो वासना पैदा करनेवाला है तथा इस क्षणमें वासना पैदा होती है ऐसा कथन कैसे बनसकता है? जो वस्त्रादि स्वयं स्थिर हों तथा जिनका कस्तूरी आदिकके साथ संबंध भी होसकता हो उन्हींमें कस्तूरी आदिकोंकी वासना होती हुई दीखती है। यहांपर बौद्ध कहता है कि पूर्वचित्तक्षणके साथ साथ उत्पन्न हुए एक प्रकारके चैतन्यके द्वारा पूर्वकीसी शक्तिसहित दूसरा चित्तक्षण

उपजता है। पूर्वकीसी शक्तिविशिष्ट आगेके चित्तक्षणका उत्पन्न होना ही वासना है। पहिला जो रूपादिक ग्रहण करनेवाला चित्तक्षण है उसको प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं और वह छह प्रकारका होता है। रूपरसादिकके ग्रहण करनेवाले पांच विज्ञान तो निर्विकल्पक हैं और छट्ठा विज्ञान सविकल्पक है। इन्हीं ज्ञानोंको चित्त कहते हैं। जिस ज्ञानमें विशेषाकाररूप नाना प्रकारके भिन्न भिन्न पदार्थ प्रतिभासित हों वह तो सविकल्पक कहाता है और जिसमें सब कुछ विज्ञानमय अभिन्न ही दीखे वह निर्विकल्पक कहाता है। विकल्प नाम भेदका है। उस छह प्रकारके ज्ञानके साथ साथ उत्पन्न हुआ और अहंकारको उपजानेवाला तथा आलयविज्ञान जिसका दूसरा नाम है ऐसा जो एक प्रकारका चैतन्य है उससे पूर्वकीसी शक्तिविशिष्ट एक चित्तकी उत्पत्ति होती है। वासना भी उसीको कहते हैं। यह सब बौद्धका कहना सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि, जो वासनाको पैदा करता है वह स्वय अस्थिर है तथा जिसमें वासना उपजाई जाती है उसके साथ मिल भी नहीं सकता है। और जो यह पूर्वचित्तके समयमें उत्पन्न होनेवाला चैतन्यविशेष है वह वर्तमान कालवर्ती चित्तमें कुछ भी उपकार नहीं कर सकता है। क्योंकि, जो वर्तमानमें माना जाता है उसके स्वरूपमें न तो किसी धर्मका नाश होना ही संभव है और न किसी धर्मकी उत्पत्ति होना। वह तो जैसा उपजता है वैसा ही नष्ट होजाता है। इस प्रकार वर्तमानके चित्तक्षणमें तो पूर्व चित्तक्षणद्वारा उपकार होना असंभव है ही किंतु आगामी चित्तक्षणमें भी पूर्वके चित्तक्षणद्वारा उपकार होना असभव ही है। क्योंकि, आगामी चित्तक्षणके साथ उसका कुछ भी संबंध नहीं होसकता है। जो स्वयं असंबद्ध है अर्थात् जो जिसके साथ मिल नहीं सकता है वह उसमें किसी प्रकारकी वासना भी नहीं पहुचा सकता है ऐसा कहचुके हैं। इस प्रकार सौगत मतमें वासनाकी सिद्धि होना असंभव है। स्तुतिकर्ता श्रीहेमचन्द्राचार्यने वासनाको स्वयं मानकर भी जो यहांपर भेदाभेदकी चर्चा की है वह सदासे अखण्ड प्रवर्तते हुए अविनाशी द्रव्यकी सिद्धि करनेकेलिये ही की है ऐसा समझना चाहिये।

अथोत्तरार्धव्याख्या। तत इति पक्षत्रयेऽपि दोषसद्भावात्स्वयुक्तानि भवद्वचनानि भेदाभेदस्याद्वादसवादपूतानि परे कुतीर्थ्याः प्रकरणान्मायासनयाः श्रयन्तु आद्रियन्ताम्। अत्रोपमानमाह तटादर्शीत्यादि। तट न पश्यतीति तटादर्शी यः शकुन्तपोतः पक्षिशावकस्तस्य न्याय उदाहरणं तस्मात्। यथा किल कथमप्यपारपारावारान्तःपतितः काकादिशकुनिशावको वहिर्निर्गमिषया प्रवहणकूपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये मुग्धतयोड्डीनः समन्ताज्जलैका-

र्णवमेवावलोकयंस्तटमदृष्ट्वैव निर्वेदाद्व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते; गत्यन्तराऽभावात्। एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाऽभेदपक्षमनिच्छयापि कक्षीकुर्वाणास्त्वच्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम्। नहि स्वस्य बलविकलतामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपोषाय नीतिशालिनाम्। त्वदुक्तानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथाऽवस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं नान्यदिति ज्ञापनार्थम्; अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्; इतरथाऽन्धगजन्यायेन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात्।

अब बांकी रहे हुए आधे श्लोकका व्याख्यान करते है। इससे अर्थात् पक्षत्रयमें दोष होनेसे अन्य कुत्सित धर्मोंके प्रवर्तकोंको भी आपके दिखाये हुए कथंचित् भेदाभेदरूप स्याद्वादवचनोंका ही आश्रय लेना चाहिये। यहांपर अन्य कुत्सित धर्मोंके प्रवर्तकोंको ऐसा सामान्य शब्द होनेपर भी प्रकरणके वशसे बुद्धमतावलंबी ही समझना चाहिये। अर्थात्—बौद्धादिकोंके वचन सर्वथा भेदरूप अथवा अभेदरूप अथवा अनुभयरूप ही हैं इसलिये उन वचनोमें नाना प्रकारके दोष संभव हैं और आपके वचन कथंचित् भेदाभेदरूप स्याद्वादगर्भित होनेसे किसी प्रकार भी दूषित नहीं है इसलिये परवादियोंको झख मारकर अंतमें आपके ही वचन स्वीकार करने पड़ते हैं। अब यहांपर झख मारकर अंतमें आपके ही वचन किस प्रकार स्वीकार करने पड़ते हैं इस बातको 'तटादर्शि' इत्यादि कहकर दृष्टांत द्वारा समझाते हैं। समुद्रके किनारेसे बहुत दूर पहुच जानेसे जिस पक्षीके बच्चेको किनारा नही दीखता हो उसको तटादर्शि शकुंतपोत कहते हैं। उसीका यहांपर दृष्टांत है। किसी पक्षीका बच्चा जहाजके मस्तूलपर वेठा रहकर किसी प्रकार अथाह तथा विशाल समुद्रके बीचमें पहुचजानेपर बाहिर निकलनेकी इच्छासे किनारेपर आनेके लिये मूर्खताके कारण जहाजके मस्तूलसे जब उड़जाता है और चारो तरफ जल ही जल देखता है किंतु किनारा किधर भी नहीं दीखता है तब जिस प्रकार पुरुषार्थहीन होकर फिरसे लौटकर उसी मस्तूलका सहारा लेता है। क्योंकि; वहां दूसरा कोई शरण ही नही है। उसी प्रकार कुत्सित मतोंके प्रवर्तक बौद्धादिक भी जब पूर्वोक्त भेदादि तीनो पक्षोमेंसे किसी पक्षसे भी वस्तुसिद्धि नहीं करसकते है तब जिस कथंचित् भेदाभेदरूप चौथे पक्षका आपने उपदेश किया है उसीका आश्रय नहीं चाहते हुए भी झख मारकर लेते हुए आपके मतका सहारा लेते हैं। अपने बलकी हीनता देखकर अपनेसे अधिक बलवान् स्वामीका शरण लेना कुछ भी नीतिविरुद्ध

नहीं है । श्लोकमें जो "[illegible]" ऐसा बहुवचनान्त पद पड़ा है उससे यह सूचित होता है कि और भी संपूर्ण कुमतवादी लोग प्रत्येक मानकर स्याद्वादका शरण लेकर ही यथार्थ वस्तुका प्रतिपादन करसकते हैं । जबतक आपके (अर्हत्के) स्याद्वादका शरण नहीं लेंगे तबतक कदापि ठीक वस्तुस्वरूप नहीं कहसकते हैं । क्योंकि, प्रत्येक वस्तुमें धर्म अनंतो हैं, किसी धर्मका ज्ञान किसी नयसे होसकता है और किसी धर्मका किसी नयसे, एक नयसे संपूर्ण धर्मोंका ग्रहण होना असंभव है इसलिये संपूर्ण नयस्वरूप स्याद्वादके माने बिना यथार्थ वस्तुका ज्ञान होना असंभव है । यदि स्याद्वादका शरण न लेंगे तो अंधगजन्यायके अनुसार वस्तुके एक एक अंशका ही ज्ञान होसकेगा, और वस्तुका संपूर्ण स्वरूप ग्रहण करना असंभव ही रहेगा ।

जन्मके अंधे मनुष्य, हाथीका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथीके पास यदि जावें और उनमेंसे कोई तो टटोलकर हाथीकी पूंछ पकड़े, कोई कान, कोई सूंड़ तथा कोई पैर तो इस प्रकार हाथीका एक एक अंग जानकर पूंछ पकड़नेवाला तो हाथीका स्वरूप रेंटकासा कहेगा और कान पकड़नेवाला कानकासा, सूंड़ पकड़नेवाला सूंड़कासा तथा पैर पकड़नेवाला हाथीका स्वरूप खंभसरीखा कहेगा । इसी प्रकार जिस जन्मांधने जिस अंगको टटोला होगा वह उस हाथीका स्वरूप उसी अंगसमान कहेगा । इसीको अंधगजन्याय कहते हैं । यदि यहां विचार किया जाय तो जो अंधे मनुष्योंने हाथीका स्वरूप कहा है वह सर्वथा झूठा नहीं है। क्योंकि; हाथीके एक एक अंगकी अपेक्षा वह स्वरूप हाथीका ही है, अन्य किसीका नहीं है । परंतु यदि हाथीके पूर्ण स्वरूपका विचार करते हैं तो जो एक एक अंधने कहा है उतना ही पूर्ण स्वरूप नहीं है । पूर्ण स्वरूप तो उन सब अंधोंके कहे हुए स्वरूपोंको मिला देनेपर ही होता है । इसी प्रकार जन्मांधोंके समान कुमतवादियोंने अनेक अंगोंविशिष्ट हाथीके सदृश अनेक धर्मविशिष्ट जो वस्तु है उसका स्वरूप एक एक धर्मका ही आश्रय लेकर कहा है । किसीने सर्वथा भेद ही वस्तुका स्वरूप माना है किसीने अभेद ही; किसीने नित्य ही; किसीने अनित्य ही; किसीने उभयात्मक ही तथा किसीने अवाच्य ही । इस प्रकार वस्तुका एक एक धर्म लेकर नाना प्रकारसे परस्पर विरुद्ध वस्तुस्वरूप कहा है । यद्यपि ये संपूर्ण वस्तुस्वरूप एक एक धर्मकी अपेक्षासे सच्चे हैं परंतु यदि पूर्ण स्वरूप विचारा जाय तो उतना ही नहीं है । किंतु उन संपूर्ण स्वरूपोंको मिलानेपर यथार्थ वस्तुका स्वरूप सिद्ध होता है और इसीका नाम कथंचित् अथवा अनेकान्त अथवा स्याद्वाद है ।

भवन्तीति वर्तमानान्तं केचित्पठन्ति, तत्राप्यदोषः । अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः। पोतसमानं त्वच्छासनम् ।

कूपस्तम्भसन्निभः स्याद्वादः । पक्षिपोतोपमा वादिनः । ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोड्डयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तस्मादिष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्य स्याद्वादरूपकूपस्तम्भालङ्कृततावकीनशासनप्रवहणोपसर्पणमेव यदि शरणीकुर्वते तदा तेषां भवार्णवाद्बहिर्निष्क्रमणमनोरथः सफलतां कलयति । नाऽपरथा । इति काव्यार्थः ।

इस श्लोकमें कोई तो 'श्रयन्ति' अर्थात् आश्रय लेते हैं ऐसा वर्तमान कालके अर्थका जतानेवाला शब्द मानते हैं और कोई 'श्रयन्तु' अर्थात् आश्रय लेवैं ऐसा आज्ञार्थसूचक शब्द मानते हैं परंतु दोनो ही शब्द निर्दोष हैं । दृष्टान्तमें जहांपर समुद्र है वहांपर दार्ष्टान्तमें संसार है तथा जहाजके स्थानमें आपका शासन है, मस्तूलके स्थानमें स्याद्वाद है, पक्षिके बच्चेके समान वादी जन हैं । इसका अभिप्राय यह है कि; वे वादी अपने अपने अभिमत पक्षोंका निरूपण करनेरूप उड़ानसे मोक्षरूप तटपर पहुंचने के लिये प्रयत्न करते हुए भी जब इष्टसिद्धिकी पूर्ति होते नहीं देखते हैं तब यदि लौटकर स्याद्वादरूपी मस्तूलसे सुशोभित आपके शासनरूपी जहाजका शरण लेवे तो संसाररूपी समुद्रके बाहिर निकलनेका उनका मनोरथ पूर्ण होसकता है । अन्यथा यह मनोरथ पूर्ण होना असंभव है । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

एवं क्रियावादिनां प्रावादुकानां कतिपयकुग्रहनिग्रहं विधाय साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वाधमत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूल्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति ।

इस प्रकार क्रियावादी वादियोंके कुछ दुराग्रहोंका खंडन कर अब अक्रियावादी अर्थात् नास्तिक चार्वाकोंका मत अत्यन्त अधम होनेके कारण सबके अंतमें दिखाते हुए चार्वाकने अपने मतमें जो प्रत्यक्ष प्रमाण माना है वह अनुमानादि प्रमाणोंके माननेे बिना कुछ कार्यकारी नहीं होसकता है ऐसा दिखाकर चार्वाकोंकी बुद्धिका प्रमाद प्रगट करते हैं ।

विनाऽनुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥ २० ॥

मूलार्थ—अनुमानके विना माने वह नास्तिक हमलोगोंका अभिप्राय भी नहीं समझ सकता है इसलिये हमारे सामने उसको

बोलना भी नहीं चाहिये। क्योंकि; प्रत्यक्षसे केवल देखा हुआ पदार्थ ही जाना जासकता है, हमारी चेष्टाका जानलेना असंभव ही है। इसलिये यह केवल प्रत्यक्ष प्रमाणको मानकर जो हमारे मतका खंडन करता है सो उसका बड़ा भारी प्रमाद है।

व्याख्या–प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः; तत्र खंडयते । अनु पश्चाल्लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् । प्रस्तावात्स्वार्थानुमानम् । तेनानुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसन्धिं पराभिप्रायमसंविदानस्य सम्यगजानानस्य [तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः । पूर्वेर्वा वादिनामास्तिकतया निमितविपश्चित्स्थानेषु क्षोदः कृतः । नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नोचिती । कुत एव तेन सह क्षोदः? इति तुशब्दार्थः । नास्ति परलोकः पुण्य पापमिति वा मतिरस्य "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" इति निपातनान्नास्तिकः। तस्य] नास्तिकस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम् । ततस्तूष्णीम्भाव एवाऽस्य श्रेयान । दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी ।

व्याख्यार्थ–चार्वाक जो एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है उसका अब खंडन किया जाता है। 'अनु' नाम पीछेसे अर्थात् चिन्ह और चिन्हविशिष्टके प्रथम जाने हुए परस्पर अविनाभावरूप संबंधका स्मरण होनेके अनंतर, दूर देशवर्ती तथा परोक्ष कालवर्ती अथवा परमाणु आदिक स्वभावसूक्ष्म वस्तुओंका जिस ज्ञानके द्वारा निश्चय कियाजाय वह अनुमान है। विशेष यह है कि अनुमान दो प्रकारका होता है, एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान। परोपदेशके विना ही जो अनुमान हो वह स्वार्थानुमान कहाता है और जो अनुमान दूसरेके समझानेकेलिये शब्दद्वारा बोलाजाता है वह परार्थानुमान कहाता है। यहांपर प्रसंगवश स्वार्थानुमान ही लेना चाहिये। जबतक वह इस अनुमान प्रमाणको न माने तबतक दूसरोंके अभिप्रायको भलेप्रकार नहीं जानसकता है। इसलिये अन्यवादी अनुमानादि प्रमाणोंद्वारा परलोकादिको माननेवाले होनेसे ऊहापोह करनेके तो योग्य हैं परंतु यह नास्तिक चार्वाक बोलनेके भी योग्य नहीं है, ऊहापोह करना तो दूर ही रहा। इस प्रकार पहिले जिन वादियोंका खंडन करचुके हैं उनकी अपेक्षा इस नास्तिकका मंतव्य अधिक तुच्छ जो दिखाया गया है वह 'तु' शब्दके बलसे। अर्थात्–उपर्युक्त श्लोकमें 'तु' शब्द जो पड़ा है उसीसे यह अभिप्राय झलकता है। पुण्य पाप परलोकादिक अदृष्ट वस्तु सब झूठ है ऐसी जिसकी मति है वह नास्तिक कहाता है। इसी अर्थमें व्याकरणके "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" इस निपातसूत्रसे नास्तिक शब्द बनाया गया है। इस चार्वाक

नास्तिकको ऐसे प्रसंगपर सत्यवादियोंके समुदायमें घुसकर प्रमाणके विषयका विचार करना तो दूर ही रहा किंतु वचन कहनेका भी अधिकार नहीं है । अर्थात् ऐसे प्रसंगपर इसको चुप रहना ही उचित है ।

वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते । परेण चाप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सतामवधेयवचनो न भवत्युन्मत्तवत् । ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी ? यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह "क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च" इति । क्वेति बृहदन्तरे। चेष्टा इङ्गितं पराभिप्रायरूपस्यानुमेयस्य लिङ्गम्। क्व च दृष्टमात्रम्। दर्शनं दृष्टं, भावे क्ते। दृष्टमेव दृष्टमात्रं प्रत्यक्षमात्रम् । तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमेतयोः । न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्यास्तस्यैन्द्रियकत्वात् । मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम् । तथा हि । मद्वचनश्रवणाऽभिप्रायवानयं पुरुषस्तादृग्मुखप्रसादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । अतश्च हहा प्रमादः । हहा इति खेदे । अहो तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापन्हुते ।

दूसरोंको विश्वास करानेकेलिये ही वचन कहाजाता है । जिस अभिप्रायको दूसरे जानना चाहते हैं उसको न समझकर अन्य अर्थको जब यह नास्तिक सिद्ध करने लगेगा तब उन्मत्तके वचनके समान इसके वचनका निरादर ही होगा; न कि प्रशंसा । अर्थात् इसलिये चुप रहना ही अच्छा है । यहांपर नास्तिक कहता है कि मुझे चुप क्यों रहना चाहिये ? क्योंकि; प्रतिपादन करनेयोग्य वादीके अभिप्रायको चेष्टादिके द्वारा समझकर सहज ही उसके विषयमें युक्तिसंगत बोलसकता हूं । नास्तिककी यह शंका सुनकर आचार्य उत्तर देते हैं कि; कहां तो चेष्टा देखकर अभिप्राय समझलेना और कहां केवल प्रत्यक्षसे देखना । (केवल प्रत्यक्षसे देखलेना "दृष्टमात्र" शब्दका अर्थ है । दृष्ट नाम देखनेका है । यहांपर 'दृष्ट' शब्दमें भाववाचक प्रत्यय किया गया है ।) अर्थात् सामान्य रीतिसे इंद्रियोंद्वारा देखलेना और चेष्टा देखकर अभिप्राय समझलेना इन दोनोमें बड़ा अंतर है । चेष्टा तो परके आंतरंग अभिप्रायका अनुमान करानेमें हेतु होती है और जो केवल किसी प्रत्यक्ष वस्तुका देखना है वह हेतुके विना सहज ही होसकता है इसलिये इन दोनो ज्ञानोमें बड़ा भारी अंतर है । यहांपर 'क्व' शब्द रखनेसे दोनो ज्ञानोमें बड़ा भारी अंतर दिखाया गया है । दूसरे वादियोके मानसिक विचारोका जो कि अन्य जनोकी इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं जान लेना प्रत्यक्ष ज्ञानसे नहीं

होसकता है। क्योंकि, प्रत्यक्षसे वही पदार्थ जाना जासकता है जो इन्द्रियगोचर हो। यदि मुखकी प्रसन्नता आदिक चेष्टाके द्वारा दूसरोंका विचार समझा जाता हो तो नहीं चाहते हुए भी नास्तिकको अनुमानप्रमाण स्वीकारना पड़ेगा। क्योंकि, चेष्टा एक प्रकारका हेतु अथवा चिन्ह है। चिन्हको देखनेसे जो ज्ञान उपजता है उसीको अनुमान ज्ञान कहते हैं। चेष्टा देखकर जाना हुआ पदार्थज्ञान यदि वचन द्वारा कहा जाय तो अनुमान ही प्रतीत होता है। जैसे—नास्तिक विचार करता है कि; मेरे वचनको यह वादी अवश्य सुनना चाहता है। क्योंकि, यदि नहीं चाहता होता तो इस वादीके मुखकी चेष्टा ऐसी न होती। अर्थात्—यह अनुमान लिखनेसे यह कहना स्पष्ट होता है कि जो चेष्टा देखनेसे अभिप्राय समझा जाता है वह अनुमान ही है। इसलिये हहा अर्थात् बड़े खेदकी बात है कि नास्तिकका यह बड़ा प्रमाद है जो अनुमान प्रमाणका अनुभव करते हुए भी केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानकर अनुमानको स्वीकार नहीं करता है।

अत्र च सपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे पयात्मनेपदम्। अत्र तु कर्मास्ति। तत्कथमत्रानश्? अत्रोच्यते। अत्र संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यं "वयःशक्तिशीले" इति शक्तौ ज्ञानविधानात्। ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग्वेदितुमशक्तस्येति। एवं परबुद्धिज्ञानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽयमनुमानं हठादङ्गीकारितः।

'संविदानस्य' ऐसा शब्द जो स्तुतिकर्त्ताने बोला है वह 'सं' पूर्वक विद् धातुके आगे आनश् प्रत्यय होनेपर बनता है और यह आनश् प्रत्यय आत्मनेपद होनेपर ही होसकता है। संपूर्वक विद् धातु यदि अकर्मक हो तभी व्याकरणमें आत्मनेपदी करनेकी आज्ञा है। क्रियाके द्वारा प्राप्त होनेवाले भावको कर्म कहते हैं। जैसे अमुक मनुष्य दूध पीता है। यहांपर पीनेरूप क्रियाके द्वारा प्राप्त होनेवाला दूध है इसलिये दूध ही कर्म है। इसी प्रकारसे जो धातु किसी कर्मका संबंध रखता हो वह सकर्मक कहा जाता है। जिस धातुका कोई कर्म संभव नहीं होता वह अकर्मक कहाता है। संविद् धातुका इस श्लोकमें जब 'पराभिसन्धिम्' अर्थात् दूसरोंके अभिप्रायको ऐसा कर्म विद्यमान है तब संविद् धातुके आगे आनश् प्रत्यय किस प्रकार होसकता है? और यदि आनश् प्रत्यय नहीं किया जायगा तो 'संविदानस्य' यह शब्द किस प्रकार बनेगा? इसका उत्तर।—यहांपर इस शब्दको इस प्रकार बनाना चाहिये कि जो 'संवेदितुं' अर्थात् जाननेकेलिये समर्थ हो वह संविदान है। यहांपर "वयःशक्तिशीले" इस सूत्रकर सामर्थ्य अर्थमें ज्ञान प्रत्यय करनेसे संविदान शब्द बनसकता है। अर्थात् इस सूत्रकर ज्ञान प्रत्यय करनेमें अकर्मक धातुके आगे

ही हो ऐसा नियम नहीं है। सामर्थ्य अर्थमे सिद्ध होनेके कारण संविदान शब्दका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि अनुमानके विना वह नास्तिक दूसरोंके अभिप्रायोंको भलेप्रकार समझनेमें असमर्थ है। इस प्रकार वह नास्तिक अनुमान प्रमाण जबतक स्वीकार न करै तबतक दूसरोके अभिप्राय जानना दुर्लभ है। इस प्रकार विना इच्छा भी इसको अनुमान प्रमाण स्वीकार कराया।

तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः। तथा हि। चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाऽव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत्। न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद्यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याऽप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत। परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुं संनिहितमात्रविषयत्वात्तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते। प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः।

अब प्रकारांतरसे भी चार्वाकको अनुमानादि प्रमाण अंगीकार कराते हैं। चार्वाक किसी समय कुछ ज्ञानोको सत्य होनेके कारण प्रमाणभूत मानकर तथा जो ज्ञान झूंठे थे उनको अप्रमाणभूत मानकर फिर कभी दूसरे समय जब पूर्ववत् सत्य असत्य ज्ञानोको देखता होगा तब उनको अवश्य ही पहिलेकी तरह प्रमाणभूत या अप्रमाणभूत ठहराता होगा। परंतु जिसमें पूर्वापर अवस्थाओंका संमेलनरूप ज्ञान होना असंभव है किंतु जो केवल वर्तमान कालवर्ती विषयको ही जानसकता है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानसे पूर्वापर कालवर्ती प्रमाण किंवा अप्रमाणरूप ज्ञानोमें प्रमाणताका तथा अप्रमाणताका निश्चय ठहराना अशक्य है। भावार्थ—पहिलेके ज्ञानसदृश इस वर्तमान ज्ञानको देखकर प्रमाण किंवा अप्रमाण ठहराना केवल प्रत्यक्ष ज्ञानका कार्य नहीं है। क्योंकि; पहिले सरीखा ही यह है इत्यादि पूर्वोत्तर विषयोंका जोड़रूप ज्ञान होना प्रत्यक्षका कार्य नहीं है; प्रत्यक्ष केवल वर्तमान कालके विषयको ही जानसकता है कि यह है इत्यादि। जो पूर्वोत्तर समयवर्ती दो पदार्थोंका मिला हुआ ज्ञान होता है वह ज्ञान भिन्न ही है। उसको प्रत्यक्ष नहीं कहसकते हैं। इसीलिये वह जुदा ही प्रमाण मानना पड़ता है। तथा यह नास्तिक चार्वाक उन

ज्ञानोंको अपनी प्रतीतिके गोचर होनेपर भी दूसरोंके सन्मुख उन ज्ञानोंकी प्रमाणता तथा अप्रमाणताका प्रतिपादन केवल प्रत्यक्ष द्वारा नहीं करसकता है। इसलिये अपने वर्तमान ज्ञानोंमें पहिले ज्ञानोंकी समानताका स्मरण करनेसे जिस प्रमाणके द्वारा अपने आपको उन ज्ञानोंमें प्रमाणता अप्रमाणताका निश्चय होसके तथा दूसरोंके प्रति भी जिसके द्वारा उन ज्ञानोंकी प्रमाणता अप्रमाणताका निश्चय करासकै ऐसा प्रत्यक्षके अतिरिक्त एक दूसरा ही प्रमाणज्ञान स्वीकार करना चाहिये। और जो ऐसा ज्ञान स्वीकार किया जायगा वह पूर्वोत्तरकी समानता देखकर समानताके द्वारा 'यह ज्ञान पूर्ववत् प्रमाण अथवा अप्रमाण है' इस प्रकारका होगा। ऐसा ज्ञान करानेमें मूल कारण पूर्वोत्तर समयवर्ती ज्ञानोंकी समानताका विचार होना ही है और इसलिये हम ऐसे ज्ञानको जो वर्तमान ज्ञानमें पूर्वोत्तरकी समानताके विचारबलद्वारा प्रमाणता अप्रमाणता ठहरा सकता है; अनुमान ही कहेंगे। क्योंकि; अविनाभावी हेतुके दीखनेसे जो अप्रकट वस्तुका अंदाज होजाता है उसीको अनुमान कहते हैं। यहांपर भी पूर्वोत्तर ज्ञानोंकी समानताके विचाररूप हेतुके द्वारा प्रमाणता अप्रमाणतारूप अप्रकट विषयका निश्चय किया जाता है इसलिये ऐसे ज्ञानको अनुमान ही कहसकते हैं। इस प्रकार चार्वाकको यह अनुमान प्रमाण भी स्वीकार करना पड़ता है।

परलोकादिकोंका जो चार्वाक निषेध करता है वह भी प्रत्यक्ष प्रमाणमात्रसे होना असंभव है। क्योंकि, समीपमें विद्यमान रक्खे हुए पदार्थको ही प्रत्यक्ष समझ सकता है। जो वस्तु परोक्ष है उसको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। और जबतक यह नास्तिक परलोकादिकका निषेध न करलेगा तबतक इसको चैन पड़ना दुर्लभ है। परंतु जिन अनुमानादिक प्रमाणोंसे निषेध हो-सकता है उनको यह स्वीकार नहीं करता है इसलिये इसका विचार मखौलसी चेष्टा है।

किं च प्रत्यक्षस्याप्यर्थाऽव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्। कथमितरथा स्नानपानाऽवगाहनाद्यर्थक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञाने न प्रामाण्यम्? तच्चार्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमानागमयोरप्यर्थाऽव्यभिचारादेव किं नेष्यते? व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत् प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषात् निशीथिनीनाथयुगलावलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राऽप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेदितरत्रापि तुल्यमेतदन्यत्र पक्षपातात्। एवं च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थाऽनुपपत्तेस्तन्मूला जीवपुण्याऽपुण्यपरलोकनिषेधादिवादा अप्रमाणमेव।

और यह यदि प्रत्यक्षको प्रमाण मानसकता है तो उसी स्थानपर कि जहां प्रत्यक्षसे देखा हुआ विषय झूंठा न हो। यदि इस प्रकारसे प्रत्यक्षको प्रमाण न मानता हो तो जिससे स्नान, पीना, गोते लगाना आदिक प्रयोजन नहीं सधसकते हैं ऐसी मृगतृष्णामें जो जलका ज्ञान होजाता है उसको भी प्रमाण क्यों नहीं मानता है? **भावार्थ**–इससे यह स्पष्ट है कि सत्य पदार्थका जतानेवाला होनेसे ही प्रत्यक्ष ज्ञानको चार्वाकने प्रमाण माना है। और जब ऐसा है तो इष्ट पदार्थके विना न रहनेवाले हेतुके द्वारा उत्पन्न अनुमानको तथा सत्य विषय कहनेवाले शब्दोंके द्वारा उत्पन्न हुए आगमज्ञानको भी प्रमाण क्यों नहीं मानना चाहिये? अर्थात्–अवश्य मानना चाहिये। क्योंकि इनसे भी निश्चित किया हुआ विषय प्रत्यक्षके समान ही सच्चा होता है। और यदि कहो कि; अनुमान तथा आगम कहीं कहींपर झूंठे भी दीखते हैं इसलिये ये दोनो प्रमाण नहीं हैं तो हम पूछते हैं कि; क्या प्रत्यक्ष कहीं भी झूठा नहीं होता? प्रत्यक्षसे भी जिसके तिमिरादि नेत्ररोग होजाता है उसको एक चंद्रमाके दो दीखते हैं इसलिये उसका प्रत्यक्ष अप्रमाण देखकर संपूर्ण प्रत्यक्षोंको अप्रमाण कहना पड़ेगा। और जो कहो कि; वह प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष ही नहीं है किंतु प्रत्यक्षाभास है और हम प्रमाण मानते हैं सो तो प्रत्यक्षको मानते हैं इसलिये नेत्ररोगादिके कारण एक चंद्रमाके दो दीखनेवाले ज्ञानसे हमारे मंतव्यमें कुछ बाधा नहीं है तो इसी प्रकार यदि पक्षपात कुछ नहीं है तो अनुमान तथा आगम भी जब झूंठे होते हैं तब वे अनुमानाभास तथा आगमाभास हैं और जब सच्चे होते हैं तब वे ही प्रमाण हैं ऐसा मानलेना चाहिये। इस प्रकार जब वस्तुओंकी व्यवस्था केवल प्रत्यक्षसे होना असंभव है तब जो चार्वाकने प्रत्यक्षमात्रसे ही जीव, पुण्य, पाप, तथा परलोकादिकोंका निषेध किया है वह निषेध करना मिथ्या ठहरता है। क्योंकि; जो वस्तु प्रत्यक्षके गोचर ही नहीं हैं उनका प्रत्यक्षसे न दीखनेके कारण निषेध करना बड़ी भारी मूर्खता है।

एवं नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः। तथा च द्रव्यालङ्कारकार उपयोगवर्णने "न चायं भूतधर्म्मः सत्त्वकठिनत्वादिवन्मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्तिवद्वा प्रत्येकमनुपलम्भात्। अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः"।

इसी प्रकार नास्तिकोंने जो प्रत्यक्षसे आत्मद्रव्य न दीखनेके कारण पृथिवी जल वायु अग्नि तथा आकाश इन पांचो भूतोंके एकत्रित होनेसे ही चैतन्यका उत्पन्न होना मानलिया है वह भी असत्य है ऐसा दिखा ते हैं। द्रव्यालङ्कारके कर्ताने भी चेतनाका वर्णन करते समय यही कहा है कि "यह चैतन्य पृथिव्यादि पांच भूतोंका विकार नहीं है। क्योंकि; जो पांचो भूतोंके धर्म

होते हैं ये प्रत्यक्ष अनुभवमें आते हैं। जैसे पृथिव्यादिकोंकी सत्ता (अस्तित्व), कठिनता शीतउष्णादिक स्पर्श तथा छोटापन बड़ापन आदिक धर्म प्रत्यक्ष दीखते हैं तथा मदिराकी शक्ति भी प्रकट आजानेपर स्पष्ट दीखती है। इसी प्रकार यदि चैतन्य भी पृथिव्यादिकोंका धर्म होता तो किसी न किसीमें अवश्य दीखता परंतु किसीमें भी नहीं दीखता है। यदि कहो कि यह चैतन्य धर्म छुपा रहता है तो हम कहते हैं कि जिसके आश्रय वह छुपा है वही आत्मा है।

कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः स उत्पद्यते इतिचेत्कायपरिणामोऽपि तन्मात्रभावी न कादाचित्कः। अन्यस्त्वात्मैव स्यात्। अहेतुत्वे न देशादिनियमः। मृतादपि च स्यात्। शोणिताद्युपाधिः सुप्तादावप्यस्ति, न च सततस्योत्पत्तिः भूयोभूयःप्रसङ्गात्। अतश्चात्मनश्च प्रसिद्धमर्थक्रियाकारित्वं विरुध्यते। असतः सकलशक्तिविकलस्य कथमुत्पत्तौ कर्तृत्वमन्यस्यापि प्रसङ्गात्। तत्र भूतकार्यमुपयोगः।

यदि कहो कि जब पृथिव्यादिक शरीररूप परिणमते हैं तभी उनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है तो हम पूछते हैं कि कायका परिणमन यदि पृथिव्यादिकोंके मिलनेसे ही होजाता हो तो सदा क्यों नहीं रहता है? कभी कभी क्यों होता है? यदि पृथिव्यादिकोंके अतिरिक्त कोई और भी कारण है तो वह आत्मा ही है। अथवा—यदि कहो कि कायाकार परिणत होनेसे पृथिव्यादिक भूतोंमें चैतन्यकी उत्पत्ति होजाती है तो हम पूछते हैं कि; यदि चेतनाकी उत्पत्ति होनेमें भूतोंका कायरूप परिणमन होना ही कारण है तो कायरूप परिणाम मृतक होनेपर भी विद्यमान है परंतु उसमें चैतन्यका आविर्भाव क्यों नहीं होता है? यदि और भी कुछ कारण मानते हो तो वह आत्मा ही है। यदि चैतन्य उत्पन्न होनेका आत्मरूप एक विशेष कारण न हो तो किसी स्थानमें ज्ञान होता है और किसीमें नहीं ऐसा नियम नहीं होसकेगा तथा मृतक शरीरसे भी ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा। यदि कहो कि जबतक शरीरमें रक्तस्राव रहता है तभी तक ज्ञान होसकता है तो हम पूछते हैं कि मुर्देमें तो रक्तस्राव क्षीण होजाता है परंतु सोते हुएके रक्तस्राव बना रहनेपर भी ज्ञान क्यों नहीं होता? और भी एक दोष यह है कि यदि आत्मा न मानें तो जो क्रिया आत्माके बिना किसीसे हो नहीं सकती हैं ऐसी प्रश्नोत्तर आदिक क्रिया नहीं होनी चाहिये। जिसमें कोई भी शक्ति नहीं रहसकती ऐसा सकलसामर्थ्यशून्य अभावरूप पदार्थ किसी भी कार्यकी उत्पत्तिका कर्ता नहीं होसकता है। यदि अभाव

भी चैतन्यरूप कार्य की उत्पत्तिका कर्ता हो तो गधेके सींग भी उसके कर्ता होने चाहिये। इसलिये चैतन्यकी उत्पत्ति पृथिव्यादिकोसे नहीं होसकती है।

कुतस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः? असंवेदनेन चैतन्यस्याऽभावात्। न; जाग्रदवस्थाऽनुभूतस्य स्मरणात्। असंवेदनं तु निद्रोपघातात्। कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः? नैकान्तः; श्वित्रादिना कश्मलवपुषोऽपि बुद्धिशुद्धेः; अविकारे च भावनाविशेषतः प्रीत्यादिभेददर्शनात् शोकादिना बुद्धिविकृतौ कायविकाराऽदर्शनाच्च। परिणामिना विना च न कार्योत्पत्तिः। न च भूतान्येव तथा परिणमन्ते; विजातीयत्वात् काठिन्यादेरनुपलम्भात्।

शंका—पृथिव्यादि भूतोसे चैतन्यकी उत्पत्ति न मानकर आत्मासे ही माननेपर भी जो जीव सोतेसे उठता है उसके फिरसे चैतन्यकी उत्पत्ति कहांसे होगी? क्योंकि; पूर्व चैतन्यका तो सोते समय नाश हो चुकता है। और यह ऊपर तुमने ही कहा है कि; जिसमें जिस शक्तिका अभाव है उसमें उसकी उत्पत्ति उपादान कारण विना कदापि नहीं होसकती है। उत्तर—यह चार्वाककी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि; जो जागृत अवस्थामे अनुभव किया था उसीका सोतेसे उठनेपर स्मरण होता है। सोते समय भी चैतन्य शक्तिका नाश नहीं होजाता है किंतु निद्राके तीव्र उदयसे उस चैतन्यका आच्छादन होजाता है। कदाचित् शंका हो कि; कायका ह्रास होनेके साथ चैतन्यका भी ह्रास क्यों होता है? परंतु यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि; ऐसा ही सर्वथा नियम नहीं है कि; कायमें विकार हो तो बुद्धिमें भी विकार होता ही हो। जिसके श्वेत कोढ होता है उसकी भी बुद्धि स्वच्छ देखी जाती है। और जहां कायमें विकार कुछ होता ही नहीं है तहां भी जिसमें बड़ा रागथा उसमेंसे वैराग्य आदिक भावना भानेपर बुद्धि विरक्त होते दीखती है तथा जिसमें पहिले द्वेष था उसमें प्रीति होते दीखती है। इसी प्रकार शोकादिके कारण बुद्धि तो मलिन होते दीखती है परंतु शरीरमें कुछ अंतर पड़ता ही नहीं है। इस प्रकार शरीरके साथ तो ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक बनता नहीं है परंतु जो परिणाम होता है वह किसी न किसी परिणामीका आलंबन लिये विना निर्हेतुक नहीं हो सकता है इसलिये ज्ञानरूप परिणामका मूल आधार कोई दूसरी वस्तु है अवश्य। और पृथिव्यादिकोका चैतन्यरूप परिणमन होना मानना ठीक नहीं है। क्योंकि; पृथिव्यादिक जड़ जातिके हैं और ज्ञान जड़से उलटा चैतन्य जातिका है। विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति कभी

होती नहीं है। और यदि चैतन्य धर्म पृथिव्यादिकोंका परिणाम रूप हो तो उसके साथ साथ कठोरता आदिक धर्म भी जो पृथिव्यादिकोंके हैं मिलने चाहिये परंतु चैतन्यके साथ साथ कठिनतादि धर्म कहीं नहीं मिलते हैं।

अणव एवेन्द्रियग्राह्यत्वरूपां स्थूलतां प्रतिपद्यन्ते तत्रात्यादि चोपलभ्यते। तत्र भूतानां धर्म्मः फलं वा उपयोगः। तथा भवांश्च यदाक्षिपति तदस्य लक्षणम्। स चात्मा स्वसंविदितः। भूतानां तथाभावे बहिर्मुखं स्याद्गौरोऽहमित्यादि तु नान्तर्मुखं, बाह्यकरणजन्यत्वात्। अनभ्युपगतानुमानप्रमाणस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः। धर्मः फलं च भूतानामुपयोगो भवेद्यदि। प्रत्येकमुपलम्भः स्यादुत्पादो वा विलक्षणात्। १। इति काव्यार्थः।

जो प्रथम अणुरूप पुद्गल होते हैं वे ही कभी निमित्त पाकर इंद्रियोंके विषयभूत होनेयोग्य स्थूलपना धारण करलेते हैं परंतु जाति जो अणुअवस्थामें थी, स्थूल होनेपर भी वही दीखती है, जातिमें भेद नहीं होता है। उपयोग तो पुद्गलसे एक भिन्न ही जातिका है इसलिये पृथिव्यादि भूतोंसे उपयोगकी उत्पत्ति नहीं होसकती है। और आप जिस ज्ञानका आक्षेप करते हैं वही आत्माका चिन्ह है। और वह आत्मा अपने अपने ही अनुभवसे जान पड़ता है। और जो भूतोंसे इसकी उत्पत्ति हो तो मैं गौरवर्ण हूं इत्यादि प्रतीति अंतरंगकी तरफ ही क्यों होती है? बाहिरकी तरफ ही होनी चाहिये। क्योंकि, गौरादिकका ज्ञान बाह्य इंद्रियोंसे ही होता है। और जो अनुमानको प्रमाण ही नहीं मानता है वह अरूपी पदार्थका निषेध भी कैसे करसकता है। "उपयोग यदि भूतोंका ही धर्म अथवा कार्य हो तो प्रत्येकको उसका अनुभव होना चाहिये तथा विजातीय पदार्थसे भी विजातीयकी उत्पत्ति होनी चाहिये परंतु ऐसा होता नहीं है।" ऐसा कहा भी है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

एवमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षेपमास्थाय साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसम्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह।

यहांपर्यंत नाना प्रकारकी युक्तियां कहकर एकांत पक्षोंका खंडन किया। अब यह दिखाते हैं कि; अनादिकालसे साथ लगे हुए अज्ञान और मोहके वश होकर जिन जीवोंने अपनी बुद्धि दुराग्रहसे मलिन कररक्खी है वे अनेकांतवादको प्रत्यक्षसे देखते हुए भी अंगीकार नहीं करते हैं इसलिये वे उन्मत्त हो रहे हैं।

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः।
जिन! त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

मूलार्थ–हे जिनेंद्र प्रभो! प्रतिसमय उत्पन्न होते तथा नष्ट होते तथा द्रव्यत्वकी अपेक्षा सदा स्थिर रहते हुए वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी जो इसी प्रकारका जिसमें उपदेश किया गया है ऐसे आपके शासनको अंगीकार नहीं करता है वह या तो पागल है अथवा किसी भूतने उसको घेरलिया है।

व्याख्या–प्रतिक्षणं प्रतिसमयमुत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि। किं तत्? स्थिरैकं कर्मतापन्नम्। स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम्। एकशब्दोऽत्र साधारणवाची। उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वयिद्रव्यत्वात्। यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः। इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता; पर्यायाणां कथंचिदनेकत्वेऽपि तस्य कथंचिदेकत्वात्। एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नपि हे जिन रागादिजैत्र! त्वदाज्ञां (आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनम्। तवाज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां) भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्रां यः कश्चिदविवेकी अवमन्यतेऽवजानाति (जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा) स पुरुषपशुर्वातकी पिशाचकी वा। वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी। वातकीव वातकी। वातूल इत्यर्थः। एवं पिशाचकीव पिशाचकी। भूताविष्ट इत्यर्थः। अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा। स पुरुषापशदो वातकिपिशाचकिभ्यामधिरोहति तुलामित्यर्थः।

व्याख्यार्थ–प्रत्येक समय उत्पादमें अर्थात् उत्तर कालवर्ती पर्यायके धारण करनेमें तथा विनाशमें अर्थात् पहिले पर्यायके विनाश होनेमें जो संयुक्त रहता हो उसको प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि कहते हैं। ऐसी क्या चीज? स्थिरैक। अर्थात् स्थिर नाम सदा उत्पत्ति और विनाशोंमें साथ रहनेवाला ऐसा जो एक अर्थात् द्रव्य है वह स्थिरैक कहाता है। यहांपर एक शब्दका अर्थ साधारण है। उत्पत्ति तथा विनाशोंमें द्रव्य सदा एक ही बना रहता है। जैसे चैत्र और मैत्रकी एक ही माता है अर्थात् जो माता चैत्रकी है

यही मैत्रकी है। इसी प्रकार उत्पत्ति तथा विनाश जिसके होते हैं वह वस्तु सदा एक ही है। अर्थात् पर्याय तो परस्परमें कथंचित् भिन्न हैं परंतु उन संपूर्ण पर्यायोंका आश्रय द्रव्य कथंचित् एक ही है। भावार्थ—उत्पत्ति तथा विनाशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा यद्यपि प्रत्येक द्रव्य उत्पत्ति विनाश सहित है तो भी ये उत्पत्ति विनाश ऐसे नहीं होते हैं कि, जिसका नाश हो उसका सर्वथा नाश ही होजाय, कुछ बचे ही नहीं; तथा जिसकी उत्पत्ति हो उसकी उत्पत्ति जड़के विना ही होजाय। किंतु जो उत्पत्ति और नाश होते हैं ये ऐसे ही होते हैं जिनसे एक अवस्थासे द्रव्यकी दूसरी तीसरी आदिक अवस्था बदलती जाती हैं। इसीलिये प्रत्येक द्रव्यमें उत्पत्ति विनाशरूप धर्म होकर भी स्थिरपना एक ऐसा धर्म है जिसके बलसे द्रव्य सदा ही किसी न किसी अवस्थामें विद्यमान बना रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनो धर्मों कर सदा सहित है। और हे जिन! अर्थात् रागादि दोषोंके नाश करनेवाले भगवन्! इसी प्रकारसे वस्तुका प्रत्यक्ष अवलोकन करता हुआ भी जो कोई अविवेकी आपकी उपदेशी हुई स्याद्वादरूप आज्ञाकी अवहेलना करता है वह मनुष्याकारधारी पशु या तो वातकी है अथवा पिशाचकर दबाया हुआ है। यहांपर आपकी आज्ञा ऐसा अर्थ त्वदाज्ञा शब्दका होता है। 'आ' नाम पूर्णरूपसे अर्थात् वस्तुके जितने धर्म हैं उन संपूर्ण धर्मों सहित जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा 'ज्ञायन्ते' नाम जाने जाते हैं उसको आज्ञा कहते हैं। आगम, शासन उपदेशादि भी आज्ञाको ही कहते हैं। आपकी जो आज्ञा है उसको त्वदाज्ञा कहते हैं। यद्यपि अवज्ञा करनेवाले बहुत हैं तो भी जो 'जो कोई' ऐसा एक कोई ही ग्रहण किया है सो यह एकवचन अवज्ञा करनेवालोंके समूह की अपेक्षासे कहा है अथवा तिरस्कारकी दृष्टिसे एकवचन कहा है। जिसको बक वादका रोग होजाता है उसको वातकी अथवा वातुल कहते हैं। वह विना परीक्षा किये ही कुछ न कुछ बका करता है। जो अविवेकी आपके वचनोंकी अवज्ञा करता है वह भी वातुलके समान ही है इस लिये उसको भी वातकी कहा है। इसी प्रकार पिशाचकी भी उसको कहते हैं जिसको पिशाच दवालेता है अर्थात् जो भूतोंकर घिरा हुआ हो। पिशाचोंकर घिरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार विना विचारे ही कुछ न कुछ प्रलाप करता है उसी प्रकार आपके वचनोंकी अवज्ञा करनेवाला भी पिशाचकीके समान बुरे भलेका कुछ विचार न करता हुआ आपकी अवज्ञा करता है इसलिये पिशाचकीके समान ही है। इस श्लोकमें जो 'वा' शब्द पड़ा है उसका अर्थ या तो समुच्चय करना है अथवा उपमान है। अर्थात् वातकी शब्दका अर्थ वायल और पिशाचकी शब्दका अर्थ पिशाचोंकर घिरा हुआ होता है परंतु यहांपर वायलके

समान तथा भूत पिशाचोंकर घिरे हुएके समान वह है ऐसा समानपना दिखानेवाला अर्थ 'वा' शब्दका होता है। अर्थात् वह अधम पुरुष वातकी तथा पिशाचकीकी समानता रखता है।

"वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" इत्यनेन मत्वर्थीयः कश्चान्तः। एवं पिशाचकीत्यपि। यथा किल वातेन पिशाचेन वाक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मार-परवश इति।

"वाताऽतीसारपिशाचात्कश्चान्तः" इस व्याकरणके सूत्रकर वात शब्दसे तथा पिशाच शब्दसे 'वात अथवा पिशाच जिसको लगा हो' ऐसे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय तथा उस प्रत्ययके पहिले उस शब्दके अंतमें क प्रत्यय होकर वातकी पिशाचकी शब्द बनते हैं। जिस प्रकार वातकर अथवा भूतपिशाचोंकर घिरा हुआ मनुष्य प्रत्येक चीजको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी वात अथवा भूतपिशाचोंके वश होकर कुछ अन्यथा ही समझता तथा बकने लगता है उसी प्रकार आपका निंदक भी एकांतवादरूपी मृगीरोगके अथवा भूत पिशाचोंके परवश होनेसे कुछ अन्यथा ही मानता तथा बकता है।

अत्र च जिनेति साभिप्रायम्। रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः। ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयाऽवधेय-वचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः। नाथ हे स्वामिन्। अलब्धस्य सम्य-ग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः। तस्यामन्त्रणम्।

इस स्तोत्रमें जो संबोधनवाचक जिनशब्द कहा है वह कुछ विशेष प्रयोजनकेलिये है। रागादि दोषोंको जीतनेसे जिन कहते हैं। रागादि दोष नष्ट होजानेसे झूंठ बोलना आदिक दोष आपके नष्ट होगये हैं और इसीलिये आप पूज्य हैं तथा आपके वचन आदरणीय हैं। ऐसे आपके पथ्यरूप शासनका जो तिरस्कार करता है वह उन्मत्त नहीं है तो कैसा है? ऐसा भावार्थ है। नाथ अर्थात् हे स्वामिन्! ऐसा शब्द इसलिये रक्खा है कि नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादिरूपी तीन रत्नोंको देनेवाले तथा जिसको प्राप्त हो चुके हैं उसको अतीचार रहित पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेसे आप सुखशांतिके दाता हैं और इसीलिये आपको नाथ कहते हैं। प्रार्थना करते समय आपको पुकारनेमें हे नाथ! ऐसा कहा है।

वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथा हि । सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यं; प्रमाणेन बाध्यमानस्याऽन्वयस्याऽपरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् "सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणेक्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च; अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायाऽनुभवेन व्यभिचारस्तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाऽजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाऽविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः कस्यचिद्बाधकस्याऽभावात् ।

वस्तुका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित ही है । सभी वस्तु द्रव्यस्वभावसे न तो उपजती हैं और न विनशती हैं । क्योंकि; अपने प्रत्येक पर्यायमें द्रव्यका परिवर्तन प्रत्यक्ष दीखता है । 'जो नख केशादिक काटनेपर भी बढ जाते हैं वे भी पहिलेकेसे ही दीखते हैं परंतु यथार्थमें वे जिस प्रकार दूसरे हैं उसी प्रकार सभी पर्याय जो उत्पन्न होते हैं वे नवीन ही होते हैं । उनमें पहिले द्रव्यका परावर्तन मानना मिथ्या है' ऐसी शंका करना अयोग्य है । क्योंकि; नख केशादिकोंमें तो विचारनेपर प्रमाणसे बाधा दीखती है इसलिये वहांपर फिरसे उपजे नख केशादिक पहिलोंकी अपेक्षा भिन्न ही हैं परंतु जहांपर द्रव्यका अपने प्रत्येक पर्यायोंमें पहुचते रहना प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है वहांपर भी द्रव्यका परावर्तन न मानना बडी मूर्खता है। प्रत्येक वस्तुमें पूर्व द्रव्यका अनुवर्तन होना कुछ प्रमाण बाधित नहीं है । क्योंकि, पहिले जिसको देखलेते हैं उसको दूसरे समय देखनेपर ऐसा सच्चा प्रत्यभिज्ञान ज्ञान प्रकट होता है कि यह वही है जो पहिले देखा था । ऐसा कहा भी है कि "संपूर्ण व्यक्तियोंमें सदा क्षण क्षणमें कुछ भेद होता रहता है परंतु सर्वथा भिन्नता नहीं होती है । क्योंकि; आकार तथा जातिका ही फेर फार होता दीखता है । भावार्थ—द्रव्यका संपूर्ण नाश कभी नहीं होता है ।" इसलिये द्रव्यसम्बन्धकी अपेक्षा सभी वस्तु सदा स्थिर हैं । पर्यायोंकी अपेक्षा सभी वस्तु उपजती तथा विनशती रहती हैं । पर्यायोंकी उत्पत्ति विनाशका भी अनुभव सदा ही अबाध्य होता है । यद्यपि शुक्ल शंखमें पीलेपनेका भी कभी अनुभव होजाता है परंतु वह अनुभव जिस प्रकार झूंठा है उसी प्रकार सभी पर्यायोंके

अनुभव भी झूंठे ही होंगे ऐसा नहीं है। क्योंकि; जिस प्रकार शंखमें पीलेपनकी जो प्रतीति होती थी वह रोग दूर होनेपर अपने आपको ही झूंठी भासती है तथा अन्य मनुष्योंको भी वह झूंठी प्रतिभासती है उस प्रकार सभी पर्यायोंके उत्पत्ति नाशकी प्रतीति किसीको झूंठी नही भासती है। शंखमें जो पीलापन किसीको दीखने लगता है वह कभी कभी; किंतु सदा ही नही दीखता है। इसलिये उस पीलापनको तो पूर्वाकारके विनाशरूप तथा उत्तर आकारके उत्पादरूप उत्पत्तिविनाशका आधार नहीं मानते हैं परंतु इस प्रकार जीवादि सभी वस्तुओंमें हर्ष क्रोध उदासीनता या घट पटादिक पर्यायोंकी शृङ्खला झूंठी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि; किसी भी मनुष्यको उनके अनादि आधारभूत द्रव्यमें बाधा नहीं दीखती है।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा? यदि भिद्यन्ते कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम्? न भिद्यन्ते चेत्तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम्? तथा च "यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्। अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्"। इति चेत्तदयुक्तं; कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाऽभ्युपगमात्। तथा हि। उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि भिन्नलक्षणत्वाद्रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। असत आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगो, द्रव्यरूपतयानुवर्त्तनं च खलूत्पादादीना परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव।

अब वादी पूछता है कि उत्पाद विनाश तथा स्थिरता परस्परमें भिन्न हैं अथवा अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो एक ही वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों धर्मरूप किस प्रकार होसकती है? क्योंकि; जो परस्पर भिन्न हैं वे एकस्वरूप नही होसकते हैं। और यदि ये तीनो धर्म अभिन्न हैं तो भी एक वस्तुके तीन स्वरूप किस प्रकार होसकते हैं? क्योंकि; जो उत्पत्ति विनाश तथा स्थिरतापनेसे अभिन्न है वह एक समयमें या तो उत्पत्तिसहित ही होसकती है या विनाशसहित अथवा स्थिर ही रहसकती है। परस्पर विरुद्ध तीनो धर्मोंका एक वस्तुमें एक ही समयमें रहना असंभव है। यही कहा है "यदि उत्पादादि धर्म परस्पर भिन्न हैं तो एक वस्तु तीनोंमय किस प्रकार होसकती है? और यदि उत्पादादि धर्म परस्पर अभिन्न हैं तो भी एक वस्तु तीनों स्वरूपवाली किस प्रकार होसकती है?"। यह शंका जो वादीनें की है वह ठीक नहीं है। क्योंकि; वे धर्म कथंचित् अर्थात् अपने अपने लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा ही भिन्न हैं; न कि सर्वथा। इसलिये उनमें परस्परका भेद कथंचित् ही माना गया है। कथंचित् भेद सिद्ध करनेके लिये अनुमान दिखाते हैं।—उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता ये तीनो धर्म कथंचित् भिन्न

हैं। क्योंकि इन तीनों धर्मोंके लक्षण परस्पर भिन्न हैं। जैसे रूपगुणका लक्षण भिन्न होनेसे वह द्रव्यके संपूर्ण धर्मोंसे भिन्न होता है। इनका भिन्न भिन्न लक्षण भी असंभव नहीं है। असत् आकारका उपजना तो उत्पत्तिधर्मका लक्षण है तथा विद्यमान आकारका वियोग होजाना व्यय समावका लक्षण है तथा द्रव्यरूपकी अपेक्षा कभी भी नष्ट न होकर सदा अपने संपूर्ण पर्यायोंमें वर्तना स्थिरताका किंवा ध्रौव्यधर्मका लक्षण है। तीनों धर्मोंके ये लक्षण परस्पर जुदे हैं तथा इन लक्षणोंकी प्रतीति संपूर्ण मनुष्योंको सदा ही होती है।

न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्पराऽनपेक्षाः खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः। तथा हि। उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वत्। एवं स्थितिः केवला नास्ति विनाशोत्पादशून्यत्वात्तद्वदेव। इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तं "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्। १। पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः। अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। २।" इति काव्यार्थः।

परस्पर भिन्न भिन्न लक्षणवाले होकर भी ये तीनों एक दूसरेकी अपेक्षारहित स्वतंत्र सिद्ध नहीं हैं, नहीं तो आकाशके फूलोंकी तरह कुछ ठहर ही नही सकते। यही दिखाते हैं।—जिसमें स्थिति विनाश न हों ऐसा कोई उत्पाद धर्म अकेला नही है। जिस प्रकार कछुएकी पीठपर बालोंका नाश तथा बालोंकी स्थिति नही है इसलिये उनकी उत्पत्ति भी अकेली नहीं है। तथा स्थिति और उत्पत्ति रहित नाश भी कहीं अकेला नहीं रहता है। इसी प्रकार केवल स्थिति भी कोई चीज नहीं है। इन दोनों अनुमानोंमें भी कछुएकी पीठपरके बाल ही उदाहरणरूप हैं। अर्थात् जिस प्रकार कछुएपर बाल नहीं होते उसी प्रकार स्थिति, उत्पत्ति, विनाश ये तीनों धर्मोंमेंसे बिना दो धर्मोंके अकेले किसी धर्मका भी रहना संभव नहीं है। इस प्रकार सदा संपूर्ण वस्तुओंमें एक दूसरोंकी अपेक्षा लेकर ही प्रत्येक धर्मका रहना सिद्ध होता है। श्रीसमन्तभद्र स्वामीने ऐसा ही कहा है "सुनारकी दुकानपर तीन मनुष्य सुवर्ण खरीदनेकी इच्छासे आये परंतु उनमेंसे एक मनुष्यको तो सुवर्णके बने हुए कलशकी, दूसरेको सुवर्णके मुकुटकी तथा तीसरेको साधा सुवर्ण लेनेकी इच्छा थी। वहां आकार तीनोंने सुवर्णका बना हुआ कलश तोड़ते हुए तथा मुकुट बनाते हुए सुनारको देखा तो उनके चित्तमें तीन प्रकारके परिणाम जुदे जुदे हुए। ये तीन प्रकारके परिणाम जो तीनोंके हुए वे

निष्कारण नही हुए। कलश चांहनेवालेके परिणाम तो शोकातुर होगये। क्योंकि; उसको जिसकी चांह थी वही तोड़ डाला गया। जिसको मुकुटकी इच्छा थी वह मुकुट बनते हुए देखकर प्रसन्न हुआ। क्योंकि; उसकी इच्छा पूर्ण होनेवाली जानपड़ती थी। जिसको साधा सुवर्ण लेनेकी इच्छा थी वह न तो प्रसन्न हुआ और न शोकातुर हुआ। क्योंकि; साधा सुवर्ण उसका सदा ही विद्यमान था। जब चाहता तभी लेसकता था। **भावार्थ**—उन तीनो मनुष्योंके जो तीन प्रकारके परिणाम हुए वे किसी न किसी जुदे जुदे कारणसे ही हुए। वे कारण पर्यायकी उत्पत्ति नाश तथा किसी अपेक्षा स्थिरता ही थे। यदि ये कारण जुदे जुदे न होते तो तीनो मनुष्योंके परिणाम भिन्न भिन्न न होते। क्योंकि; कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति होना असंभव है। इसलिये ये तीनों ही धर्म कथंचित् भिन्न भिन्न है। तथा ये तीनों ही धर्म एक सुवर्णरूप द्रव्यके हैं; प्रत्येक अंग जुदे जुदे नहीं है इसलिये इस अपेक्षासे ये तीनों धर्म अभिन्न भी है।" अन्य प्रकारसे भी इनका भेदाभेद दिखाते हुए **श्रीसमन्तभद्रस्वामीने** एक दूसरा उदाहरण दिखाया है "जिसने दूध पीनेका नियम किया हो वह दही नही खासकता है तथा जिसने दही खानेमात्रकी प्रतिज्ञा की हो वह दूध नहीं पीसकता है और जिसने गोरसमात्र छोड़दिया हो वह न दूध पीता है और न दही खाता है। **भावार्थ**—जिस प्रकार यद्यपि दूध तथा दही ये दोनो ही एक गोरसके पर्याय है तो भी कथंचित् परस्पर भिन्न हैं। यदि भिन्न न होते तो जिसने दूधमात्रका ग्रहण करना नियत करलिया है वह दही भी क्यों नहीं खाता? तथा जिसने दही खानेमात्रकी प्रतिज्ञा की है वह दूध भी क्यों नहीं पीता? एवं सभी वस्तुओंके उत्पत्ति विनाश कथंचित् परस्पर भिन्न हैं। और जिस प्रकार गोरसका त्यागनेवाला न दहीं खाता है, न दूध पीता है। क्योंकि; गोरस द्रव्यकी अपेक्षा दही दूध आदि सभी एकरूप हैं। उसीप्रकार सभी वस्तु द्रव्यस्वभावकी अपेक्षासे विचार करनेपर एकरूप ही है।" इस प्रकार इस स्तोत्रका अर्थ पूर्ण हुआ।

अथान्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वादास्तां तावत्साक्षाद्भवान्। भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह।

अपरंच अन्य कर्मादि उपाधियोंका संबंध दूर होजानेसे साक्षात् आपका तो कहना ही क्या है परंतु आपने जिन शास्त्रोंका

तथा युक्तियोंसे उपदेश किया है उनके अंश भी परवादियोंका तिरस्कार करनेके लिये कटिबद्ध हैं ऐसा आशय दिखाते हुए स्तुति कर्ता श्रीहेमचंद्राचार्य स्याद्वादकी सिद्धि करनेके लिये अनुमानप्रयोगरूप स्तुति करते हैं।

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः॥ २२॥

मूलार्थ—वस्तुका जो यथा स्वरूप है वह अनंतधर्मात्मक ही है। इस प्रकार यदि न माना जाय तो वस्तुकी सत्ताका वर्णन करना भी दुर्लभ होजाय। इस प्रकार कहनेवाले आपके प्रमाण भी कुवादीरूप मृगोंको त्रस्त करनेके लिये केसरीकी गर्जनाके समान हैं।

व्याख्या—तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणमनन्तधर्मात्मकमेव। अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम्। एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। अत एवाह "अतोऽन्यथा" इत्यादि। अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन सत्त्वं वस्तुतत्त्वमसूपपादम्। सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसटङ्कमारोप्यते इति सूपपादम्। न तथा असूपपादम्। दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथा हि। तत्त्वमिति धर्मि। अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः। सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः। अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्। यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्सदपि न भवति। यथा वियदिन्दीवरम्। इति केवलव्यतिरेकी हेतुः साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात्।

व्याख्यार्थ—तत्त्व अर्थात् सत्यार्थभूत जीव अजीवादि वस्तु, अनंतधर्मात्मक ही हैं। अनंत अर्थात् त्रिकालवर्ती होनेसे अपरिमित जो सहभावी तथा क्रमभावी पर्यायरूप धर्म हैं वे ही जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप हो उसको अनंतधर्मात्मक कहते हैं। इस श्लोकमें अनंतधर्मात्मक शब्दके अनंतर जो 'एव' शब्द है उससे यहां पर ऐसा अर्थ होता है कि जीवादि तत्त्व अन्य प्रकार नहीं हैं किंतु अनंतधर्मस्वरूप ही हैं। इसी अभिप्रायसे "अतोन्यथा सत्त्वमसूपपादम्" ऐसा कहा है। अर्थात् वस्तु जो अनंतधर्मात्मक कहा है उसके सिवाय दूसरी रीतिसे वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करना कठिन है। जिसका प्रतिपादन अनायाससे

करसकै अर्थात् सिद्ध करसकैं उसको सूपपाद कहते हैं। और जो सूपपाद न हो किंतु अत्यंत दुःसाध्य हो वह असूपपाद या दुर्घट कहाता है। 'अतोन्यथा सत्त्वमसूपपादम्' इस वाक्यसे अनुमानका हेतुभूत अंग दिखाया है। स्तोत्रमें कहा हुआ तत्त्व शब्द तो धर्मी है, अनंतधर्मात्मक कहना है सो साध्यधर्म है और 'सत्त्वकी सिद्धि अन्यथा नहीं होसकती है' यह वचन हेतु है। क्योंकि; साध्यके अतिरिक्त न मिलना ही हेतुका मुख्य लक्षण है। अर्थात्–तत्त्व अनंतधर्मात्मक ही है। क्योंकि; दूसरे प्रकारसे सत्त्वकी सिद्धि नहीं होसकती है। इस प्रकारसे अनुमानका वचन इस स्तोत्रमेंसे बनसकता है। यहांपर हेतु और साध्यकी व्याप्तिका जब विचार करते हैं तभी अनंतधर्मात्मकरूप साध्यकी सिद्धि भी स्पष्ट होजाती है इसलिये दूसरे दृष्टांत उपनय निगमन कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। **भावार्थ**–साध्यके अतिरिक्त कहीं दूसरे स्थानपर हेतुके नहीं मिलनेको व्याप्ति कहते हैं। व्याप्तिका विचार करनेसे हेतुके होनेपर साध्यका होना निश्चित होजाता है। जैसे जहां जहांपर धूआं होता है वहां वहांपर अग्नि अवश्य मिलती है। रसोईके घरमें धूआं है इसलिये अग्नि भी है। इस प्रकार निश्चय होजानेपर जहां हम धूआं देखते हैं वहां ही अग्निका निश्चय कर लेते हैं। इसी प्रकार अनंतधर्मात्मकपना जहां न होगा वहां सत्त्व भी न होगा अथवा सत्त्व होगा वहां अनंतधर्मात्मकपना अवश्य होगा इत्यादि निश्चय होनेसे ही संपूर्ण वस्तुओंमें अनंतधर्मात्मकपना निश्चित होसकता है इसलिये दृष्टांतादि नहीं दिखाये हैं। जो अनंतधर्मात्मक नहीं होता वह सत्रूप भी नहीं होता। जैसे आकाशका कमल। आकाशकमलमें अनंतधर्म नहीं है इसलिये वह सत्स्वरूप भी नहीं है। इस प्रकार यह हेतु केवलव्यतिरेकी है। क्योंकि; जितने अनंतधर्मसहित वस्तु इस हेतुके अन्वयरूप दृष्टांत होसकते हैं वे सब साध्य अवस्थामें पड़े हुए है अर्थात् अभी उन सबको तो साधना ही है इसलिये अन्वयी दृष्टान्त नहीं होनेसे व्यतिरेकी दृष्टांत कहना पड़ा है। साध्य जहां न मिलै वहां हेतु भी यदि न मिलै तो ऐसे उदाहरणको व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं। जहां हेतु हो वहां साध्य भी हो ऐसे उदाहरणको अन्वयी दृष्टान्त कहते हैं।

अनन्तधर्म्मात्मकत्वं चात्मनि तावत्साकाराऽनाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्त्तत्वमसंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्म्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तद-

यच्छेदकाऽवच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः। घटे पुनरामत्वं पाकजरूपादिमत्त्वं पृथुबुध्नोदरत्वं कम्बुग्रीवत्वं जलादिधारणाहरणादिसामर्थ्यं मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वं नवत्वं पुराणत्वमित्यादयः। एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताऽभिज्ञेन शाब्दाऽऽर्थाश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्।

अनंतधर्म जो प्रत्येक द्रव्यमें कहे हैं वे दो प्रकारके होते हैं, एक सहभावी दूसरे क्रमभावी। जो द्रव्यके साथ सदाकाल रहें वे तो सहभावी कहे जाते हैं और जो निमित्त पाकर अथवा यों ही क्रमसे उत्पन्न तथा नष्ट होते रहें उनको क्रमभावी कहते हैं। क्रमभावियोंका दूसरा नाम पर्याय और सहभावियोंका दूसरा नाम गुण है। जीवद्रव्यके अनत धर्मोंमेंसे साकार अनाकार उपयोग अथवा ज्ञान दर्शन तथा कर्तापना, भोक्तापना, आठ मध्य प्रदेशोंकी निश्चलता, अमूर्तिकपना, असंख्यात प्रदेशीपना, तथा जीवत्वादिक धर्म तो सहभावी हैं और हर्ष, विषाद, शोक, सुख, दुःख, देवपना, मनुष्यपना, नारकपना तथा तिर्यंचपर्यायादिक क्रमभावी हैं। धर्म, अधर्म, लोकाकाश द्रव्योंमें असंख्यात प्रदेशी होना तथा गति, स्थिति, अवकाशदान आदिक उपकार होना, मति श्रुत केवल ज्ञानोंके विषयभूत होसकना तथा निश्चय करनेवाले ज्ञानसे भिन्न २ निश्चित होना, जैसाका तैसा स्थित रहना, अरूपीपना, एकद्रव्यपना तथा क्रियारहित होना इत्यादि अनंतो धर्म हैं। पुद्गल द्रव्योंमें भी इसी प्रकार एक एकमें अनंतो धर्म हैं। जैसे घड़ेमें कचापन, पकापन, पकनेपर रूपादिकका बदलना, मोटे चौड़े पेटवाला होना, कंबु फलकीसी ग्रीवावाला होना, जल रखने लाने आदिककी शक्ति सहित होना, मतिज्ञानादिक ज्ञानोंके विषय होना, नवीनता तथा जीर्णता होना इत्यादिक धर्म हैं। इसी प्रकार और भी संपूर्ण पदार्थोंमें नाना प्रकारकी नयात्मक कथनीके अनुसार समझनेवालोंको शब्दसमधी तथा अर्थसमधी पर्याय विचारकर कहने चाहिये।

अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवर्तिरूपमन्वयिद्रव्यं ध्वनितम्। ततश्च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति व्यवस्थितम्। एवं तावदर्थेषु शब्देष्वपि उदात्ताऽनुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताऽल्पप्राणमहाप्राणतादयस्तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः।[1]

यहांपर आत्मा कहनेसे अनंतो धर्मोंमें सदा अनुवर्तनेवाला अन्वयिद्रव्य समझा जाता है। भावार्थ—इसी प्रकार कुछ धर्म तो

1 एतद्विशेषणं नास्त्येव कपुस्तके।

द्रव्यके नित्य साथ रहनेवाले होते हैं और कुछ उत्पन्न तथा नष्ट भी होते रहते हैं। इसलिये जो सत् है वह सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनो धर्मोंकर सहित रहता है ऐसा सिद्ध हुआ। जिस प्रकार एक एक पदार्थमें अनंतो धर्म होते हैं उसी प्रकार उन अर्थोंवाले शब्दोमेंसे प्रत्येक शब्दमें भी जिसका उच्चारण ऊंचा हो ऐसा उदात्त धर्म, जिसका उच्चारण नीचेसे हो ऐसा अनुदात्त धर्म, उदात्त अनुदात्तोका मिला हुआ स्वरित धर्म तथा जिसके उच्चारणसे गला फूलै ऐसा विवृत धर्म, जिससे न फूलै ऐसा संवृत धर्म तथा घोषवत् धर्म, अघोष धर्म, अल्पप्राण धर्म तथा महाप्राण आदिक तथा अपने अर्थोंको प्रतिमासित कराने आदिककी शक्ति; इत्यादिक अनेक धर्म होते हैं। 'अन्यथा सत्की सिद्धि होना असंभव है' ऐसे इस हेतुमें यदि कोई असिद्धता विरुद्धता अनैकान्तिकता आदिक दोषरूपी कांटे डालै तो उसका निवारण करदेना पाठकोंकी बुद्धिपर ही छोड़ते हैं।

इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि (आस्तां तावत्साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान् यावदेतान्यपि) कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः। कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासमश्नुवते। प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्। एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः।

हे प्रभो! आपने तो संपूर्ण द्रव्य, पर्यायोको प्रत्यक्ष जानलिया है इसलिये आपकी तो वात ही दूर रही परंतु पूर्वोक्त रीतिसे स्याद्वादका भले प्रकार निरूपण करनेवाले आपके न्याययुक्त हेतुओंके वचन ही कुवादीरूप हरिणोको त्रस्त करनेकेलिये सिंहनादके समान हैं। मुख्यताकी अपेक्षा लेकर एक २ धर्मको ही सर्वथा कहनेवाले एक एक नयके अनुगामी जो कुवादी अर्थात् खोटे मतोका प्रतिपादन करनेवाले तथा खोटे मतोके चलानेवाले हैं वे ही यहांपर संसाररूपी गहन वनमें वास करनेके रोचक होनेसे मृगसमान हैं। इन मृगोंको खूब भयभीत करनेकेलिये आपके युक्तिपूर्ण वचन सिंहनादके समान हैं। यद्यपि यथार्थमें सिंहनाद नही हैं तो भी सिंहनादसे जिस प्रकार मृग भयभीत होजाते हैं उसी प्रकार आपके वचनोसे वड़े वड़े कुवादिरूपी मृग त्रस्त होजाते हैं इसलिये सिंहनादके समान

मूलार्थ—विस्तारकी विवक्षा न की जाय तो वस्तु पर्यायरहित है तथा विस्तारसे कहनेपर वस्तु द्रव्यस्वरूपसे रहित है; अर्थात्— सब पर्याय ही पर्याय हैं। इस प्रकार द्रव्यपर्यायोंकी भिन्न भिन्न अपेक्षासे जिन भेदोंका वर्णन कियागया है तथा जिनका विचार बड़े बड़े उत्कृष्ट विद्वान् ही करसकते हैं ऐसे सप्तभेदोंका स्वरूप, हे भगवन्! आपने ही दिखाया।

व्याख्या—समस्यमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्त्वपर्ययमविवक्षितपर्यायम्। वसन्ति गुणाः पर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्। अयमभिप्रायः। यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाऽचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वक्तुमिष्यते तदा संक्षेपेणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वादपर्ययमित्युपदिश्यते। केवलद्रव्यरूपमित्यर्थः। यथात्माऽयं घटोऽयमित्यादि; पर्यायाणां द्रव्याऽनतिरेकात्। अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात्। पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। अद्रव्यमित्यादि(दौ) चः पुनरर्थे। स च पूर्वस्माद्विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च। विविच्यमानं चेति। विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद्वस्तु अद्रव्यमेव। अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः।

समस्यमान वस्तु पर्यायरहित है। अर्थात् जब वस्तुका सामान्य विवक्षासे विचार करते हैं तब वस्तुमें पर्यायोंकी अपेक्षा छोड़कर शुद्ध द्रव्यका ही आश्रय लिया जाता है। जैसे वस्तु सदा शुद्ध निर्विकार तथा अनाद्यनंत है। ऐसा विचार तभी होता है जब द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता की जाती है। क्योंकि; द्रव्यशब्दका अर्थ उत्पत्ति विनाशको छोड़कर शुद्ध अनुत्पन्न तथा अविनाशीपनेसे रहना है। जिसमें गुण और पर्याय वास करते हों वह वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल तथा जीव इन छह द्रव्योंको ही वस्तु कहते हैं। सारांश यह है कि; चेतनरूप आत्मद्रव्यमें किंवा जड़रूप घटादिक वस्तुमें अनंतो पर्याय होनेपर भी उनकी अपेक्षा नही करके जब एक अखंड द्रव्यरूप ही कहनेकी इच्छा होती है तब जिसमें संपूर्ण पर्यायोंका समुदाय अपेक्षित न किया गया हो ऐसे संक्षेपद्वारा कहनेके कारण पर्यायरहित केवल अखंड द्रव्यरूप ही वस्तु कहा जाता है। क्योंकि; यह आत्मा है यह घड़ा है इत्यादिरूप जो पर्याय हैं वे सब द्रव्यस्वरूप ही हैं; द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। इसीलिये शुद्ध संग्रह आदिक द्रव्यार्थिक नय सदा द्रव्यमात्रकी अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि; द्रव्योंमें ही पर्यायोंका अंतर्भाव होजाता है। पर्यव,

॥१७३॥

पर्यय अथवा पर्याय इन तीनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'अद्रव्यमेतच' इसमें जो 'च' शब्द कहा है उसका अर्थ और, अथवा पुन है। सो इस च शब्दसे यहां ऊपरकी अपेक्षा कुछ विशेषता और अपूर्वता झलकती है। अर्थात् जब संक्षेपसे देखते हैं तब तो वस्तु पर्यायरहित दीखती है और जब विस्तारपूर्वक देखते हैं तब अनुगतशील द्रव्यको छोडकर पर्यायरूप ही दीखती है। जब अनादिसे अनंतकालतक चलनेवाले अनुयायी द्रव्यपनेकी अपेक्षा नहीं लेते हैं तब यह वस्तु केवल पर्यायरूप ही है।

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम्। एवं घटोऽपि कुम्भलौष्ठपृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागाद्यवयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याय एव न पुनर्घटाख्यं तदतिरिक्तं वस्तु। अत एव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति "भागा एव हि भासन्ते संनिविष्टास्तथा तथा। तद्वांस्तेषु पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते" इति। ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयाऽनर्पणया च द्रव्यरूपता। पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता। उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता। अत एवाह वाचकमुख्यः "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति। एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान्। नान्य इति काकावधारणावगतिः।

जब ज्ञानदर्शनादिक पर्यायोंसहित आत्माका विचार करते हैं तब ज्ञानदर्शनादिक पर्यायोंके सिवाय ऐसा कुछ भी नहीं दीखता है जो जुदा आत्मद्रव्य मानाजाय। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्योंमें भी जब घडेकी तरफ देखते हैं तो कुछ गहरापन, मट्टीका समूह, चौडा मोटा पेट, आगे पीछेके हिस्से इत्यादि हिस्सोंके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं दीखता है। इन पर्यायोंके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु घडा नहीं है। इसीलिये पर्यायार्थिक नयकी तरफ मुख्यतासे झुकनेवाले कहते हैं कि "यथायोग्य स्थानोंमें लगे हुए अंश ही सर्वत्र दीखते हैं। उन संपूर्ण अंशोंका आधार कोई दूसरा एक अवयवी नहीं दीखता है। इसलिये वस्तु यद्यपि द्रव्य-पर्याय इन दोनो नयस्वरूप है परंतु जब द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता तथा पर्यायार्थिक नयकी अप्रधानता लेते हैं तब वस्तु अनादनंत द्रव्यस्वरूप समझमें आता है। और जब पर्यायार्थिक नयकी तो योजना करते हैं किंतु द्रव्यार्थिककी नहीं करते हैं तब वस्तु पर्यायस्वरूप समझा जाता है। और जब दोनों नयोंकी अपेक्षा करते हैं तब वस्तुका स्वरूप द्रव्यात्मक भी समझा आता है तथा पर्यायात्मक भी समझा जाता है। इसलिये शास्त्रकर्ताओंमें प्रधान तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता श्रीउमास्वामी कहते हैं कि "नयोंकी अपेक्षा

तथा उपेक्षा करनेसे द्रव्यपर्यायादिस्वरूपोंकी सिद्धि होती है"। इस प्रकारसे वस्तुमें द्रव्यपना, पर्यायपना हे भगवन्! आपने ही दिखाया है; अर्थात् और किसीने भी नहीं दिखाया है। इस प्रकार काकु ध्वनिसे दूसरोंमें वस्तुका स्वरूप दिखानेका निषेध होजाता है।

नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्यं द्रव्यमन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः। तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकमित्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति—आदेशभेदेत्यादि। आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन उदिताः प्रतिपादिताः सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा। ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितं तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयास्तत्र विप्रतिपद्यन्ते इत्याह "बुधरूपवेद्यम्" इति। बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः। प्रकृष्टा बुधा बुधरूपा नैसर्गिकाधिगमिकाऽन्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः। तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम्। न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथास्थितवस्तुतत्त्वाऽनवबोधेन बुधरूपत्वाऽभावात्। तथा चागमः "सदसदऽविसेसणाउ भवहेउजहच्छिओवलंभाउ। णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं"। (संस्कृतच्छाया–सदऽसदऽविशेषणात् भवहेतुयथास्थितोपलम्भात्। ज्ञानफलाभावात्, मिथ्यादृष्टेः अज्ञानम्)।

शंका—पर्यायोंका नाम तथा ज्ञान अन्य ही होता है और द्रव्यका नाम तथा ज्ञान कुछ अन्य प्रकार ही होता है; फिर एक ही वस्तु द्रव्य पर्याय इन दोनो स्वरूपमय कैसे होसकती है? इस शंकाका उत्तर "आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम्" इस विशेषणकर देते हैं। अर्थात्—स्तुतिकर्ताने जो श्लोकमें आदेशभेद इत्यादि विशेषण लिखा है उससे उपर्युक्त शंका नहीं रहती है। सकलादेश तथा विकलादेश जो दो आदेश हैं उनके द्वारा सात प्रकारकी जिस कथनशैलीसे वस्तुस्वरूप दिखाया गया है उससे वस्तुस्वरूप कथंचित् द्रव्यस्वरूप भी होसकता है और कथंचित् पर्यायस्वरूप तथा उभयस्वरूप भी होसकता है। शङ्का—जो तीनो लोकके बंधु ऐसे श्रीभगवान्ने यदि सामान्यपनेकर सभीको वस्तुस्वरूपका ऐसा उपदेश दिया था तो जो अन्य मतोंके प्रवर्तानेवाले वादी हैं वे विवाद क्यों करते है? इसी शंकाके उत्तरमें "बुधरूपवेद्यम्" ऐसा कहा है। अर्थात्—इस सूक्ष्म तत्त्वको वे ही समझसकते हैं जो अच्छे विद्वान् हों। सार तथा असारका विवेकपूर्वक विचार करनेवाले जो यथावत् वस्तुस्वरूपको समझसकते है उनको बुध

कहते हैं। जो गुणोंमें प्रकृष्ट हों वे गुणरूप कहलाते हैं। जो जाना जा सकता हो निश्चय किया जा सकता हो ऐसे वस्तुस्वरूपको ज्ञेय कहते हैं। अर्थात्—स्वत स्वभाव ही उपजनेवाले अथवा किसी दूसरेके उपदेशसे उपजनेवाले सम्यग्दर्शनके द्वारा जिनका ज्ञान निर्मल होचुका है वे ही जीव वस्तुका यथा स्वरूप समझ सकते हैं, न कि अन्य भी मनुष्य जो कि अपने अपने शास्त्रोंमें कहे हुए तत्त्वोंका अभ्यास करनेसे बुद्धिको परिपक्व शाण (सान) पर तीक्ष्ण नहीं करसके हैं। क्योंकि, अनादि मिथ्यादर्शन कर्मकी वासनासे उनकी बुद्धि इतनी मलिन होरही है कि यथावत् वस्तुका स्वरूप समझ नहीं सकते हैं और इसीलिये वे विद्वान् होकर भी यथार्थ विद्वान् नहीं हैं। मिथ्यादर्शन कर्म उसको कहते हैं जिसका उदय होनेपर जीव दुराग्रह न छोड़सके तथा यथा वस्तुस्वरूप न समझ सके। आगममें भी यही कहा है कि "सत् असत्का विवेक न होनेसे, संसारके कारणरूप कर्मोंका बंध जैसाका तैसा विद्यमान रहनेसे तथा सच्चे ज्ञानफलका अभाव रहनेसे मिथ्यादृष्टी जीव सब अज्ञानी ही हैं"।

अत एव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति; तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात्। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमते। सम्यग्दृशां सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतयोन्नयनात्। तथा हि। किल वेदे "अजैर्यष्टव्यम्" इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकतया व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माऽप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति। अत एव च भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिना, विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञास्तीत्यादिश्रुतयः श्रीमदिन्द्रभूत्यादीनां द्रव्यगणधरदेवानां जीवादिनिषेधकतया प्रतिभासमाना अपि तद्व्यवस्थापकतया व्याख्याताः।

इसीलिये यदि उनने द्वादशांगोंको भी पढा हो परंतु तो भी उनके ज्ञानको आचार्योंने मिथ्याश्रुत ही माना है। क्योंकि, वे युक्ति तथा नयकी अपेक्षा छोड़कर इच्छानुकूल वस्तुस्वरूपकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं। जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है उनका मिथ्या श्रुतज्ञान भी सच्चा श्रुतज्ञान होजाता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टी अपनी प्रवृत्ति सर्वज्ञ कथित मार्गके अनुसार ही रखते हैं इसलिये मिथ्या शास्त्रोंके कहे हुए वचनोंको भी जैसा कुछ विधिनिषेधरूप सर्वज्ञदेवका उपदेश है उसके अनुसार ही घटालेते हैं। जैसे वेदमें

लिखा है कि "अजोंसे यज्ञ करना चाहिये"। ऐसे ऐसे वचनोंमें जहां अजशब्द आता है वहां उसका अर्थ मिथ्यादृष्टी तो बकरा करते हैं परंतु सम्यग्दृष्टी कहते हैं कि जो उपज नहीं सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने जौ, धान आदिक तथा पांच वर्षवाले तिल मसूर आदिक तथा सात वर्षके पुराने कांगनी सरसो आदिक धान्य अजशब्दका अर्थ है। और इसी प्रकार पीछेसे गणधर होनेवाले श्रीइन्द्रभूति आदिक विद्वान् वेद की जिन ऋचाओंके अर्थद्वारा जीवतत्त्वका निषेध करते थे उन्हींके अर्थद्वारा चोवीसवे तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीने जीवतत्त्वका मंडन किया था। उनमेंसे प्रथम ऋचा यह है कि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति"। भावार्थ—इसके दो अर्थ होसकते हैं; एक तो ऐसा होसकता है जिससे जीवतत्त्वका निषेध होजाताहै; दूसरा ऐसा होसकता है जिससे जीवतत्त्वका मंडन होजाताहै। इनमेंसे पहिला अर्थ जो इंद्रभूतिने किया था वह यह है कि विज्ञानमय आत्मा पांचो भूतोंसे ही उत्पन्न होता है और उन्हींमें विलीन होजाता है। इसलिये परलोक कुछ नहीं है। इसीका दूसरा अर्थ श्रीवर्द्धमान स्वामीने ऐसा किया कि ज्ञानका समूह इन पांच भूतोंका निमित्त पाकर उपजता है और उनके पर्यायोंकी पलटनके साथ साथ ही वह ज्ञान बदलजाता है और उसका नाम भी पहिला नही रहता है।

तथा स्मार्ता अपि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला" इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसंबद्धप्रलाप एव। यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति? इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादन्यदैदंपर्यमस्य श्लोकस्य। तथा हि। न मांसभक्षणे कृतेऽदोषोऽपि तु दोष एव। एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नादोष इत्याह—यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्। प्रवर्त्तन्त उत्पद्यन्तेऽस्यामिति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानं भूतानां जीवानाम्। तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः।

इसी प्रकार स्मृतिकार कहते हैं कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"। इसका प्रगट अर्थ यह होता है कि मांसभक्षणमें दोष नहीं है और न मद्य पीनेमें न मैथुन करनेमें। क्योंकि; प्राणियोंकी प्रवृत्ति ही इस तरफ चली आती है। परंतु इसके त्यागनेसे अवश्य महान् फल होता है। परंतु ऐसा अर्थ करनेसे ऐसा समझा जाता है कि, ऐसा कहनेवाला कोई विना विचारे ही बकनेवाला है। क्योंकि; जिसकी प्रवृत्ति करनेसे कुछ पाप नहीं होता उसके त्यागनेसे

महान् पुण्य भी कैसे होगा ! नहीं तो देवगुरुकी पूजन, पठन पाठन तथा दानादि कर्मोंको छोड़नेसे भी कुछ पाप न होना चाहिये। इसलिये इस श्लोकका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि; मांस भक्षण करनेमें अदोष अर्थात् पुण्य नहीं है किंतु पाप ही होता है। इसी प्रकार मद्य मैथुनमें भी अदोष नहीं है किंतु दोष ही है। अदोष क्यों नहीं है ! क्योंकि; मांस मद्य मैथुनमें जीवोंकी प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती रहती है। जीव जिसमें प्रवर्तें अर्थात् उत्पन्न हों उसको प्रवृत्ति कहते हैं। जीवोंकी उत्पत्तिके स्थानका नाम प्रवृत्ति है। अर्थात् मांस मद्य मैथुन इन तीनोंमें जीव सदा ही उपजते रहते हैं।

प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनानां जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे। "आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मासपेसीसु। आयंतियमुववाओ भणियो दु णिगोयजीवाणं (संस्कृतच्छाया–आमासु च पक्वासु च विपच्यमानासु मासपेशीषु। आत्यन्तिकमुपपादो भणितः तु निगोतजीवानाम्)। १। मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए। उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतुणो (मद्ये मधौ मांसे नवनीते चतुर्थे। उत्पद्यन्ते अनन्ताः तद्वर्णाः तत्र जन्तवः)। २। मेहुणसण्णारूढो णवलक्खं हणेइ सुहुमजीवाणं। केवलिणा पण्णत्ता सद्दहियव्वा सयाकालं (मैथुनसंज्ञारूढो नवलक्षं हन्ति सूक्ष्मजीवानाम्। केवलिना प्रज्ञापिताः श्रद्धातव्याः सदाकालम्)। ३। तथा हि। इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा। इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कस्सं (स्त्रीयोनौ संभवन्ति द्वीन्द्रिया तु ये जीवाः। एको वा द्वौ वा त्रयो वा लक्षपृथक्त्वं तु उत्कृष्टम्)। ४। पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं। वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसिलागणाएणं (पुरुषेण सह गतायां तेषां जीवानां भवति उद्रवणम्। वेणुकदृष्टान्तेन च तप्तायसशलाकापातेन)। ५।" संसक्तायां योनौ द्वीन्द्रिया एते शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे "पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि। उक्कस्स णवलक्खा जायंती एगहेलाए (पञ्चेन्द्रिया मनुष्या एकनरभुक्तनारीगर्भे। उत्कृष्टं नवलक्षा जायन्ते एकहेलायाम्)। ६। णवलक्खाणं मज्झे जायइ एक्क दुण्हे य सम्मत्ती। सेसा पुण एमेय य विलयं वच्चंति तत्थेव (नवलक्षाणां मध्ये जायते एको द्वौ वा समस्तौ। शेषाः पुनः एवमेव च विलयं व्रजन्ति तत्रैव)। ७।" तदेवं जीवोपमर्दहेतुत्वात्स मांसभक्षणादिकमदुष्टमिति योगः।

और आगममें भी मांस मद्य मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका मूलकारण कहा है। "कच्चेमें पकेमें पकते हुएमें तथा अन्य भी मांसकी प्रत्येक अवस्थाओंमें निगोत जीवोंकी अप्रमाण उत्पत्ति होती रहती है । १ । मद्य, मधु, मांसमें तथा चौथे नवनीतमें रंगकी अपेक्षा उसीके समान अनंतो जंतु उत्पन्न होते हैं । २ । मैथुन कर्ममें नौ लाख सूक्ष्म जीवोंका घात होना सर्वज्ञ भगवानने कहा है इसलिये उसका श्रद्धान सदा करना चाहिये । ३ ।" अब योनिके जीवोका विचार करते हैं। "स्त्रीकी योनिमें द्वीन्द्रिय जीव कभी एक कभी दो कभी तीन इसी प्रकार अधिकसे अधिक कभी कभी नौ लाख तक उत्पन्न हो जाते हैं । ४ । जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सलाई वांसकी नलीमें डालनेसे नलीमें पड़े हुए तिल जल जाते हैं तैसे ही पुरुष जब संभोग करने लगता है तब योनिमें जितने जीव होते हैं उन सबोका नाश हो जाता है । ५ ।" साक्षत योनिके द्वीन्द्रिय जीवोंकी संख्या तो ऊपर कही। अब रज और वीर्यके मेलसे उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रियोंकी गिनती कहते हैं । "एक वार नारीका भोग करनेसे उस समय उस गर्भमें पंचेंद्रिय मनुष्य कभी कभी नौ लाख पर्यन्त भी एकदम उत्पन्न हो जाते हैं । ६ । उन नौ लाखमेंसे एक या दो तो जी जाते हैं; अवशिष्ट यों ही नष्ट हो जाते हैं । ७ ।" इस प्रकार जीवहिंसाका कारण होनेसे मांसभक्षणादिक निर्दोष नही समझना चाहिये ।

अथ वा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः । त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्त्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः । तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह "निवृत्तिस्तु महाफला"। तुरेवकारार्थः "तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इति वचनात् । ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा; न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । अत एव स्थानान्तरे पठितं "वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोस्तुल्यं भवेत्फलम् । १ । एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः । न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर"। मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैस्तस्य सर्वविगर्हितत्वात् । तानेवंप्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतं प्रसङ्गेन ।

अथवा "प्रवृत्तिरेषा भूतानां" इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि; भूत अर्थात् पिशाच राक्षसादिकोंकी ही यह दुष्ट प्रवृत्ति है; वे ही मांसभक्षण आदिक दुष्कर्म करते हैं; न कि विवेकी मनुष्य । इस प्रकार मांसभक्षणादिक दुष्कर्मोको सदोष ठहरा कर

अब कर्तव्य क्या है सो कहते हैं। उससे निवृत्ति करनेसे ही महान् फल होता है। 'तु' शब्दका अर्थ भेद भी होता है तथा निश्चय भी होता है ऐसा कहा है। सो यहांपर जो 'तु' शब्द 'निवृत्तिस्तु' इस स्थानपर पड़ा है उसका अर्थ निश्चय कराना है। इसीलिये 'निवृत्तिस्तु' शब्दका अर्थ निवृत्ति ही ऐसा किया है। स्वर्ग मोक्षके फलको यहांपर महाफल कहा है। तु शब्दका निश्चय अर्थ माननेसे निवृत्ति ही महान् फल देनेवाली है; न कि प्रवृत्ति ऐसा अभिप्राय सूचित होता है। इसीलिये एक दूसरे प्रसंगपर भी कहा है कि "सौ वर्ष पर्यंत प्रत्येक वर्षमें एक मनुष्य यज्ञ करै तथा दूसरा मांसभक्षण नहीं करै तो उन दोनोंका फल समान होगा। १। हे युधिष्ठिर! एकरात्रिपर्यंत भी ब्रह्मचर्य व्रत पालनेवालेकी जैसी उत्तम गति होती है तैसी हजार यज्ञ कर नेवालेकी भी नहीं होती। २।" मद्यपान तो लोकमें ही निंद्य है उसका निषेध सूत्रानुवादमें करना व्यर्थ है। इस प्रकारसे जो ऐसे अर्थ हो सकते हैं उनको वे कैसे समझ सकते हैं जो स्वयं मतप्रवर्तक तो बनते हैं तथा विद्वान् बनते हैं परंतु यथार्थमें विद्वान् नहीं हैं। इतना कहना ही बस है।

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः? कश्चायमादेशभेद इति? उच्यते। एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्म्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते। तद्यथा। स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः। स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः। स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः। स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः। तत्र स्यात्कथंचित्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण।

सप्तभङ्गी किस प्रकार है और आदेशोंका भेद क्या वस्तु है? उत्तर—जीवादि किसी एक पदार्थमें अस्तित्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक एक धर्मकी मुख्यतासे प्रश्न उठनेपर पृथक् पृथक् अथवा मिले हुए विधि निषेध धर्मोंका प्रत्यक्षादि प्रमाणकी बाधा-

रहितविचार पूर्वक, 'स्यात्' शब्दसे चिन्हित ऐसी वचनरचना को सप्तभंगी कहते हैं। क्योंकि; वह वचनरचना सात प्रकार ही हो सकती है। वह रचना ऐसी होनी चाहिये जिसके कहनेमें प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणद्वारा विरोध नही आता हो। वे सात भंग इस प्रकार हैं।—किसी धर्मकी अपेक्षा संपूर्ण वस्तु अस्तिरूप ही है। अर्थात् है ही ऐसे विधिधर्मकी कल्पनाकी मुख्यतासे प्रथम भंग है। किसी अपेक्षासे संपूर्ण वस्तु नास्तिरूप ही है। अर्थात् नही ही है यह निषेधधर्मकी मुख्यतासे दूसरा भंग है। किसी अपेक्षा है और किसी अपेक्षा नही ही है ऐसा क्रमसे विधिनिषेधकी कल्पना मुख्य करनेपर तीसरा भंग होता है। किसी अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य ही है ऐसा एकसाथ विधि निषेधोंकी मुख्यता करनेसे चौथा भंग होता है। किसी अपेक्षा अस्तिरूप हो-कर भी वस्तु अवक्तव्य है ऐसा पांचवां भंग सामान्य विधिकी कल्पनासे तथा एक ही समय विधिनिषेध दोनोंकी मुख्यता करनेसे होता है। किसी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप होकर भी जब अवक्तव्य होता है तब सामान्य निषेधधर्मकी मुख्यतासे तथा विधिनिषेध दोनोंकी एक साथ मुख्यता समझनेसे छट्ठा भंग होता है। किसी अपेक्षा वस्तु अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्यरूप है ऐसा भंग सातवां होता है। जब क्रमसे भी विधिनिषेधकी मुख्यता कीजाती है तथा युगपत् भी विधिनिषेधकी मुख्यता कीजाती है तब क्रमकी अपेक्षा अस्तिनास्तिरूप होकर भी उसी समय युगपत् दोनो धर्मोंकीभी मुख्यता रखनेसे कथंचित् अस्तिनास्तिरूप तथा अवक्तव्यरूप मिलकर सातवां भंग होता है। **भावार्थ**—कथंचित् अथवा स्यात् शब्दका अर्थ 'मुखसे स्पष्ट नहीं कही हुई किसी एक इष्ट अपेक्षा से' ऐसा होता है। सो जब अपेक्षाको स्पष्ट नहीं कहकर संक्षेपसे किसी धर्मको कहना होता है तब या तो स्यात् या कथंचित् शब्द जोड़कर बोलते हैं और जब अपेक्षाको स्पष्ट कहना होता है तब कथंचित् या स्यात् शब्द न कहकर केवल उस विवक्षाको दिखाकर विधिनिषेध करदेते हैं। जैसे—जब संक्षेपसे कहना होताहै तब विवक्षा न कहकर केवल स्यात् अथवा कथंचित् शब्द-द्वारा ही इस प्रकार बोला जाता है कि; स्यात् द्रव्य अस्तिरूप है, कथंचित् द्रव्य अस्तिरूप है अथवा किसी अपेक्षासे वस्तु अस्ति-रूप है। परंतु जब इसी विवक्षाको स्पष्ट कहना होता है तब ऐसा कहते हैं कि घड़ा आदिक कोई भी वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षासे अस्तिरूप है; न कि दूसरे द्रव्योंके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षासे।

तथा हि। कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति; नाप्यादिरूपत्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन; न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन; न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्यामत्वेन; न रक्तादित्वेन। अन्यथेतररूपापत्त्या

स्वरूपव्यावृत्तिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । इतरथाऽनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थाऽनभिधानात् । तदुक्तं "वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्" ।

जैसे घड़ेको द्रव्यकी अपेक्षा देखते हैं तो पृथिवीपनेकी अपेक्षा अस्तिरूप है किंतु जलादिकी अपेक्षा अस्तिरूप नहीं है । क्षेत्रका विचार करनेपर पटना आदि किसी एक क्षेत्रकी अपेक्षा है बाकी दूसरे क्षेत्रोंकी अपेक्षा नहीं है । कालसे शीतादि किसी एक समयकी अपेक्षा है, शेष वसन्तादि अन्य समयोंकी अपेक्षा नहीं है । वस्तुके गुणोंको भाव कहते हैं । भावोंमेंसे किसी एककी अपेक्षा जब विचारते हैं तो वह घड़ा अपने श्यामादि गुणोंमेंसे विवक्षित एक गुणकी अपेक्षा है किंतु उसीमें रहनेवाले अन्य अविवक्षित गुणोंकी अपेक्षा नहीं है । यदि वस्तुको स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा ही अस्तिरूप न मानकर विना विवक्षाके ही अस्तिरूप माना जाय तो उस वस्तुके पिंडसे औरोंकी व्यावृत्ति नहीं होसकैगी और फिर इसीलिये उस वस्तुके स्वरूपका अभाव होजायगा । क्योंकि; वस्तुका स्वरूप तभीतक स्थिर रहसकता है जबतक उसके स्वरूपसे दूसरोंके स्वरूपोंमें भिन्नता प्रतीत होती रहै । इसीलिये अमुक वस्तु स्यात् अस्तिरूप ही है इत्यादि वाक्योंमें जो 'ही' शब्दसे निश्चय कराते हैं वह इसीलिये कि; अमुकमें अमुकके सिवाय अन्य वस्तुओंका भेद प्रतीत होता रहै । यदि 'ही' शब्द नहीं कहाजाय तो किसी एकका निश्चय न होनेसे जिस वस्तुकी इच्छा नहीं है वह वस्तु भी इच्छित वस्तुके बोलनेपर समझी जाने लगैगी । सो ही कहा है "वाक्यमें जो दूसरोंके निषेधरूप निश्चय करानेवाला 'ही' शब्द बोला जाता है वह अनिच्छित वस्तुओंको इच्छितसे भिन्न समझानेके लिये बोला जाता है और बोलना ही चाहिये । यदि नहीं बोलाजाय तो किसी एकके बोलनेसे जो इष्ट है उसके अतिरिक्त जो इच्छित नहीं है वह भी समझा जाने लगेगा । क्योंकि; अमुक है ऐसे विधिरूप वचनसे यदि अमुकका ही विधान और दूसरोंका निषेध होसकै तो निश्चय होजाय परंतु अमुक है इतने वचनमात्रसे दूसरोंका निषेध और अपना विधान हो नहीं सकता है । इसलिये 'ही' के विना किसी वचनसे किसी एक वस्तुका निश्चय नहीं होसकता है ।

तथाप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये स्यादिति शब्दः प्रयुज्यते । स्यात्कथंचित्स्वद्रव्यादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्या-

दिभिरपीत्यर्थः। यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव। यदुक्तं "सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते। यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः"। इति प्रथमो भङ्गः।

यहांपर शंका होसकती है कि घड़ा है ही इस प्रकार बोलनेसे ही यदि अभिप्राय समझा जाता है तो स्यात् शब्द बोलनेकी क्या आवश्यकता है? परंतु यह शंका योग्य नहीं है। क्योंकि; 'ही' शब्द जो निश्चयवाचक है वह जब 'है' क्रियाके साथ जोड़दिया जाता है तब घड़ेके अस्तित्व धर्मका तो निश्चय होजाता है कि घड़ा है ही किंतु नास्तिधर्मका निश्चय नहीं होसकता कि घड़ा ही है अन्य कुछ नही है। क्योंकि; निश्चयवाचक जो 'ही' शब्द लगाया गया है वह 'है' के साथ लगाया गया है; नकि घड़ेके साथ। इसलिये फिर भी अन्य वस्तुओंसे घड़ेकी जुदायगी प्रतीत होना दुर्लभ है। इसलिये स्यात् शब्द लगाकर ही प्रत्येक वाक्य बोलना चाहिये। भावार्थ—स्यात् शब्दके कहनेसे यह फल होगा कि विधि अथवा निषेधकी मुख्यतासे जो वस्तु बोला जायगा उससे उसीका विधिनिषेध होगा, अन्यका नहीं। जैसे यह घड़ा ही है अन्य कुछ नहीं है। यहांपर इस विधिवाक्यसे घड़ेकी ही विधि होती है और अन्य सबोंका निषेध होता है। और जो 'है' के साथ 'ही' शब्द बोला जायगा उसका यह फल होगा कि जो अमुक वस्तु अस्तिरूप बोली है तो अस्तिरूप ही है निषेधरूप नहीं है और यदि निषेधरूप ही बोली है तो वह निषेधरूप ही है; विधिरूप नहीं है। जैसे घड़ा है ही ऐसे वाक्यसे यही अर्थ समझा जाता है कि यह घड़ा अस्तिरूप ही है। इस प्रकार प्रत्येक वाक्यमें स्यात् शब्द भी बोलना चाहिये तथा 'ही' शब्द भी बोलना चाहिये। इसीसे यह निर्दोष अर्थ होसकता है कि अमुक वस्तु स्यात् अथवा कथंचित् अथवा स्वकीय द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा ही है; अन्यकी अपेक्षा नहीं है। एवं यदि वह अस्तिरूप कहा है तो अस्तिरूप ही है; नास्तिरूप नहीं है। जहांपर स्यात् शब्दका मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता है वहांपर भी उसको ऊपरसे समझ लेते हैं। जैसे अन्यका निषेध करनेवाला 'एव' अथवा 'ही' शब्द न बोलनेपर भी वाक्यमें उसका वैसा ही अभिप्राय बुद्धिमान् ऊपरसे समझ लेते हैं। यही कहा है "जिस वाक्यमें स्यात् शब्द नहीं बोला जाता है वहांपर भी अभिप्रायसे स्यात् शब्दका अर्थ बुद्धिमानोको प्रतीत होजाता है। जैसे जिस वाक्यमें 'एव' अथवा 'ही' शब्द नहीं बोला जाता है उसमें प्रकरणवश बुद्धिमानोंको 'ही' का अर्थ ऊपरसे झलक जाता है। यह प्रथम भङ्ग हुआ।

स्यात्कथंचिन्नास्त्येव कुम्भादिः। स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वाऽनिष्टौ हि प्रतिनियतस्व-

रूपाऽभावाद्वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात् । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यं, कथंचित्तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्साधनवत् । न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नः तस्य साधनत्वाऽभावप्रसङ्गात् । तस्माद्वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतं नास्तित्वं च तेनेति । विवक्षावशाच्चाऽनयोः प्रधानोपसर्जनभावः । एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेय "अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात् । इति द्वितीयः ।

अब दूसरा भंग कहते हैं । किसी अपेक्षा घटादि समस्त वस्तु नास्तिरूप ही हैं । जिस प्रकार स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप होती है उसी प्रकार यदि परकीय द्रव्यादिकी अपेक्षा भी अस्तिरूप ही मानीजाय अर्थात् उसमें नास्तित्व धर्म माना ही न जाय तो किसी भी वस्तुका भेदभावसे भिन्न भिन्न ज्ञान न होसके । और इसीलिये वस्तुका निश्चय होना दुर्लभ होजाय । जो लोग वस्तुमें सदा सर्वथा अस्तित्व धर्म ही मानते हैं वे भी ऐसा नहीं कहसकते हैं कि वस्तुमें नास्तित्व धर्म है ही नहीं । क्योंकि, जैसे एक ही हेतुमें किसी अपेक्षा अस्तित्व तथा किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्म ऐसे दोनो ही धर्म दीखते हैं उसी प्रकार वस्तुओंमें भी नास्तित्व धर्म युक्तिसे किसी प्रकार सिद्ध होसकता है । जो सत्त्वादिरूप हेतु अनित्यत्वादिरूप साध्यमें अस्तिरूप है वही विपक्षकी अपेक्षा नास्तिरूप है । जिसमें साध्य न रहता हो उसको विपक्ष कहते हैं । ऐसे विपक्षमें जबतक जिस हेतुका अभाव सिद्ध न होगा तबतक उस हेतुका साध्यके साथ रहना भी असंभव है । क्योंकि, जो विपक्षमें व्यावृत्ति दिखाये विना ही साध्यस्थलमें रहता हो वह हेतु नहीं होसकता है । भावार्थ—जब साध्यस्थानकी अपेक्षा हेतुमें अस्तित्व तथा विपक्षकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म संभव होता हो तभी उस हेतुको हेतु कहसकते हैं । यदि हेतुमें विपक्षकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म यथार्थमें ही न हो तो वह हेतु विपक्षसे व्यावृत्त रहता है ऐसा कहना भी बन न सके । क्योंकि, जो यथार्थमें व्यावृत्तिधर्म सहित नहीं है उसको ऐसा कैसे कह सकते हैं कि यह अमुकसे व्यावृत्त है । क्योंकि, वस्तुको जितने नामोंसे बोलसकते हैं उतने धर्म उसमें अवश्य ही होने चाहिये । किसी वस्तुमें किसी एक धर्मको न मानते हुए भी उस वस्तुको उस नामसे पुकारना कितनी मूर्खता है ! अथवा जिन शब्दोंको विशेषणरूप बनाकर वस्तुको पुकारते हैं उनको यथार्थमें उस वस्तुके धर्म न मानना कितनी मूर्खता है ! इसलिये यह सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्वधर्म नास्तित्व धर्मके साथ और नास्तित्व अस्तित्वके साथ नियमसे रहनेवाले

अविनाभावी धर्म हैं। विवक्षाके वश कभी नास्तित्व धर्मको उदासीनरूप देखते हुए अस्तित्व धर्मको प्रधान देखते हैं तथा कभी अस्तित्व धर्मको अमुख्य रखकर नास्तित्व धर्मको प्रधान मानने लगते हैं। भावार्थ—इसीलिये एक पदार्थको कभी अस्तिरूप कहते हैं और कभी नास्तिरूप कहते हैं। "अर्पित तथा अनर्पित नयोंकी अपेक्षासे वस्तुमें भंग हो सकते हैं" इस प्रकार ग्रन्थकर्ताओंमें मुख्य श्रीउमास्वामीके वचनानुसार और भी तीसरे आदिक भंगोमें अस्तित्व नास्तित्व धर्मोंकी प्रधानता अप्रधानता समझलेना चाहिये। इस प्रकार दूसरा भंग हुआ।

तृतीयः स्पष्ट एव। द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसंभवादवक्तव्यं जीवादिवस्तु। तथा हि। सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यं; तस्याऽसत्त्वप्रतिपादनाऽसमर्थत्वात्। तथाऽसदित्यनेनापि; तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याऽभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत्साङ्केतिकमेकं पदं तद्वक्तुं समर्थं; तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः शतृशानयोः संकेतितसच्छब्दवत्। अत एव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्। इति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्प्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्; अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्। इति चतुर्थः। शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः।

तीसरा भंग स्पष्ट ही है। अर्थात् जब क्रमसे अस्तित्व और नास्तित्व धर्मकी मुख्यता करते हैं तब वस्तुका स्वरूप अस्तिनास्तिरूप रहता है। इसलिये वस्तु कथंचित् अस्तिनास्ति ऐसे दोनोरूप है। यह तीसरा भंग हुआ। चौथा भंग कथंचित् अवक्तव्यस्वरूप है। जब अस्तित्व नास्तित्व दोनो धर्मोंको एक समयमें प्रधान समझते हैं तब इन परस्परविरुद्ध दोनो धर्मोंका एक साथ कहनेवाला कोई भी शब्द न मिलनेसे वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य होजाता है। क्योंकि; जितने शब्द हैं उनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो वस्तुके किसी धर्मका अस्तित्वमात्र कहसकते हैं और कुछ ऐसे हैं जो नास्तित्वको ही जता सकते है। जो अस्तित्व दिखानेवाले शब्द हैं वे नास्तित्व धर्मको नहीं कह सकते हैं और जो नास्तित्व धर्मको कहते हैं उनसे अस्तित्व धर्म कहाजाना असंभव है। और जिस प्रकार पुष्पदंत शब्द संकेतित होनेसे किसी विशेषको जतानेवाला है उस प्रकार भी कोई एक शब्द ऐसा संकेतित नहीं है जिसके द्वारा एक साथ परस्पर विरुद्ध धर्मोंका कहना, समझना होसकता हो। जो कोई माना भी जाय तो वह क्रमसे ही परस्पर विरुद्ध अर्थोंको

कह सकता है, एक साथ नहीं। जिस प्रकार व्याकरणमें 'शतृ' और 'शान' इन दो प्रत्ययोंकी 'सत्' संज्ञा रक्खी गई है और उसके बोलनेपर 'शतृ शान' प्रत्यय समझे भी जाते हैं परंतु समझे क्रमसे ही जाते हैं। 'शतृ' और 'शान' ये दोनो प्रत्यय एक साथ नहीं समझे जाते हैं। या तो 'सत्' संज्ञा सुननेके अनंतर पहिले 'शतृ' और पीछे 'शान' का बोध होता है और या पहिले 'शान' पीछे 'शतृ' का। इसीप्रकार द्वन्द्व अथवा कर्मधारय समासके द्वारा परस्पर विरुद्ध धर्मोंके वाचक दो शब्दोंको मिलाकर एक कर लेनेके अनंतर भी अथवा एक वाक्यद्वारा परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंके वाचक दो शब्द बोलनेपर भी एक साथ दोनो धर्मोंका कहना समझना असंभव ही है। इसलिये एक साथ परस्परविरुद्ध दो धर्मोंको बोलनेकी अपेक्षा एक साथ दो धर्मोंका कहनेवाला कोई शब्द न होनेसे वस्तुका स्वरूप कथंचित् अवक्तव्य रहता है। वस्तुका अवक्तव्य स्वरूप कथंचित् ही संभवता है किंतु सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं है। यदि सर्वथा अवक्तव्य स्वरूप होता तो अवक्तव्य शब्दसे कहना भी कठिन होजाता। यह चौथा भंग हुआ। स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य तथा स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य ये पांचवें छट्ठे सातवें भंग सुगम हैं। भावार्थ—इन तीनोंका स्वरूप जो कुछ कहना था वह ऊपरके कथनसे ही गतार्थ होजाता है और कुछ विशेष कहना नहीं है।

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानाऽनन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति, विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात्। यथा हि सदसत्त्वाभ्यामेवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात्। तथा हि। स्यात्सामान्यम्। स्याद्विशेषः। स्यादुभयम्। स्यादवक्तव्यम्। स्यात्सामान्याऽवक्तव्यम्। स्याद्विशेषावक्तव्यम्। स्यात्सामान्यविशेषाऽवक्तव्यमिति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यः सामान्यस्य विधिरूपत्वाद्विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथ वा प्रतिपक्षशब्दत्वाद्यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एवं सर्वत्र योज्यम्। अतः सुष्ठूक्तं अनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव भवेयुरिति।

जब एक एक वस्तुमें अनंतो अनंतो धर्म हैं और सभी विधीयमान निषिध्यमान हैं तब यदि अनंतो ही भंग होसकते हैं तो सप्तभंगी ही क्यों कहना चाहिये? यह शंका अनुचित है। क्योंकि; चाहे कितने ही धर्मोंको अस्तिनास्तिरूप कहा जाय परंतु

विधिनिषेधकी अपेक्षा प्रत्येक धर्मके भंग सात ही होंगे। इसलिये सब धर्मोंकी सप्तभङ्गी चाहैं अनंतो हों परंतु प्रत्येक धर्मके विधिनिषेधकी अपेक्षा सप्तभङ्गी ही कहना उचित है। जिस प्रकार सत् असत् धर्मोंकी सप्तभंगी होसकती है उसी प्रकार सामान्य विशेष इन दो धर्मोंकी भी सप्तभङ्गी होसकती है। जैसे—प्रत्येक वस्तु कथंचित् सामान्य है, कथंचित् विशेष है, कथंचित् सामान्यविशेष इन दोनोस्वरूप है; कथंचित् अवक्तव्य है; कथंचित् सामान्य होकर भी अवक्तव्य है; कथंचित् विशेष होकर भी अवक्तव्य है तथा कथंचित् सामान्यविशेषरूप होकर भी अवक्तव्य है। कदाचित् कहो कि इसमें विधि तथा निषेध नही होसकते हैं सो भी कहना ठीक नही है। क्योंकि; सामान्य धर्म तो सदा अस्तिरूप है और विशेष धर्म दूसरोका निषेधकर्ता होनेसे नास्तिरूप है। इसलिये जैसे अस्ति नास्ति धर्ममें विधि निषेधकी अपेक्षा सात भंग होसकते हैं उसी प्रकार सामान्य विशेष धर्ममें भी सात भंग होसकते हैं। अथवा इस प्रकार भी इनमें विधि निषेध कहे जा सकते है कि ये दोनो सामान्य विशेष शब्द एक दूसरेके विरुद्ध हैं इसलिये जब सामान्य धर्मकी तो प्रधानता करते हैं और विशेष धर्मकी अप्रधानता रखते हैं तब सामान्य तो विधिरूप होजाता है और विशेष धर्म नास्तिरूप होजाता है। और जब विशेषको मुख्य समझकर सामान्यको अमुख्य समझते है तब विशेष धर्म विधिरूप होजाता है और सामान्य निषेधरूप होजाता है। इसलिये स्यात्सामान्य है स्यात् विशेष है इत्यादि प्रकारसे सात भंग होसकते है। इसी प्रकार और भी संपूर्ण धर्ममें सात सात भंग घट सकते हैं। इसीलिये ठीक कहा है कि "अनंतो धर्ममें भी विचार करनेपर प्रत्येकके सात सात ही भंग होनेसे यदि अनंतो भी होंगी तो सप्तभंगी ही होंगी"।

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात्। तेषामपि सप्तत्वं; सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्। तस्या अपि सप्तविधत्वं; सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्। तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति।

प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा भंग सात ही इसलिये होते हैं कि प्रत्येक पर्यायमें जिनको कहसकते हैं ऐसे समाधान अथवा उत्तर सात ही होतेहैं। उत्तर सात ही इसलिये होते हैं कि उन स्वरूपोंके जाननेकी इच्छा सात प्रकारसे ही होती है। जाननेकी इच्छा भी सात प्रकार ही इसलिये होती है कि; उस विषयके संदेह सात प्रकारके ही उठते हैं। और संदेह भी अधिक इसलिये नही उठते कि; प्रत्येक वस्तुमें संभवने योग्य धर्म सात ही हैं।

इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च । तत्र सकलादेशः प्रमाणवाक्यम् । तल्लक्षणं चेदम् । प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः । अस्यार्थः—कालादिभिरष्टाभि: कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात्कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद्वा समकालमभिधायक वाक्यं सकलादेशः । तद्विपरीतस्तु विकलादेशो नयवाक्यमित्यर्थः । अयमाशयः । यौगपद्येनाऽशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद्भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते तस्य नयात्मकत्वात् ।

प्रत्येक सप्तभंगीके प्रत्येक भंगमें कभी सकलादेश स्वभाव पाया जाता है और कभी विकलादेशरूप स्वभाव पाया जाता है । प्रमाणरूप ज्ञानके सूचक वाक्यको सकलादेश कहते हैं और नयरूप ज्ञानके सूचक वाक्यको विकलादेश कहते हैं । प्रमाणरूप ज्ञानसे जाने हुए अनंतधर्मस्वरूप वस्तुको कालादिक आठ निमित्तोंकी अपेक्षासे अथवा अभिन्न भावके संकल्पकी अपेक्षा लेकर एकसाथ कहनेवाला जो वचन हो, जैसे अमुक वस्तु अनंत धर्मात्मक है, उसीको प्रमाणरूप वचन अथवा सकलादेश कहते हैं । सारांश यह है कि; वस्तुमें जितने धर्म होते हैं वे सभी कालादिक आठ निमित्तोंकी अपेक्षा अभिन्न समझे जाते हैं। सो उन संपूर्ण धर्मोंमें तथा उनके धर्मियोंमें परस्पर कालादिकी अपेक्षा अभेद मानकर अभेद भावको प्रधानकर अथवा कालादिसे जो धर्मधर्मी परस्पर अभिन्न हो रहे हैं उनमें अभेद दृष्टिका ही आरोपण प्रधान करके संपूर्ण धर्मधर्मीके समूहको जो वचन एक समयमें कहे उसको सकलादेश कहते हैं । और जो सूक्ष्म प्रयोजनादिक निमित्तोंकी अपेक्षा लेकर वस्तुके धर्मधर्मियोंको भिन्न भिन्न कहनेवाला वाक्य होता है उसको विकलादेश अथवा नयवाक्य कहते हैं । भावार्थ—सकलादेश तो कालादिकृत अभेदभाव लेकर अथवा अभेदरूप उपचार कर एक ही समयमें वस्तुके संपूर्ण धर्मोंको एकरूप प्रतिपादन करता है । क्योंकि, यह सकलादेशरूप वस्तु प्रमाण ज्ञानका ही विषय है । और जो विकलादेश है वह भेद दृष्टिका आरोपण करके अथवा भेदभावकी प्रधानता मानकर क्रमसे एक एक धर्मको लेकर वस्तुस्वरूपका कथन भिन्नरूप करता है । क्योंकि, विकलादेश वस्तु नयाधीन है । प्रमाणज्ञान तो युगपत् अनंतो

धर्मों सहित वस्तुको अभेदरूपसे जानता है और जो नयरूप ज्ञान होता है वह वस्तुके एक एक धर्मका क्रमसे ग्रहण करता है। इसीलिये प्रमाणके विषयको तो सकलादेश कहते हैं और नयात्मक ज्ञानके विषयको विकलादेश कहते हैं।

कः पुनः क्रमः? किं च यौगपद्यम्? यदाऽस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात्क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्याऽनेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम्।

क्रमसे जानना इस शब्दका अभिप्राय तो क्या है और प्रमाण युगपत् समस्त धर्मोंको जानता है ऐसे वाक्यमें जो युगपत् शब्द कहा उसका अभिप्राय क्या है? जब एक वस्तुमें रहनेवाले अस्तित्व नास्तित्व आदिक अनंतो धर्मोंमें लक्षण प्रयोजनादि कारणो द्वारा भेद-भावकी कल्पना कीजाती है तब एक शब्दके बोलनेसे अनेक धर्मोंका प्रतिबोध नहीं हो सकता है। क्योंकि; उस समय धर्म तो परस्पर भिन्न भिन्न माने हुए हैं और एक शब्द अनेक धर्मोंका वाचक हो नही सकता है। इसलिये एक वचनसे एक साथ प्रतिपादन न होसकनेके कारण प्रत्येक धर्मको क्रमसे ही अनेक शब्दोंद्वारा कहना पड़ता है। इसीको क्रमसे जानना कहते हैं। और जब उन्ही संपूर्ण धर्मोंको कालादिकी अपेक्षा अभिन्न मानकर सबको एकरूप मानते हैं तब सभी धर्म एकरूप विवक्षित होनेसे एक ही समयमें एक ही शब्दद्वारा पुकारे जा सकते हैं। परंतु तब भी एक शब्द जो बोलते हैं वह होता किसी न किसी एक ही धर्मका वाचक है किंतु उस एक धर्मकी मुख्यता करके बोलनेसे उसका अर्थ संपूर्ण धर्मोंका समुदाय माना जाता है। क्योंकि; उस समय संपूर्ण धर्मोंको एकस्वरूप ही मान रक्खा है। इसीका नाम युगपत् है। अर्थात् एक धर्मकी मुख्यता करके एक शब्द बोलनेपर भी अभेद विवक्षासे संपूर्ण धर्मोंमें अभेद समझ लेना ही युगपत्शब्दका अर्थ है।

के पुनः कालादयः? कालः; आत्मरूपम्, अर्थः, संबन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्द इति। तत्र (१) स्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाऽभेदवृत्तिः। (२) यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाऽभेदवृत्तिः। (३) य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवाऽन्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः। (४) य एव चाऽविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः। (५)

य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरण स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाऽभेदवृत्तिः । (६) य एव गुणिनः संबन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः । (७) य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाऽभेदवृत्तिः । अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानं भेदो गौणः; संसर्गे तु भेदः प्रधानमभेदो गौण इति विशेष । (८) य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषाऽनन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाऽभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते ।

वे कालादि आठ कारण कोनसे हैं जिनके द्वारा धर्म धर्मी आदि अनेक भेदरूप वस्तुमें भी अभेद प्रतीत होता है? काल, आत्मरूप अर्थ, संबन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग, शब्द ये अभेद दिखानेके आठ कारण हैं ।(१) इनमेंसे जीवादि वस्तु कथंचित् अस्तिरूप ही है ऐसा शब्द बोलनेपर जितने समयतक उस जीवादि किसी एक द्रव्यमें अस्तित्व धर्मकी प्रधानता मानी गई हो उतने समयतक बाकीके भी अन्य धर्म उस एक वस्तुमें हैं इसलिये काल की अपेक्षा ये सर्व अभिन्नरूप हैं ऐसा मानना चाहिये । (२) जिस प्रकारसे अस्तित्व धर्म उस वस्तुमें वस्तुस्वरूप है उसी प्रकार और गुण भी उस वस्तुमें वस्तुस्वरूप ही होकर रहते हैं इसलिये निजपनेकी अपेक्षा ये सर्व एक ही अथवा अभिन्न ही हैं । (३) द्रव्यनामक जो पदार्थ अस्तित्व धर्मका आश्रय है वही और भी बाकीके अनंतो धर्मोंका अथवा पर्यायोंका आश्रय है इसलिये अर्थ या पदार्थकी अपेक्षा उन सर्वोंमें अभेद है। (४) जिसका कभी विश्लेष नहीं होता ऐसा जो द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्यरूप संबंध अस्तित्वका है वही और गुणोंका भी है इसलिये संबंधकी अपेक्षा वस्तुके धर्म धर्मी आदिक स्वभाव अभिन्न हैं । (५) अस्तित्व धर्मकरिके निज स्वरूपमें जिस उपकारके द्वारा अनुराग पैदा होता है उसी उपकारके द्वारा अन्य धर्मों करिके भी वस्तुके स्वरूपमें अनुराग होता है इसलिये उपकारकी अपेक्षा वस्तुमें अभेदभाव है । (६) जिसमें गुण बसते हैं ऐसा द्रव्यरूप देश अथवा क्षेत्र जो एक अस्तित्व गुणका है वही क्षेत्र बाकीके अन्य गुणोंका भी है इसलिये गुणविशिष्ट द्रव्यरूप क्षेत्रकी अपेक्षा संपूर्ण धर्मोंमें परस्पर अभेदभाव है । (७) एक वस्तुपनेकी अपेक्षा जो अस्तित्वगुणका संसर्ग है वही और भी शेष गुणोंका संसर्ग है इसलिये संसर्गकी अपेक्षा अभिन्नपना है । यद्यपि वस्तुको संबंधकी अपेक्षा भी ऊपर अभिन्नरूप ही मानचुके हैं परंतु जब संबंधकी अपेक्षा वस्तु और उसके संपूर्ण धर्मोंको अभिन्नरूप सिद्ध करते हैं तब उन सबोंमें अविष्वग्भाव माननेसे अभेदविवक्षा प्रधान कीजाती है और भेदभाव अप्रधान रक्खा जाता है। किंतु जब संसर्गकी अपेक्षा अभेदभाव देखते हैं

तब भेदभाव तो मुख्य रक्खा जाता है और अभेदभाव अमुख्य रक्खा जाता है। यही संसर्ग तथा संबंधमें अपूर्वता है। (८)

जो अस्ति अथवा है ऐसा शब्द अस्तित्व धर्मवाले वस्तुको जताता है उसीसे बाकीके अनंतो धर्मोंका आश्रयभूत वस्तु भी जताया जाता है इसलिये शब्दकी अपेक्षा भी अनंतो धर्म तथा उसका आधार वस्तु ये सर्व परस्पर अभिन्नरूप हैं। अर्थात् एक ही शब्दसे एक वस्तुके संपूर्ण धर्मोंका बोध होजाता है इस लिये वस्तुके संपूर्ण अंश अभिन्न अथवा एकरूप ही हैं। जब पर्यायोंके आविर्भावकी अपेक्षा तो अमुख्य समझी जाती हो और अखंडरूप द्रव्यकी अपेक्षा रखनेवाली विवक्षाकी प्रधानता मानी जाती हो तब यह आठों प्रकारका अभेदभाव बनसकता है।

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः संभवति; समकालमेकत्र नानागुणानामसंभवात्। संभवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात् आत्मरूपाऽभेदे तेषां भेदस्य विरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वादन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात्। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनान्नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाऽघटनात्। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्याऽनेकत्वात् अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात्। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाऽभेदप्रसङ्गात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात्तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेश्च।

और जब द्रव्यार्थिक अपेक्षा की अप्रधानता तथा पर्यायोंके आविर्भावकी मुख्यता ली जाती है तब संपूर्ण गुणोंमें परस्पर अभेदभाव नहीं बनसकता है। क्योंकि; (१) एक ही समयमें नाना भावोंका होना असंभव है और यदि हों भी तो उन भिन्न भिन्न भावोंके आश्रयरूप जो द्रव्य है वह भी उतने ही भेदरूप होजायगा। (२) और संपूर्ण गुणोंके स्वरूपमें तथा उनके आश्रयरूप द्रव्यमें परस्पर अनेकपना है। यदि उन गुणोंमें परस्पर भेद न हो तो वे गुण भिन्न भिन्न न गिने जाने चाहिये। (३) और उन गुणोंका आश्रयभूत जो द्रव्य है वह भी नानाप्रकार है। यदि नानारूप न हो तो नाना गुणोंका आश्रय किस प्रकार बनसके? (४) और जो अनेक संबंधियोंको संबद्ध रखनेवाले संबंध हैं वे भी अनेक होने चाहिये। क्योंकि; एक वस्तुमें

अनेक सर्वधियोंको संबद्ध रखना एक संबंधके द्वारा नही होसकता है। (५) और उन अनेक गुणों करके किया हुआ उपकार है वह भी प्रत्येक गुणका जुदा जुदा स्वरूप होनेसे अनेक प्रकार ही होगा । क्योंकि; जो उपकार अनेक उपकारियोंकर किया जाता है वह एकरूप नहीं होसकता। (६) जो प्रत्येक गुणका क्षेत्र है वह भी कथंचित् भिन्न भिन्न ही होना चाहिये । क्योंकि, यदि क्षेत्र अभिन्न होगा तो उसमें रहनेवाले भिन्न भिन्न प्रयोजनके धारक संपूर्ण गुण भी क्षेत्रकी अपेक्षा एकरूप होजायगे। (७) इसी प्रकार संसर्ग भी उन प्रत्येक संसर्गियोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न ही हैं जिनको कि ये मिलाये रखते हैं। यदि उन गुणोंको मिले हुए रखनेवाला संसर्ग एक ही होता तो मिले हुए जो अनेक गुण हैं ये भी संपूर्ण एक ही होजाते। (८) इसी प्रकार अस्तित्वादि प्रत्येक धर्मके वाचक शब्द भी भिन्न भिन्न हैं। यदि संपूर्ण गुणोंका अथवा धर्मोंका वाचक एक ही शब्द होता तो संपूर्ण धर्म एक शब्दके ही वाच्य अर्थ होजाते। और जब एक शब्दके अनेको वाच्य अर्थ होजाते तो अन्य शब्दोंका बोलना भी व्यर्थ होजाता।

तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येयमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नाऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः । नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्यापरपर्याय इति स्थितम् । ततः साधूक्तमादेशभेदोदितसप्तभङ्गम् । इति काव्यार्थः ।

इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय तो यथार्थमें अस्तित्वादि जो अनेकों धर्म हैं वे एक किसी वस्तुमें अभेदभावसे नहीं रहसकते हैं किंतु कालादि आठों कारणोंके द्वारा परस्पर भिन्नस्वरूप ही रहैंगे। और जब ये इस प्रकार सर्व भिन्नस्वरूपही हैं तब इनमें कार्यवाहीरूप प्रयोजनके वश अभेदभावका उपचार अथवा आरोप अथवा कल्पना करनी पडती है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता लेकर पहिले दिखाये हुए अभेदभावके कारण अथवा जब पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता लेते हैं तब अभेदभाव समयमें नही बनसकता है इसलिये प्रयोजनवश आरोपित किये हुए अभेदरूपके कारण अनंतधर्मात्मक वस्तुका एक ही कहनेवाला जो वाक्य हो वह सकलादेश है। इसीका दूसरा नाम प्रमाणवाक्य है । और नयरूप ज्ञानसे जिसका जानना होता है

ऐसा जो एकदेशरूप वस्तुका एक धर्म है उसको जो वाक्य भेदभावकी अथवा भेदरूप उपचार की प्रधानता लेकर प्रतिपादन करै वह विकलादेश है। इसीको नयवाक्य भी कहते हैं। इस प्रकार सकलादेश तथा विकलादेश सिद्ध होनेसे यह कहना भी सिद्ध होता है कि सकलादेश विकलादेशरूप आदेशोमेंसे कभी किसीका और कभी किसीका सहारा लेनेंसे वस्तुके स्वरूपमें सात सात भंग होजाते हैं। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

अनन्तरं भगवद्दर्शितस्याऽनेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम्। अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता। तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति। तेषां प्रमाणमार्गाच्च्यवनमाह।

अभी पहिले यह कहा कि जिसका प्रतिपादन भगवान् सर्वज्ञने किया ऐसा वस्तुका अनेकान्तात्मक स्वरूप अच्छे विद्वानोके विचारमें ही आसकता है। और अनेकांतात्मकपनेका ज्ञान सप्तभङ्गीरूप स्याद्वादका प्ररूपण करनेसे ही भलेप्रकार होसकता है इसलिये पीछे से सप्तभङ्गीका निरूपण भी किया। परंतु नाना प्रकारके अस्तित्व नास्तित्व आदिक परस्परविरुद्ध धर्मोसहित वस्तुको देखते हुए अज्ञानी एकान्तपक्षपाती जन उसमें विरोध समझते हैं। सो अब यह दिखाते हैं कि वे प्रमाणके सच्चे मार्गसे च्युत हैं।

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

मूलार्थ—परस्पर विरुद्ध जो अस्तित्व नास्तित्व तथा अवक्तव्य ये तीन धर्म पदार्थमें आरोपित किये गये हैं वे यद्यपि विवक्षाके वश ठीक हैं इसलिये विरुद्ध नहीं हैं परंतु विवक्षाओंका विचार न करनेवाले तथा एकांतपक्षोंके धारण करनेसे जिनकी बुद्धि कुंठित होगई है तथा जो विरोधको देखकर भयभीत हैं ऐसे मूर्ख मनुष्य मार्गसे पतित होरहे हैं।

व्याख्या—अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्। अस्तित्वेन सह

विरोधं नाऽनुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धं किं तु सदवाच्यते च । सचाऽवाच्यं च सदवाच्ये । तयोर्भावौ सदवाच्यते । अस्तित्वाऽवक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे ।

व्याख्यार्थ—चेतन अचेतनरूप पदार्थोंमें रहनेवाला असत्व अर्थात् नास्तित्व धर्म विरोधसहित नहीं है। अर्थात् हमने जो चेतन और जड़रूप संपूर्ण पदार्थोंमें नास्तित्व धर्मका आरोपण किया है उसका अस्तित्व धर्मके साथ रहनेसे कुछ विरोध नहीं है । केवल अस्तित्वके साथ रहनेसे नास्तित्व धर्म ही विरोधरहित हो ऐसा नहीं है किंतु अस्तित्व तथा अवक्तव्य धर्म भी विरोधरहित ही हैं । अस्तित्वधर्मविशिष्ट वस्तुको सत् कहते हैं और जो एक साथ विरोधी धर्मोंके कारण बोला न जासके उसको अवाच्य अथवा अवक्तव्य कहते हैं। इन दोनो धर्मोंको जब इकट्ठा बोलते हैं तब सदऽवाच्य कहते हैं। इन दोनो धर्मोंके भावको जब मिलाकर कहें तो सदवाच्यता कहते हैं और यदि जुदा जुदा कहें तो सत्त्व तथा अवाच्यत्व अथवा अस्तित्व तथा अवक्तव्यत्व कहते हैं । ये भी दोनो धर्म ऐसे विरोधी नहीं हैं जो एक वस्तुमें एक साथ न रहसकते हों ।

तथा हि । अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योऽन्यं न विरुध्यते । अथ वा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन सार्कं न विरोधमुद्वहति। अनेन च नास्तित्वाऽस्तित्वाऽवक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधतोपलक्षिता; अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गाना च संयोगजत्वेनाऽमीष्वे-वान्तर्भावादिति ।

अब ऊपरके कथनको स्पष्ट करते हैं । अस्तित्वधर्मका नास्तित्वधर्मके साथ रहनेमें विरोध नहीं है । अवक्तव्यत्व धर्मका विधि-निषेधरूप अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दोनो धर्मोंके साथ विरोध नहीं है । अथवा अस्तित्व तथा नास्तित्व धर्म वक्तव्यरूप हैं इसलिये यों भी कह सकते हैं कि अवक्तव्यत्व धर्मका वक्तव्यत्वधर्मोंके साथ रहनेमें कुछ विरोध नहीं है । इन तीनो भंगोंमें परस्पर अविरोध होनेसे सातो ही भंगोंमें अविरोध समझ लेना चाहिये । क्योंकि, ये तीन ही भंग मुख्य हैं, बाकीके चार भंग तो इन्ही तीनोंके संयोगोंसे उपजते हैं इसलिये उनका इन्हीमें अंतर्भाव होजाता है ।

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः । तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह "उपाधिभेदोपहितम्" इति । उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकारास्तेषां भेदो नानात्वं तेनोपहितमर्पितम् (असत्त्वस्य

विशेषणमेतत्) उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ।

कदाचित् ऐसी शंका होसकती है कि ये धर्म परस्पर विरुद्ध हैं इसलिये इन तीनोंका एक एक पदार्थमें समावेश कैसे होसकता है? इसलिये विरोध न आनेमें हेतुरूप विशेषण कहते हुए उत्तर देते हैं कि "उपाधिभेदोपहितम्"। अर्थात् ये धर्म उपाधियोंके कारण माने गये हैं इसलिये इनमें परस्पर विरोध नहीं है। विवक्षित किसी वस्तुमें स्वयं रहकर उसको शेष अनेक वस्तुओंमेंसे जुदा करनेवाला जो धर्म होता है उसको उपाधि कहा है। अथवा नाना प्रकारके भिन्न भिन्न धर्मोंका नाम उपाधि है। उस उपाधिके अनेक भेदोंमेंसे किसी एक भेदके वश सत्रूप पदार्थोंमें स्थापित किया हुआ जो असत्व है वह विरोधी नही होसकता है। यहांपर उपाधिभेदोपहितम्' ऐसा जो कहा वह नास्तित्वका विशेषण है तथा विरोध न आनेदेनेके लिये हेतु भी है। अर्थात् यह विशेषण हेतुरूप इसलिये है कि सत् पदार्थमें जो नास्तित्व धर्मका स्थापन है वह किसी न किसी व्यावर्तक धर्मके रहनेसे अवश्य मानना पड़ता है इसलिये अविरोध सिद्ध हो। वहांपर उपाधिका ही नाम व्यावर्तक धर्म है। इसी प्रकार अस्तित्व धर्म तथा अवक्तव्यत्व धर्ममें भी उपाधिके कारण ही अविरोध विचार लेना चाहिये। अर्थात् नाना प्रकारकी उपाधियोंमेंसे किसी एक उपाधिका आश्रय होनेसे ही अस्तित्व तथा अवक्तव्यत्वका भी नास्तित्व धर्मके साथ रहनेमें विरोध नहीं रहता।

अयमभिप्रायः–परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधः। न चात्रैवं; सत्त्वाऽसत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्त्तनात्। न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात्। तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यं तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः। न चाऽसत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्राप्तेः। तथा च निरुपाख्यत्वात्सर्वशून्यतेति। तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवं; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवाऽसत्त्वमपि। किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वमन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्।

सारांश यह है कि; शीतउष्णताकी तरह जो धर्म परस्परमेंसे एक दूसरेको हठाकर ही रहते हैं; किंतु एकसाथ रहते ही नहीं हैं उन धर्मोंका ही एक साथ न रहनेरूप विरोध कहाजासकता है। परंतु यहांपर ऐसा नही है कि एक साथ सत्त्व असत्व धर्म रहते

ही न हों। क्योंकि, सत्व असत्व धर्मोको हम एक दूसरेके साथ अभेदभावसे रहते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं । घड़े आदिकोंमें जो घड़े आदिकोंकी सत्ता रहती है वह असत्ताको छोड़कर कभी नहीं रहती है । यदि सर्वथा सत्ता ही रहे तो उस पदार्थके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा भी उस पदार्थका अस्तित्व होना चाहिये । और जो दूसरोंकी अपेक्षा भी उसमें अस्तित्व रहेगा अर्थात् वह पदार्थ दूसरोंकी अपेक्षा भी अस्तिरूप माना जायगा तो उसके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंका रहना मानना ही निरर्थक है। क्योंकि, वह एक ही पदार्थ तीनो लोकोंके संपूर्ण पदार्थ स्वरूप होनेसे उसीसे संपूर्ण कार्य सिद्ध होसकते हैं। इस प्रकार जैसे सत्व धर्म असत्वको छोड़कर नहीं रहसकता है तैसे ही असत्व धर्म भी सत्वको छोड़कर नहीं रहसकता है। क्योंकि, सर्वथा असत्व ही हो अर्थात् जैसे पर पदार्थोंकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुमें असत्त्व धर्म रहता है तैसे ही यदि निज स्वरूपकी अपेक्षा भी असत्त्व ही रहेगा तो किसी वस्तुकी सत्ता ही न रहसकेगी और फिर कुछ न रहनेसे सर्वशून्यता होजायगी । और दूसरी बात यह है कि विरोध तभी आसकता है जब कि सत्त्व तथा असत्त्व ये दोनो धर्म एक किसी अपेक्षासे ही मानेजाय । परंतु ऐसा नहीं है । क्योंकि, जिस अंशकी अपेक्षा वस्तुको अस्तिरूप मानते हैं उसीकी अपेक्षा नास्तिरूप नहीं मानते हैं किंतु नास्तिस्वरूप किसी अन्य अपेक्षासे मानते हैं और अस्तिरूप किसी अन्य अपेक्षासे । अर्थात् निज स्वरूपकी अपेक्षा तो वस्तुको अस्तिरूप मानते हैं तथा निजसे भिन्न वस्तुओंकी अपेक्षा उसी वस्तुको नास्तिस्वरूप मानते हैं ।

दृष्टं ह्येकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नीली-रागाद्युपाधिकं वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यम-वसेयम् । न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिश्चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात्तत्रापि भिन्नदेशत्वाऽसिद्धेः । कथंचित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः ।

अन्यत्र भी इसी प्रकार देखा आता है। कई रंगोसे रंगा हुआ जो चित्र वस्त्र होता है उसमें जो नीलापन दीखपड़ता है वह तो किसी दूसरी चीजके संबंधसे तथा अन्य जो रंग होते हैं वे अपनी अपनी कुछ जुदी जुदी ही सामग्रियोंसे होते हैं। इसी प्रकार काला पीला इन दो वर्णोंका जो रंगा हुआ वस्त्र होता है उसमें भी जो जुदे जुदे रंग हैं वे अपनी अपनी जुदी सामग्रियोंसे ही पैदा हुए हैं। भावार्थ—यद्यपि एक ही आधारमें अपनी अपनी अपेक्षा तो संपूर्ण रंग विद्यमान हैं परंतु अन्य रंगोंकी अपेक्षा अन्य

रंगोंका अभाव भी मानना ही पड़ता है। यदि दूसरोंकी अपेक्षा भी अभाव नहीं मानाजाय तो संपूर्ण रंग एक ही होजाने चाहिये। और यदि सर्वथा असत्त्व ही मानाजाय किंतु अपनी अपेक्षा भी सत्त्व नहीं मानाजाय तो सर्वोका अभाव ही होजाय । इसलिये निज निजकी अपेक्षा तो उनमेंसे प्रत्येकका सत्त्व रहता है और परस्वरूपोंकी अपेक्षा असत्त्व रहता है । चित्रविचित्र वस्त्रोंके दृष्टांतसे ऐसा भी नहीं सिद्ध होता है कि सत्त्व तथा असत्त्व ये दोनो धर्म हैं तो अवश्य परंतु भिन्न भिन्न स्थानपर रहते हों । क्योंकि; चित्रवस्त्रादि जो है वह अनेक रंगोका आश्रय होकर भी अखंड एक ही है और इसीलिये उन संपूर्ण रंगोका आधार एक ही माना जाता है; नकि भिन्न भिन्न । और फिर स्याद्वादियोंके पाससे कथंचित् बोलना तो कही छूट ही नहीं गया है । दृष्टांतमें और दार्ष्टांतमें भी वह विद्यमान है । अर्थात् हम न तो अनेक रंगोके आधारभूत वस्त्रको ही सर्वथा एक कहते है और न सत्त्व असत्वके आश्रयको ही सर्वथा अभिन्न कहते हैं किंतु कथंचित् सत्व असत्वका आश्रय एक है और कथंचित् जुदे जुदे हैं ।

एवमप्यपरितोषश्चेदायुष्मतस्तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात्पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्? एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्याः । इत्युक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाऽभावमप्रबुद्ध्यैवाऽज्ञात्वैव (एवकारोऽवधारणे। स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याऽभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति) ततस्ते विरोधभीताः, सत्त्वाऽसत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो यो विरोधः सहाऽनवस्थानादिस्तस्माद्भीतास्त्रस्तमानसाः । अत एव जडास्तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद्भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनस्तदेकान्तहताः । तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति । पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणेनाऽसमर्था न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः ।

हे चिरंजीव ! यदि इतनेपर भी तुमे संतोष नहीं हुआ तो जो पिता होना, पुत्र होना, मामा होना, भानजा होना, काका होना, तथा भतीजा होना इत्यादि धर्म परस्पर विरुद्ध होनेपर भी जो एक ही पुरुषमें संबंधके वश पाये जाते है उनके विषयमें क्या कहोंगे ? **भावार्थ**—जिस प्रकार ये धर्म विरुद्ध होकर भी एक पुरुषमें रहसकते हैं उसी प्रकार अस्तित्व नास्तित्वादि धर्म भी एक एक वस्तुमें रहसकते हैं । इसी प्रकार अवक्तव्यत्वादि धर्म भी समझलेने चाहिये । इस प्रकार हमने जो संबंधके विशेषपनेसे सच्चा विरोधाभाव

दिखाया है उसको नहीं समझकर ही यादी विरोधसे भयभीत होरहे हैं। अर्थात् सूक्ष्मरूपसे विचार न करनेसे अस्तित्व नास्तित्वादिक धर्मोंका साथ स्थूल विचार करनेवाली दृष्टिके द्वारा जो परस्पर साथ न रहसकनेरूप दोष संभवता है उससे ये ग्रस्त होचुके हैं। इसीलिये ये जड़ हैं अर्थात् भयका सच्चा कारण न होनेपर भी ये विना हेतु अज्ञानी पशुओंके समान डरते हैं इसलिये ये परवादी मूर्ख हैं और एकांतपक्ष धारण करनेके कारण खिन्न होरहे हैं। अर्थात् उन सत्त्वादि धर्मोंमेंसे अनिच्छित धर्मका सर्वथा निषेध करके इच्छित धर्मको सिद्ध करनेरूप जो एकान्त पक्षपात है उसके धारनेसे जैसे कोई हतशक्ति होकर पड़जाता है उसी प्रकार अनेक दोष दीखनेपर हताश होकर गिर पड़ते हैं। और गिरते हुए न्यायमार्गका आक्रमण करनेमें असमर्थ होनेसे उस मार्गमें गमन करते हुए पथिकों द्वारा पददलित होते हैं।

यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतश्च्यवन्ते। लोके हि सन्मार्गच्युतः पतित इति परिभाष्यते। अथ वा यथा वज्रादिप्रहारेण हतः पतितो मूर्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति एव तेऽपि वादिनः स्याऽभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणिमननुसरता वज्राशनिमायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिंचित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति।

अथवा पड़नेका अर्थ न्यायमार्गसे च्युत होना करना चाहिये। जगत्में उसको पतित कहते हैं जो सत्मार्गसे च्युत होजाता है। अथवा जैसे वज्रादिकसे ताड़ित होनेपर मनुष्य भूमिपर गिर पड़ता है और अधिक मूर्छाको प्राप्त होजानेसे एक वचन भी नहीं बोलसकता है उसी प्रकार एकान्तपक्षपाती कुवादी भी युक्तिमार्गका–अनुसरण न करनेरूप स्वयं माने हुए एकान्तवादरूपी वज्रपातसे ताड़ित होकर स्याद्वादियोंके सन्मुख निस्तेज हो जाते हैं और एक वचनका भी उच्चारण नहीं करसकते हैं। स्तुतिके जो 'जगदुचैव' शब्दमें 'एव' शब्द मिला हुआ है उसका निश्चयरूप अर्थ होता है और उससे उनका ज्ञान सर्वथा मिथ्या ही है, किंतु लेशमात्र भी सच्चा नहीं है ऐसा सूचित होता है।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वाद्वैयधिकरण्यमनवस्था संकरो व्यतिकरः संशयोऽप्रतिपत्तिर्विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः। तथा हि। सामान्यविशेषात्मकं वस्त्वित्युपन्यस्ते परे उपालम्भयन्ति। यथा सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राऽभिन्ने वस्तुन्यसंभवाच्छीतोष्णवदिति विरो

धः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति एकरूपतापत्तेः । ततो वैयधिकरण्यमपि भवति । अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम् ? एकेनैव चेत्तत्र पूर्ववद्विरोधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति तदाऽनवस्था । तावपि स्वभावान्तराभ्या तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति ।

मूल स्तुतिमें एक विरोधका ही निराकरण किया है परंतु वह संकेतमात्र है, इसलिये वादीके दिखाये हुए वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति तथा विषयव्यवस्थाहानि इन दोषोंका भी निराकरण ऊपरसे विचारना चाहिये । वस्तु सामान्यविशेषात्मक है ऐसा हमारे कहनेपर अन्यवादी दोष उठाते है कि विधि तथा निषेधरूप जो सामान्य और विशेष धर्म हैं वे शीत उष्णताके समान एक स्थानमें नहीं रहसकते हैं इसलिये विरोध संभव होता है। जो वस्तु अस्तित्वका आधार है वही प्रतिषेध धर्मका आधार नहीं होसकती, नहीं तो विधि और निषेध एक हीं होजायंगे। इस प्रकार वैयधिकरण्य दोष भी आता है। और जिस स्वरूपसे वस्तु सामान्य धर्मका आश्रय है तथा जिस स्वरूपसे विशेष धर्मका आश्रय है उन दोनों स्वरूपोंको वह जो वस्तु अपने अधीन रखती है सो अपने किसी एक ही स्वभावसे अथवा जुदे जुदे स्वभावोंसे ? यदि एक ही स्वभावसे उन दोनो स्वरूपोंको धारती है तो पूर्व कहे अनुसार विरोध संभव है और जुदे जुदे स्वभावोंसे यदि उन सामान्यविशेषरूप दो स्वभावोंको वह वस्तु अपनेमें धारती हो तो आगे भी ऐसे ही दो दो स्वभाव मानने पड़ेंगे इसलिये कहीं स्थिति ही न रहैगी । क्योंकि; उन दो स्वभावोंको धारण करनेकेलिये भी अन्य दो स्वभाव मानने ही चाहिये तथा फिर भी उन दो स्वभावोंको धारनेकेलिये दूसरे दो स्वभाव मानने चाहिये । इस प्रकार कही भी ठिकाना नहीं रहैगा । इसीको अनवस्था दोष कहते हैं ।

येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति संकरदोषः । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषो, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः । ततश्चाऽप्रतिपत्तिः । ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वान्निरवकाशा एव । अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति; स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात् ।

जब विधि तथा निषेधका आधार एक ही वस्तु है तब जो सामान्य धर्मका आधार है वही सामान्य तथा विशेष इन दोनोंका अधिकरण होगा तथा जो विशेषका आधार है वही विशेष तथा सामान्य इन दोनोंका आधार होगा इस प्रकार संकर दोष आता है। एक वस्तुका दूसरेमें मिलजानेका नाम संकर है जिस स्वभावकी अपेक्षा वस्तु सामान्यस्वरूप है उसीकी अपेक्षा विशेषात्मक भी है इसलिये व्यतिकर दोष भी संभव होता है। और इसीलिये जब वस्तु अभिन्नरूप है तो इसका कोई असाधारण चिन्ह पृथक न रहनेसे इसके स्वरूपका निश्चय नहीं होसकेगा किंतु इसके स्वरूपमें संशय होने लगेगा। और संशय होनेसे वस्तुका निश्चय होना दुर्लभ है। और *जब निश्चय नहीं होगा* तो *प्रमाणके विषयकी व्यवस्था नहीं बनसकेगी*। प्रमाणके विषयकी व्यवस्थाका न बनना ही प्रमाणविषयव्यवस्थाहानि नामक दोष है। इस प्रकार जो कथंचित्का आश्रय न लेनेसे विरोधादिक दोष आते हैं उनमेंसे कोई भी दोष कथंचित्रूप स्याद्वादके माननेसे अवकाश नही पासकता। क्योंकि; एक एक धर्मकी मुख्यता लेकर वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करनेपर ही वे दोष समव होते हैं; स्याद्वाद तो इन सपूर्ण एकान्त पक्षोंसे एक विलक्षण ही है इसलिये स्याद्वादके माननेसे ये दोष नहीं ठहरसकते हैं। इसी प्रकार स्याद्वादके मर्मियोंको योग्य युक्तियोंद्वारा पूर्वोक्त दोषोंका निराकरण करलेना चाहिये। जब हम विधिरूप सामान्य धर्मको तथा निषेध धर्मको अपेक्षारहित सर्वथा स्वतंत्र मानें तभी उन दोषोंको अवकाश मिलसकता है, नहीं तो नहीं।

अथ वा विरोधशब्दोऽत्र प्रदोषवाची। यथा विरुद्धमाचरन्तीति दुष्टमित्यर्थः। ततश्च विरोधेभ्यो विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम्। एवं च सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः संगृहीता भवन्ति। *इति काव्यार्थः।*

हम पहिले यह कहचुके हैं कि विरोध शब्द तो जो श्लोकमें पड़ा हुआ है वह केवल संकेतमात्र है किंतु और भी वैयधिकरण्यादि दोष जो वादी दिखाते हैं उनका निराकरण ऊपरसे करलेना चाहिये। *परंतु विरोध शब्दका अर्थ 'एक स्थानमें दो का एक समयमें न रहना' होता है।* सो ऐसा अर्थ करनेसेही वैयधिकरण्यादि दोष अलग ग्रहण करने पड़ते हैं और यही अर्थ पहिले *किया था। इसीलिये इस विरोधको उपलक्षणमात्र समझकर दूसरे दोषोंका ग्रहण ऊपरसे करनापड़ा था।* किंतु जब विरोधशब्दको सामान्य दोषवाची समझते हैं जैसे इसने विरुद्ध काम किया ऐसे वाक्यका अर्थ ऐसा समझते हैं कि इसने खोटा कार्य किया तो

संपूर्ण दोषोंका ग्रहण इसी विरोधशब्दसे होसकता है। ऐसा अर्थ माननेपर 'विरोधसे भयभीत होकर' ऐसे शब्दका अर्थ ऐसा ही करना चाहिये कि 'विरोध वैयधिकरण्य अनवस्था आदिक जो दोष संभव होसकते हैं उनसे भयभीत होकर'। इस प्रकार सामान्य दोषवाची विरोध शब्दसे ही संपूर्ण दोषोंका ग्रहण होसकता है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

अथाऽनेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वाऽमृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह।

यद्यपि अनेकान्तवाद संपूर्ण द्रव्य पर्यायोंमें व्यापता है परंतु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा उसको चार प्रकारसे दिखाते हुए तथा भगवान्ने तत्वरूपी अमृतरसका आस्वादन कराकर हमारा अत्यंत हित किया इस बातका वर्णन करते हुए अब बोलते हैं।

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव॥
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम्॥ २५॥

मूलार्थ—हे विद्वानोके शिरोमणि प्रभो! आपने जो अनेकान्त तत्वरूपी अमृतको पीया उसीसे यह उद्गार उत्पन्न हुआ है कि एक ही वस्तु कथंचित् नश्वर है कथंचित् नित्य है, कथंचित् समान है; कथंचित् असमान है; कथंचित् वक्तव्य है कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् सत्रूप है और कथंचित् असत्रूप है।

व्याख्या—स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम्। तदेवाधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात्कथंचिन्नाशि विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यमविनाशधर्म्मीत्यर्थः। एतावता नित्याऽनित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद्विरूपं विविधरूपं विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः।

व्याख्यार्थ—अनेकान्त अर्थका प्रकाशक जो 'स्यात्' अव्यय पद है उसको आठो ही वचनोंके साथ लगाना चाहिये। जैसे (१) स्यात् नाशि, (२) स्यात् नित्यम्, (३) स्यात् सदृशम्, (४) स्याद्विसदृशम्, (५) स्याद्वाच्यम्, (६) स्यात् न वाच्यम्, (७) स्यात् सत्, (८) स्यात् असत् ऐसे आठो ही पक्षोंमें स्यात् शब्द लगाया जाता है। जो प्रत्येक लिङ्गोका,

प्रत्येक वचनका तथा प्रत्येक विभक्तीका संबन्ध होनेपर अपने आकारको न बदले उसको अव्यय कहते हैं। अव्यय है सो शब्दोंका एक भेद है। श्लोकमें जो 'तदेव' शब्द पड़ा है उसका अर्थ ऐसा होता है कि—यही प्रकरणगत एक वस्तु। स्यात् शब्दका अर्थ कथंचित् होता है। अर्थात् एक ही वस्तु कथंचित् नाशरूप स्वभावकरि सहित है। भावार्थ—अनित्य है। यह तो प्रथम पक्षका अर्थ हुआ। दूसरे पक्षका अर्थ ऐसा है कि स्यात् नित्य है अर्थात् जो वस्तु अनित्य थी वही कथंचित् अविनश्वरधर्म सहित है। इन दो पक्षोंके कहनेका यह अभिप्राय हुआ कि एक ही वस्तु नित्यानित्यपने करि सहित है अर्थात् कथंचित् नित्यानित्यपना वस्तुका एक प्रकार लक्षण है। यह नित्यानित्यपना वस्तुका एक अंग है। तीसरे पक्षमें जो स्यात् सदृश कहा है उसका अर्थ ऐसा है कि वही एक वस्तु कथंचित् साधारण धर्म विशिष्ट है। जिस समानतारूप धर्मके द्वारा वस्तुके प्रत्येक पर्यायमें तथा अन्य वस्तुओंमें भी समानपना भासता हो उसी धर्मको साधारण धर्म अथवा अनुवृत्तिहेतु सामान्य कहते हैं। चतुर्थ पक्षका अर्थ ऐसा है कि वही एक वस्तु कथंचित् असमान है। जिस धर्मके देखनेसे उस धर्मविशिष्ट वस्तुको अन्य वस्तुओंसे भिन्न समझ सकते हैं उस धर्मको असमान अथवा विशेष या विसदृश अथवा व्यावृत्तिहेतु असाधारण धर्म कहते हैं। इन दूसरे दो पक्षोंके वर्णनसे वस्तुका सामान्यविशेषात्मकपना दूसरा स्वरूप बताया है।

तथा स्याद्वाच्य यवक्तव्यम्। स्यान्न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तं तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभिलाप्याऽनभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सत् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः। स्यादसत्तद्विलक्षणमिति। अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा।

इसी प्रकार पांचवें छट्ठे पक्षोंका यह अर्थ है कि वही वस्तु कथंचित् वाच्य है तथा कथंचित् नहीं वाच्य है, अर्थात् अवक्तव्य है। यहांपर श्लोकमें यदि स्तुतिकर्ता चाहते तो 'वाच्य नहीं' इन दो शब्दोंकी जगह 'अवाच्य' ऐसा संक्षिप्त एक शब्द भी कहसकते थे परंतु लोकमें अवाच्य शब्दका अर्थ कुत्सित योनि आदिक होता है इसलिये संक्षिप्त एक शब्द न कहकर नहीं वाच्य ऐसे दो शब्द ही कहे हैं। इन तृतीय दो पक्षोंके कहनेसे वस्तुका ऐसा स्वरूप प्रतिभासित होता है कि वस्तुको कथंचित् तो वचनद्वारा कहसकते हैं और कथंचित् कह ही नहीं सकते हैं। इसी प्रकार सातवें तथा आठवें भंगोंसे यह दिखाते हैं कि वस्तु

कथंचित् अस्तिरूप है और कथंचित् नास्तिस्वरूप है । भावार्थ— इस चतुर्थ भेदके दो पक्षोसे यह दिखाया है कि एक ही वस्तु कथंचित् विद्यमानरूप तथा कथंचित् अभावरूप है ।

हे विपश्चितां नाथ संख्यावतां मुख्य! इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा तवेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदस्तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वादान्तराह्लादकारित्वाच्च पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः। यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति तथा भगवानपि जरामरणापहारितत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुताऽनेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः।

हे विद्वानोके नाथ! अर्थात् प्रख्यात पण्डितोके मुखिया! यह अभी कही जो स्यान्नित्यानित्यादिरूप व्याख्या है वह ऐसी भासती है मानों आपने जो तत्वरूपी सुधाका पान किया है उससे उठी हुई उद्गारोंकी परंपरा है। प्रकरणवश अथवा आपके संबंधका वर्णन होनेसे हम जानते हैं कि वह उद्गारपरंपरा आपकी ही है। जिस प्रकार पदार्थ हैं उनका उसी प्रकार निश्चय करनेको तत्व कहते हैं। जरामरणका नाश करनेवाला होनेसे, विबुधोका (विद्वान् तथा पण्डितोका) उपभोग्य होनेसे, मिथ्यात्वरूपी विषको निर्विष करनेवाला होनेसे तथा हृदयको आल्हादकारी होनेसे यह तत्वज्ञान ही अमृत है। भावार्थ—जिसके पीनेसे बुढापा न हो तथा मरण न हो उसीको सुधा कहते हैं। तथा विबुध नाम विद्वानोंका तथा देवोंका है सो जिस प्रकार सुधाको विबुध पीते हैं अर्थात् देवता पीते हैं उसी प्रकार इस तत्वरूपी सुधाको भी विबुध पीते हैं अर्थात् विद्वान् पीते है। जिस तत्वसुधाको दूसरे नहीं पीसके हैं ऐसी तत्वसुधाको जो आपने पीया है उसमेंसे उत्पन्न हुए उद्गारोंकी यह परंपरा समझनी चाहिये जो स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि वचन निकले हैं। सारांश यह है कि जिस प्रकार कोई प्राणी गलेतक अमृत पीकर पीछे वारंवार डकार लेता है उसी प्रकार भगवान्ने भी स्वाधीन होकर जरामरणका नाशक तत्वरूपी अमृत पीकर उसके अनंतर उपदेशके बहाने होनेवाली अनेकांतके अंशरूप स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यान्नित्यं स्यादनित्यम्, स्याद्वक्तव्यं स्यादवक्तव्यम्, स्यात्समानं स्यादसमानम् ऐसे चारभेदरूप यह उद्गारोंकी परंपरा निकाली है।

अथ वा यैरेकान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक्प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनि:स्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहृत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्।

अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये कि—जिन एकान्तवादियोंने मिथ्यात्वरूपी विषभोजन तृप्तिपर्यंत खाया है उन सबके वचनो द्वारा निकले हुए नाना प्रकारके उद्गार तो पहिले दिखा चुके हैं परंतु विपाक समयको प्राप्त हुए पूर्वबद्ध कर्मोंके भारसे अनुगृहीत जिन मनुष्योंने जगद्गुरु भगवान्‌के मुखचन्द्रसे झरता हुआ वचनरूपी तत्त्वामृत पीया उन यथार्थ वक्ता विद्वानोंके मुखसे निकली हुई जिसका कि श्लोकके पहिले आधे हिस्सेमें उच्चारण किया है ऐसी यही सर्वोत्कृष्ट उद्गारपरंपरा है।

एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथा हि। आदीपमाव्योमेति वृत्ते नित्याऽनित्यवादः। अनेकमेकात्मकमिति काव्ये सामान्यविशेषवादः। सप्तभङ्ग्यामभिलाप्याऽनभिलाप्यवादः सदसद्वादश्च। इति न भूयः प्रयासः। इति काव्यार्थः।

इन स्यान्नित्य स्यात्‌अनित्यादि चारो ही वादोको हम यथाप्रसंग दिखाचुके हैं इसलिये फिरसे दिखानेका प्रयास करना व्यर्थ है। 'आदीपमाव्योम' इत्यादि पांचवें काव्यमें तो नित्यानित्यवादका विवेचन है, 'अनेकमेकात्मकम्' इत्यादि चौदहवें काव्यमें दूसरे सामान्यविशेषरूप वादका विचार है और चौवीसवें काव्यकी व्याख्यामें तीसरे वक्तव्यअवक्तव्यस्वरूपका निरूपण है तथा चौथे अस्तिनास्तिवादका भी प्रतिपादन वहां ही है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धलक्षतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य भगवच्छासनसाम्राज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह।

अब यह दिखाते हैं कि—जो सर्वथा नित्य तथा अनित्यपक्ष माननेवाले और परस्पर दोष दिखाना ही है मुख्य कर्तव्य जिन्होंका ऐसे तथा जो एक दूसरेका खंडन करनेकी इच्छासे नानाप्रकारके हेतुवचनरूपी शस्त्रोंका प्रहार करनेसे भूमिपर वैरियोंके समान पड़ते हुए ऐसे जो, हे भगवन्! आपके वादी हैं उनका निराकरण आपसके खंडन करनेसे ही बिना प्रयत्न होजाता है इसलिये आपके शासनका वैभव सर्वोत्कृष्ट स्वयमेव हो रहा है।

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव । परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥

मूलार्थ—सर्वथा नित्यपक्ष माननेमें जैसे दोष संभवते है तैसे ही सर्वथा अनित्य माननेमें भी संभवते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार सर्वथा अनित्यवाद माननेमें नित्यवादी कुछ दूषण दिखाता है उसीप्रकार सर्वथा नित्यपक्षमें अनित्यपक्षवाला भी कुछ दूषण दिखाता है इसलिये एकदूसरेसे ही उन दोनोंका निराकरण होजाता है। इस प्रकार हे भगवन्! कंटकोंका नाश परस्पर ही होजानेपर आपका जिनशासन विनापरिश्रम यों ही विजयलक्ष्मीको प्राप्त होरहा है।

व्याख्या—किलेति निश्चये। य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽनुपपत्त्यादयस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समास्तुल्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः। तथा हि।

व्याख्यार्थ—श्लोकमें जो 'किल' शब्द पड़ा है उसका अर्थ 'निश्चयसे' ऐसा होता है। जो दोष सर्वथा नित्यपक्ष माननेमें सर्वथा अनित्य पक्ष माननेवालोंने दिखाये हैं वे ही अनित्यपक्षमें अर्थात् सर्वथा क्षणिकपक्ष माननेमें नित्यपक्षवालोंने दिखाये हैं। वे ही कहनेसे ऐसा अभिप्राय है कि दोनो पक्षोंमें समान ही दोष संभव हैं; न तो हीन हैं और न अधिक। क्रमसे अथवा एकसाथ प्रयोजनीभूत क्रियाओंका न होसकना इत्यादि वे दूषण हैं।

नित्यवादी प्रमाणयति 'सर्वं नित्यं सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति। ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। तथा हि। क्षणिकोऽर्थः सन्वा कार्यं कुर्यादसन्वा? गत्यन्तराऽभावात्। न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापाराऽयोगात् सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते; असतः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात्। अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन् विशेषाऽभावात्' इति।

नित्यवादी अनित्यवादीसे कहता है कि सत् होनेके कारण संपूर्ण वस्तु नित्य ही है। जो नित्य होता है वही सत् या अस्तिरूप

रहसकता है। जो क्षणिक होगा अर्थात् क्षणक्षणमात्रमें नष्ट होजाता होगा वह न तो अपने रहते हुए ही कोई क्रिया करसकता है जिससे कि कुछ प्रयोजन सधे, और न नष्ट होनेपर ही। इसलिये वस्तुको क्षणिक माननेसे किसी प्रकार भी स्थिरता नहीं होसकती है। इस प्रकार अनेक दूषण संभव होनेसे तथा अन्य शरण न दीखनेपर लौटकर नित्यपक्षमें ही विश्वास जमता है। भला क्षणिक पदार्थ अपनी स्थितिके समय ही कार्योंको करता है कि नष्ट होजानेके बाद? क्योंकि; उसमें दूसरा विचार तो हो ही नहीं सकता है। पदार्थ विद्यमान रहनेके समय उस पदार्थसे कार्यकी उत्पत्ति होना मानना तो ठीक नहीं। क्योंकि, क्षणिक पदार्थ जिस समय उत्पन्न होता है उसी समय ठहरता है, फिर तो नष्ट ही होजाता है इसलिये जबतक स्वयं भी उत्पन्न नहीं होचुका है किंतु उत्पन्न होरहा है तबतक दूसरेको उत्पन्न किस प्रकार करसकता है? भावार्थ—प्रत्येक वस्तुसे कुछ कार्य तभी होसकता है जब वह वस्तु उत्पन्न होचुकती है। और यदि कार्यके साथ उपादान कारणरूप पर्यायका कुछ संबन्ध ही नहीं होता किंतु पूर्व पर्याय आगेकी कोई पर्याय उत्पन्न किये विना ही नष्ट होजाता हो तो समग्र वस्तु परस्परमें भी एक दूसरेके कार्यकारणरूप क्यों नहीं होजाते? इस प्रकार क्षणिक पदार्थसे उत्पत्तिके समय कार्य उत्पन्न होना तो हो नहीं सकता है परंतु पदार्थ नष्ट होजानेके अनंतर भी उस नष्ट हुए पदार्थसे किसी कार्यकी उत्पत्ति होना असम्भव ही है। क्योंकि, जब कारणरूप पदार्थ स्वयं ही विद्यमान नहीं है तब दूसरे कार्योंको क्या उत्पन्न करेगा? नहीं तो खरगोशके सींगोंसे भी कुछ कार्य उत्पन्न होनेलगे तो कौन रोकेगा? क्योंकि, असत्पनेसे दोनोंमें कुछ विशेषता तो है ही नहीं। इस प्रकार नित्यवादी अनित्यपना माननेमें दोष दिखाता है।

अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-क्रियाविरोधादर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्। ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्याव-र्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोपमर्द-द्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः; अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाऽविराममप्रसङ्गात्। तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति; अतादवस्थ्यस्याऽनित्यतालक्षणत्वात्।

अब अनित्यवादी नित्यवादीके समक्ष इस प्रकार अपना अनित्यपना सिद्ध करता है कि; सत्रूप होनेसे संपूर्ण पदार्थ क्षणिक ही हैं। यदि क्षणिक न मानकर नित्य ही माने जाय तो जिससे कुछ प्रयोजन सधसकता हो ऐसी क्रिया न तो क्रमसे ही उपजसकती है और

न एकसाथ। जो प्रयोजनकारी क्रियाका होना है वह तो कूटस्थरूप स्थितिको बदलनेवाला ही है। क्योंकि; जो पदार्थमें क्रियाका परिवर्तन होता है वह तबतक नहीं संभव है जबतक उस पदार्थका स्वयं परिवर्तन न माना जाय। इसलिये जो प्रयोजनभूत क्रिया बदलेगी वह अपने साथ रहनेवाली सत्ताको अवश्य बदलादेगी। और जब सत्ता बदलेगी तब क्षणिकपना होगा ही। जो पदार्थ सर्वथा सदा नित्य है अर्थात् कूटस्थ है उसके द्वारा प्रयोजनीभूत क्रियाकी उत्पत्ति क्रमसे तो हो नहीं सकती है। क्योंकि; जब पूर्वमें प्रवर्तती हुई क्रियाका नाश होजायगा तभी पहिली क्रिया बदलकर दूसरी क्रिया होसकैगी। जब पदार्थ सर्वथा नित्य है तो उसमें न तो पूर्व क्रियाका नाश ही संभव है और न उत्तरक्रियाकी उत्पत्ति ही संभव है। यदि पूर्वक्रियाका विनाश हुए बिना ही उत्तर क्रियाका प्रादुर्भाव होता हो तो प्रत्येक पदार्थकी पूर्वक्रिया नष्ट ही न होती किंतु चलतीं ही रहतीं। और यदि पूर्वक्रियाका नाश होकर उत्तर क्रियाकी उत्पत्ति होना मानते है तो पूर्वस्वभावका नाश होना ही अनित्यपना है इसलिये नित्यपना नही रहता है। क्योंकि; जैसाका तैसा न रहनेको ही अनित्यता कहते हैं।

अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्। पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेन्न; सहकारिकारणस्य नित्येऽकिंचित्करत्वात्, अकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते; अध्यक्षविरोधात्। न ह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते। करोतु वा। तथाप्याद्यक्षणे एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेष्वकुर्वाणस्याऽनित्यता बलादाढौकते; करणाकरणयोरेकस्मिन्विरोधात्' इति।

शंका—जिससे कार्य उत्पन्न होनेवाला है वह चाहै नित्य ही है परंतु प्रत्येक उपादानकारण सहकारी कारणोंकी प्रतीक्षा अवश्य करता है और सहकारी पदार्थ क्रमवर्ती होते हैं इसलिये सहकारी जब मिलते हैं तभी उपादान कारण कार्यको जन सकता है; किंतु पहिले नहीं। इस प्रकार नित्य पदार्थसे भी क्रमपूर्वक कार्यकी उत्पत्ति होना अनुचित नहीं है। उत्तर—यह कहना ठीक नही है। क्योंकि; जो सर्वथा कूटस्थ है उसमें सहकारी भी कुछ फेरफार नहीं करसकता है। और जो कुछ कर ही नहीं सकता है उसकी सहायताकी भी प्रतीक्षा यदि नित्यपदार्थ कार्य उत्पन्न करनेमें करै तो कहीं ठिकाना ही नही रहै। कदाचित् नित्यवादी कहैगा कि नित्य पदार्थ जो कुछ क्रिया करनी होती हैं उनको एकसाथ ही करदेता है परंतु यह कहना भी मिथ्या है। क्योंकि; प्रयोजनकारी

क्रिया सर्वत्र क्रमसे ही होती दीखती है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं दीखता है जो अपनेसे उत्पन्न होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंको एकसाथ ही पैदा करदे। अथवा एकसाथ ही संपूर्ण क्रियाओंको करदेता हो तो भी आदिके समयमें ही संपूर्ण क्रिया होजानेसे द्वितीयादि समयोंमें निष्क्रिय मानना पड़ेगा इसलिये निवारण करते करते भी अनित्यता आपड़ती है। क्योंकि; एकतरहके स्वभाववाला पदार्थ उसीको कहसकते हैं जिसमें करनेरूप न करनेरूप आदिक स्वभावोंमेंसे कोई एक ही स्वभाव सदा शाश्वता रहता हो। जिस पदार्थमें कभी तो क्रिया करनेरूप स्वभाव पाया जाता है और कभी नहीं करनेरूप, वह कूटस्थ नित्य कैसे होसकता है? स्वभावोंका परिवर्तन होते रहनेको ही अनित्यता कहते हैं।

तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद्विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यं चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणोऽनैकान्तिका इति। अत्र च नित्याऽनित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः। उपलक्षणत्वाद्य सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम्।

इस प्रकार सर्वथा नित्यअनित्य दोनों ही पक्षोंके माननेमें जो एक दूसरेके ऊपर दोषारोपण करके दोनों पक्षोंको सदोष ठहरानेमें अनेक हेतु दिखाये गये हैं उन संपूर्ण हेतुओंकी युक्तियां दोनों ही तरफ घटनेसे समान हैं। और दोनों तरफ समान होनेके कारण दोनों ही पक्षोंमें नियमसे विरोध आता है इसलिये ये संपूर्ण हेतु विरुद्ध हैं। तथा जबतक पूर्ण विचार न किया जाय तभीतक रमणीय मालूम पड़नेसे भोले मनुष्योंको अंधे बनाकर भ्रममें पटक देते हैं इसलिये ये हेतु अनैकान्तिक भी हैं। जिस हेतुके सुननेसे पक्ष साध्यमें सचे झूठेपनेका भ्रम होने लगता है उसीको अनैकान्तिक कहते हैं। यहांपर नित्यानित्य एकान्त पक्षका खण्डन तो नाम लेकर किया है परंतु यह नाम लेना केवल संकेत है किंतु इसी प्रकार बाकीके सामान्यविशेषादि तीनों एकान्तवाद भी एक दूसरेके साथ विचार करनेपर एक समान दोषोंकर संयुक्त हैं इसलिये उन एकान्तवादोंके भी हेतु नियमसे विरुद्ध हैं सो विचार करलेना चाहिये।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते—परस्परेत्यादि। एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु, परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः सुन्दोपसुन्दवदिति परस्परध्वंसिनस्तेषु, हे जिन! ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावादधृष्यमपरा

भवनीयं "शक्तार्हे कृत्याश्चेति" कृत्यविधानाद्धर्षितुमशक्यं धर्षितुमनर्हं वा.जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवत्येवं त्वच्छासनमपि । इति काव्यार्थः ।

अब श्लोकके बाकी रहे आधे हिस्सेका भी अर्थ दिखाते हैं । वह आधा श्लोक "परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते" यह है । ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे कंटकोंका अर्थात् एकान्तवादी क्षुद्र शत्रुओंका सुन्द उपसुन्द नामक दो राक्षसोंके समान परस्परसे ही नाश होजानेपर, हे जिनेन्द्र ! जिसने स्याद्वादका निरूपण पूर्णतया किया है ऐसा द्वादशांगरूपी आपका शासन अर्थात् उपदेश अजेय है । क्योंकि; जो पराभव करनेकी वांछा करनेवाले शत्रु हैं उनका उच्छेद स्वयमेव ही होगया है । 'शक्तार्हे कृत्याश्च' इस सूत्रकर 'क्यप्' प्रत्यय होकर सिद्ध होनेसे 'अधृष्य' शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि जिसका पराभव नहीं होसकता है उसको अधृष्य कहते हैं । अधृष्य होनेसे ही यह आपका शासन सबोंसे उत्कृष्ट मानाजाता है । जिस प्रकार जिसके पुण्यकर्मका पाक तीव्रतासे होरहा है ऐसा कोई नरपति शत्रुओंके परस्पर लड़कर नष्ट होजानेपर परिश्रमके विना ही निष्कंटक समृद्ध राज्यको भोगता हुआ सर्वोत्कृष्ट होजाता है उसी प्रकार आपका शासन उस नृपतिके समान स्वयमेव सर्वोत्कृष्ट हो रहा है । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषान्नामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्भूततथाविधरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति ।

इस ऊपरके काव्यमें नित्यअनित्य आदिक एकांत पक्षोंके माननेमें संभव होते हुए दोष सामान्यपनेसे तो दिखा दिये । परंतु यह स्पष्ट नहीं कहा कि वे दोष कौन कौनसे हैं ? इसलिये अब उनमेंसे कुछ दोषोंके नाम दिखाते हुए यह भी दिखाते हैं कि जिस प्रकार प्रजापर शत्रु जो नानाप्रकारके उपद्रव खड़े करते हैं उनसे रक्षा करनेवाले नृपतिका प्रजाके ऊपर महान् उपकार समझा जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! जिन नित्य अनित्य आदिक झूठे पक्षोंका कुवादी प्रतिपादन करते है उन कुमार्गोंसे तीनों जगत्की रक्षा करनेवाले आपका तीनों लोकके प्रति बड़ा उपकार है ।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

मूलार्थ—एकान्तपक्षोंके माननेसे न तो सुख दुःखका भोगना ही बनसकता है और न पुण्य पाप तथा बन्धन मोक्ष ही बनसकते हैं । इसलिये खोटे युक्तिवादमें जो रुचि है वह खड्गके समान है और उस खड्गसे इन शत्रुओंने जगतका नाश कररक्खा है ।

व्याख्या—एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते, न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते । पुनः पुनर्नञ्प्रयोगोऽत्यन्ताऽघटमानतादर्शनार्थः । तथा हि । एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्षणमप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदात्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते तदा स्वभावभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् ।

व्याख्यार्थ—नित्य अनित्य आदिक एकांत पक्षोंके स्वीकार करनेसे सुखदुःखोंका भोगना सिद्ध नहीं होसकता है, तथा पुण्य पाप नहीं सिद्ध होसकते हैं और बन्ध मोक्ष भी संगत नहीं होसकते हैं । श्लोकमें यद्यपि एकवार 'न' लिखनेसे ही काम चलसकता था परंतु तो भी जो तीनवार 'न' लिखा है उससे अत्यंत असंगतपना दिखाया है । अर्थात् ऐसा जताया है कि एकान्तपक्ष माननेसे किसी प्रकार भी बन्धमोक्षादि संभव नहीं होसकते हैं । यदि सर्वथा नित्यता ही मानी जाय, किसी प्रकारका भी उत्पत्ति विनाश न मानाजाय तो आत्मामें सुख दुःखका होना ही असंभव है । क्योंकि, सर्वथा नित्य उसको कहते हैं जो किसी प्रकार भी अपने प्राचीन परिणामोंको नहीं छोड़े तथा नवीन परिणामोंका ग्रहण नहीं करै । सो यदि सुख दुःखोंकी उत्पत्ति आत्मामें मानोगे तो जब आत्मा किसी कारणसे उत्पन्न हुए सुखका अनुभव करके किसी कारणवश उत्पन्न हुए दुःखका अनुभव करने लगेगा तभी स्वभावमें भेद पड़नेसे अनित्यता आपड़ी होगी और स्थिर एकरूप रहनेवाली नित्यता नहीं रहसकेगी । इसीप्रकार जब दुःखरूप परिणामोंको छोड़कर सुखका अनुभव करेगा तब भी स्वभावका परिवर्तन होनेसे नित्यता नहीं रहसकेगी किंतु अनित्यता आपड़ी होगी ।

अथाऽवस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः; सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्था-
सु । इति चेन्ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा? व्यतिरेके तास्तस्येति संबन्धाऽभावोऽतिप्रसङ्गात् ?
अव्यतिरेके तु तद्धानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति ?

कदाचित् कहो कि सुखदुःखादिरूप अवस्थाओंमें भेद पड़नेसे यह केवल व्यवहार मानाजाता है कि यह पदार्थमें भेद हुआ
परंतु वास्तवमें विचारा जाय तो जिस प्रकार सर्प कभी सीधा होजाता है, कभी कुण्डलाकार होजाता है परंतु उन अवस्थाओंके
पलटनेसे कुछ सर्पमें फेरफार नहीं मानाजाता है उसीप्रकार अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेपर भी अवस्थावाले पदार्थोंमें कुछ भी परि-
वर्तन नहीं होता है। परंतु यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि; जो अवस्थाएं पदार्थोंमें वदलती रहती हैं वे पदार्थोंसे कोई भिन्न चीज
हैं अथवा पदार्थमय ही होती है ? यदि भिन्न चीज हैं तो वे अवस्थाएं उन्ही पदार्थोंकी हैं जिनसे वे उपजती हैं ऐसा कहनेके
लिये कोंनसा संवन्ध दोनोंके वीचमें दीखता है जिस संवन्धसे ऐसा कहसकें ? और यदि कोई संवन्ध नहीं है तो वे अवस्थाएं
जिसमें नहीं हुई हैं उसकी भी वे अवस्था मानीजावैं तो कोन रोकसकता है ? और यदि उस पदार्थमय ही है, भिन्न नहीं हैं तो
अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेसे उस पदार्थमें भी परिवर्तन होना मानना ही चाहिये । इस प्रकार फिर भी नित्यतामें बाधा आपड़ती
है । और यदि पदार्थको सर्वथा एकरूप ही मानैं तो अवस्थाओंमें परिवर्तन होना भी किस प्रकार होसकता है ?

किं च सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्त्यौ । तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया । सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाऽक्रमेण वा नो-
पपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तं "न पुण्यपापे" इति । पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म । पापं हिंसादि-
क्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीतेः । तथा न वन्धमोक्षौ । वन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेश-
मात्मनो वन्ह्ययःपिण्डवदन्योऽन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः । तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम् । वन्धो हि संयो-
गविशेषः । स चाऽप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः । प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था । उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चा-
न्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः ।

इसीप्रकार सुखदुःखोंका भोगना जो होता है वह पुण्यपापके उदयसे होता है और पुण्य पापकी उत्पत्ति शुभाशुभ क्रियाओंके
करनेसे होती है । इसलिये जो आत्मा सदा कूटस्थ एकरूप है उसमें न तो क्रमसे और न एकसाथ ही वह क्रिया होसकती है जिसके

होनेसे पुण्य पाप उत्पन्न होसके । ऐसी क्रिया क्यों नहीं होसकती है इस शंकाका उत्तर अभी दे चुके हैं । जब पुण्य पाप बांधने वाली क्रिया ही नहीं होगी तब पुण्य पापका बँधना असंभव ही है । इसीलिये कहा है कि " न पुण्यपापे" । अर्थात् जिस प्रकार मुग्दु गौंका होना असंभव है उसीप्रकार पुण्यपापका होना भी असंभव है । पुण्य तो उसको कहते हैं जो दानादि शुभ कार्य करनेसे शुभ कर्म बंधता है । हिंसादि अशुभ कार्योंसे बंधनेवाले अशुभ कर्मको पाप कहते हैं । इसीप्रकार जीवका बंधना छूटना भी नहीं होसकता है । जिस प्रकार अग्निसे तपानेपर लोहेके गोलामें अग्नि ऐसी प्रविष्ट होजाती है कि गोलेका एक अंश भी बचा नहीं रहता उसीप्रकार जो आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें कर्मपुद्गलोंका एक दूसरेको जकड़कर अन्योन्य प्रवेशरूप ऐसा संबन्ध होजाता है जिसके होनेसे कर्म तथा आत्मामें कुछ भी भेदभाव नहीं रहता, उसीका नाम बंध है । ऐसा बंधन छूटजानेका नाम ही मोक्ष है । बंध तथा मोक्ष ये दोनो ही सर्वथा आत्माको नित्य माननेसे नहीं होसकते हैं । क्योंकि; बंधन तो एक प्रकारके संबंधको कहते हैं । सो संबंध तभी कहाजाता है जब कोई दो वस्तु पहिले तो जुदी जुदी हों और पीछे मिलगयी हों । इनमेंसे जबतक दोनो वस्तु एकत्र नहीं मिली हैं तबतक तो एक अपूर्व ही अवस्था है और जब संयोग होजाता है तब एक दूसरी ही अवस्था हो जाती है । पूर्वापर समयवर्ती ये दोनो अवस्थायें सर्वथा भिन्न भिन्न हैं । सदा अवस्थाओंमें परिवर्तन होना सर्वथा नित्यताकी अपेक्षा कुछ उलटा ही है । अर्थात् परिवर्तन तभी होसकता है जब वस्तुमें किसी प्रकार अनित्यता मानली जाय ।

कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः ? बन्धनसंयोगाच्च प्राक्किं नायं मुक्तोऽभवत् ? किं च तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा ? अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः । नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति " वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः " । बन्धाऽनुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति ।

और जब वस्तुओंमें फेरफार तो है ही नहीं तो विनाकारण अकस्मात् बंधनका संयोग किस प्रकार होगा ? और बंधनसंयोग जबतक नहीं हुआ है तभीसे उस जीवकी मुक्ति मानी जाय तो क्या हानि है ? क्योंकि; शुद्ध अवस्थाका ही नाम मुक्ति है । और हम नित्यवादीसे पूछते हैं कि जब जीव बंधता है तब उस बंधनसे जीवमें कुछ भी विकार होता है अथवा नहीं ? यदि

विकार होता है तो जिस प्रकार बँधने पर चर्ममें विकार होजाता है इसलिये वह अनित्य है उसी प्रकार जीवमें भी बँधनेपर विकार होजाता है इसलिये जीवको अनित्य मानना चाहिये । और यदि बँधनेसे जीवमें कुछ विकार उपजता ही नही तो उनको बँधने-पर बँधा तथा बंध टूटनेपर मुक्त भी नही कहना चाहिये । जैसे—किसी वस्तुमें कैसा ही उत्पाद विनाश होता रहै परंतु वहांका गगन सदा निर्विकार रहता है इसलिये वह सदा ही शुद्ध मानागया है । इसी प्रकार बंधन निष्फल होनेसे आत्मा सदा ही मुक्त रहना चाहिये । और जब बंधमोक्ष कुछ है नही तो जगत्में बंध मोक्षकी व्यवस्था मानना ही मिथ्या ठहरता है । यही कहा है " वर्षा होनेसे तो गीलापन तथा गरमी पड़नेसे कठोरता चर्ममें ही होजाती है; गगनमें नही । इसलिये यदि आत्मा गगनके समान है तो बंधमोक्ष होना निष्फल है और यदि चर्मके समान है तो अनित्यता सिद्ध होती है " । इस प्रकार जब बंधन कोई चीज नही है तो मोक्ष कहना भी अनुचित है । क्योंकि; बंधके विच्छेद होजानेका नाम ही मोक्ष है ।

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम् । तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः ? एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु ? एवं चान्यः क्रियाकारी अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा " इति वचनान्नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रं; सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात् । तथा पुण्यपापे अपि न घटेते । तयोर्ह्यर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता । ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् ।

इसी प्रकार सर्वथा क्षणिकता माननेसे भी सुखदुःखादिककी उत्पत्ति होना असंभव ही दीखता है। जिसका एक अंशमात्र अथवा एक धर्ममात्र भी शेष न रहै किंतु सर्वनाश हो जानेवाले पदार्थको यहांपर बौद्धोंने अनित्य माना है । इस प्रकारसे संपूर्ण ही पदार्थ बौद्धमतानुसार अनित्य हैं । सो जो ऐसा आत्मा है तो जिस आत्माने पुण्यकर्मका अथवा पापकर्मका उपार्जन किया उसका दूसरे ही समय यदि सर्वथा नाश होजायगा तो पुण्यकर्मसे मिलनेवाले सुखका अथवा पापकर्मसे मिलनेवाले दुःखका अनुभव कोन करेगा ? यदि कहो कि आगेका आतमा जो नवीन उत्पन्न होगा वह इस सुखदुःखका अनुभव करेगा तो जिसने किया वह तो भोगने ही नही पाया तथा जिसने कुछ भी नही किया उसको भोगना पड़ा सो यह प्रवृत्ति अनुचित है। और ऐसा होनेपर

कुछ नियम भी नहीं रहेगा कि अमुकके किये हुएको अमुक ही भोगे। " जिस संतानमें जिस कर्मकी वासना उत्पन्न होती है उस कर्मका फल उसी संतानमें होता है। जैसे जिस लाल कपाससे जो तंतु बनते हैं उस लाल कपासकी लालिमा भी उन्हीं तंतुओंमें आती है; दूसरोंमें नहीं " इस वचनके अनुसार आगेके नियमित आत्मामें उस पूर्व कर्मका फल होजाना असंगत नहीं है। बौद्धका यह उत्तर भी योग्य नहीं है। क्योंकि, संतान तथा वासना जब सभी झूठे हैं तो सुखदु:खादि कैसे होसकता है? यह विचार पहिले ही करचुके हैं। इसीप्रकार पुण्य पाप भी क्षणिकपना माननेसे नहीं बनसकते हैं। सुखदु:खका भोगना ही पुण्यपापरूप कर्मोंकी प्रयोजनीभूत क्रिया है यह किसी प्रकार भी नहीं बनसकती है इस बातको सर्वथा नित्य माननेमें दोष दिखाते समय अभी कह चुके हैं। सो जिस प्रकार सर्वथा नित्य माननेमें सुखदु:खोंका भोगना नहीं बनसकता है उसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमें भी नहीं बनसकता है। इसलिये जब सुखदु:खोंके भोगनेरूप क्रिया ही नहीं होसकती है तब पुण्यपापका बंधना भी कैसे संभव हो?

किं चाऽनित्यः क्षणमात्रस्थायी। तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वादस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम्? द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते। पुण्यपापोपादानक्रियाऽभावे च पुण्यपापे कुतो निर्मूलत्वात्? तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोग। आस्तां वा कथंचिदेतत्। तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्; उपादानाऽनुरूपत्वादुपादेयस्य। ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितादुत्तरक्षणः कथ सुखित उत्पद्यते? कथं च सुखिताद्धतः स दुःखितः स्यात्? विसदृशभागतापत्तेः। एवं पुण्यपापादावपि। तस्माद्यत्किंचिदेतत्।

और बौद्ध अनित्य उसको मानते हैं जो एक क्षणमात्रके अनंतर ही नष्ट होजाता हो। सो प्रथम एक क्षणपर्यंत तो वह उपजनेमें ही लगा रहता होगा इसलिये उसी समय पुण्यपापका उपार्जन तो कर ही नहीं सकता है। और प्रथम क्षणके अनंतर वह ठहर ही नहीं सकता है जो पुण्यपाप बांधनेकी कुछ क्रिया करै। और यदि पुण्य पाप बांधनेवाली क्रिया नहीं हुई तो निर्हेतुक पुण्यपापका बंध कहांसे होगा? और यदि पुण्यपापका बंध नहीं हुआ हो तो सुखदु:खोंका भोगना कहांसे होगा? अब भला थोड़े समयके लिये यह मान भी लिया जाय कि पुण्यपापका बंध जिस किसी प्रकार हो जाता है, तो भी जैसा पूर्व समयमें आत्मा नष्ट हुआ है, आगेका आत्मा भी वैसा ही उत्पन्न होना चाहिये। यदि पूर्वका आत्मा सुखी है तो आगेका सदा सुखी ही उपजना चाहिये और यदि पहिला दु:खी है तो उस संतानमें उत्तरोत्तरके आत्मा सब दु:खी ही उपजने चाहिये। क्योंकि, पूर्वका आत्मा उपादान कारण है

तथा उत्तरका आत्मा उसका उपादेय है । अर्थात् कार्य है। सो कार्यकारणोमें ऐसा नियम होता है कि जैसा उपादान कारण होगा तैसा ही कार्य उपजैगा । इसलिये जो आत्मा सुखी है उसके अनंतरका आत्मा कभी दुःखी नही होसकैगा और जो पहिला दुःखी है उससे आगेका आत्मा कभी सुखी नही होसकैगा; नही तो यदि सुखीसे दुःखी तथा दुःखीसे सुखी भी होजायगा तो उपादानके समान ही कार्य होता है ऐसा नियम नहीं रह सकैगा । इसीप्रकार पुण्यपापमें भी समझना चाहिये । अर्थात् जिसके पास पुण्यका संचय है उसके पास कभी पापका संचय नही होसकैगा तथा जो पापी है वह कभी पुण्यात्मा नही होसकैगा; नही तो उपादानकारणसदृश ही कार्य होता है ऐसा नियम टूट जायगा । ऐसे दोष आनेसे क्षणिक मानना व्यर्थ है ।

एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः । लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते । निरन्वयनाशाऽभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाऽभावात्सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति? परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते " परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः " इति वचनात् ।

इसीप्रकार बंध मोक्ष मानना भी नही बनसकता है । संसारमें भी जो प्रथम बँधा होता है वही कदाचित् छूटता है । जब नाश होनेपर कुछ भी नही बचता है किंतु सर्वथा नाश होजाता है ऐसा मानागया है तो बँधनेवाला तथा छूटनेवाला ये दोनो एकरूप नही कहेजा सकते है । तथा संतान भी कोई सच्ची वस्तु नही है इसलिये बंधमोक्षकी संभावना भी करना असंभव है । और यदि एक ही आत्मा मानकर प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होनेवाले तथा पूर्वपूर्वके नष्ट होनेवाले जो हैं उनको उस आत्माके परिणामविशेष ही बौद्ध मानते हों तो सभी निर्बाध सिद्ध होजाता है । ऐसा कहा भी है कि "एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करनेका नाम परिणाम है । न तो कोई भी द्रव्य सदा कूटस्थ एक अवस्थाविशिष्ट ही रहती है और न सर्वथा सदा विनाश ही होता रहता है । किंतु प्रत्येकका परिणमन या पर्याय होते रहना ही विद्वानोंको इष्ट है ।

पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह " अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्म्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः " इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्याऽनभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ।

पतञ्जलिके ग्रन्थकी टीका करनेवालेने भी कहा है कि " ध्रुवपरिणामविशिष्ट वस्तुमें एक धर्मका विलय होकर दूसरे धर्मका

प्रादुर्भाव होना ही परिणाम है "। यहांपर जिस प्रकार सर्वथा नित्य अथवा अनित्य माननेमें दोष दिखाये हैं उसी प्रकार सर्वथा सामान्य, विशेष, सत्, असत्, वक्तव्य अथवा अवक्तव्य स्वरूप माननेमें भी सुखदुःखादिकका नही होसकना विद्वानोको स्वयं विचार लेना चाहिये।

अथोत्तरार्द्धव्याख्या। एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः (परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति) दुर्नीतिवादव्यसनासिना। नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः। तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः। तत्र व्यसनमत्यासक्तिरौचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्, दुर्नीतिवादव्यसनम्। तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिः।

अब श्लोकके उत्तरार्धका व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षोंके माननेमें सुखदुःखादि व्यवहार सिद्ध नही होते हुए भी अन्य धर्मोंके प्रवर्तक जनोने उस दुर्नीतिवादके व्यसनरूपी खड्गसे संपूर्ण संसारका नाश कर रक्खा है। प्रार्थना करनेका प्रयोजन यह है कि, हे भगवन्! आप उनसे रक्षा करो। 'पर' शब्दका अर्थ शत्रु होता है। अथवा श्लोकमें पड़े हुए उस ' पर ' शब्दका अर्थ परमार्थके शत्रु होता है। क्योंकि; शत्रु जिस प्रकार अपने शत्रुका सर्वथा नाश करनेवाला होता है उसी प्रकार इन्होने खोटे मार्गोका प्रतिपादन करके जगत्के जीवोको अपायके मार्गमें लगाकर अत्यंत दुःखी कररक्खा है। एक अंश अथवा धर्म विशिष्ट वस्तुका निश्चय जिनके द्वारा हो उनको नीति अथवा नय कहते हैं। नयको ही विवक्षा अथवा अपेक्षा भी कहते हैं। ये ही नीति यदि खोटी अपेक्षारूप हों तो इनको दुर्नय कहते हैं। दुर्नयोको दूसरोंके आगे जो कहना सो दुर्नीतिवाद है। इस दुर्नीतिवादमें व्यसन अथवा अत्यंत आसक्तता रखनेका नाम दुर्नीतिवादव्यसन है। अर्थात् व्यसन उसका नाम है जिसके होनेपर उचित अनुचितका विचार नही करते हुए ही प्रवृत्ति हो। यह जो दुर्नीतिवादव्यसन है वह एक प्रकार खड्गके समान है। क्योंकि, सच्चा ज्ञानरूपी शरीर इसके चलानेसे कट जाता है। खड्गको असि कहते हैं। इसीलिये इसको दुर्नीतिवादव्यसनासि कहा है।

तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन। एवमित्यनुभयसिद्धं प्रकारमाह। अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यं, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तं

सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम्। तत्रायस्वेत्याशयः। सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्ते। अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः। अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते। तेषां च दशविधप्राणधारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः। सा च विरुद्धा। तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धम्। दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः। इति काव्यार्थः।

इस दुर्नीति वादरूपी खड्गके द्वारा एक दोका नहीं किंतु अशेष जगतका घात होरहा है। 'एवं' शब्द जो पड़ा है उसका अर्थ अनुभवसिद्ध होता है। श्लोकमें जो 'जगदपि' ऐसा शब्द पड़ा है उसमेंसे 'अपि' शब्द 'अशेष' शब्दके साथ लगानेसे अर्थ ठीक बनता है। भावार्थ—एक दो नहीं किंतु अशेष ही जगत् अर्थात् त्रैलोक्यमें होनेवाले जीवोका समूह इसने विलुप्त करदिया है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूप भावप्राणोंका घातकर उन जीवोंका नाश करदिया है। प्राणोंके घात होनेका ही नाम मृत्यु है। एक द्रव्यप्राण और एक भावप्राण ऐसे प्राण दोप्रकार हैं। ५ इंद्रिय, ३ बल (मन, वचन, काय), १ श्वासोच्छ्वास तथा १ आयु इन दशको द्रव्यप्राण कहते हैं। सम्यग्ज्ञानादिकोको प्रवचनके ज्ञाताओने भावप्राण कहा है। जो प्राण धारण करते हैं वे जीव कहे जाते हैं। प्राण धारणकरना जिसका अर्थ है ऐसे जीव धातुसे जीव शब्द बनता है। संसारी जीव तो द्रव्यप्राणोंसे जीते हैं इसलिये उनको जीव कहते हैं। सिद्धात्मा भावप्राणोंकी अपेक्षा जीते हैं इसलिये उनको भी जीव कहसकते हैं। यदि द्रव्य प्राणोंके धारण करनेवाले ही जीव कहलाते तो सिद्ध जीव जीव ही नही कहे जाते। परंतु सिद्धोकों जीव नही कहना सर्वथा विरुद्ध है। इसलिये संसारी जीवोंको दशप्रकार द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षा तथा मुक्त जीवोंको भावप्राणोंकी अपेक्षा जीव कहना चाहिये ऐसा सिद्ध है। दुर्नयका स्वरूप इस काव्यमें स्पष्ट नही किया है किंतु आगेके काव्यमें कहेंगे। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

साम्प्रतं दुर्नयनयप्रमाणप्ररूपणद्वारेण "प्रमाणनयैरधिगमः" इति वचनाज्जीवाऽजीवादितत्त्वाऽधिगमनिबन्धनानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुमनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह।

अब खोटे नय, सच्चे नय तथा प्रमाणके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए आचार्य अर्हन् भगवान्की इस प्रकार स्तुति करते हैं कि— प्रमाण नयसे जीवादि पदार्थोंका निश्चय होता है इस अभिप्रायवाले "प्रमाणनयैरधिगमः" इस वचनके अनुसार जिन प्रमाण-

नयोंको जीव अजीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होनेमें असाधारण कारण माना है उन प्रमाणनयोंका प्रतिपादन करनेवाले अर्हन् भगवान्के वचन असाधारण महिमाके धारक हैं तथा इन वचनोंसे स्याद्वादके विरोधी दुर्नयोंका मार्ग नष्ट होजाता है।

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥

मूलार्थ-दुर्नयके द्वारा तो ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ सत्स्वरूप ही है तथा सम्यक् नयके द्वारा ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ सत्स्वरूप है, एवं प्रमाणके द्वारा ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ कथंचित् सत्स्वरूप है। एवं सच्चे मार्गको यथार्थ देखनेवाले आपने ही सच्चे नयप्रमाणद्वारा दुर्नयका निराकरण किया है।

व्याख्या-अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थस्त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्मीयेत परिच्छिद्येत । विधौ सप्तमी। कैस्त्रिभिः प्रकारैरित्याह दुर्नीतिनयप्रमाणैः । नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः। नया नैगमाद्याः । प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेनेति प्रमाणं स्याद्वादात्मकं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् । दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीतिनयप्रमाणानि तैः ।

भाषार्थ—'ऋ' धातुका अर्थ निश्चय करना है। इसलिये जिसका निश्चय किया जासके उसको अर्थ अथवा पदार्थ कहते हैं। इस पदार्थका निश्चय तीन प्रकारसे होसकता है, प्रथम तो दुर्नयसे, दूसरा सुनयसे तथा तीसरा प्रमाणसे। जिनसे वस्तुके एक एक अंशोंका निर्णय होजाता हो वे नीति या नय कहाते हैं। खोटी नीतियोंको दुर्नीति अथवा दुर्नय कहते हैं। सुनय अथवा समीचीन नय वे हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके प्रथमाध्यायके अंतमें नैगम, संग्रह, व्यवहारादि नाम लेकर कहे गये हैं। संपूर्ण धर्मविशिष्ट वस्तुका जिसके द्वारा निश्चय होता हो वह प्रमाण कहाता है। यह प्रमाणज्ञान स्याद्वादरूप होता है। इसके सामान्य भेद दो हैं; पहिला प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। दुर्नीति, नय तथा प्रमाणको जब संस्कृत भाषामें एक साथ मिलाकर बोलना चाहते हैं तब 'दुर्नीतिनयप्रमाणानि' ऐसा बोलते हैं। सारांश यह है कि, प्रमाणके द्वारा तो वस्तुका सर्वांग ज्ञान होता है किंतु नयोंके द्वारा एक एक धर्मका ही ज्ञान होता है। कुनयोंसे भी वस्तुके एक एक धर्मका ही ज्ञान होता है परंतु जो वह एक है वही जब सर्व अंशरूप मान लिया जाता है तब उसी निश्चायक नयको कुनय कहते हैं।

केनोल्लेखेन मीयेतेत्याह सदेव सत्स्यात्सदिति । सदित्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम् । यथा किं तस्या गर्भे जातमिति । सदेवेति दुर्नयः । सदिति नयः । स्यात्सदिति प्रमाणम् । तथा हि । दुर्नयस्तावत्सदेवेति ब्रवीति । अस्त्येव घट इति । अयं वस्तुन्येकान्ताऽस्तित्वमेवाभ्युपगच्छन्नितरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति । दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात् । मिथ्यारूपत्वं च तत्र धर्म्मान्तराणां सतामपि निह्नवात् ।

दुर्नीति, सुनीति तथा प्रमाणके द्वारा जो पदार्थका तीन प्रकारसे निश्चय होता है उसका स्वरूप कैसा है ऐसा प्रश्न होनेपर " सदेव, सत्, स्यात् सदिति " ऐसा उत्तर देते हैं । इसका अर्थ यह है कि; पदार्थ सत्रूप ही है ऐसा एकान्तरूप ज्ञान कुनयके द्वारा होता है । सुनयके द्वारा जो ऐसा ज्ञान होता है कि पदार्थ सत्रूप है उसमें तथा उपर्युक्त कुनयके ज्ञानमें इतना ही अंतर है कि कुनयजन्य ज्ञान तो एक विवक्षित धर्मको छोड़कर बाकी धर्मोंका निषेध करता है किंतु जो सुनयजन्य ज्ञान होता है उसमें मुख्य तो एक विवक्षित धर्म ही रहता है परंतु बाकीके अमुख्य धर्मोंका भी उदासीनरूपसे ग्रहण किया जाता है । जैसे कुनयसे तो ज्ञान होता है कि पदार्थ सत् ही है। अर्थात् सत्को छोड़कर अन्य कोई भी धर्म पदार्थमें नही है। सुनयसे जो ज्ञान होता है उसका उदाहरण ऐसा है कि पदार्थ सत्रूप है । अर्थात् केवल सत्रूप ही नही है; उसमें धर्म तो अनंतो हैं परंतु अमुक समयपर विवक्षित धर्म सत्त्व ही है। प्रमाणद्वारा जो ज्ञान होता है उसका उदाहरण ऐसा है कि पदार्थ कथंचित् सत्रूप है। अर्थात् कथंचित् कहनेसे पदार्थमें असत्वादि धर्म भी रहते प्रतीत होते हैं । ' सत् शब्द है सो यहांपर नपुंसकलिङ्ग है । नपुंसलिङ्गी शब्दका उच्चारण यहां इसलिये किया है कि सत्शब्दका अर्थ यहांपर कोई खास पदार्थ नही है किंतु सामान्य सभी सत्रूप पदार्थ उसके वाच्य हैं । सामान्य अर्थकी विवक्षा होनेपर शब्द नपुंसकलिङ्गी ही बोला जाता है । जैसे अमुक स्त्रीके गर्भमें क्या हुआ ? । 'क्या हुआ' इसमें भी क्या (किम्) शब्द जो है वह नपुंसकलिङ्गी ही है । यहांपर जो दुर्नय है वह प्रत्येक पदार्थको एक धर्मविशिष्ट ही मनाता है । जैसे घड़ा केवल सत्रूप ही है । यहां यह दुर्नय वस्तुमें एक मात्र अस्तित्व धर्मका ही निरूपण करता हुआ शेष धर्मोंके निषेधपूर्वक विवक्षित धर्मको ही पदार्थका स्वरूप बतलाता है। खोटा नय होनेसे इसको दुर्नय कहते हैं । विवक्षित धर्मको छोड़कर बाकीके विद्यमान् धर्मोंका भी यह अपलाप करता है इसलिये इस नयको खोटा कहते हैं ।

तथा सदित्युल्लेखवान्नयः । स ह्यस्ति घट इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमीलिका

माऽवलम्ब्यते। न चास्य दुर्नयत्वं धर्मान्तराऽतिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वं स्याच्छब्देनाऽलाञ्छितत्वात्। स्यात्सदिति स्यात्कथंचित्सदेव वस्तु इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टाऽबाधितत्वाद्विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चाऽसदित्यसकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम्। अनया दिशा असत्त्वनित्यत्वाऽनित्यत्ववक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वसामान्यविशेषाद्यपि बोद्धव्यम्।

अन्य धर्मोंमें उदासीन होकर तत्धर्मका प्रतिपादन करनेवाला नय समीचीन नय कहा जाता है। इसका उदाहरण जैसे कि 'घट है' ऐसा वचन कहनेवाला घटमें रहनेवाले बाकीके अनंतो धर्मोंकी तरफ हाथीके देखनेके समान उदासीनतासे देखता हुआ सिर्फ अस्तित्व धर्मको मुख्य देखता है। यह नय भी यद्यपि एक धर्मको ही मुख्यतासे देखता है तो भी दुर्नय नहीं है। क्योंकि; बाकीके धर्मोंको चाहे उदासीनतासे ही देखता है परंतु तो भी निषेध नहीं करता है। इस नयको प्रमाण ज्ञान भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि; स्यात्शब्द छोड़कर इसको बोला है। अर्थात् प्रमाणज्ञान तभी समझा जाता है जब स्यात् शब्द अथवा कथंचित् शब्द लगाकर कहा जाय। अमुक वस्तु कथंचित् सत् है ऐसे ही ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। ऐसे ज्ञानको प्रमाण इसलिये कहते हैं कि इसमें प्रत्यक्ष परोक्षादि किसी ज्ञानसे भी बाधा नहीं आती है तथा जो प्रमाणद्वारा निश्चय हो जाता है उससे विरुद्ध माननेमें अनेक प्रकारकी बाधा दीख पड़ती है। यह बात स्थान स्थानपर कही है कि सभी वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टयस्वरूपकी अपेक्षा सत् हैं तथा परद्रव्यादि चतुष्टयस्वरूपकी अपेक्षा असत् हैं। सत् धर्म तो यहां दृष्टान्तमात्र दिखाया है किंतु इसी प्रकार असत्त्वधर्म तथा नित्यत्व, अनित्यत्व, वक्तव्यत्व, अवक्तव्यत्व, सामान्य, विशेषादि धर्म भी समझलेने चाहिये।

इत्थं वस्तुस्वरूपमाख्याय स्तुतिमाह—यथार्थदर्शीत्यादि। दुर्नीतिपथं दुर्नयमार्गं तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात्त्वमेव आस्थस्त्वमेव निराकृतवान्। न तीर्थान्तरदैवतानि। केन कृत्वा? नयप्रमाणपथेन। नयप्रमाणे उक्तस्वरूपे। तयोर्मार्गेण प्रचारेण। यतस्त्वं यथार्थदर्शी। यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्येवंशीलो यथार्थदर्शी। विमलकेवलज्योतिषा यथावस्थितवस्तुदर्शी। तीर्थान्तरशास्तारस्तु रागादिदोषकालुष्यकलङ्कितत्वेन तथाविधज्ञानाभावान्न यथार्थदर्शिनः। ततः कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः?

इस प्रकार वस्तुका स्वरूप कहकर स्तुतिकर्ता 'यथार्थदर्शी' इत्यादि वचनद्वारा भगवत्की स्तुति करते हैं। 'तु' शब्द उप-

युक्त श्लोकमें जहां पड़ा है वहा ही उसका संबंध नही होता किंतु 'त्वमास्थः' इस स्थानमें पड़े हुए 'त्वम्' ऐसे शब्दके साथ होता है। तथा इस 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' अथवा 'निश्चय' होता है। इसलिये श्लोकके अन्तिम भागका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि आप ही दुर्नयरूप खोटे मार्गके मिटानेवाले हों; अन्य कोई भी देव दुर्नयरूप खोटे मार्गको नही मिटा सकता है। कैसे ? सच्चे नय प्रमाणका मार्ग दिखानेसे। नय प्रमाणोंका स्वरूप कह ही चुके है। इन नय प्रमाणोंका सच्चा प्रकास करना ही नय प्रमाणोंके मार्गका दिखाना है। आप सच्चे मार्गको दिखानेवाले इसीसे सिद्ध हैं कि आप यथार्थदर्शी है। जैसा कुछ पदार्थ है उसको जो तैसा ही देखता हो उसको यथार्थदर्शी कहते हैं। निर्मल केवलज्ञानरूपी ज्योतिकर आपने ही वस्तुका यथावस्थित स्वरूप देखा है, और जो अन्यमतोंके प्रवर्तक हैं वे रागद्वेषादि दोषोंसे कलंकित रहनेके कारण सच्चा ज्ञान नहीं पासके हैं और इसीलिये वे यथार्थदर्शी नहीं हैं। यथार्थदर्शी न होनेसे वे वेचारे दुर्नयरूप खोटे मार्गका निराकरण भी नहीं कर सकते हैं।

न हि स्वयमनयप्रवृत्तः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धुरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति। यथा--कश्चित्सन्मार्गवेदी परोपकारदुर्ललितः पुरुषश्चौरश्वापदकण्टकाद्याकीर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकलं दोषाऽस्पृष्टं गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नयप्रमाणमार्गं प्ररूपयतीति।

जो स्वयं ही अनीति मार्गमें पड़ा है वह दूसरोको अनीतिमार्गसे अलग नहीं कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि; जिस प्रकार कोई पुरुष सच्चे मार्गको जानता हुआ और परोपकार करनेमें तत्पर होता हुआ जीवोंको खोटे मार्गसे बचानेकी इच्छाकर चोर सिंह व्याघ्रादि भयानक जंतुओंसे तथा कंटक आदि दुःखदाई चीजोसे भरा हुआ मार्ग छुड़ाकर पथिकोको ऐसा मार्ग दिखा देता है जो गुणदोष रहित हो अथवा दोषरहित गुणसहित हो; उसी प्रकार जगत्के नाथ जिनेन्द्र भगवान् भी दुर्नयोंका खंडन करते हुए भव्योंको सच्चा नयप्रमाणरूप मार्ग दिखाते हैं।

आस्थ इत्यस्यतेरद्यतन्यां "शास्त्यस्तिवक्तिख्यातेरङ्" इत्यङि "श्वयत्यस्तवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्" इति स्थादेशे "स्वरादेस्तासु" इति वृद्धौ रूपम्।

श्लोकके अंतमें जो 'आस्थः' पद है उसका अर्थ निराकरण करना है। अस् धातुके आगे अद्यतनी अथवा लुङ् लकारवाचक भूतकालिक प्रत्ययके अर्थमें 'शास्त्यस्तिवक्तिख्यातेरङ्' इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर पीछे 'श्वयत्यस्तिवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्'

इस सूत्रसे असके स्थानमें अस्म आदेश होकर पीछे जब 'सरादेशाश्च' इस सूत्रकर अस्मके ह्रस्व अकारको दीर्घ हो जाता है तब 'आत्म' ऐसा पद बनजाता है।

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। यच्चात्र नयानां प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तच्चेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। चत्वारि हि प्रवचनाऽनुयोगमहानगरस्य द्वाराणि। उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयाश्चेति। एतेषां च स्वरूपमावश्यकभाष्यादेर्निरूपणीयम्। इह तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात्। अत्र चैकत्र कृतसमासान्तः पथिन्शब्दोन्यत्र चाऽभ्युत्पन्नः पथशब्दोऽदन्त इति पथशब्दस्य द्विप्रयोगो न दुष्यति।

यद्यपि यथार्थ देखा जाय तो मुख्यपनेसे प्रमाणज्ञानमें ही प्रमाणपना रहता है परंतु तो भी जो नयोंको प्रमाणके तुल्य कहा है सो यह अभिप्राय जतानेके लिये कहा है कि नय जो पदार्थका सच्चा सरूप दिखानेवाले माने गये हैं वे अनुयोगोंके द्वार होनेकी अपेक्षा ही माने गये हैं। प्रवचन अनुयोगरूपी विशाल नगरमें प्रवेश पानेके चार द्वार हैं; उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय। इन द्वारोंका सरूप जानना हो तो आवश्यकभाष्यादि ग्रन्थोंमें कहा है, वहांसे जान लेना। यहांपर ग्रन्थ बढ जानेके भयसे नहीं कहा है। इस श्लोकमें एक स्थानपर तो समासान्त 'पथिन्' शब्द है तथा दूसरे स्थानपर अव्युत्पन्न अकारान्त 'पथ' शब्द है इसलिये पथ शब्दको दो वार लिखना अनुचित नहीं है।

अथ दुर्नयनयप्रमाणस्वरूप किञ्चिन्निरूप्यते। तत्रापि प्रथमं नयस्वरूपं; तदनधिगमे दुर्नयस्वरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात्। अत्र चाचार्येण प्रथमं दुर्नयनिर्देशो यथोत्तरं प्राधान्यावबोधनार्थः कृतः। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः। अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति प्रापयति संवेदनकोटिमारोहयतीति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः।

अब दुर्नय, नय तथा प्रमाणका निरूपण कुछ करना चाहिये उसमें भी सबसे प्रथम नयका सरूप दिखाना चाहिये। क्योंकि जबतक नयका सरूप नहीं दिखावेंगे तबतक दुर्नयका सरूप समझना कठिन है। श्लोकमें आचार्य महाराजने प्रथम दुर्नय, फिर नय तथा अंतमें प्रमाण शब्द रक्खा है सो इसका अभिप्राय यह है कि प्रमाणता तथा मुख्यता उत्तरोत्तर अधिक है। अर्थात् दुर्नय तो अप्रमाण है नय किसी अपेक्षा प्रमाण है तथा प्रमाण सर्वथा ही प्रमाण है। प्रमाणद्वारा निश्चित किये हुए पदार्थके

एक अंशका जो विचार करना है वह नय है। वस्तु तो प्रत्येक अनंत धर्मसहित है परंतु विवक्षित किसी एक धर्मरूप उस वस्तुको जो सिद्ध करै अथवा आरोपित करै वह नय है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनंतो धर्मवाली होती है उनमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यता करके किसी वस्तुको उसी एक विवक्षित धर्ममय कहना तथा मानना सो नय है। नय सदा तभी प्रवर्तता है तथा उसी वस्तुमें प्रवर्तता है जब जो वस्तु प्रमाणज्ञानद्वारा जानी जा चुकती है।

नयाश्चानन्ता अनन्तधर्मत्वाद्वस्तुनस्तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्। तथा च वृद्धाः "जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया" इति। तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा। नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता इति। कथमेषां सर्वसंग्राहकत्वमिति चेदुच्यते। अभिप्रायस्तावदर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते; गत्यन्तराऽभावात्। तत्र ये केचनाऽर्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रभिप्रायास्ते सर्वेऽप्याद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति।

नय वस्तुके उसी एक धर्मको ग्रहण करता है जो वक्ताको इष्ट हो। प्रत्येक वस्तुमें धर्म अनंतो होते हैं इसलिये नय भी अनंतो ही हो सकते हैं। पूर्वाचार्योंने ऐसा ही कहा है कि "जितने प्रकारसे वचन बोले जा सकते हैं उतने ही प्रकारके नय हैं"। इस प्रकार यद्यपि नय बहुत हैं परंतु उन संपूर्ण नयोंका अभिप्राय वक्ष्यमाण सात प्रकारके भेदोंमें ही अन्तर्गत हो जाता है इसलिये पूर्वाचार्योंने नयोंको संक्षेपसे सातप्रकार ही कहा है; नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत। इन्ही सात प्रकारोंमें संपूर्ण नयोंके अभिप्राय जिस प्रकार अन्तर्हित हो सकते हैं सो दिखाते हैं। अभिप्रायका प्रगट करना या तो किसी पदार्थके द्वारा हो सकता है अथवा किसी शब्द द्वारा हो सकता है। तीसरा तो कोई मार्ग ही नही है। इनमेसे जो अभिप्राय ऐसे हैं जिनका प्रगट करना पदार्थोंद्वारा हो सकै वे तो सर्व आदिके चार नयोंमें गर्भित हो जाते हैं और जो विचार शब्दद्वारा प्रगट हो सकते हैं उनका अन्तर्भाव अंतके शब्दादि तीन नयोंमें होता है।

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यमवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि तथाऽन्त्यान्विशेषान्सकलाऽसाधारणरूपलक्षणानऽवान्तरविशेषांश्चाऽपेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यादत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपान-

भिर्मीति । इदं च स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः । प्रवचनप्रसिद्धनिलयनप्रस्थदृष्टान्तद्वयगम्यश्चायम् । संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते । एतच्च सामान्यैकान्तवादे प्राक् प्रपञ्चितम् ।

इन सातोंमेंसे आदिका जो नैगम नय है वह सत्‌रूप महासामान्यको तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादिरूप अवान्तर सामान्योंको एवं प्रत्येक स्थूल पदार्थोंमें रहनेवाले विशेषोंको तथा जिनका स्वरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षा सर्वथा उलटा ' ' अपेक्षा करनेपर जिसके द्वारा एक दूसरेका भेदमात्र प्रतीतिगोचर होता हो ऐसे सूक्ष्म अवान्तर विशेष धर्मोंको ग्रहण करता है । अर्थात् संपूर्ण प्रकारके सामान्य धर्म तथा समग्र प्रकारके विशेष धर्मोंको यह नैगम नय अभेदभावसे स्वीकार करता है । भावार्थ—यह नय सामान्यविशेषधर्मसहित पदार्थको सामान्यभावसे ग्रहण करता है; किसी भी धर्मको छोड़ता नहीं है । जहांपर सामान्य विशेष धर्मोंको सर्वथा भिन्न भिन्न माननेवालोंका विचार किया है वहांपर ही सामान्यविशेषात्मकपनेका विवेचन कर चुके हैं और वही विषय नैगम नयका है इसलिये यहांपर फिरसे इसका विचार नहीं करते । इस नैगम नयके दो दृष्टान्त शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं; उन्हीसे इसका खुलासा ज्ञान होता है । उन दो दृष्टान्तोंमें पहिला तो निलयनका है और दूसरा पंसेरी (पांचसेरी) का है । संग्रह नय जो दूसरा है वह संपूर्ण विशेष धर्मोंकी आकांक्षा छोड़कर किसी सामान्य धर्मकी मुख्यता लेकर जितनेमें वह सामान्य धर्म रहता हो उस संपूर्ण विषयको ग्रहण करता है । इस नयके विषयका आलोचन भी सर्वथा सामान्यरूप पदार्थ माननेवालेका खंडन करते समय कर आये हैं ।

व्यवहारस्त्वेवमाह । यथा लोकग्राहमेव वस्त्वस्तु । किमनया अदृष्टाऽव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया ? यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवाऽनुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते; नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाऽभिमतं प्रमाणभूमिस्तथानुभवाऽभावात्, सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च । नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचरास्तथा प्रवृत्तेरभावात् । तस्मादिदमेव निखिललोकाऽबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी; तत्र प्रमाणप्रसराऽभावात्; प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

तीसरा व्यवहार नय ऐसा कहता है कि वस्तु उतने मात्र ही है जितनी लौकिक व्यवहारमें काम आती है तथा जिस जिस प्रकार लोक व्यवहारमें मानी जाती है। जिसका दर्शनमात्र भी नहीं है तथा जो लोकोंके व्यवहारमें हो भी आती नहीं हो ऐसी वस्तुकी कल्पना करनेका कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन ? जितनी कुछ वस्तु लोकव्यवहारमें आवश्यकीय हैं उन्हीका प्रमाणद्वारा निश्चय होता है। जो लोकव्यवहारके मार्गमें नही आती उसका प्रमाणद्वारा निश्चय भी नहीं होता है। अर्थात् लोकव्यवहारमें जो कुछ वस्तु आवश्यकीय होती है वह विशेषरूप ही होती है। जो अनादिनिधन संग्रहनयका विषयभूत एकत्वरूप सामान्य मानागया है उसका किसी प्रकार भी अनुभवसे निश्चय नहीं होता। अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे देखते हैं तो सभी वस्तु विशेषरूप ही कार्यक्षेत्रमें उपयोगी जान पड़ती हैं। यदि सामान्य धर्मका भी जीवोको अनुभव होता हो तो वे मनुष्य सर्वदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ होजाने चाहिये। क्योंकि; जिस सामान्य धर्मका अवलोकन होना माना जायगा वह सामान्य सभी चराचर त्रिलोक तथा त्रिकालवर्ती पदार्थोंमें विद्यमान रहनेवाला है। जो क्षण क्षणमें नष्ट माने जाते हैं ऐसे परमाणुरूप सर्वथा विशेष पदार्थ भी प्रमाणसे निश्चित नही होते। क्योंकि; यदि ऐसे पदार्थ भी प्रमाणगोचर होते तो उनमें जीवोंकी प्रवृत्ति भी उसके अनुकूल ही दीखती, परंतु ऐसे पदार्थोंको विषय करनेवाली लोकोंकी प्रवृत्ति नही दीखती है इसलिये ऐसे पदार्थ है ही नहीं जिनका कि क्षण क्षणमें विध्वंस होता रहता हो।

अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन। तथा हि। पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्त्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति। तन्न ते वस्तुरूपा लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात्। अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम्। तथा च वाचकमुख्यः "लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" इति।

इसलिये लोगोको यही निर्बाध प्रतीति होरही है कि जो वस्तु कुछ समयतक ठहरनेवाली स्थूल पर्याय धार रही हों इन। जिनके द्वारा जल लाने आदिक कर्म होसकते हों वे ही यथार्थमें पदार्थ हैं। पूर्वोत्तर पर्यायोंकी कल्पना करके उनमें सदा रहनेवाला कोई एक शाश्वता पदार्थ मानना निस्सार है। क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई भी प्रमाण काम नहीं देता है। और जिसमें प्रमाण प्रवेश नहीं कर सकता है उसका सिद्ध होना कठिन है। तथा ऐसा कोई एक अनाद्यनिधन पदार्थ ही नहीं है जिसमें नाना प्रकारके दृष्टिगोचर पर्याय होते हुए अनुभवमें आते हों। क्योंकि; विचार करनेपर ऐसा कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। पूर्वोत्तर कालमें

होनेवाले पर्यायोंका आश्रयभूत ऐसा कोई एक एक पदार्थ अथवा क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाले परमाणुस्वरूप-विशेष पदार्थ किसी भी लौकिक उपयोगमें नहीं आते हैं इसलिये वे यथार्थमें सत्यार्थ पदार्थ ही नहीं हैं। क्योंकि, सच्चे पदार्थ वे ही हैं जो लौकिक प्रयोजनमें आ सकते हैं। इसीलिये मार्ग चलता है; कुंडी पढ़ती है, पर्वत जल रहा है, पलंग बिछाते हैं इत्यादि लौकिक व्यवहार प्रमाणभूत माने जाते हैं। ग्रन्थकर्ताओंके शिरोमणि तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके कर्ताने भी ऐसा ही कहा है "जो लौकिक व्यवहारके अनुसार हो, जिसका धरण उपचार हो तथा जिसका लौकिक प्रयोजन अधिक हो वह व्यवहार नय है"।

ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते। वर्तमानक्षणविवर्त्त्येव वस्तुरूपं, नाऽतीतमनागतं च। अतीतस्य विनष्टत्वादनागतस्याऽलब्धात्मलाभत्वात्खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया सकलशक्तिविरहरूपत्वान्नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम्। तदभावाच्च न वस्तुत्वं; यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति वचनात्। वर्तमानक्षणालिङ्गितं पुनर्वस्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम्। तदपि च निरंशमभ्युपगन्तव्यम्; अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात्; एकस्याऽनेकस्वभावतामन्तरेणाऽनेकस्वावयवव्यापनाऽयोगात्। अनेकस्वभावतैवाऽस्त्विति चेन्न विरोधव्याघ्रातत्वात्। तथा हि।

चौथा ऋजुसूत्र नय मानता है कि न तो अतीत ही वस्तुका स्वरूप है और न आगामी ही; किंतु जो शुद्ध वर्तमान समयमें विद्यमान है वही वस्तुका स्वरूप है। जो बीत चुका है वह तो विनष्ट हो चुकनेसे तथा जो आगामी है वह अभी पैदा ही नहीं हुआ है इससे ये दोनो प्रकारके पर्याय सर्वथा गधेके सींगोंके ही समान हैं। इसलिये संपूर्ण सामर्थ्यरहित होनेसे इनके द्वारा किसी भी प्रयोजनकारी क्रियाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि इससे प्रयोजनकारी क्रिया ही नहीं हो सकती है तो यह वस्तु कैसा! ऐसा कहा भी है कि "जो अर्थक्रियाकारी होता है उसीको यथार्थमें वस्तु कहना चाहिये"। और जो वस्तु वर्तमान क्षणमें विद्यमान होता है वही संपूर्ण प्रयोजनीभूत क्रियाओंको करता है इसलिये उसीको यथार्थ वस्तु कहना उचित है। वर्तमानकालीन भी जो निरंश हो वही वस्तु कहा जा सकता है। क्योंकि; अनेक अंशविशिष्ट किसी एक वस्तुको माननेमें कोई प्रमाण ही नहीं है। यदि एक ही वस्तु अपने अनेक अवयवोंमें व्याप्त होती हुई मानी जाय तो वह अनेक प्रकारके स्वभाव धारण किये विना नहीं व्याप्त हो सकती है और एक ही वस्तुमें अनेक स्वभावोंका होना असंभव है। और यह कहना भी ठीक

नहीं है कि एक वस्तुमें अनेक स्वभाव यदि रहैं तो क्या हानि है ? । क्योंकि; एक ही वस्तुमें यदि अनेक स्वभावोंकी सत्ता मानी जायगी तो उस वस्तुको विरोधरूपी व्याघ्र सूंघने लगैगा । उस विरोधको आगे दिखाते हैं ।

यद्येकः स्वभावः कथमनेकोऽनेकश्चेत्कथमेकः? एकाऽनेकयोः परस्परपरिहारेणाऽवस्थानात् । तस्मात्स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाजः । इति त एव स्वलक्षणं, न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति । एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु, न परकीयम्; अनुपयोगित्वादिति ।

अनेक स्वभाव एक ही वस्तुमें माननेसे विरोध आने लगता है । क्योंकि; जितने स्वभाव होते हैं वे एक दूसरेसे विरुद्ध होते हैं । यदि विरुद्धस्वभाववाले न हों तो उन स्वभावोंमें अनेकपना ही कैसा ? और जो परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होते है वे एक स्थानमें किसी प्रकार नहीं रह सकते हैं । तथा यदि एक ही स्वभाव है तो अनेक स्वभाव कैसे ? और यदि अनेक स्वभाव हैं तो उनको एक कैसे कह सकते हैं? क्योंकि; एकपना तथा अनेकपना ये दोनों धर्म परस्परमें विरोधी होनेसे एक स्थानमें नहीं रह सकते हैं; किंतु एक स्थानमें एक ही रहैगा । इसलिये अपने अपने स्वरूपमें निमग्न ऐसे परमाणु ही परस्परमें एक दूसरेके साथ निमित्त पाकर इकट्ठे होते हुए संपूर्ण कार्योंको करते है और इसलिये वे शुद्ध परमाणु ही यथार्थ वस्तु हैं; न कि जो स्थूल रूपको धारण करते हैं ऐसे कोई स्थूल पदार्थ परमार्थ वस्तु हों । इस प्रकार जब इस नयकी अपेक्षा देखते हैं तो जितना शुद्ध एक एक निज वस्तु है वही केवल सच्ची वस्तु है और जो पररूप है अथवा जो अनेक परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न हुई दीखती है वह कोई सच्ची वस्तु नही है । क्योंकि; ऐसी वस्तुका कुछ उपयोग नहीं हो सकता है । सच्चा उपयोग परमाणुओंसे ही हो सकता है ।

शब्दस्तु–रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते; यथेन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ[1] तेषां सर्व्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल । प्रतीतिवशाद्यथा शब्दाऽव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम् । न चेन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते; तेभ्यः सर्वदैकाकारपरामर्शो-

१ 'सुरपतौ' इति पाठो नास्त्येव रापुस्तके ।

त्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात्। तस्मादेक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति। शब्द्यते आहूयतेऽनेनाऽभिप्रायेणार्थ इति निरुक्तादेकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात्।

पांचवें शब्दनयकी प्रधानता होनेपर जितने कुछ शब्द रूढिके वशसे किसी एक पदार्थमें लगसकते हैं उन संपूर्ण शब्दोंका वाच्य अर्थ एक ही समझा जाता है। जैसे इंद्र, शक्र पुरंदरादिक शब्द एक इन्द्रनामक देवोंके राजामें लगसकते हैं इसलिये इन संपूर्ण शब्दोंका अर्थ एक देवराज ही मानना सो शब्दनय है। जिस प्रकार वाचक शब्दसे पदार्थको अभिन्न मानते हैं। क्योंकि, प्रतीति ऐसा ही स्वीकार करती है। उसी प्रकार प्रतीतिगोचर होनेके कारण उन संपूर्ण शब्दोंके अर्थको भी एक मानसकते हैं। इन्द्र, शक्र, पुरंदर आदिक जो पर्यायवाची शब्द होते हैं उनके अर्थ जुदे जुदे प्रतीत नहीं होते। क्योंकि, उनमेंसे किसी भी एक शब्दके बोलनेसे उसी एक पदार्थकी प्रतीति होती है तथा लाना लेजाना आदिक क्रिया भी उसी एक की होती दीखती है। इसलिये जितने पर्यायवाची शब्द होते हैं उन सबोंका वाच्य अर्थ एक ही होना चाहिये। 'शब्द' धातुका अर्थ बोलना है। जिस अभिप्रायसे अर्थ कहाजाता है उसको शब्द कहते हैं ऐसा शब्दनयका अर्थ करनेसे यह समझ सकते हैं कि जितने पर्यायवाची शब्द होते हैं वे सब एक ही अभिप्रायकी मुख्यतासे बोले जाते हैं इसी लिये उन सब शब्दोंका अर्थ एक ही समझना चाहिये।

यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा तटस्तटी तटमिति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसंबन्धाद्वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्माऽयोगो युक्तः। एवं संख्याकालकारकपुरुषादिभेदादपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्र संख्या एकत्वादिः। कालोऽतीतादिः। कारकं कर्त्रादि। पुरुषः प्रथमपुरुषादिः।

शब्द नय जिस प्रकार पर्यायवाची अनेक शब्दोंका अर्थ एक समझाता है उसीप्रकार विरुद्ध लिङ्गवाले शब्दोंके वाच्य अर्थको लिङ्गभेदके कारण भिन्न भिन्न भी प्रतीत कराता है। जैसे पुल्लिङ्ग तट शब्दका अर्थ कुछ अन्य है तथा स्त्रीलिङ्गवाले तटी शब्दका अर्थ कुछ जुदा है और नपुंसकलिङ्गवाले तट शब्दका कुछ और ही है। जिस वस्तुमें विरुद्ध धर्मके कारण भेदका अनुभव होता हो वह विरुद्धधर्मवाला नहीं है ऐसा कहना असंगत है। क्योंकि, यथार्थमें यदि उस वस्तुमें एक दूसरी वस्तुकी अपेक्षा विरुद्ध धर्म नहीं रहता हो तो उन दोनोंमें भेद दृष्टिगत क्यों हो?। जिस प्रकार एक ही शब्दमें लिङ्गका भेद होनेसे उसके अर्थमें भेद

माना जाता है उसीप्रकार संख्या, काल, कारककी तथा पुरुषादिकी अपेक्षा शब्दोंमें भेद होनेसे भी अर्थमें भेद मानाजाता है। संख्या तो एकवचनादि। जैसे पुरुष (एक) है, पुरुष (दो अथवा बहुत) हैं। कालका भेद अतीतकालादि—जैसे वह है, वह था, वह होगा। कारक कर्ता कर्म करणादि। जैसे 'वह भागता है' इस वाक्यमें तो 'वह' शब्द कर्ताकारक है और 'उसको खाता है' यहांपर 'उसको' शब्द कर्मकारक है। पुरुष—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष। जैसे 'वह है' यहांपर प्रथम पुरुष है; 'तू है' यहांपर मध्यम पुरुष है तथा 'मैं हूं' यहांपर पुरुष उत्तम है। इसी प्रकार सर्वत्र लिङ्गादिके भेदसे शब्दोंके अर्थमें परस्पर भेद मानाजाता है।

समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते। तद्यथा। इन्दनादिन्द्रः। परमैश्वर्यमिन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्यर्थे। अतद्वति पुनरुपचारतो वर्तते। न वा कश्चित् तद्वान्; सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः।

छट्ठा समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्दोंके अर्थको परस्पर भिन्न भिन्न मानता है। इंद्रशब्दका यथार्थ अर्थ परम ऐश्वर्य होता है। इसलिये जिसमें परम ऐश्वर्य संभव हो उसीको इंद्र मानना समभिरूढ नयका कर्तव्य है। क्योंकि; इन्द्रशब्दका वाच्य अर्थ जो परम ऐश्वर्य है वह यथार्थमें उसीमें मिलसकता है जिसमें परम ऐश्वर्य सचमुच हो। जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है उसको इंद्र कहना उपचारमात्र है। सचमुचमें देखा जाय तो जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है उसको इन्द्र कहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि; यथार्थमें वह परम ऐश्वर्यवाला है ही नही। सो भी क्योंकि; जितने शब्द हैं वे सब अलग अलग अर्थको कहनेवाले होनेसे जिसमें किसी शब्दका वाच्य अर्थ संभव न हो उसमें उस वाच्य अर्थका आश्रयपना होनेमात्रसे ही उस शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होसकती है। भावार्थ—जब समभिरूढ नयकी अपेक्षा की जाती है तब किसी शब्दकी कहींपर भी इतनेमात्रसे प्रवृत्ति नहीं हो जाती कि अमुक पदार्थमें यद्यपि उस शब्दका वाच्यरूप धर्म तो नही है परंतु इसमें स्थापना आदिकसे आरोपित होस ता है इसलिये उस धर्मका आश्रय होनेसे उस शब्दका वाच्य अमुक होसकता है। किंतु समभिरूढ नयकी अपेक्षा किसी भी शब्दकी तभी प्रवृत्ति होती है जब उस शब्दका वाच्यरूप धर्म उस पदार्थमें सचमुच विद्यमान हो।

एवं शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति प्रमाणयति च। पर्यायशब्दा

अपि भिन्नार्थाः प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात् । इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थाः । यथेन्द्र-पशुपुरुषशब्दाः । विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि । अतो भिन्नार्था इति ।

जिस प्रकार इन्द्रशब्द जहांपर अपना वाच्य अर्थ हो वहांपर ही प्रयुक्त होता है उसी प्रकार शक्रशब्द तथा पुरंदरादि शब्द भी जिसमें स्वार्थ दीखता हो उसीमें प्रयुक्त हो सकते हैं। शक्रशब्दका अर्थ सामर्थ्यसहित होना है। पुरोंको जो दारण अर्थात् विदारण करता हो उसको पुरंदर कहते हैं। इसी प्रकार और भी जिस जिसके जितने जितने पर्यायवाचक शब्द होते हैं ये सब समभिरूढ नयकी अपेक्षा परस्पर भिन्न भिन्न अर्थोंको ही दिखाते हैं तथा भिन्न भिन्न ही निश्चय कराते हैं। क्योंकि, जितने शब्द हैं उन सबोंकी व्युत्पत्ति अर्थात् शब्द साधनेकी प्रक्रिया सर्वथा भिन्न भिन्न है। जिनके बनानेकी शैली परस्पर भिन्न होती है वे परस्पर भिन्न ही देखे जाते हैं। जैसे इन्द्र, पशु पुरुष, आदिक शब्द जुदी जुदी प्रकृति प्रत्यय आदि सामग्रीसे बनते हैं इसलिये इनके अर्थ सर्वथा जुदे जुदे ही दीखते हैं। सो जैसे इन्द्र, पशु, पुरुषादि शब्द परस्पर भिन्न प्रक्रियासे बनते हैं उसीप्रकार पर्याय-वाची शब्द भी भिन्न प्रकृति प्रत्ययादिकोंसे बनते हैं इसलिये पर्यायवाची शब्दोंके अर्थ भी परस्पर भिन्न ही होने चाहिये।

एवंभूतः पुनरेवं भाषते । यस्मिन्नर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव त शब्दं प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन । यथोदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्टचेष्टावानेव घटोभि-धीयते, न शेषो; घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात् पटादिवदिति । अतीतां भाविनीं वा चेष्टामङ्गीकृत्य सामान्ये-नैवोच्यत इति चेन्न, तयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नतया शशविषाणकल्पत्वात् ।

एवंभूत नय ऐसा कहता है कि जितने अर्थकी वाचकता लेकर जो शब्द व्याकरण द्वारा बनाया जाता है उतना अर्थ जब प्रकट होता हुआ दीखता हो तभी उस शब्दका प्रयोग करना उचित है, जबतक उस अर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई हो तबतक उस शब्दकी किसी स्थानमें प्रवृत्ति करना उचित नहीं है। जैसे जिस समय घड़ा जलसे भरा हुआ किसीके मस्तकपर रक्खा हुआ आता दीखे तभी उसको घड़ा कहना एवंभूत नयकी अपेक्षासे सत्य है। किंतु जो घड़ा जब ऐसी अवस्थामें नहीं है तब उसको घड़ा कहना एवंभूतकी अपेक्षा उचित नहीं है। क्योंकि, घड़ाशब्द व्याकरणद्वारा इसी अर्थमें बनाया जाता है। इसीप्रकार पटादि शब्द भी तभी उपयोगमें लाने चाहिये जब उनका वाच्य अर्थ प्रगट होरहा हो। जो पदार्थ किसी पर्यायरूप परिणत होचुका हो

अथवा होनेवाला हो उसकी भूत या भावी चेष्टा वर्तमानमें गधेके सीगसमान असत्रूप है अर्थात् वर्तमानमें कुछ है ही नहीं। इसलिये ऐसी भूत या भावी पर्यायोंकी चेष्टाका वहाना लेकर किसी पदार्थमें उस भूत भावी पर्यायके वाचक शब्दका प्रयोग करना सर्वथा अनुचित जान पड़ता है।

तथापि तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यो विशेषाऽभावात्। किं च यद्यतीतवर्त्स्यच्चेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत, कपालमृत्पिण्डादावपि तत्प्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्विशेषाऽभावात्। तस्माद्यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन्नेव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति।

यदि वर्तमानमें किसी शब्दके वाच्यरूप पर्यायका अभाव रहनेपर भी केवल भूत भावी पर्यायोंकी कल्पनाकर उस पर्यायरूप मानकर वह उस शब्दका वाच्य मानना ठीक हो तो सभी शब्दोंका प्रयोग सभी पदार्थोंमें करना चाहिये। क्योंकि; प्रत्येक सभी पुद्गल कभी न कभी विवक्षित पर्यायरूप होगया ही होगा; नहीं तो आगे होजायगा। और यदि अतीत अनागत चेष्टाओंकी अपेक्षा लेकर भी वर्तमानमें घड़ेकी चेष्टा न होनेपर भी घड़ेमें घड़ाशब्दका प्रयोग होसकता हो तो जवतक घड़ा वना ही नही है तबतक कपाल मट्टी आदि अवस्थाओंमें भी घड़ाशब्द क्यों नही बोलाजाता? क्योंकि; भूत भावी घटचेष्टाकी अपेक्षा जैसी कपाल मट्टी आदिकोंकी अवस्था है तैसी ही जब घडा अपनेरूप चेष्टा नहीं कररहा हो तबकी अवस्था है। इसलिये जिस समय किसी शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्तकारण परिपूर्ण विद्यमान मिलता हो उसी समय उस शब्दका उपयोग करना उचित है।

अत्र संग्रहश्लोकाः। अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः। १। सद्रूपताऽनतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः। २। व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थितिम्। तथैव दृश्यमानत्वाद्व्यापारयति देहिनः। ३। तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याच्छुद्धपर्यायसंश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः। ४। विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद्भिन्नस्वभावताम्। तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते। ५। तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः। ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम्। ६। एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते। ७।

अब इन नयोंके विषयमें संग्रह किये हुए श्लोकोंका अर्थ लिखते हैं। अभेदभावका ज्ञान करानेवाला सामान्य धर्म तो अन्य है तथा विशेषरूप धर्म कुछ जुदा ही है ऐसा ज्ञान नैगमनयके द्वारा होता है। १। सत्त्व धर्मको नही छोड़ता हुआ यह जगत् अपने अपने भावोरूप प्रवर्तता है इसलिये सत्त्व धर्मकी अपेक्षा मुख्यकर संग्रह नय सभी जगत्को एकरूप ग्रहण करता है ऐसा मानागया है। २। व्यवहारनय उसी सत्ताको प्रत्येक वस्तुमें भिन्न भिन्नरूपसे मनाता हुआ जीवोंको व्यवहार कराता है। क्योंकि; व्यवहार दृष्टिसे सभी वस्तु जुदी जुदी ही दीखती हैं। ३। ऋजुसूत्र नय व्यवहार नयके विषयमेंसे भी जो शुद्ध वर्तमान कालवर्ती होता है उसीका आश्रय लेता है। क्योंकि; प्रत्येक पदार्थ अपनी स्थिति पूरी करके नष्ट होता हुआ ही दीखता है इसलिये संपूर्ण पदार्थ नश्वर स्वभाववाले ही हैं। भावार्थ–स्थिति पूर्ण करके सभी नष्ट होते हैं। इसलिये जिस किसीकी जितने कालकी स्थिति है उतने कालतक ही उस वस्तुको उसरूप मानना चाहिये। ४। परस्पर विरोधी लिङ्ग संख्या आदिकोंका भेद होनेसे वस्तु भी भिन्न भिन्न स्वभावको धारण करती है ऐसा माननेवाला शब्द नय है। ५। इस प्रकारके तथा क्षणस्थायी वस्तुको फिर भी संज्ञाओंके भेदसे भिन्न भिन्न माननेवाला समभिरूढ नय है। ६। वस्तु एक ही शब्दका वाच्य सदा नही बना रहता है। क्योंकि; वस्तुमें जैसी जैसी क्रिया बदलती हैं वैसी वैसी ही वस्तुकी अवस्था भी बदलती जाती हैं ऐसा एवंभूत नय मानता है। ७।

एत एव च परामर्शा अभिमेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते। तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः। तथा हि। नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिकवैशेषिकौ। संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च। व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम्। ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयस्तायागताः। शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः।

ये सम्यक नयोंकर दिखाये हुए अभिप्राय ही विवक्षित धर्मोंके निश्चयरूप होकर जब बाकीके अविवक्षित धर्मोंका तिरस्कार करते हुए प्रवर्तते हैं तब दुर्नय नाम पाते हैं। परवादी लोगोंकी उत्पत्ति भी इन्ही दुर्नयरूप अभिप्रायोंकी मुख्यता धारण करनेसे हुई है। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले जो खोटे नैगम नयके पक्षपाती हैं। संपूर्ण अद्वैतवादी तथा सांख्यमती संग्रहनयकी प्रधानता पकड़नेसे प्रवृत्त हुए हैं। व्यवहारनयका पक्षपाती प्राय चार्वाकदर्शनवाला है। बौद्धलोगोंने ऋजुसूत्रनयका ही केवल अवलंबन ले रक्खा है। शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत नयोंको सर्वथा माननेवाले वैयाकरणी आदिक हैं।

उक्तं च सोदाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं श्रीदेवसूरिपादैः। तथा च तद्ग्रन्थः "नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः" इति। स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः। स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः। व्यासतोऽनेकविकल्पः। समासतस्तु द्विभेदो; द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा। धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः। वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः। धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसंधिर्नैगमाभासः। यथात्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तपृथग्भूते।

उदाहरण सहित सम्यक् नय तथा दुर्नयोंका स्वरूप श्रीदेवसूरि महाराजने भी कहा है। उनके ग्रन्थमें इस प्रकार कहा है कि—जो श्रुत प्रमाणके विषयभूत हुए पदार्थके एक अंशका ग्रहण करै तथा बाकीके सभी अंशोंमें उदासीन रहै ऐसे वक्ताके एक प्रकारके अभिप्रायको नय कहते है। विवक्षित अंशको ग्रहणकर बाकीके अंशोंका सर्वथा निषेध करनेवालेको नयाभास कहते हैं। वह नय विस्तार संक्षेपके भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है। विस्तारकी अपेक्षा तो अनेक भेद होते हैं परंतु संक्षेपसे देखा जाय तो मूल भेद दो हैं; पहिला द्रव्यार्थिक दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिकके नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन भेद हैं। दो धर्मोंमें अथवा दो धर्मियोंमें या एक धर्म एक धर्मीमें प्रधानताकी अपेक्षा करनेको नैगम अथवा नैकगम कहते हैं। सत्त्व और चैतन्य ये दोनों धर्म आत्मामें हैं ऐसे विचारमें तो दो धर्मोंकी प्रधानता है। तथा वस्तु और पर्याय जिसमें हों वह द्रव्य है ऐसे वचनमें दो धर्मियोंकी मुख्यता है। क्योंकि; वस्तु भी धर्मी है तथा पर्याय भी एक प्रकारका धर्मी ही है। विषयासक्त जीव क्षणमात्रकेलिये सुखी होजाता है इस वाक्यमें जीव तो धर्मी तथा सुखीपना धर्म ये दोनो प्रधान हैं। दो धर्मोंमें, धर्मधर्मियोंमें अथवा दो धर्मियोंमें जो सर्वथा भेदभाव दिखावे उसको नैगमाभास अथवा खोटा नैगमनय कहते हैं। जैसे आत्मामें सत्त्व धर्म तथा चैतन्य धर्म सर्वथा भिन्न है।

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः। अयमुभयविकल्पः, परोऽपरश्च। अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः। विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा। सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः। यथा सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। द्रव्यत्वादीन्यवान्तर-

पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा । ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवंभूतश्च । ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः । सर्वथा द्रव्याऽपलापी पुनस्तदाभासः । यथा ताथागतमतम् । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः । तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक्सिद्धाऽन्यशब्दवदित्यादिः ।

पर्यायार्थिक नयके भेद चार हैं; ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत । ऋजु अर्थात् केवल वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको जो प्रधानतासे ग्रहण करता हो उस अभिप्रायको ऋजुसूत्र कहते हैं । जैसे सुखीपना इस समय है । अर्थात् इस समय सुखी है, इस समय दुःखी है इत्यादि वर्तमान पर्यायरूप जैसा हो तैसा कहनेका नाम ऋजुसूत्र है । जो सर्वथा अनादिनिधन द्रव्यका निषेध कर केवल पर्यायोंको ही अपने अपने समयमें सच्चा मानता है वह ऋजुसूत्राभास है । जैसे बौद्धोंका मत । कालादिके, भेदोंसे जो शब्दोंमें भेद पड़ता है उसके द्वारा जो वाच्य वस्तुको भी भिन्न भिन्न मानता है वह शब्दनय है । जैसे सुमेरु यद्यपि त्रिकालवर्ती है परंतु 'सुमेरु' था इस वाक्यका अर्थ तो परोक्ष भूतकालके आश्रयसे कुछ जुदा ही है; तथा 'सुमेरु होगा इस वाक्यका अर्थ जुदा ही है; एवं 'सुमेरु है' इस वाक्यका अर्थ कुछ और ही है । इस शब्दभेदका आश्रय लेकर जो वस्तुको सर्वथा जुदा ही मानता है वह शब्दनयाभास है । जैसे ' सुमेरु है, सुमेरु था, सुमेरु होगा' इत्यादि जुदे जुदे कालवाची शब्दोंका अर्थ सर्वथा जुदा जुदा ही होता है । क्योंकि; और भी ऐसे वहुतसे शब्द है जो भिन्नकालोंके कारण अर्थमें भेद डालते है इसलिये कालभेदके कारण अर्थमें भेद होना ही चाहिये ।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः । इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः । यथेन्द्रशक्रपुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात्करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादिः । शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन्नेवंभूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः

पुरन्दर इत्युच्यते। क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्पटवदित्यादिः।

पर्यायवाची शब्दोंमें भी शब्दसिद्धिविषयक भेद है इसलिये उनके वाच्य अर्थोंको जुदा मनानेवाला समभिरूढ नय है। जैसे परम ऐश्वर्यकी अपेक्षा इन्द्र कहना उचित है, शक्तिकी अपेक्षा शक्र कहना उचित है, पुरोंको विदीर्ण करनेवालेकी अपेक्षा पुरंदर कहना ठीक है। इत्यादि और भी जो पर्यायवाची शब्द होते हैं वे सब शब्दभेदके कारण कुछ न कुछ भेद ही दिखाते हैं। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा ही भिन्न भिन्न अर्थ कहनेवाला मानना समभिरूढाभास है। जैसे हस्ती घोड़ा हरिण आदिक शब्द भिन्न भिन्न होनेसे जिस प्रकार अपने अर्थको भी भिन्न भिन्न दिखाते हैं उसीप्रकार इन्द्र शक्र पुरंदरादिक शब्द भी भिन्न भिन्न होनेसे अर्थको सर्वथा जुदा ही दिखाते हैं। किसी पदार्थमें जब किसी शब्दके वाच्यरूप कार्यकारी क्रिया होरही हो तभी उस पदार्थको जो उस शब्दके अर्थरूप कहना सो एवंभूत है। जैसे जिस समय परम ऐश्वर्यका अनुभव कररहा हो उसी समय इन्द्रको इन्द्र कहना तथा शक्तिरूप क्रियाका जिस समय अनुभव कररहा हो तब उसी इन्द्रको शक्र कहना एवं जब पुरोंको विदार रहाहो तब उसी इन्द्रको पुरंदर कहना उचित है। भावार्थ—जब पदार्थ जिस क्रियारूप परिणत न होरहा हो उस समय यद्यपि यह नय उस पदार्थको उस क्रियारूप कहता नहीं है परंतु उस क्रियाका उस पदार्थमेंसे निषेध भी नहीं करदेता है किंतु उस विषयसे उस समय उदासीन रहता है। और जो एवंभूत नयाभास है वह जिस क्रियारूप पदार्थ परिणत होता है उसको उस क्रियावाचक शब्दके अतिरिक्त अन्य शब्दोंका वाच्यरूप होनेसे रोकता है। जैसे जिस समय घड़ा अपने योग्य क्रियामें लगाहुआ न हो उस समय उसको घड़ा कभी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि, उस समय उसमें जिस क्रियाके द्वारा यह घड़ा कहाता है वह क्रिया है ही नहीं। यदि अपनी क्रियासे शून्य वस्तु भी उस शब्दका वाच्य अर्थ होसकती हो तो वस्त्रमें भी घड़ा शब्दका प्रयोग क्यों नहीं होता?।

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः। शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितविषयः।

इन सातो नयोंमेंसे आदिके जो चार नय हैं वे तो शब्दके आश्रयकी मुख्यता न रखकर केवल अर्थका आश्रय मुख्यतासे

लेकर प्रवृत्त होते है इसलिये अर्थनय कहाते हैं और बाकीके तीन नय मुख्यतासे शब्दका आश्रय लेकर ही प्रवर्तते हैं इसलिये वे शब्दनय कहाते हैं। इन सातो नयोंमेंसे जो पूर्व पूर्वके हैं वे उत्तरोंकी अपेक्षा विषयका ग्रहण अधिक अधिक करते हैं और उनमें जो उत्तरके हैं वे पूर्व पूर्व नयकी अपेक्षा अल्प विषयवाले हैं।

सन्मात्रगोचरात्संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः। सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः। वर्तमानविषयादृजुसूत्राद्व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः। कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः। प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात्प्रभूतविषयः। प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात्समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः।

संग्रह केवल सत्धर्मका ही ग्रहण करता है और नैगम नय सत्असत् दोनों धर्मोंका ग्रहण करता है इसलिये संग्रहकी अपेक्षा नैगमका विषय बहुत है। सत्ता धर्मके किसी विशेष अंशका ग्रहण करनेवाले व्यवहारकी अपेक्षा संग्रह नय संपूर्ण सत्ताविशिष्टका प्रकाशक होनेसे अधिक विषयवाला है। ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान कालवर्ती पर्यायको ही प्रकाशता है इसलिये तीनो कालवर्ती वस्तुको प्रकाशनेवाला व्यवहार नय इस नयसे अधिक विषयवाला है। लिङ्ग संख्या कालादिके भेदसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायोंमें भी शब्द नय भेद दिखाता है इसलिये इसकी अपेक्षा वर्तमान पर्यायमें अभेद रखनेवाला ऋजुसूत्र नय महाविषयवाला है। शब्द नय पर्यायवाची शब्दोंमें अभेदभाव दिखाता है तथा समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्दोंमें परस्पर भेद प्रकाशता है इसलिये समभिरूढ नयकी अपेक्षा शब्द नयका विषय बहुत है। समभिरूढ नय कुछ क्रियाओंका परिवर्तन होनेसे अर्थमें भेद नहीं मानता है परंतु एवंभूत क्रियाओंके भेदसे एक ही वस्तुको भिन्न भिन्न मानता है इसलिये एवंभूतकी अपेक्षा समभिरूढका विषय बड़ा है।

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजतीति विशेषार्थिना नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्यमहोदधिगन्धहस्तिटीकान्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः। प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकं स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः "नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः" इति।

प्रमाणवाक्योंके समान नयवाक्य भी अपने अपने विषयोंमें विधिनिषेधके कर्ता संभव होनेसे सप्त भगरूप होसकते हैं इसलिये जिनको इस विषयमें अधिक जानना हो उनको इन नयोंके नाम, नामके अनुसार सार्थक भिन्न भिन्न लक्षण, शंका, समाधान आदि विषयोंका विचार भाष्यमहोदधि, गन्धहस्ति टीका, न्यायावतारादि ग्रन्थोंद्वारा जानलेना चाहिये। जो सच्चे अर्थका निर्णय करनेवाला हो तथा संपूर्ण नयोंके समुदायरूप अर्थको कहता हो उसको प्रमाण कहते हैं। क्योंकि, स्यात्शब्द लगाकर उच्चारण करनेसे नयवाक्योंका ही प्रमाण नाम होजाता है। यही तेरहवें तीर्थंकर श्रीविमलनाथ की स्तुति करते हुए श्रीसमन्तभद्रस्वामीने कहा है कि "जिस प्रकार रसायनके योगसे लोह इच्छित फल देने लगता है उसीप्रकार 'स्यात्' शब्द लगानेसे ये आपके कहे हुए नय ही अभिमत फलके दाता होजाते हैं इसलिये हितेच्छु जन आपको नमस्कार करते हैं"।

तच्च द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षं द्विधा, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च। सांव्यवहारिकं द्विविधमिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तभेदात्। तद्द्वितयमवग्रहेहावायधारणाभेदादेकैकशश्चतुर्विकल्पम्। अवग्रहादीनां स्वरूपं सुप्रतीतत्वान्न प्रतन्यते। पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्। तद्द्विविधं क्षायोपशमिकं क्षायिकं च। आद्यमवधिमनःपर्यायभेदाद् द्विधा। क्षायिकं तु केवलज्ञानमिति। परोक्षं च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहाऽनुमानागमभेदात्पञ्चप्रकारम्।

ऐसा जो प्रमाण है उसके दो प्रकार हैं, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। फिर प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं एक सांव्यवहारिक दूसरा पारमार्थिक। एक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो ऐसा है जिसमें इंद्रियोंकी सहायता लेनी पड़ती है और दूसरा ऐसा सांव्यहारिक है जिसमें केवल मनकीभी सहायता लेनी पड़ती है। उस संपूर्ण सांव्यहारिक प्रत्यक्षके चार चार भेद होते हैं; अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। भावार्थ—ये चारो भेद प्रत्येक सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें उत्पन्न होसकते हैं। एक ही विषयके ज्ञानमें उत्तरोत्तर जैसी जैसी अधिक दृढता होती है तैसे तैसे ही उस ज्ञानके ये उत्तरोत्तर नाम रक्खे गये हैं। इनका स्वरूप सुगम है इसलिये यहां नहीं दिखाते हैं। जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है उसकी उत्पत्ति कुछ इन्द्रियादिकी अपेक्षा लेकर नहीं होती किंतु सहायरहित केवल साक्षात् आत्मासे ही होती है। इस पारमार्थिकके भी दो भेद हैं, एक क्षायोपशमिक पारमार्थिक दूसरा क्षायिक पारमार्थिक। अवधि तथा

मनःपर्याय ये दो तो क्षायोपशमिक पारमार्थिक हैं तथा केवलज्ञान क्षायिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। परोक्ष प्रमाण पांच प्रकारका है; स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह (तर्क), अनुमान तथा आगमज्ञान।

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः। तत्तीर्थकरविम्बमिति यथा। अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डो, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादिः।

किसी समय किसी पदार्थका अनुभव करनेके बाद जो संस्कार होजाता है उसका उद्भव होनेसे उसी अनुभव किये हुए पदार्थका 'वह' ऐसा याद आना सो स्मृति अथवा स्मरण है। जैसे वह तीर्थकरका प्रतिबिम्ब। वर्तमान समयमें किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेपर तथा पहिले देखे हुए किसी सदृश या विलक्षण आदि वस्तुके याद आनेपर वर्तमान देखे हुए तथा स्मरण किये हुए पदार्थोंमें जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पूर्वकासा ही यह गोपिंड है, तथा गौके समान ही यह गवय है। एवं यह वही जिनदत्त है। अर्थात्—'वह' ऐसा तो स्मरणांश है तथा 'यह' ऐसा वर्तमानांश प्रत्यक्ष है। इन दोंनो ज्ञानोंके हो जानेपर पीछेसे एक ज्ञान ऐसा होता है जिसके द्वारा पूर्वके देखे हुए पदार्थसे वर्तमानके पदार्थमें या तो समानता दीखती है या भेद प्रतीत होता है अथवा एकताकी प्रतीति होती है। जैसे अमुक वस्तु पूर्व देखे हुएसे भिन्न है अथवा वैसा ही है या वही है इत्यादि अनेक प्रकारसे प्रतीति होती है। सादृश्य दिखानेवाले प्रत्यभिज्ञानमें जिस सादृश्यका ज्ञान होता है कि यह वैसा ही है, वह सादृश्य धर्म दो प्रकारका है; एक तिर्यक् सामान्य तथा दूसरा ऊर्द्धतासामान्य। वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमें रहनेवाली समानताको तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे यह गौ इस गौके समान है। एक ही पदार्थके क्रमवर्ती संपूर्ण पर्यायोमें रहनेवाली समानताको ऊर्द्धतासामान्य कहते हैं। जैसे एक ही पुद्गल अनेक पर्यायोंमें क्रमसे परिवर्तन करता है सो उन संपूर्ण पर्यायोमें परस्पर उस एक पुद्गलकी अपेक्षा समानता है।

उपलम्भाऽनुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कोऽपरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति, तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येवेति वा। अनुमानं द्विधा; स्वार्थं परार्थं च। तत्राऽन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्य-

विज्ञानं स्वार्थम् । पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् । आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । उपचारादाप्तवचनं चेति । स्मृत्यादीनां च विशेषस्वरूपं स्याद्वादरत्नाकरात् साक्षेपपरिहारं ज्ञेयमिति ।

तीनों कालमें होनेवाले साध्य साधनादि पदार्थोंमेंसे कुछका तो प्रत्यक्ष हुआ हो तथा कुछका प्रत्यक्ष नहीं हुआ हो परंतु साध्य साधनादि किसी संबंधका आलम्बन मिलनेसे यह रहनेपर ही यह रहसकता है इत्यादि प्रकारसे समीमें उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह ऊह है । इसीका दूसरा नाम तर्क है । जैसे जितना धूंआ है वह अग्नि होनेपर ही होसकता है और यदि अग्नि न हो तो कभी नहीं होसकता है । ऊह ज्ञान जिनमें होचुका है उनमेंसे धूमादि हेतुके देखनेपर अग्निआदि साध्यका ज्ञान होना या ऐसा वचन कहकर ज्ञान कराना अनुमान है । यह अनुमान दो प्रकारका है, स्वार्थ तथा परार्थ । जिसको साध्य माना हो उसके कहीं अन्यत्र जो नहीं मिलसके ऐसे असाधारण लक्षणवाले हेतुके देखनेपर ऊहज्ञानके द्वारा साध्यके साथ रहनेका संबन्ध याद आनेपर जो उस साध्यका ज्ञान होता है वह स्वार्थ अनुमान है । जिस स्थलमें हेतु देखकर साध्यका निश्चय करना हो उस स्थलको पक्ष कहते हैं । पक्ष हेतु आदिक बोलकर दूसरेको साध्य बतानेका नाम परार्थानुमान है । दूसरेके ज्ञानका कारण होनेसे इस कारणरूप वचनको कार्यरूप ज्ञान मानकर उपचारसे अनुमान कहते हैं । भावार्थ—यथार्थमें ज्ञान ही प्रमाण होता है, वचनादि यथार्थ प्रमाण नहीं है । क्योंकि; जो अज्ञानका विरोधी होता है वही अज्ञानका नाश करके किसी विषयका ज्ञान उत्पन्न करासकता है। जो स्वयं अज्ञानस्वरूप है वह अज्ञानके नाशमें असाधारण कारण नहीं होसकता है। ज्ञान ही अज्ञानका विरोधी है इसलिये वही यथार्थ प्रमाण होसकता है । अनुमान भी एक प्रमाण ही है । यथार्थवक्ताका वचन सुनकर उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमप्रमाण है । उपचारसे आप्तके वचनोंको भी प्रमाण कहते हैं । स्मृत्यादि परोक्ष प्रमाणोंका विशेष स्वरूप शंकासमाधान सहित जानना हो तो स्याद्वादरत्नाकर नामक ग्रन्थसे जानलेना चाहिये ।

प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसम्भवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैवान्तर्भावः । सन्निकर्षादीनां तु जडत्वादेव न प्रामाण्यमिति । तदेवंविधेन नयप्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्वया खिलीकृतः । इति काव्यार्थः ।

प्रमाणके इन प्रत्यक्ष परोक्ष भेदोंके अतिरिक्त जो अर्थापत्ति, उपमान, संभव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदिक भेद कहे जाते हैं उन सबोंका इन्हींमें अंतर्भाव होजाता है । और जो इंद्रिय अर्थके सन्निकर्षादिकोंको अथवा इन्द्रियादिकोंको, प्रमाण मानते हैं वह तो

गानना ही उचित नहीं है। क्योंकि; संनिकर्षादिक जड़स्वरूप होंनेसे प्रमाण नही होसकते। इस प्रकार हे भगवन्! आपने सच्चे नय प्रमाणोंका स्वरूप दिखाकर दुर्नयका मार्ग रोक दिया है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो लोक इति वावदूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां सम्भवात् परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीतं जीवाऽनन्त्यवादं निर्दोषतयाऽभिष्टुवन्नाह।

अब जो केवल सातद्वीपसमुद्रप्रमाणही लोक मानते हैं उनको इतने बड़े लोकमें परिमित जीव ही संभव होसकते है इसलिये जीवोंकोभी अक्षय अनंत न मानकर परिमित ही मानना पड़ता हैं सो उनके माननेमें दोष दिखाते हुए आचार्य इस वातकी स्तुति करते हैं कि हे भगवन्! आपने जो जीवोंको अनंतो बताये हैं वही बताना निर्दोष है।

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवं भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः॥ २९॥

मूलार्थ—संख्यातमात्र ही जीवोंको माननेवालोंके मतमें या तो मुक्त हुआ जीव फिरसे इसी संसारमें आफसता मानागया होगा या यह संसार किसी दिन मुक्तिमें जीव सदा चलते जाते हैं इसलिये जीवोंसे खाली होजायगा। **भावार्थ**—यह दोष दूसरोंके मतोंमें ही संभव है। हे भगवन्! आपने जीवोके छह मूल भेद बताकर एक एक भेद की अपेक्षा जीवोंकी संख्या अक्षयानंत बताई है इसलिये यही उपदेश ऐसा है जिसमें किसी प्रकारसे भी दोष नहीं है।

व्याख्या—मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते। तत्क्रमेण दर्शयति। मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवमिति। मुक्तो निर्वृतिप्राप्तः। सोऽपि वा (अपिर्विस्मये। वा शब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः। यथा देवो वा दानवो वेति।) भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु। इत्येको दोषप्रसङ्गः। भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु। भवः संसारः। स वा भवस्थशून्यः। संसारिभिर्जीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु। इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः।

व्याख्यार्थ—आत्माओंको परिमित माननेवालोने जो जीवोंकों संख्यात ही माना है उसमें दो दोष आसकते हैं। उन दोनों दोषोंको क्रमसे दिखाते हैं। पहिला दोष तो यह है कि मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव भी फिरसे संसारमें आफसेगा। यहांपर 'मुक्तोपि'

शब्दके साथ जो 'अपि' शब्द है उसका अर्थ विस्मय होना है। तथा जो 'वाऽप्येतु' में 'वा' शब्द पड़ा है उसका अर्थ आगेके दोषका समुच्चय करना है। जिस प्रकार 'देव है या दानव,' ऐसा अर्थ होनेपर संस्कृत भाषामें 'देवो वा दानवो वा' ऐसा बोला जाता है। यहांपर भी ऐसा अभिप्राय है कि मुक्त हुआ भी जीव, आश्चर्य है कि फिर संसारमें आफंसे। यह तो पहिला दोष हुआ। दूसरा दोष यह है कि मोक्ष जाते जाते यह संसार संसारी जीवोंसे कभी खाली होजायगा। भवशब्दका ही अर्थ संसार है। सो भवस्य जीवोंसे यह भव शून्य होजायगा। अर्थात् संसारी जीवोंसे यह संसार खाली होजायगा। यह दूसरा दोष है।

इदमत्राकूतं 'यदि परिमिता एवात्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाऽभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः। कालस्याऽनादिनिधनत्वादात्मना च परिमितत्वात् संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम्? समुपलभ्यते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि पवनतपनातपनजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता। न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचित्प्रसिद्धः संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। तत्स्वरूपं ह्येतदत्र कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समासार्षुः संसरिष्यन्ति चेति। सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम्।

यहांपर ऐसा तर्क होता है कि यदि संसारमें जीव परिमित ही मानेगये हैं तो जब मोक्षका कारणरूप तत्त्वज्ञान बढने लगेगा तब जीव क्रम क्रमसे मोक्षको जानेलगेंगे सो संभावना होती है कि किसी दिन संपूर्ण संसारी जीवोंकी मुक्ति होजायगी। क्योंकि, काल तो अनादि अनंत है तथा संसारी जीव परिमित हैं इसलिये कभी न कभी अवश्य संपूर्ण जीव मोक्षमें पहुंच रहेंगे। ऐसा होनेसे फिर संसारको संसारी जीवोंसे खाली होते हुए कौन रोकसकता है? ऐसा देखाजाता है कि नीचेसे किसी निश्चित ऊंचाई तक जो सरोवर जलसे भरा होता है वह कुछ समयमें वायुसे तथा सूर्यकी गरमीसे तथा मनुष्योंके उलीचने आदि कारणोंसे जलरहित होजाता है। संसारी जीवोंसे संसारका खाली होजाना यह दोषरूप इसलिये माना है कि ऐसा होना किसी भी प्रमाणवेत्ताको पसंद नहीं है। क्योंकि, यदि ऐसा ही हो तो संसारके स्वरूपकी ही हानि होजायगी। जिसमें पड़े हुए कर्मके परवश जीव संसरण अर्थात् परिभ्रमण करते आये हैं तथा कर रहे हैं और इसी प्रकार सदा करते रहेंगे वह संसार है। यही संसारका

सरूप है। परिमित होनेसे किसी समय जब सभी जीव इस संसारसे निकलकर मुक्त होनेवाले हैं तब तो अगत्या यह संसार उनसे रिक्त कहना पड़ेगा। क्योंकि; उत्तर देनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम्। न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः" इति वचनात्।

जो संसारका खाली होना भी नहीं मानते तथा जीवोंको परिमित ही मानते है उनको मुक्त हुए जीवोंका संसारमें फिरसे लौटना मानना चाहिये। परंतु यथार्थमें विचार किया जाय तो जो कर्मोंका नाश करके मुक्त होगये हैं वे फिर संसारमें नहीं आसकते हैं। क्योंकि; उनके यहां आनेका कारण कोई बाकी नहीं रहा है। संसारमें भ्रमानेके कारण कर्म हैं सो वहां उन कर्मोंका सर्वथा नाश होचुका है। कहा भी है कि "जिस प्रकार कोई बीज जो उपजानेका कारण है यदि सर्वथा जलजाय तो फिर उससे अंकुर नहीं ऊगसकता है उसी प्रकार यदि कर्मरूपी बीज जो कि संसारकी उत्पत्तिका कारण है, सर्वथा दग्ध होजाय तो फिर उससे जीवमें संसाररूपी अंकुर नहीं निकल सकता है"।

आह च पतञ्जलिः "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। एतट्टीका च "सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहणसमर्था भवन्ति नाऽपनीततुषा दग्धबीजभावा वा। तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति; नाऽपनीतक्लेशो न दग्धबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति।

वैदिक योगमतके प्रवर्तक पतंजलिने भी कहा है कि "मूल कारण रहनेपर ही जाति, आयु तथा भोग होते है। ये जाति, आयु, भोग उसी मूल कारणके विपाकरूप हैं"। इसकी टीका इस प्रकार है कि "जबतक क्लेश रहते हैं तभीतक कर्मोंकी शक्ति अपना विपाकफल देसकती है। जब क्लेशरूप मूल कारणका उच्छेद होजाता है तब कर्मोंका विपाकफल नहीं होसकता। जिस प्रकार शाली चावलोंपरसे जबतक ऊपरका तुप नहीं उतार दिया जाता है तभीतक उनमें बीजपना बनारहता है और बोनेपर वे उपज सकते हैं परंतु जब उनके ऊपरसे तुप उतार दिया जाय तो बीजपनेका नाश होजानेसे वे उपज नहीं सकते हैं। उसी प्रकार

जबतक कर्मशक्ति क्लेशोंसे बंधी है तभीतक संसाररूपी अंकुर उत्पन्न करसकती है, जब क्लेश छूट जानेसे कर्ममेंसे बीजपना नष्ट होजाता है तब उससे विपाक फल नहीं होसकता। उस विपाकके भेद तीन हैं, जाती, आयु तथा भोग।

अक्षपादोऽप्याह "न प्रवृत्तिः प्रतिसंधानाय हीनक्लेशस्य" इति। एवं विभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणो दूषयित्वोत्तरार्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति षड्जीवेत्यादि। त्वं तु हे नाथ अनन्तसंख्यमनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम्-।

न्यायदर्शनके मुख्य प्रवर्तक अक्षपादने (कणादने) भी ऐसा ही कहा है कि जिसके क्लेश क्षीण होगये हैं उसकी प्रवृत्ति भी बंधका कारण नहीं है"। इस प्रकार पहिले आधे श्लोक द्वारा विभंग (खोटे) ज्ञानवाले शिवराज ऋषिके मतानुसारियोंको सदोष ठहराकर श्लोकके उत्तर आधे भागद्वारा निर्दोष सिद्ध होनेके कारण भगवत्कथित जीवोंकी अनंतताके उपदेशकी स्तुति करते हैं। "षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ! यथा न दोषः" यह श्लोकका उत्तर भाग है। इसका अर्थ-हे नाथ! आपने ही संपूर्ण छह प्रकारके जीवोंकी अनंतनामक एक प्रकारकी अपरिमित संख्या बताई है और वह ऐसी है कि जिसमें किसी प्रकारका दोष आही नहीं सकता है।

अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवाः, इन्द्रियादिज्ञानादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्ताः। तेषां [“संघे चानूर्ध्वे” इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे] कायः समूहो जीवकायः पृथिव्यादिः। षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम्। पात्रादिदर्शनान्नपुंसकत्वम्। अथवा षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं संघातः षड्जीवकायः। तं षड्जीवकायम्। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकायं तथा तेन प्रकारेण आख्यः, मर्यादया प्ररूपितवान्, यथा येन प्रकारेण न दोषो, न दूषणमिति। जात्यपेक्षमेकवचनम्। प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुष्यन्ति तथा त्वं जीवानन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः। 'आख्य' इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरद्यि सिद्धिः। त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति यद्भगवदुपदेशस्यैवेदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं, न तीर्थान्तरशास्तृणामिति।

जो भूत कालमें भी जीते रहे अर्थात् प्राण विशिष्ट बने रहे, वर्तमानमें भी प्राणविशिष्ट हैं तथा आगे भी प्राण सहित रहेंगे उनको जीव कहते हैं। अर्थात् जो इंद्रियादि दश द्रव्यप्राणोंद्वारा तथा चेतनाआदि भावप्राणोंके द्वारा जीते हों वे जीव हैं।

" संघे चाऽनूर्ध्वे " इस व्याकरणसूत्रके अनुसार ' चि ' धातुके आगे 'घञ्' प्रत्यय होनेसे तथा 'च' को 'क' करदेनेसे काय शब्द बनजाता है। कायका अर्थ समूह होता है। ऊपर कहे हुए जीवोके समूहोंको जीवकाय कहते है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर तथा त्रस ऐसे छह कायोंके जीवोंके समूहको षड्जीवकाय कहते हैं। व्याकरणमें जहांपर समूह अर्थ लेकर अनेक शब्दोंका समास (संग्रह) दिखाया है वहापर ऐसा कहा है कि पात्रशब्दादि बहुतसे ऐसे शब्द है जो समासमें नपुंसकलिङ्ग ही होजाते है। उन्ही पात्रादि शब्दोमें षड्जीवकाय शब्दको मानकर यहांपर नपुंसालिंगी 'षड्जीवकायं' ऐसा कहा है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके इस प्रकारसे समास करनेपर शब्द पुलिङ्ग ही बना रहेगा कि छह जातके जीवोका जो प्रत्येक संघात है उसको षड्जीवकाय कहते है। पुलिङ्गी रहनेसे यद्यपि 'षड्जीवकायः' ऐसा होना चाहिये परंतु इस श्लोकमें यह शब्द कर्मकारकरूप रक्खागया है इसलिये पुलिङ्ग होनेपर भी कर्मकारकमें 'षड्जीवकायं' ऐसा कहागया है। जब शब्द जातिवाचक माने जाते है तब वे एक वचनांत ही रक्खे जाते हैं। यहांपर भी जातिकी अपेक्षा ही 'षड्जीवकायं' ऐसा एकवचनान्त कहा है। **सारांश**–जीवोंको परिमित माननेमें संभव जो दोष है वे तथा और भी अनेक दोष जिस प्रकार वर्णन करनेसे नही आसकते उस प्रकारसे आपने जीवोका वर्णन किया है। आङ्पूर्वक ख्या धातुके आगे अङ् प्रत्यय लगानेसे भूतकालके अर्थमें 'आख्यः' ऐसा क्रियापद बनता है। 'त्वम्' शब्दको एक वचनान्त रखनेसे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि ऐसे निर्दोष उपदेश करनेका सामर्थ्य एकमात्र त्रिजगद्गुरुका (आपका) ही है; न कि अन्य भी धर्मों या मतोंके उपदेश करनेवालोंका।

पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्। यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी; छेदे समानधातूत्थानाद्दर्भाऽङ्कुरवत्[1]। भौममम्भोऽपि सात्मकं क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात् शालूरवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मकम्; अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात् मत्स्यादिवत्।

छह कायके जीव बताते हुए अर्हतने जो पृथिवीजीवादिक जीव कहे है उनकी सिद्धि इस प्रकारसे करनी चाहिये कि जैसे मूंगा पाषाणादि जो पृथिवी है वह सजीव है। क्योंकि; जैसे काटनेपर डाभमें अंकुर उपज आता है उसी प्रकार इसको भी काटनेपर इसमें पहिलेके समान मूंगा या पाषाणादि फिरसे ऊग आते हैं। इसी प्रकार भूमिका जल भी सजीव है। क्योंकि; भूमिके जलका

1 दर्भोऽङ्कुरवत्, इति द्वितीयपुस्तकपाठः।

में उफकी तरह ऐसा स्वभाव है जैसा कि खोदी हुई भूमिका। अर्थात् मेंढकका भी खोदी हुई भूमिके समान स्वभाव होता है और यह सजीव है उसी प्रकार जब भूमिके जलका भी ऐसा ही स्वभाव है तो वह भी सजीव ही होना चाहिये। एवं जो आकाशमें होनेवाला जल है वह भी सजीव है। क्योंकि; मेघरूप विकार उत्पन्न होनेपर जिस प्रकार अपने आप ही उपजकर मछली ऊपरसे गिरती हैं उसी प्रकार मेघविकार होनेपर जल भी स्वयं बनकर नीचे गिर पड़ता है। अर्थात् मछलीका ऐसा स्वभाव है और वह सजीव है उसी प्रकार जब जलका भी ऐसा ही स्वभाव है तो इसलिये जल भी सजीव ही होना चाहिये।

तेजोऽपि सात्मकमाहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात् पुरुषाङ्गवत्। वायुरपि सात्मकः अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद्गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मकः छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात् पुरुषाङ्गवत्। केषांचित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च। अपकर्षवतश्चैतन्याद्वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिराप्तवचनाच्च। त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषांचिदसात्मकत्वे विगानमिति।

अग्नि भी सजीव है। क्योंकि, जिस प्रकार आहार मिलनेसे शरीरके अंग बढते हैं, चचल होते हैं, इत्यादि और भी धर्म स्फुरायमाण होते हैं तथा जब आहार नहीं मिलता तब हतशक्ति होजाते हैं उसीप्रकार अग्नि भी जब लकड़ी आदि आहार मिलता है तब बढता है, चंचल होता है, शक्तिशाली दीखता है और जब आहारादि नहीं मिलता तब क्षीणशक्ति निस्तेज होजाता है। अर्थात्—ऐसे स्वभाववाले जब शरीरके अंग सजीव होते हैं तो ऐसे ही स्वभाववाला अग्नि भी सजीव क्यों न मानना चाहिये? एवं वायु भी सजीव है। क्योंकि; जैसे किसी दूसरेके हांकनेपर गौ इधर उधर चलने लगती है उसी प्रकार वायु भी दूसरेकी प्रेरणासे इधर उधर चलने लगता है। अर्थात्—ऐसे धर्मवाला जैसे गौ सजीव है उसी प्रकार ऐसे स्वभाववाला होनेसे वायु भी सजीव ही होना चाहिये। वनस्पति भी सजीव ही है। क्योंकि, सजीव पुरुषके अंग जिस प्रकार काटनेसे मलिनता आदि धारण करलेते हैं उसी प्रकार वनस्पति भी काटने छेदनेपर मलिनतादि धारलेता है इसलिये सजीव पुरुषके अंगोंके स्वभावसमान स्वभाववाला होनेसे यह भी सजीव ही होना चाहिये। तथा कुछ वनस्पतियोंमें प्राणियोंके समान निद्रासे किंवा स्त्रीके आलिङ्गनादिसे विकार चेष्टामें होती दीखती है। और जिन जिन जीवों भी चेतना शक्ति घटती हुई है उन उन जीवोंमें चेतनाकी हीनाधिकता दीखनेसे तो पृथिव्यादि सभीमें सजीवपना सिद्ध होसकता है। एवं आप्त भगवान्के उपदेशसे भी सबोंमें सजीवपना मानना चाहिये।

क्योंकि; आप्त उसीका नाम है जो असत्यवादी न हो। दो इन्द्रियवालोको आदि लेकर कृमि, चीटी, भ्रमर, मनुष्यादिक जो त्रस जीव हैं उनमें तो जीव मानना किसीको अनिष्ट ही नही है। इस प्रकार जिनको जिनेन्द्रदेवने जीव कहा है उन सबोमें जीवपना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

यथा च भगवदुपक्रमे जीवाऽनन्त्ये न दोषस्तथा दिग्मात्रं भाव्यते। भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतदल्पबहुत्वम्। सर्व स्तोकास्त्रसकायिकाः। तेभ्योऽसंख्यातगुणास्तेजःकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका पृथ्वीकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका वायुकायिकाः। तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकास्ते च व्यावहारिका अव्यावहारिकाश्च।

अब जिनेन्द्रने जो जीवोका उपदेश अनंतरूपसे किया है उसमें किसी प्रकारका दोष जैसे नहीं आवे उसी प्रकारसे कुछ दिखाते हैं। भगवतने छहो कायोंके जीवोमें परस्पर इस प्रकार संख्याकी हीनाधिकता कही है कि—सब कायोसे थोड़े त्रस कायके जीव है। त्रसोसे असंख्यात गुणे अधिक अग्निकायिक जीव हैं। उनसे अधिक पृथिवीकायिक हैं। पृथिवीकायिकोसे कुछ अधिक जलकायिक हैं। जलकायिकोसे कुछ अधिक वायुकायिक हैं। उनसे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक हैं। वे वनस्पति कुछ तो व्यवहारराशिमें रहनेवाले है और कुछ व्यवहारराशिसे भिन्न निगोदनामक राशिमें बसरहे हैं।

"[1]गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोय गोलओ भणिओ। इक्किक्कणिगोयम्हि अणन्तजीवा मुणेयवा। १। सिज्झंति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीदो। एंति अणाइवणस्सइरासीदो तत्तिआ तम्हि। २।" इति वचनात् यावन्तश्च यतो गच्छन्ति मुक्तिं जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति।

"गोल असंख्याते हैं और एक एक गोलमें असंख्याते निगोद है। तथा एक एक निगोदमें अनंते अनंते जीव मानने चाहिये। १। व्यवहार राशिमेंसे जितने जीव मुक्त होजाते हैं उतने ही जीव अनादि निगोद नामक वनस्पतिराशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आजाते हैं। २।" इस वचनके अनुसार जितने जीव व्यवहारराशिसे मोक्षको जाते है उतनोका

१ गोलाश्च असंख्याताः असंख्यनिगोदः गोलः भणितः। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्याः। १। सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशितः। आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितः तावन्तः तस्मिन्। २। इतिच्छाया।

ही निगोदराशिसे व्यवहार राशिमें आमाना सिद्ध है। भावार्थ—वनस्पति कायके दो भेद हैं, पहिला साधारण दूसरा प्रत्येक। जिस वनस्पतिमें एक शरीरके अनंतो जीव स्वामी हो तथा उन अनंतो जीवोंका एक ही आहार हो, एक ही श्वासोच्छ्वास हो उनको साधारण कहा है। साधारणोंके अतिरिक्त सभी वनस्पति प्रत्येक कहेजाते हैं। साधारणका दूसरा नाम निगोद है। ये निगोद दो प्रकारके हैं, पहिले नित्य दूसरे इतर। जो जीव अनादिकालसे निगोदमें ही रहरहे हैं उनको नित्यनिगोद कहते हैं। नित्यनिगोद राशिसे निकलकर अन्य पर्यायोंको धारकर फिर भी कभी निगोदराशिमें जो पहुच जाता है उसको इतर निगोद कहते हैं। नित्यनिगोदके अतिरिक्त जितने जीव हैं उनको व्यवहार राशिवाले कहते हैं और जो नित्यनिगोदके जीव हैं उनको व्यवहारराशिसे भिन्न कहते हैं। निगोद जीवोंके एक एक समूहको भी निगोद ही कहते हैं। ऐसे असंख्यों निगोद एक एक पिंडमें रहते हैं। उन पिंडोंको गोल कहा है।

न च तावता तस्य काचित्परिहाणिर्निगोदजीवाऽनन्त्यस्याऽक्षयत्वात्। निगोदस्वरूपं च समयसागरादवगन्तव्यम्। अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृता निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्तन्ते नाऽवर्तिषत न वर्त्स्यन्ति। ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः? कथं च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति? अभिप्रेतं चैतदन्ययूथ्यानामपि। यथा चोक्तं वार्त्तिककारेण "अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम्। ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वादशून्यता। १। अन्त्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नून तेषामसम्भवः। २।" इति काव्यार्थः।

इस प्रकार निगोदराशिसे सदा निकलते रहनेपर भी निगोद जीव समाप्त नहीं होसकते हैं। क्योंकि, उनको अक्षय अनंत कहा है। शास्त्रोंमें सागर नामक एक संख्या मानी गयी है उससे निगोद जीवोंका प्रमाण मालुम करलेना चाहिये। जितने कुछ जीव अनादिकालसे निकलते आरहे हैं और अनंतकाल तक आगे भी निकलते रहेंगे वे सब मिलाकर विचारनेसे निगोदराशिके अनंतवें भागप्रमाण भी नहीं हुए हैं तथा न होंगे। इसलिये मुक्त हुए जीवोंको फिर संसारमें लौटनेका क्या कारण है? अन्य धर्मवालोंने भी इस बातको स्वीकार किया है। वार्तिककारने कहा है— "इसीलिये संसारसे ज्ञानी जीवोंकी निरंतर मुक्ति होते रहने पर भी संसारी जीवराशि अनंतरूप होनेसे कभी उसका अंत नहीं आसका है। १। जिस वस्तुका

संख्यातरूप परिमाण होता है उसीका किसी समय अंत आसकता है, वही घट जाती है तथा कभी समाप्त भी होजाती है परंतु जो वस्तु अपरिमेय होती है उसका न तो कभी अंत ही आता है, न वह घटती ही है और न कभी समाप्त ही होती है । २ ।"
इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्याऽन्योन्यानुगत-सर्वनयमयतया मात्सर्याऽभावमाविर्भावयति ।

अब यह दिखाते हैं कि जितने अन्य दर्शन हैं वे सब एक दूसरेसे विरुद्ध अर्थको कहनेवाले होनेसे एक दूसरेसे द्वेष रखते हैं और अर्हन् सर्वज्ञ देवका कहा हुआ दर्शन सापेक्ष होकर विचारनेपर परस्पर सब दर्शनोंसे मिलता हुआ है इसलिये इसमें मत्सरभावका नाम भी नहीं है ।

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ॥
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

मूलार्थ—जिस प्रकार अन्य दर्शनोंमें यह हमारा पक्ष है तथा यह विरुद्ध पक्ष है ऐसा दुराग्रह होनेसे अन्य दर्शन मत्सरभाव रखते हैं उस प्रकार आपके दर्शनमें मत्सरभाव नहीं है । क्योंकि; संपूर्ण नयोंको या परस्पर विरुद्ध विचारोंको आप अपेक्षावश एकसमान देखते हैं ।

व्याख्या—प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः । यथा येन प्रकारेण परे भवच्छासना-दन्ये प्रवादा दर्शनानि मत्सरिणः, अतिशायने मत्वर्थीयविधानात्सातिशयाऽसहनताशालिनः क्रोधकषायकलु-षितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिन इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते ।

व्याख्यार्थ—अपने इष्ट अर्थका जिनमें प्र अर्थात् अत्यंत, वाद अर्थात् प्रतिपादन किया जाता हो उनको प्रवाद कहते हैं । मत या दर्शनको प्रवाद कहते हैं । जिस प्रकार आपके मतके सिवाय अन्य मत परस्परमें ईर्ष्या द्वेष रखते हैं उस[1] प्रकार आपके मतमें किसीके साथ भी द्वेषभाव नहीं है । मत्सरी शब्द जो मूल श्लोकमें है उसमें मतु प्रत्ययके अर्थवाला इन् प्रत्यय अतिशय

१ 'उस प्रकार' इत्यादि वचन, संबंध मिलानेकेलिये लिया है।

पना दिखानेके लिये हुआ है इसलिये मत्सरी शब्दका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि ये दर्शन परस्परमें अत्यत असहनशील है। अर्थात्—क्रोधकषायके द्वारा अंतःकरणमें कलुषित होनेसे ये अपने अपने ही दर्शनोंके पक्षपाती हैं और अपनेसे भिन्न पक्षोंका तिरस्कार करते हुए अपने माने हुए पक्षके मडन करनेमें सदा उद्यत रहते हैं।

कस्मादेतेऽमत्सरिण इत्याह–अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्। पक्ष्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः–कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। तस्य प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः। पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः। तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः। अन्योऽन्य परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात्। तथा हि। य एव मीमांसकानां नित्यः शब्द इति पक्षः स एव सौगतानां प्रतिपक्षस्तन्मते शब्दस्याऽनित्यत्वात्। य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम्।

किस कारण ये पक्षपाती होरहे हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं।— अपने तथा परके माने हुए दर्शनोंमें परस्पर पक्ष प्रतिपक्षका दुराग्रह रखनेसे ये पक्षपाती होरहे हैं। अमुक है सो साध्यरूप धर्मकर सहित है इस प्रकार जो हेतुआदिकोंके द्वारा प्रगट किया जाता है वह पक्ष कहाता है। अर्थात्—स्वीकार किया हुआ विचार जहांपर हेतुआदिकोंके द्वारा साधाजाय, या पुष्ट किया जाय वह पक्ष कहाता है। जिसमें उस साध्यविचारके विरुद्ध विचाररूप धर्म मिलते हों किंतु वह साध्य न मिलता हो उसको प्रतिपक्ष या विरुद्ध पक्ष कहते हैं। पक्षका जो प्रतिपक्ष हो अर्थात् विरोधी पक्ष हो वह पक्षप्रतिपक्ष कहाता है। इसीकी प्रधानताको पक्षप्रतिपक्षभाव कहते हैं। एक दूसरेमें जो पक्षप्रतिपक्षपना रखना है वही अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव कहाजाता है। इसीके होनेसे ये एक दूसरेके द्वेषी हैं। कैसे ? मीमांसकोंका जो नित्य शब्द माननेका पक्ष है वही बौद्धोंकेलिये प्रतिपक्ष है। क्योंकि; बौद्धमतमें शब्दको सर्वथा अनित्य माना है। बौद्धोंका जो शब्दको अनित्य मानना पक्ष है वह मीमांसकोंकेलिये प्रतिपक्ष हुआ। इसी प्रकार अन्यवादोंमें भी विरोध आता है सो विचार करलेना चाहिये।

तथा तेन प्रकारेण, ते तव [सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेनेति "पुंसाम्नि घः"] समयः संकेतः। यद्वा सम्यगवैपरीत्येनाप्यन्ते ज्ञायन्ते जीवाऽजीवादयोऽर्था अनेनेति समयः सिद्धान्तः। अथ वा सम्यगयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समय आगमः।

इस प्रकारसे जैसा इन अन्य दर्शनोंमें परस्पर पक्षप्रतिपक्षके दुराग्रहसे द्वेष होरहा है तैसा तुह्मारे समयमें अर्थात् दर्शनमें नहीं है। जिसके जाननेसे शब्दका अर्थ ठीक ठीक जानाजाय उसको समय कहते हैं। यहांपर 'सम्' पूर्वक 'इ' धातुका उपर्युक्त अर्थकी विवक्षामें 'पुन्नाम्नि घः' इस व्याकरणके सूत्रकर समय शब्द बना है। ऐसा विग्रह करनेपर समयका अर्थ संकेत होता है। अथवा सम्यक् अर्थात् जैसेके तैसे जीव अजीवादि पदार्थ जिसके द्वारा जाने जासकते हैं उसको समय कहते हैं। ऐसी विवक्षा होनेपर समय शब्दका अर्थ सिद्धांत होता है। अथवा जीवादि पदार्थ जिसमें यथावत् कहे हों अर्थात् अपने अपने स्वरूपमें स्थिति पाते हुए जिसमें वर्णन किये हों उसको समय कहते हैं। ऐसा अर्थ लेनेपर समय शब्दका अर्थ आगम है।

न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषूक्तम्। त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाऽभावान्न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्। व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयतीति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्त्तते इति भावः। 'तव समयः' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी।

यह आपका समय पक्षपाती नहीं है अर्थात् किसी एक पक्षमें अनुराग नहीं करता है। पक्षपाती होनेका कारण मत्सर भावका होना है। वह मत्सरभाव अन्य वादियोंमें ही है। आपके समयमें मत्सरभाव न होनेसे पक्षपात भी नही है। मत्सरभाव होनेसे ही पक्षपात होता है। इसीको न्याय शैलीसे ऐसा कहसकते हैं कि मत्सरभाव व्यापक है और पक्षपात व्याप्य है। जहांपर व्यापक अर्थात् बहुदेशव्यापी धर्म नहीं रहता है, वहांपरसे उसी व्यापकके अन्तर्गत रहनेवाला व्याप्य धर्म भी अवश्य निवृत्त होजाता है। इसलिये मत्सरभाव छूट जानेपर पक्षपात तो अवश्य ही निवृत्त होजाना चाहिये। संस्कृतमें जितने शब्द बोलेजाते हैं वे किसी न किसी विभक्तीको लगाकर ही बोले जाते हैं ऐसा नियम है। 'तव समयः' अर्थात् तुह्मारा समय यहांपर जो 'तव' शब्द बोलागया है वह भी षष्ठी विभक्ती जोड़नेसे ही बनता है। षष्ठी विभक्ती किसी न किसीका संबंध होनेपर होती है। यहांपर 'तव' शब्दमें भी वाच्यवाचकरूप संबंध होनेसे षष्ठी विभक्ती हुई है। अर्थात् समय तो आपकर कहागया है इसलिये वाच्यरूप है तथा आप उसके वक्ता होनेसे वाचक हैं। इस प्रकार 'तव' और 'समय' इन दोनों शब्दोंमें वाच्यवाचकभाव संबंध होनेसे तव शब्द षष्ठीविभक्त्यन्त है।

सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्यार्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद्वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते "अत्थं भासइ

अरहा सुत्तं गथंति गणहरा णिउणं" इति वचनात्। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाऽभिधानात्। तथा चार्षम् "उप्पण्णे इवा विगमे इवा धुवे इवा" इत्यदोषः।

हे भगवन्! सूत्रोंकी रचना करनेका कर्ता यदि देखाजाय तो गणधरदेव ही कर्ता हैं जो आपके पास रहते हैं और आपकर उपदेशे हुए अर्थको समझसकते हैं; परंतु उन सूत्रोंमें जिस अर्थका वर्णन है वह अर्थ आपने ही अपनी दिव्य ध्वनिद्वारा प्रकाशित किया था इसलिये यथार्थमें उसका मूलकर्ता समझाजाय तो आप ही हैं। इस प्रकार आपके साथ समयका वाच्यवाचकभाव संबंध मानना अनुचित नहीं है। ऐसा कहा भी है कि "अर्थका प्रतिबोध तो अर्हत् केवली ही कराते हैं किंतु सूत्रोंकी रचना अपनी निपुण मतिसे गणधरदेव करते हैं"। अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यके प्रपंचको ही समय कहसकते हैं। और उत्पाद व्यय ध्रौव्यका स्वरूप भगवानने स्वयं अपने मुखसे अक्षररूप कहा ही है। आर्ष वाक्य भी ऐसा मिलता है कि "उत्पन्न भी होता है विनष्ट भी होता है तथा स्थिर भी रहता है"। इसलिये समयका भगवान् केवलीके साथ वाच्यवाचकरूप संबंध कहनेमें कुछ दोष नहीं है।

मत्सरित्वाऽभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति 'नयानशेषानविशेषमिच्छन्' इति। अशेषान् समस्तान् नयान् नैगमादीन् अविशेषं निर्विशेषं यथा भवत्येवमिच्छन्नाकाङ्क्षन् सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्राऽनुस्यूतानां हारव्यपदेश एव पृथगभिसन्धीना नयाना स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता? उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद्विरमन्ति एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सार्वज्ञं शासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तसुहृद्भूततयाऽवतिष्ठन्ते।

'नयानशेषानविशेषमिच्छन्' इस वचनसे भगवत्की प्रशंसा करते हुए इसी वचनसे ऐसा दिखाते हैं कि आपमें मत्सरता नहीं है। संपूर्ण नैगमादि नयोंको केवल सामान्य दृष्टिसे आप चाहते हैं। क्योंकि; आपके वचन अनेकांतरूप हैं और अनेकांत सपूर्ण नयोंके समूहको कहते हैं। जिस प्रकार विखरे हुए मोतियोंको एक सूतमें पिरोदेनेसे हार बनजाता है उसी प्रकार भिन्न भिन्न पड़े हुए नयरूप मोतियोंको स्याद्वादरूपी एक सूतमें पिरोदेनेसे उसकी 'श्रुतप्रमाण' संज्ञा होजाती है। शंका—यदि प्रत्येक नय

भिन्न भिन्न रहनेपर विरोधी है तो सबोंको मिलादेनेपर भी विरोध कैसे मिट सकता है? उत्तर—जिस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वादियोंको यदि कोई मध्यस्थ युक्तिपूर्वक निर्णय करनेवाला मिलजाता है तो वे विवाद छोड़कर शांत होजाते हैं उसी प्रकार नय भी परस्परमें शत्रुता धारण करते हैं परंतु जब सर्वज्ञ देवका शासन पाकर स्यात्शब्दके मिल जानेसे परस्परका विरोधभाव छोड़कर शान्त होजाते हैं तब वे ही नय परस्परमें अत्यंत मैत्रीभाव धारणकरके ठहरजाते है।

एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव नयरूपत्वाद्दर्शनानाम्। न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यत इति; समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तास्वनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः। न च तासु भवान्प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"।

इस प्रकार हे भगवन्! आपका दर्शन सर्व नयस्वरूप होनेसे संपूर्ण दर्शनोसे अविरुद्ध है। क्योंकि; एक एक नयस्वरूप ही संपूर्ण दर्शन हैं। ऐसा होनेसे ऐसी शंका होना सहज है कि यदि भगवत्का दर्शन संपूर्ण दर्शनस्वरूप है तो वह संपूर्ण भिन्न भिन्न दर्शनोमें क्यों नही दीखता? परंतु यह शंका ठीक नही। क्योंकि; संपूर्ण नदियोका समूह ही समुद्र है परंतु भिन्न भिन्न वहती हुई नदियोंमें वह नहीं दीखता है। बोलनेवालेमें तथा उसके वचनोंमें परस्पर अभेदभाव मानकर श्रीसिद्धसेन दिवाकर भी ऐसा ही कहते हैं कि "यद्यपि जिस प्रकार संपूर्ण नदियां समुद्रमें मिलती हैं उसी प्रकार संपूर्ण दर्शन आपके दर्शनमें तो मिलते हैं परंतु तो भी जिस प्रकार भिन्न भिन्न रहनेवाली नदियोंमें समुद्र नहीं दीखता उसी प्रकार आप का दर्शन भी उन भिन्न भिन्न दर्शनोंमें नहीं दीखता।

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते 'यथा अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान्मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथंभूतः? पक्षपाती। पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्।' अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदं, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च क्लिष्टाऽक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः। इति काव्यार्थः।

कोई इस प्रकार भी इस श्लोकका अर्थ करते हैं कि 'जिस प्रकार अन्य वादियोंके मतोंमें पक्ष प्रतिपक्षका दुराग्रह होनेसे परस्पर मत्सरभाव रहता है उस प्रकार आपका मत सर्वमतस्वरूप होनेसे मध्यस्थ होजानेके कारण मत्सरभाववाला नहीं है। क्योंकि; आपका

मत पक्षपाती कहा जाता है। अर्थात् जो एक पक्षके दुराग्रहको नष्ट कर देता हो अर्थात् हठको तिरस्कार दृष्टिसे देखता हो वह पक्षपाती कहा जाता है।' इन दोनों व्याख्यानोंमें अंतर यह है कि इस व्याख्यामें 'मत्सरी—अर्थात् मत्सरभाववाला' इस पदको विधेय किया है और प्रथम व्याख्यामें 'पक्षपाती' शब्द विधेयरूप था। इन दोनो व्याख्यानोंमें कोनसा सरल है तथा कोनसा कठिन है ऐसा विचार बुद्धिमानोंको स्वयं करलेना चाहिये। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इत्थंकारं कतिपयपदार्थविवेचनद्वारेण स्वामिनो यथार्थवादाख्यं गुणमभिष्टुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्याऽसामर्थ्यं दृष्टान्तपूर्वकमुपदर्शयन्नौद्धत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तरतिरोहितं स्वाभिधानं च प्रकाशयन्निगमनमाह।

इस प्रकार अर्हन् भगवान्‌कर कहे हुए पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंकी यथार्थताका विवेचन करते हुए आचार्य, भगवान्‌का यथार्थ वक्तापना जो गुण है उसकी स्तुति करते हैं और भगवानके संपूर्णवचनोंका अतिशय कहनेमें अपनी असमर्थता दृष्टांतपूर्वक दिखाते हुए अपनेमें उद्धतताका अभाव दिखानेके लिये अपने अभिप्रायको व्यंगरूपसे छिपाकर प्रकाशित करते हुए उपसंहार करते हैं।

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्य।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्॥ ३१॥

मूलार्थ—हे पूज्यशिरोमणे! तुह्मारे वचनोंका संपूर्ण वैभव यदि हम विवेचन करना चाहैं तो समझना चाहिये कि दौड़कर समुद्र तरना चाहते हैं अथवा चन्द्रमाकी चांदनी पीनेकी तृष्णा करते हैं। भावार्थ—यह कार्य उसी प्रकार असंभव है कि जिस प्रकार जंघाओंसे समुद्रका तरना या चुरससे चन्द्रकान्तिका पीना।

व्याख्या—विभव एव वैभवम्। प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्। विभोर्भावः कर्म चेति वा वैभवम्। वाचां वैभवं वाग्वैभवं वचनसंपत्प्रकर्षम्। विभोर्भाव इति पक्षे तु सर्वनयव्यापकत्वं, विभुशब्दस्य व्यापकपर्यायरूपतया रूढत्वात्। ते तव संबन्धिनं निखिलं कृत्स्नं विवेक्तुं विचारयितुं चेद्यदि वयमाशास्महे इच्छामः—।

व्याख्यार्थ—'प्रज्ञादि' सूत्रद्वारा स्वार्थवाची अण् प्रत्यय होनेपर विभव शब्दका ही वैभव होजाता है। अथवा विभुका अर्थात्

व्यापीका जो विभुपना या व्यापीका जो कर्तव्य हो सो भी वैभव कहाता है। क्योंकि; विभु शब्दका प्रचलित अर्थ व्यापी होता है। वचनोंका जो वैभव है उसको वाग्वैभव कहते हैं। वाग्वैभव शब्दका अर्थ वचनरूप संपत्तिकी अधिकता होता है। जब वैभव शब्दका अर्थ विभुका विभुपना करते हैं और विभु शब्दका अर्थ व्यापक मानते हैं तब वाग्वैभव शब्दका अर्थ 'संपूर्ण नयवचनोंमें व्यापकपना' ऐसा होता है। इसका वाक्यार्थ यों है कि आपका संपूर्ण वचनवैभव विचारनेकेलिये यदि हम आशा करै। [1]तो समझना चाहिये कि समुद्रको तरना चाहते हैं इत्यादि।

हे महनीयमुख्य!। महनीयाः पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनः। तेषु मुख्यः प्रधानभूतः आद्यत्वात्। तस्य संबोधनम्। ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वादर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि तेषां मुख्यत्वम्? न च हीनगुणत्वमसिद्धं; प्रव्रज्याऽवसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात् "काऊण णमुकारं सिद्धाणमभिग्गहंतु सो गिण्हे" इति श्रुतकेवलिवचनात्। मैवम्; अर्हदुपदेशेनैव सिद्धानामपि परिज्ञानात्। तथा चार्षम् "अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्झंति तेण अरिहाई" इति। ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम्।

महनीय पूज्यको कहते हैं। सो पांचो ही [2]परमेष्ठी पूज्य हैं परंतु उन पांचोंमें सबसे प्रथमके होनेसे आपको उन सबोंसे प्रधान मानकर हे महनीयमुख्य ऐसा संबोधन कहा है। शंका—यद्यपि अर्हन्तोंमें उपदेशका माहात्म्य विद्यमान है परंतु सिद्धोंसे तो भी गुणोंकी अपेक्षा हीन ही हैं इसलिये सबोंमें मुख्य कैसे होसकते हैं? दीक्षाके समय वे सिद्धोंको नमस्कार करते हैं इसलिये सिद्धोंकी अपेक्षा गुणोंमें हीनता तो प्रगट ही है। ऐसा [3]श्रुतकेवलियोंका वचन भी मिलता है कि "सिद्धोंको नमस्कार करके वे दीक्षा ग्रहण करते हैं।" उत्तर—अर्हत्केवलीके उपदेशसे ही सिद्धोंका परिचय होता है। ऋषियोंने ऐसा कहा भी है कि "अर्हत्के उपदेशसे ही सिद्ध जान पड़ते हैं इसलिये अर्हन्त भगवान् ही सबसे मुख्य हैं"। इस प्रकार अर्हन् ही सबकी अपेक्षा मुख्य सिद्ध हुए।

यदि तव वाग्वैभवं निखिलं विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह लङ्घेमेत्यादि। तदा इत्यध्याहार्यम्। तदा

१ यह वाक्यखंड संबंधकी योजनाके लिये ऊपरसे लिखा है। २ अर्हन्—जिन्होने चार घाति कर्म नष्ट करके फिर केवल प्रत्यक्षज्ञान प्रगट किया हो। सिद्ध—अष्टकर्मरहित। आचार्य—दीक्षाके तथा संघके स्वामी। उपाध्याय—जो पढ़ें पढावें। साधु—सामान्य मुनिजन। इन्हीं पांचोको पंचपरमेष्ठी कहते हैं। ३ श्रुतकी जहांपर अवधि है वहांतक श्रुतको जाननेवाले साधु श्रुतकेवली कहाते हैं।

जङ्घालतया जाङ्घिकतया वेगवत्तया समुद्रं लङ्घेम किल। समुद्रमिवातिक्रमामः। तथा पिबेम धारयेम। चन्द्रद्युतीनां चन्द्रमरीचीनां पानं चन्द्रद्युतिपानम्। तत्र तृष्णा तर्षोऽभिलाष इति यावत् चन्द्रद्युतिपानतृष्णा। ताम्। उभयत्रापि सम्भावने सप्तमी। यथा कश्चिद्धरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रान्तरेणापि समुद्रं लङ्घितुमीहते। यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयीः श्रुत्वा चुलुकादिना पातुमिच्छति। न चैतद् द्वयमपि शक्यसाधनम्। तथा न्यक्षेण भवदीययथार्थवचनवर्णनाकाङ्क्षाप्यशक्यारम्भप्रवृत्तितुल्या। आस्तां तावत्तावकीनवचनविभवानां सामस्त्येन विवेचनविधानम्। तद्विषयाकाङ्क्षापि महत्साहसमिति भावार्थः।

यदि आपके वचनवैभवका अच्छीतरह विवेचन करना हम चाहें तो किस प्रकार असंभव है सो 'लङ्घेम' इत्यादि शब्दोंद्वारा दिखाते हैं। इस श्लोकमें 'यदि' अर्थका वाचक 'चेत्' शब्द तो है किंतु जहां यदि शब्द आता है वहां तो या तदा शब्द भी अवश्य आता है परंतु यह तो या तदा शब्द श्लोकमें नहीं है इसलिये ऊपरसे समझलेना चाहिये। 'लङ्घेम' इत्यादि शब्दोंका अर्थ कहते हैं कि; तो दौड़कर शीघ्र ही हम समुद्रको तरना चाहते हैं। अर्थात् वह संपूर्ण गुणोंका जो वर्णन करना है सो मानों, समुद्र तरना है। और भी मानों, चन्द्रद्युति जो चंद्रकिरणे हैं उनके पीनेकी तृषा अर्थात् अभिलाष करना है। 'पिबेम, 'लंघेम' इन दोनों धातुओंके शब्दोंमें जो लिङ् प्रकार हुआ है वह संभावना अर्थमें हुआ है। लिङ् लकारको ही कुछ व्याकरणोंमें सप्तमी कहते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य जहाजके बिना पैदल दौड़कर ही समुद्रको लांघनेकी वांछा करता हो या कोई मनुष्य चन्द्रकिरणोंको अमृतमयी सुनकर चुल्लू आदिकसे पीना चाहता हो परंतु ये दोनों ही कार्योंका सिद्ध होना असंभव है उसी प्रकार आपके वचनवैभवके पूरी तौरसे वर्ण करनेकी आकांक्षा भी ठीक ऐसी ही है जैसा कि अशक्य कार्यके प्रारंभ करनेका उत्साह होता है। भावार्थ—आपके वचनरूप वैभवोंका पूर्णतया वर्णन करना तो दूर ही रहा किंतु उसकी आकांक्षा करना भी बड़ा साहस है।

अथवा लषि शोषणे इति धातोर्लङ्घेम शोषयेम समुद्रं जङ्घालतया अतिरंहसा। अतिक्रमणार्थलङ्घेस्तु प्रयोगे दुर्लभं परस्मैपदमनित्यं वा आत्मनेपदमिति। अत्र चौद्धत्यपरिहारेऽधिकृतेऽपि यदाशास्महे इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्यः प्रयुक्तवांस्तदिति सूचयति—यद्विधन्ते जगति मादृशा मन्दमेधसो भूयांसः स्तोतारः। इति बहुवचनमात्रेण न खल्वहङ्कारः स्तोतरि प्रभौ शङ्कनीयः। प्रत्युत निरभिमानताप्रासादोपरि पताकारोप एवाऽवधारणीयः। इति काव्यार्थः। एष्वेकत्रिंशतिवृत्तेषूपजातिश्छन्दः।

अथवा लघु धातुका शोषना अर्थ है तथा जङ्घालताका अर्थ शीघ्रता है। इसलिये 'जङ्घालतया समुद्रं लङ्घेम' का अर्थ ऐसा होना चाहिये कि समुद्रको शीघ्रतासे शोषना चाहते हैं। उल्लंघन करने अर्थमें जो लङ्घि धातु है वह परस्मैपदी नहीं है और 'लङ्घेम' यह शब्द परस्मैपदका ही बनता है इसलिये शोषणार्थक परस्मैपदी 'लघि' धातुका यह शब्द बना हुआ समझना चाहिये। अथवा यदि आत्मनेपद होना अनित्य मानाजाय तो जिसका उल्लंघन करना अर्थ है ऐसे लङ्घि धातुका भी यह शब्द बनसकता है। इस श्लोकमें यद्यपि 'आशास्महे' इस पदके देखनेसे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता आचार्यने अपने विषयमें उद्धतताका निषेध दिखाते हुए भी अपनेमें बहुवचनका उपयोग किया है परंतु इस बहुवचनसे उद्धतता नहीं झलकती है किंतु यह दीखता है कि जिनेन्द्रकी स्तुति करनेवाले मुझसमान मंदबुद्धि इस जगत्में बहुत हैं। इसलिये उद्धतताकी शंका करना तो उचित नहीं है किंतु उलटा निरभिमानतारूप महलके ऊपर इस वचनसे पताकाका आरोपण होता है ऐसा समझना चाहिये। **भावार्थ**—यहांपर बहुवचनान्त क्रियाशब्द कहनेसे निरहंकारताकी और भी विशेपता दीखती है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ। अबतकके इकतीस श्लोकोंमें उपजाति नामक छन्द है।

एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभिचारिवचनतासाध्येनाऽन्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिविन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति।

इस प्रकार अन्य दर्शनवाले ठगोंकर विस्तारित व्यामोहरूपी अन्धकारमें डूबे हुए जगत्का उद्धार करनेमें बाधारहित असाधारण कारणरूप आपके ही वचनोंसे अन्य मतोंका निराकरण होसकता है इसलिये हे भगवन्! आपका ही ऐसा उद्धार करनेमें सामर्थ्य है ऐसा दिखाते हुए हेमचन्द्राचार्य यह कहते हैं कि इसलिये आपकी उपासना करनेमें जिन्होने मन लगा रक्खा है वे पुरुष ही अपने कर्तव्यमें चतुर समझने चाहिये।

इदं तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम्।

तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

मूलार्थ—खेद है कि इंद्रजाली सरीखे अधम अन्य दर्शनवालोंने तत्त्व अतत्त्वका मिश्रण होजानेसे भयंकर ऐसे अंधकारमें यह जगत् डालरक्खा है सो इस जगत्का उद्धार करनेकेलिये आप ही समर्थ हैं। क्योंकि आपके वचन विसंवादरहित हैं। हे जगत्के रक्षक! इसीलिये बुद्धिमान् लोग आपकी सेवा करते हैं।

व्याख्या—इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगद्विश्वम्। उपचाराज्जगद्वर्ती जनः। हतपरैः [हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे तैः] मायाकारैरिवैन्द्रजालिकैरिव [शाम्बरीप्रयोगनिपुणैरिवेति यावत्] अन्धतमसे निबिडान्धकारे [हा इति खेदे] विनिहितं विशेषेण निहितं स्थापितं पातितमित्यर्थः। अन्धं करोतीत्यन्धयति। अन्धयतीत्यन्धम्। तच्च तत्तमश्चेत्यन्धतमसम्। "समवान्धात्तमसः" इत्यत्प्रत्ययः। तस्मिन्नन्धतमसे। कथंभूतेऽन्धतमसे इति! प्रत्यान्धकारव्यवच्छेदार्थमाह—तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकराले।

व्याख्यार्थ—यह, अर्थात् प्रत्यक्ष दीखता हुआ विश्व। विश्वशब्द उपचारसे विश्ववर्ती जनोंको कहता है। अधमको हत कहते हैं और अन्य दर्शनवालोंको यहांपर पर कहा है इसलिये हत तथा पर शब्दके मिलानेसे हतपर शब्द बनजाता है। धोखा और दिखानेवाले जादूगरको मायाकार कहते हैं। 'हा' शब्द खेद अर्थमें आता है। इसलिये ऐसा अर्थ होना चाहिये कि प्रत्यक्ष दीखते हुए इन संसारी जनोंको इंद्रजालीके समान अन्यथा प्रतीति करानेवाले अधम अन्य दर्शनवालोंने, खेद है कि, अत्यन्त निबिड अन्धकारमें सर्वथा पटक रक्खा है। जो अंधा बनादे उसको भी अंध कहते हैं। अंधा करनेवाला जो तम हो वह अन्धतमस कहाता है। यहांपर अन्धशब्द पूर्व रखकर तथा तमस् शब्द आगे रखकर मिलानेपर "समवाऽन्धात्तमस" इस सूत्रकर अ प्रत्यय होजाता है और वह प्रत्यय तमसके अंतमें मिलकर अन्धतमस शब्द बना देता है। इस अंधकारको कोई बाह्य अंधकार न समझले इसलिये कहते हैं कि यह अन्धकार कैसा है कि जो तत्त्व अतत्त्वके मिश्रण होजानेसे भयानक होरहा है।

तत्त्वं चाऽतत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे। तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता व्यामिश्रता स्वभावविनिमयस्तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरः।

तेन कराले भयङ्करे। यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशोऽतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यतिकरः संजायत इत्यर्थः। अनेन च विशेपणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेवान्धतमसं तस्यैवेदृक्षलक्षणत्वात्। तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः "अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्"। ततोयमर्थो—यथा किलैन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चास्तथाविधमौपधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किंचित्प्रयुज्य परिपज्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति तथा परतीर्थिकैरपि तादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदिश्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति।

तत्व अतत्वके मिलादेनेसे तत्वातत्व शब्द होता है। इन तत्वातत्वोका व्यतिकर अर्थात् इनके स्वभावका फेरफार होजानेसे यह अन्धतमस भयंकर होरहा है। इस अन्धतमसके होनेसे तत्वमें अतत्वका अभिनिवेश और अतत्वमें तत्वका आग्रह उत्पन्न होता है। अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकारसे बुद्धिकी विपरीतता होजाती है। इस विशेपणके कहनेसे यथार्थ विचारा जाय तो मिथ्यात्वमोहनीय नामक कर्म ही अन्धतमस है ऐसा मालुम पड़ जाता है। क्योंकि; उसीका ऐसा स्वरूप कहागया है। सोई स्तुतिकर्ता श्रीहेमचन्द्राचार्यने स्वयं एक दूसरे ग्रन्थमें कहा है "अदेवको देव मानना, अगुरुको गुरु मानना तथा अधर्मको धर्म मानना ही मिथ्यात्व है। क्योंकि; यह मानना विपर्यय है और विपर्ययको ही मिथ्यात्व कहते हैं"। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट हुआ कि; अन्य लोगोको व्यामोहित करनेवाली नाना कला जिन्होने सीखी है ऐसे जादूगर, जिससे मनुष्य मोहित हों ऐसे मंत्र औपधि या हाथ की सफाई आदि कुछ दिखाकर जिस प्रकार दर्शक लोगोको मायामयी अंधकारमें पटक देते हैं उसी प्रकार अन्य दर्शनवालोने भी जिनके प्रयोगसे लोग विभ्रममें पड़जाय ऐसे अध्ययन किये हुए कुतर्क या कुयुक्तियोंका उपदेश करके इस जगत्को विभ्रमरूपी महान् अंधकारमें पटक रक्खा है।

तज्जगदुद्धर्तुं मोहमहान्धकारोपप्लवात् कष्टुं नियतं निश्चितं त्वमेव। नान्यः शक्तः समर्थः। किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते? इति विशेपणद्वारेण कारणमाह—अविसंवादिवचनः। कपच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्तौ न विसंवदतीत्येवंशीलमविसंवादि। तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्याऽसावविसंवा-

दियचनः। अव्यभिचारिवागित्यर्थः। यथा च पारमेश्वरी वाग् न विसंवादमासादयति तथा तत्र तत्र स्याद्वादसाधने दर्शितम्।

ऐसे पतित जगत्का उद्धार करनेको केवल आप ही समर्थ हैं, अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ऐसा निश्चय हो चुका है। क्यों आप ही इस कार्यको पूरा करनेके लिये समर्थ हैं, किंतु अन्य कोई नहीं है? इस शंकाका उत्तर विशेषणद्वारा देते हैं कि आपके वचन विसंवाद रहित सचे हैं। अर्थात्—आपके ही वचन विसंवादरहित हैं इसलिये आप ही जगत्का उद्धार करसकते हैं। कष, छेद, ताप इन तीन प्रकारोंकी परीक्षासे आपके वचन विशुद्ध ठहरचुके हैं इस लिये फलकी प्राप्तिके विषयमें आपके वचनोंमें कुछ विरोध नहीं है। इसीलिये इन वचनोंको अविसंवादी कहा है। इस प्रकार जिसका वचन या उपदेश अविसंवादी हो वह अविसंवादिवचन कहाता है। अर्थात्—आपके वचन ऐसे हैं कि जिनमें किसी प्रकार भी असत्यता नहीं ठहरसकै। आपके वचनोंमें जिस प्रकार असत्यता नहीं आती उस प्रकारका निरूपण स्थान स्थानपर स्याद्वादके बलसे करते आये हैं।

कषादिस्वरूपं चेत्थमाचक्षते प्रावचनिकाः "पाणवहाईआण पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो। झाणऽज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो। १। बज्झाणुट्ठाणेण जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा। संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति। २। जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो। एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ। ३।"

कष छेद तापका स्वरूप धर्मशास्त्रके ज्ञाताओंने इस प्रकार कहा है।—"प्राणवधआदिक पापस्थानोंका जो निषेध तथा ध्यान अध्ययन आदिक कर्मोंकी जो आज्ञा वह धर्मकष है। १। जिस बाह्य क्रियासे धर्मके विषयमें बाधा न पहुचसकै अर्थात्—मलिनता न आसकै किंतु निर्मलता बढती रहे उसको धर्मके विषयमें छेद कहते हैं। २। जिससे बंध छूट जाय या नवीन बंध न हो ऐसा जीवादि पदार्थोंका जिसमें कथन हो वह धर्म विषयमें ताप समझना चाहिये। ३।"

तीर्थान्तरीयास्तु हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति ते महामोहान्धतमसे एव जगत्पातयितुं समर्थाः,

---

१ संस्कृतच्छाया-प्राणवधादीनां पापस्थानानां यस्तु प्रतिषेधः। ध्यानाध्ययनादीनां यश्च विधिः एष धर्मकषः॥ १॥ बाह्यानुष्ठानेन येन न बाध्यते तन्नियमात्। संभवति च परिशुद्धः स पुनः धर्मे छेद इति॥ २॥ जीवादिभाववादः बन्धादिप्रसाधक इह तापः। एभिः परिशुद्धः धर्मः धर्मत्वमुपैति॥ ३॥

न पुनस्तदुद्धर्तुम्। अतः कारणात्। कुतः कारणात्? कुमतध्वान्तार्णवान्तःपतितभुवनाऽभ्युद्धारणाऽसाधारणसामर्थ्यलक्षणात्। हे त्रातस्त्रिभुवनपरित्राणप्रवीण! त्वयि [काक्काऽवधारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये, न देवान्तरे] कृतधियः [करोतिरत्र परिकर्मणि वर्त्तते। यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति। कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेशलतत्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधियश्चिद्रूपाः] पुरुषाः कृतसपर्याः। प्रादिकं विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात् कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्याः। आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति। इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः॥

समाप्ता चेयमन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका॥

अन्य धर्मोके प्रवर्तक लोग कष, छेद, ताप रूप तीन परीक्षाओंद्वारा विशुद्ध वचन बोलनेवाले नहीं है इसलिये वे लोग जगत्को महामोहमयी अंधकारमें गिरा तो सकते हैं परंतु उनसे जीवोंका उद्धार होना असंभव है। नाना प्रकारके कुमतरूपी समुद्रमें पड़े हुए लोगोंका उद्धार करनेमें असामान्य सामर्थ्यके धारक होनेसे; हे त्रिजगदुद्धारक प्रभो! अन्य देवोंकी नहीं किंतु आपकी ही विद्वानोंने सेवा करना प्रारंभ किया है। 'कृतधियः' शब्दका अर्थ विद्वान् है। क्योंकि; जिनमें तत्वोपदेश भलेप्रकार हो ऐसे शास्त्रोंका अभ्यास अत्यंत करनेसे जिनकी बुद्धि निर्मल होगई हैं उनको 'कृतधियः' या ज्ञानी कहते हैं। यहांपर 'कृ' धातुका अर्थ परिकर्म है। जैसे 'हाथोंको कर, पैरोको कर' इन वाक्योंका अर्थ हाथ पैरोको ठीक करना होता है। सेवा करना प्रारंभ किया है ऐसा अर्थ 'कृतसपर्याः' शब्दका होता है। इसमें जो कृतशब्द है उसका अर्थ प्रारंभ करना है। क्योंकि; 'प्र' आदिक कोई उपसर्ग न लगानेपर भी 'कृ' धातुका अर्थ यहां प्रारंभ करना है ऐसी प्रतीति यहां हो जाती है। विद्वानोंने आपकी ही सेवा करना विचारा है; अन्य किसीकी नहीं ऐसा निश्चय काकुरूप ध्वनिसे होजाता है। अर्थात्—विद्वानोंने दूसरोंकी आराधना छोड़कर आपकी ही सेवा करनेमें बुद्धि लगाई है। इस प्रकार शिखरिणी छन्दवाले इस अंतिम काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इति स्याद्वादमंजरीहिंदीभाषानुवादः।

अथ

॥ श्रीटीकाकारस्य प्रशस्तिः ॥

येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरः प्रामाणिकाध्वस्पृशां हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थः सखा। तेषां दुर्नयदस्युसंभवभयाऽस्पृष्टात्मनां संभवत्यायासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिः शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥ चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरां गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम। द्राघीयः समयादरात्प्रहपरामूतप्रभूतायमं तन्नून गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २ ॥ अन्यान्यशास्त्रतरुसंगतचित्तहारिपुष्पोपमेयकतिचिन्निचितप्रमेयैः। दृब्धां मयान्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेनां मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥ प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्। मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥ वर्व्यामेव सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणे यन्नेयं प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते। किं वाग्मी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारं यदीयं मुदा शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥ नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः। ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ युग्मम्। श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः। वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥ ७ ॥ श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा। श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥ बिभ्राणे किल निर्णयाज्जिनतुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभौ तद्दृब्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषात्सक्तिर्मया विस्तृता। निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरा तद्वार्थये सज्जनान् तस्यास्तत्त्वमकृत्रिमं बहुमतिः सास्त्यत्र सम्यग् यतः ॥ ९ ॥

प्रामाणिकोंके मार्गमें चलनेवाले जिन मनुष्योंके लिये हेतुरूपी तेजसे प्रकाशवान् तथा श्रीहेमचंद्राचार्यके स्तवनसे उत्पन्न हुआ ऐसा सामर्थ्यधारी मित्र विद्यमान है उन मनुष्योंको दुर्नय रूपी चोरोंसे भय नहीं होसकता है इसलिये मोक्षलक्ष्मीरूप फलके देनेवाले जिनागमरूपी पुरकी प्राप्ति विना परिश्रम होसकती है। १। महासमुद्रके समान चारविद्यारूपी जलके धारक भगवान्

श्रीहेमचंद्राचार्यकी वाणीका गंभीर अर्थ देखनेकेलिये जो मेरी दृष्टि समर्थ हुई तथा बड़े बड़े सिद्धान्तोंका आदरपूर्वक ग्रहण करनेमें उपस्थित हुए प्रबल विघ्नोंका नाश हुआ वह सर्व गुरुके चरणकमलोंकी धूलिरूप सिद्ध अंजनका ही माहात्म्य है ।२। जुदे जुदे शास्त्ररूपी वृक्षोंमें लगे हुए प्रमेयरूपी पुष्पोंके गुच्छोंसे बनाई हुई मालाके समान अंतिमजिनस्तुतिकी इस टीकाको देखकर विशुद्धमति सज्जन अपने हृदयमें धारण करैं । ३ । प्रमाण अथवा सिद्धान्तके विरुद्ध जो कुछ मैंने यहांपर अल्पमति होनेके कारण कहा हो उसको सरलचित्त सज्जन वैरभाव न रखकर प्रसन्नतापूर्वक शोधलैं । ४ । तीनों लोकमें विस्तरी हुई बुद्धि देखकर जिसके विषयमें लोग यह अनुमान करते हैं कि पृथ्वीके ऊपर यह (हेमचंद्राचार्य) देवताओंका गुरु बृहस्पति ही है । और जिसके निकले हुए वचनोंको यह सुधा है ऐसा प्रशंसते हुए ये विद्वान् संवादसे पुष्ट हुई उस वाणीकी अत्यंत ख्याति करते है । ५ । तथा **नागेन्द्र** गच्छरूपी विष्णुके गलेको शोभित करनेवाले कौस्तुभ मणिके समान ऐसे लोकपूज्य **श्रीउदयप्रभ** सूरि जयवंते प्रवर्तैं । ६ । आकाशरूपी इनके पदको सूर्यके समान प्रकाशित करनेवाले **श्रीमल्लिषेण** सूरिने यह वृत्ति शकाब्द १२१४ के दिवालीके दिन पूर्ण की ।७। **श्रीजिनप्रभसूरि**की सहायतासे उत्पन्न हुआ है सुगंध जिसमें ऐसी यह **स्याद्वादमंजरी**-नामक वृत्ति सत्पुरुषोंके कर्णोंको मंजरीके समान शोभित करै। ८ । विजय करनेसे जिनेन्द्रकी तुलना रखनेवाले श्रीहेमचंद्र प्रभुकी मैंने उनकी बनाई हुई स्तुतिकी वृत्ति बनानेंके बहानेसे भक्ति की है इसलिये अपनी वाणीके गुणदोषोंका निर्णय करानेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नही करता हूं । क्योंकि; बहुमति होना ही वाणीका अकृत्रिम भूषण है और वह भूषण इसमें भले प्रकार विद्यमान है ।

इति श्रीटीकाकारप्रशस्तिः ।